ANIMAL HUSBANDRY & VETERINARY SCIENCE

पशु पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान

देव नारायण पाण्डे

जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ

पशु-पालन विषय पर हिन्दी में उत्कृष्ट एवं मौलिक ग्रन्थ लिखने पर भारत में प्रथम बार "राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार" के राष्ट्रीय विजेता

प्रोफेसर, डॉ० देवनारायण पाण्डेय

दिल्ली में आयोजित समारोह में पुरस्कार प्राप्त करते हुए

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् द्वारा आयोजित एक विशेष समारोह में भारतवर्ष के तत्कालीन कृषि-मन्त्री, श्री जगजीवन राम, डा० पाण्डेय को पुरस्कार प्रदान करते हुए। प्रोफेसर पाण्डेय को इस अवसर पर एक शील्ड, प्रशस्ति-पत्र तथा ढाई हजार रुपये देकर सम्मानित किया गया। समारोह में उपस्थित भारतवर्ष के शिक्षा-मन्त्री, प्रोफेसर नूरुल हसन साहब ने डा० पाण्डेय को बधाई दी।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्

डा० राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार

1974

हिन्दी में कृषि विज्ञान सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ लेखन के लिए सन् 1972 - 74 का डा० राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार द्वितीय श्री / डा० देव नारायण पाण्डेय को उनके मौलिक ग्रन्थ पशुपालन एवं पशुचिकित्सा विज्ञान पर प्रदान किया जाता है।

(जगजीवनराम)
अध्यक्ष
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्

नयी दिल्ली
30 जनवरी, 1976

अखिल भारतीय स्तर पर "डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार" से पुरस्कृत

तथा

आयुक्त, कृषि उत्पादन एवं ग्राम्य विकास, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा विभागीय क्रय के लिये स्वीकृत

●

पशु-पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान

(Animal Husbandry & Veterinary Science)

[काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बुन्देलखण्ड एवं कानपुर विश्वविद्यालय तथा बिहार कृषि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्वीकृत पाठ्य पुस्तक]

●

लेखक :

प्रोफेसर देवनारायण पाण्डे

एम० वी० एस-सी०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष

पशु-पालन एवं दुग्ध-विज्ञान

कृषि विज्ञान संस्थान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भू० पू० प्रधानाचार्य

रॉयल वेट्नेरी इंस्टीट्यूट

रॉयल गवर्नमेंट आफ भूटान

डा. शम्भु शंकर सिंह

●

प्रकाशक :

जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी

गढ़-नौचन्दी चौराहा, गढ़ रोड मेरठ।

चौदहवें संस्करण की भूमिका

आज इस पुस्तक का नवीन संस्करण आपके सम्मुख रखते हुये मैं अपने में अगाध हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। यह संस्करण पूर्णरूपेण संशोधित एवं परिवर्धित है। शिक्षण पद्धति के नवीनतम सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अनुसंधानात्मक रीति का अनुसरण करके विषय को अधिक ग्राह्य बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। पुस्तक की उपयोगिता को पाठकगण एवं विषय-विशेषज्ञों ने स्वयं ही अंकित कर दिया है। अतः इस संदर्भ में हमें कुछ भी नहीं कहना है। पिछले संस्करणों पर प्राप्त सम्मान सम्मतियों के लिये मैं सम्बन्धित छात्रों, अध्यापकों तथा विषय-विशेषज्ञों का अत्यन्त आभारी हूँ। पुस्तक में पाठ्यक्रम की आवश्यक सामग्री जुटाने के लिये मैं अपने सुहृदय डॉ० घनश्याम सिंह, प्रो० संतराम सिंह, प्रो० मान बहादुर सिंह तथा डॉ० रामसकल सिंह, उदय प्रताप कालेज, वाराणसी; प्रोफेसर अभयराज सिंह, तिलकधारी कालेज जौनपुर तथा डॉ० धर्मेन्द्र नाथ मिश्रा, संयुक्त निदेशक, पशु-पालन विभाग, उत्तर प्रदेश का अति कृतज्ञ हूँ।

सम्भवतः आपको ज्ञात ही होगा कि हम इस पुस्तक के लेखन के लिये अखिल भारतीय स्तर पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति एवं भारतरत्न स्व० राजेन्द्र बाबू के नाम पर सम्पूर्ण भारत देश में पहली बार "डॉ राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार" से सम्मानित होने का गौरव प्राप्त हुआ है। चूंकि इस पुस्तक के लेखन, सम्पादन, परिमार्जन एवं प्रचार-प्रसार में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से हमें आप सब का सहयोग सदैव मिलता रहा है, अतः मैं इस महान् शैक्षिक उपलब्धि को पहले आपका, तत्पश्चात् सम्पूर्ण शिक्षा-जगत का सम्मान मानता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी आप सबका योगदान हमें यथावत प्राप्त होकर, ऐसे सद्प्रयत्नों के लिये प्रोत्साहित करता रहेगा। मैं इस सुअवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक स्व० महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी के चरणों की वन्दना करता हूँ तथा विश्व-विद्यालय के कुलपति और अपने गुरुजनों के प्रति आभार व्यक्त करना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनकी असीम अनुकम्पा एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप ही मुझे इतना बड़ा राष्ट्रीय सम्मान मिला, जिसकी हमने कभी कल्पना भी न की थी।

देश के जिन शिक्षाविदों, छात्रों तथा मित्रों ने इस सम्मान के लिये हमें शुभ-कामना सन्देश भेजा है, उनके प्रति में अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

पुस्तक का चौदहवां संस्करण आपके हाथों में है। इसे बुन्देलखण्ड, कानपुर, रूहेलखण्ड, चन्द्रशेखर आजाद कृषि विश्वविद्यालय, कानपुर; फैजाबाद, बिहार तथा राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय के परिवर्तित पाठ्यक्रमानुसार परिमार्जित कर दिया

गया है। यथा स्थान नवीनतम आँकड़े देकर अन्त में 'खरगोश पालन' नामक अध्याय इसमें और जोड़ दिया गया है। वर्तमान परीक्षा प्रणाली को ध्यान में रखते हुए प्रतियोगितात्मक परीक्षा सम्बन्धी कुछ चुने हुए objective type प्रश्न एवं उनके उत्तर पुस्तक के अन्त में देकर इसकी उपयोगिता में चार-चाँद लगा दिये गये हैं। मौलिक एवं उत्कृष्ट लेखन हेतु प्राप्त राष्ट्र सम्मान के लिये मैं भारत सरकार तथा भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। सप्तम् संस्करण पर आर्थिक अनुदान के लिये मैं नेशनल बुक ट्रस्ट का भी आभारी हूँ।

पुस्तक के परिमार्जन हेतु आवश्यक सुझाव पारित करने के लिये मैं कतिपय छात्रों, अध्यापकों तथा अपने मित्रों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक की बढ़ती हुई माँग के लिये विषय से सम्बन्धित समस्त अध्यापक, छात्र, विषय विशेषज्ञ, प्रसार कार्यकर्त्ता और पशुपालक धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की सुरुचिपूर्ण छपाई, मनोरम गैट-अप एवं प्रसार के लिये हमारे प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

अन्त में, मैं आशावान हूँ कि पिछले संस्करणों की अपेक्षा यह नवीनतम संस्करण पाठकों के लिये अधिक उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध होगा।

'काशी' — देवनारायण

प्राक्कथन

(Foreword)

यह ठीक ही कहा गया है कि गाय तथा कार्य करने वाले बैल भारतीय कृषि की अर्थव्यवस्था का मूल आधार हैं। पशु-उद्योग एक आवश्यक धन्धा है और इस कारण, पशु-पालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान का विषय जिसके अन्तर्गत पशु-प्रजनन, पालन-पोषण, रोग-नियन्त्रण तथा पशु-सुधार आता है, अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

आज हमारे देश को अच्छा कार्य करने वाले सस्ते बैल, समुचित मात्रा में सस्ते दूध तथा भूमि की उर्वराशक्ति कायम रखने के लिये पर्याप्त मात्रा में गोबर की खाद की आवश्यकता है। पशुओं के कार्य तथा उत्पादन क्षमता की शीघ्र वृद्धि के लिये हमारे पास कोई जादू नहीं है। अच्छे परिणामों की प्राप्ति के लिये इसमें काफी समय लगेगा। मनवाँछित उत्तम फल प्राप्ति के लिये पशु-पालन की कला तथा विज्ञान का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करके सावधानी से प्रयोग में लाना अनिवार्य है।

अंग्रेजी भाषा के इन विषयों पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु हिन्दी में इस विषय पर अच्छी पुस्तकों का अभाव है। शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी माध्यम की ओर क्रमिक परिवर्तन के कारण हिन्दी भाषा में पुस्तकों का होना अति आवश्यक है।

प्रो० डी० एन० पाण्डे ने पशुपालन तथा पशु-चिकित्सा विज्ञान विषय पर हिन्दी में "पशु-पालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान" नामक एक पाठ्य पुस्तक लिखी है।

हमारे विश्वविद्यालय के कृषि तथा पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालयों में यह विषय पढ़ाया जाता है। प्रो० पाण्डे ने इस पुस्तक को पाठ्यक्रमानुसार तैयार करने में काफी परिश्रम किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विषय से सम्बन्धित प्रत्येक विद्यार्थी यह पुस्तक अति उपयोगी पायेगा।

पशु-पालन से सम्बन्धित सभी महानुभावों के लिये इस पुस्तक की सिफारिश करने में मैं अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

एस० के० मिश्रा
भू० पू० डीन फैकल्टी ऑफ एग्रीकल्चर
एवं कृषि और पशुपालन अध्ययन के अध्यक्ष—
नागपुर विश्वविद्यालय
कृषि अध्ययन के अध्यक्ष—सागर विश्वविद्यालय

सं. मी. का/कृम/ ६८

कृषि मन्त्री, भारत सरकार
MINISTER FOR AGRICULTURE
GOVERNMENT OF INDIA

नयी दिल्ली,
मार्च १७, १६६४.

प्रिय श्री देव नारायण पाण्डे,

आपकी पुस्तक ' पशु पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान ' देखने को मिली । यह बड़ा अच्छा है कि आपने ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की है । धन्यवाद ।

स्नेही,
राम सुभग
(राम सुभग सिंह)

उप-शिक्षामंत्री,
भारत सरकार ।
[illegible]

नयी दिल्ली-२, मार्च ३, १९६४ ई०
फाल्गुन १३, १८८५ (शक)

प्रिय श्री पाण्डे जी,

आपने अपने द्वारा लिखित पुस्तक 'पशुपालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान' की एक प्रति जो भेजने की कृपा की है, उसके लिए आभारी हूँ।

आपकी पुस्तक का द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो चुका है तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने भी उसे स्वीकृत किया है। इससे स्पष्ट है कि आपकी पुस्तक बहुत लोकप्रिय हुई है तथा सम्बन्धित महानुभावों ने इसका स्वागत किया है। इस सफलता के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। मुझे आशा है, आपकी इस पुस्तक का समुचित उपयोग किया जायेगा तथा आप भविष्य में और भी अधिक उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने में सफल होंगे।

कृपया मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार कीजिये।

एक बार फिर से धन्यवाद देते हुए -

आपका

(भक्त दर्शन)

SOME OPINIONS

"Many thanks for the gift of your book, which has been very admirably written. I am sure in the years to come, you will do more for the cause of education."

Dr. A. Roy
Prof. of Physiology
U. P. Veterinary College.
Mathura.

"I must congratulate you on producing such a good book at so young an age."

Lt. Col. A. C. Aggarwala
B. Sc. Hons., M. R. C. V. S., A. I. R. O.
P. V. S. Class I. (Retd.)
New Delhi.

"Thank you very much for the presentation copy of your well written book 'Pashu Palan Avam Pashu Chikitsa Vigyan'. I am glad that your attempt in writing this book has been very successful and this book will not only prove boon to B. Sc. (Ag.) students but can at times be of use to the veterinarians, who have to deliver lectures to the public in Hindi."

Dr. B. D. Kapri
Prof. of Animal Genetics and Breeding.
U. P. Veterinary College.
Mathura.

"With a honoured respect for your honour and a humble and submissive notion for your book named 'Animal Husbandry & Veterinary Sciences', the most modern and uptodate knowledge given on the subject. I have been much benefitted by this book."

S. S. Pareek
I/c Veterinary Dispensary,
Phagi (Rajasthan)

"Accept my heartiest congratulations on your attempt to write a book on animal Husbandry and Veterinary Science."

G. S. LAL
Deputy Director (Headquarters)
Animal Husbandry Directorate,
Uttar Pradesh.

I have found the book very useful. Infact Dr. Pande has filled in the long felt gap in regard to preparation of some text book in Hindi for the veterinary compounders and stock Asstts. course.

Dr. G. C. Negi.
Director, Animal Husbandry, H. P. Simla—4

The book is very useful to B. Sc. (Ag.) students being the most modern and uptodate knowledge given on the subject. I have recommended to my students to purchase this book.

Prof. S. K. Chauriha.
Head of the Deptt. of Animal Husbandry & Dairying.
B. N. V. Degree College, Rath (Hamirpur)

I found the book as Jewel of Animal Husbandry of Agriculture students of Agricultural Country like India.

Dr. Narinder Singh.
R. S. M. Degree College, Dhampur.

आपकी कृति 'पशु-पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान' हम सभी छात्रों के लिये वरदान सिद्ध हो रही है। वास्तव में यह हमारी राष्ट्रभाषा के माध्यम से रचित अद्वितीय ग्रंथ है। आपने हिन्दी की सरल शैली में इस जटिल विषय को लिखकर न केवल हिन्दी साहित्य-स्तर में श्रीवृद्धि ही की बल्कि हम सभी छात्रों एवं कृषकों पर एक महान परोपकार किया है। इसके लिए हम सब छात्र आपके अत्यन्त आभारी हैं।

ज्ञानचन्द्र कटियार एवं योगेन्द्र सिंह (छात्र)
बी० एस-सी० कृषि
चन्द्रशेखर आजाद कृषि एवं प्रोद्यौगिक विश्वविद्यालय, कानपुर

"पशुपालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान" नामक पुस्तक लिखकर प्रोफेसर पाण्डे ने पशुपालन जैसे गूढ़ विषय का सरल स्पष्टीकरण देकर छात्र एवं अध्यापकों तथा हिन्दी की अपूर्व सेवा की है। इतना ही नहीं, अपितु देश के पशुपालन एवं नियोजन विभाग के कार्यकर्त्ताओं तथा पशुपालन में रुचि रखने वाले समस्त जागरूक नागरिकों के लिये भी यह पुस्तक अति उपयोगी सिद्ध होगी।

डा० एस० के० तालपात्रा
पी-एच० डी०, डी० एस-सी०
डीन फैकल्टी ऑफ वेट्नेरी साइन्स
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

"पशुपालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान" नामक पुस्तक के अवलोकन से सर्वप्रथम मुझे इस बात का गर्व हुआ कि यह ग्रंथ राष्ट्रभाषा में लिखकर हिन्दी जगत में श्री पाण्डेय जी ने एक अतुलनीय कार्य करके मातृभाषा की श्रीवृद्धि की है। साथ ही पशुपालन जैसे जटिल विषय का सरल एवं रोचक शैली में ज्ञान कराके राष्ट्र की अपूर्व सेवा का लक्ष्य रखकर बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। वास्तव में, इस ग्रंथ ने हमारी ग्रामीण अर्धशिक्षित जनता को इस दिशा में पूर्ति कराने के लिये एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

प्रस्तुत पुस्तक; दिनों-दिन हमारी ग्रामीण जनता में विद्यार्थियों, अध्यापकों, प्रशासकों तथा विषय विशेषज्ञों एवं प्रसार कार्यकर्त्ताओं के मध्य चिरस्मरणीय स्थान प्राप्त करके अति लाभप्रद सिद्ध होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आज देश को ऐसी लाभदायक पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है।

आचार्य—ग्राम सेवक प्रशिक्षण केन्द्र, बकेवर (इटावा) — **जगदीश प्रसाद नैथानी**

प्रो० पाण्डे ने प्रस्तुत पुस्तक लिखकर पशुपालन क्षेत्र में एक सराहनीय ही नहीं वरन् अद्वितीय कार्य किया है। पशुपालन जैसे जटिल विषय का भारतीय आधार पर आधुनिकतम सरल एवं रोचक विवेचन ही इस पुस्तक की विशेषता है। मुझे विश्वास है कि इस विषय से सम्बन्धित विद्यार्थी, प्रशासक, नेता, पशुपालक, विषय विशेषज्ञ तथा विकास कार्यों में अथक् रूप से संलग्न प्रसार कार्यकर्त्ता इससे पूर्णतया लाभान्वित होंगे।

प्रिंसिपल, जनता डिग्री कालेज, बकेवर (इटावा) — **प्रेम नारायण सक्सेना**

प्रसार कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर आज के भारत में भारतीय आधार पर हिन्दी भाषा में लिखा हुआ यह ग्रन्थ, वास्तव में अद्वितीय है। प्रसार पुस्तकालयों, ग्राम-सभाओं, ग्राम-सेवकों तथा पशु-चिकित्सालयों के लिये यह अनुपम भेंट काफी लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

संयुक्त निदेशक, पशुपालन विभाग, उत्तर प्रदेश — **डा० धर्मेन्द्रनाथ मिश्र**

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में पशुधन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वह राष्ट्र की एक महत्वपूर्ण सम्पत्ति है, परन्तु खेद की बात है कि पशुपालन एक उपेक्षित विषय ही बना रहा है। फलतः इस विषय पर अभी तक भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी में कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया। "पशुपालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान" नामक ग्रन्थ लिखकर प्रो० पाण्डे ने इस कमी को पूरा करने का सफल प्रयास किया है, जिसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

पशु-पालन जैसे जटिल विषय को सरल तथा हृदय-ग्राहिणी शैली में लिखकर पाण्डे जी ने विद्यार्थियों का ही नहीं अपितु साधारण पढ़े-लिखे किसानों तथा देश के प्रसार कार्यकर्त्ताओं पर भी बड़ा उपकार किया है।

इस ग्रन्थ का जितना भी प्रचार हो उतनी ही पशु धन की रक्षा और वृद्धि में सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। देश को ऐसे नवविकसित लेखकों को अधिकाधिक प्रोत्साहन देकर गर्व करना चाहिए।

एस० सी० सक्सेना
प्रधान सम्पादक 'आजाद टाइम्स'

आपके अटूट परिश्रम का फल इतना सफल हुआ है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता और मैं अपने को धन्य समझता हूँ कि आप जैसे महानुभाव की कृति मैंने पढ़ी। इस पुस्तक को इस कालेज के छात्र सबसे अच्छी पुस्तक समझते हैं। भारत-माता को आप जैसे महानुभावों की आवश्यकता है। मैं व्यक्तिगत रूप से, भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि वह आपको ऐसे सद्प्रयत्नों के लिये प्रोत्साहित करता रहे।

जाट वैदिक कालिज
बड़ौत (मेरठ)

करनसिंह चौहान (छात्र)
बी० एस-सी० (कृषि)

मुझे आपकी निम्न रचनायें पढ़ने का सौभाग्य मिला :

(1) पशु पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान
(2) पशु पोषण एवं डेरी रसायन
(3) कुक्कुट, मधु-मक्खी तथा मत्स्य पालन

ये पुस्तकें हम राजस्थान विश्वविद्यालन के छात्रों के लिये वरदान साबित हो रही है। पुस्तकों की भाषा अत्यन्त सरल एवं रोचक है और साथ ही वैज्ञानिक तथ्यों को पूर्णतया स्पष्ट करती है व छात्रों में अध्ययन के प्रति जागरूकता पैदा करती है। मैं व मेरे साथी आपकी पुस्तकों को अत्यन्त पसन्द करते हैं। हम आपके अत्यन्त आभारी हैं कि आपने इन पुस्तकों की रचना की।

राजस्थान विश्वविद्यालय

राजीव मेहता (छात्र)
बी० एस-सी० (कृषि)

समीक्षा

(भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका 'पशुपालन' के जनवरी-मार्च 1964 अंक से उद्धृत)
(Review by Indian Council of Agricultural Research)

जैसा कि नाम से स्पष्ट है उक्त पुस्तक पशु-पालन के विभिन्न विषयों और पशु-चिकित्सा सम्बन्धी मुख्य-मुख्य रोग और उपचारों को लेकर लिखी गई है। पुस्तक को दो खण्डों में बाँटा गया है। पहले खण्ड के पशु-पोषण नामक अध्ययन में लेखक ने चारे, खाद्य-तत्व, खाद्य-मानक, बछड़ों को खिलाना, पशु खाद्य समस्या तथा खाद्य संरक्षण की चर्चा की है। इसी खण्ड के दूसरे अध्याय में कृत्रिम गर्भाधान, जनन तन्त्र, कृत्रिम गर्भाधान प्रविधि, वीर्य एकत्रीकरण, वीर्य परीक्षण, वीर्य तनुकारक, वीर्य संरक्षण एवं उनका परिवहन, मादा जननेन्द्रिय में वीर्य संचालन इत्यादि विषयों पर अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, मुर्गा, मेंढ़ा, बकरा इत्यादि पशुओं की शारीरिक संचालन क्रियाओं सहित चर्चा की है। प्रथम खण्ड के तीसरे और चौथे अध्यायों में मूल मेंडलवाद, प्रजनन पद्धति और वरण तथा डेरी उद्योग के बारे में सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए विशुद्ध रूप से प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड में पशु-चिकित्सा विज्ञान को पाँच अध्यायों में बाँटकर पशुओं की शरीर रचना, रोग जनन और प्रतिरक्षा, बीमारियों का वर्गीकरण **बैक्टीरियल रोग,** (जैसे—ऐन्थ्रेक्स, गलघोटू, लंगड़ी, तपेदिक, अतिसार, गर्भस्राव, बाँझपन, थनैला, निमोनिया), **वाइरस रोग,** (जैसे—पशु प्लेग, खुरपका-मुँहपका, माता), **परजीवी रोग** (जैसे—चीचड़ी-ज्वर, कॉक्सीडिओसिस), सामान्य रोग, उदर रोग, चर्मरोग इत्यादि के कारण, लक्षण, रोकथाम के बारे में लेखक ने बताया है।

वास्तव में, देश में यदि हमें पशुपालन की पूरी उपयोगिता लेनी है और उत्पादन से लाभ उठाना है तो इनके भोजन, सुप्रबन्ध, रोग नियन्त्रण, प्रजनन के अच्छे तरीकों पर ध्यान देना जरूरी है। पुस्तक में अनेक स्थानों पर अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग कुछ अटपटा सा है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय टर्मिनॉलोजी की दृष्टि से प्रचलित सा है। भाषा के स्तर को प्रबुद्ध लेखक ने कहीं भी गिरने नहीं दिया है।

दूसरे खण्ड के अन्तिम अध्याय में पशु-प्रसूति विद्या में असामान्य प्रसव, जननेन्द्रिय रोग, मिल्क फीवर, नवजात बच्चों के रोग, इत्यादि का वर्णन है। अन्त में पारिभाषिक शब्दावली भी दी है। उपरोक्त विषयों की दृष्टि से पुस्तक यथा नाम तथा गुण वाली कही जा सकती है। भाषा टैक्नीकल होते हुये भी सरल और सुबोध है। पशुपालन और चिकित्सा विज्ञान के छात्र तथा अन्य विषय सम्बन्धी लोगों के लिये पुस्तक बहुत उपयोगी है। चूँकि हिन्दी में इस विषय का साहित्य कम ही है, इसलिये पुस्तक और भी उपयोगी है। छपाई तथा गैटअप सुन्दर है।

भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद्
'कृषि भवन' नई दिल्ली

विषय-सूची

परिच्छेद पृष्ठ

पशु-पोषण

[ANIMAL FEEDING]

पशु-प्रजनन

[ANIMAL BREEDING]

कृत्रिम गर्भाधान

[Artificial Insemination]

मूल मेण्डलवाद
[Fundamental Mendalism]

प्रजनन प्रद्धति तथा वरण
[Breeding Systems and Selection]

डेरी फार्म व्यवस्था

[DAIRY FARM MANAGEMENT]

पशु-चिकित्सा विज्ञान

[VETERINARY SCIENCE]

बैक्टीरियल रोग
[Bacterial Diseases]

वाइरस रोग
[Virus Diseases]

परजीवी कीट रोग
[Parasitic Diseases]

सामान्य रोग
[Simple Ailments]

साधारण प्रसूति विद्या
[Simple Obstetrics]

कुक्कुट पालन
[POULTRY KEEPING]

खरगोश पालन
[RABBIT KEEPING]

पशु पोषण
ANIMAL FEEDING

लेखक की रचनायें

मौलिक :

1. पशु पोषण एवं डेरी रसायन
2. प्रयोगात्मक पशुपालन एवं चिकित्सा विज्ञान
3. आधुनिक पशुपालन-(इण्टरमीडिएट तथा हायर सेकेण्डरी के छात्रों के लिये)
4. पशुओं की प्राणघातक बीमारियाँ और उनका इलाज
5. Animal Nutrition & Biochemistry
6. Canine Advisory Service
7. पशु पालन एवं चिकित्सा विज्ञान
8. कुक्कुट, मधुमक्खी एवं मत्स्य पालन
9. आपका स्वास्थ्य और उसकी देख-भाल
10. Diseases, health care and management of Dogs & Cats

अनुवाद :

11. पशु आयुर्विज्ञान
12. भारत की सम्पदा (पशु पालन अनुभाग)
13. पशु जीवाणु एवं विषाणु विज्ञान–भाग I
14. पशु जीवाणु एवं विषाणु विज्ञान–भाग II

परिच्छेद : 1

मनुष्य, कृषि और पशुधन
(LIVESTOCK IN RELATION TO MAN AND AGRICULTURE)

कृषि और पशुधन भारत की अनमोल सम्पदा है। इस धरोहर का संरक्षक मानव, एक सामाजिक प्राणी है। आधुनिक मानव का विकास कब और कैसे हुआ इसकी शत-प्रतिशत सही जानकारी अभी तक प्राप्त न हो सकी है। प्राचीन काल में मनुष्य गोरिल्ला (एक प्रकार का वन्दर) के रूप में जंगलों तथा कन्दराओं में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता था। इसको वन मानुष भी कहा जाता था। छोटे-छोटे पशुओं का शिकार करके तथा वानस्पतिक पदार्थ एवं वन-फल खाकर वह अपना जीवन निर्वाह करता था। आधुनिक मनुष्य का इतिहास लगभग 25 हजार वर्ष पुराना है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास हुआ उसने अपनी आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दिया। सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही मनुष्य ने अपने भोजन तथा कार्य के लिये पशुओं को पालतू बनाया। उसने दूध के लिये गाय-भैंस, कृषि कार्य के लिये बैल, यातायात के लिये अश्व, मांस तथा ऊन के लिये भेड़-बकरियों एवं मुर्गों और अण्डों के लिये मुर्गियों को पालतू बनाकर उनके विकास पर अधिकाधिक ध्यान दिया।

मानव तथा कृषि से पशुओं का सम्बन्ध

रीड (1959) के अनुसार अब से लगभग 8 या 9 हजार वर्ष पूर्व सबसे पहले मनुष्य ने बकरियों को पाला और इसके बाद अब से लगभग 5–6 हजार वर्ष पूर्व गो-पशुओं को पालतू बनाया। आदिकाल से ही मनुष्य के जीवन में पशुधन का विशेष महत्व रहा है। पशु भूसा-घास जैसे निम्न कोटि के चारे खाकर मानव जाति के लिये उपयोगी दूध, दही, घी, मक्खन, ऊन तथा माँस जैसे बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करते हैं।

भारतवर्ष में रहने वाले अधिकांश लोगों का जीवन आज से नहीं वरन् शताब्दियों से कृषि पर निर्भर है। आज भी यहाँ के 75 प्रतिशत से अधिक लोग खेती करके ही अपनी जीविका चलाते हैं। प्रत्येक कृषक के पास थोड़ी ही भूमि होने के कारण ट्रैक्टर द्वारा की जाने वाली खेती लाभदायक नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि हमारी खेती भी पशुओं पर निर्भर है। इस प्रकार कृषि का आधार पशुपालन है और किन्हीं भी परिस्थितियों में इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

शहरों में रहने वाले लोगों को दूध तथा माँस की प्राप्ति के लिये पशुओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इन क्षेत्रों में हजारों लोग दूध के लिये गाय-भैंस पालकर एवं उनका दूध बेचकर ही अपनी जीविका चलाते हैं। दूध एक अमृतमय पेय है और इसके बिना मनुष्य का जीवन नहीं चल सकता। अत: खेती के लिये बैलों तथा पीने के लिये दूध की आपूर्ति हेतु मनुष्य ने गो तथा भैंस वंशज पशुओं को पालतू बनाने के बाद उनके विकास पर शुरू से ही अधिकाधिक ध्यान दिया। इसी आधार पर धीरे-धीरे उनका क्रमिक विकास हुआ।

पशुधन ऊर्जा का महान स्रोत

भारतवर्ष में 70 करोड़ रुपये के 400 करोड़ टन गोबर में 400 करोड़ पौण्ड नाइट्रोजन, 200 करोड़ पौण्ड फास्फोरस तथा 400 करोड़ पौण्ड पोटेशियम पाया जाता है। एक बैल से नित्य 20 किलो गोबर प्राप्त होता है। गोबर में 35 गुना कूड़ा-करकट, पत्तियाँ, खेत में बचे डण्ठल आदि तथा 20 गुनी मिट्टी मिलाकर कम्पोस्ट खाद तैयार की जाये तो एक बैल से 300 टन खाद प्राप्त होगी। इससे 10 टन एन० पी० प्राप्त होता है। शेष 290 टन, नमी वाली 145 एकड़ भूमि को उपजाऊ बनाने की क्षमता रखता है जिससे 40 प्रतिशत कृषि उत्पादन बढ़ता है तथा गृह एवं ग्रामीण उद्योग को बढ़ावा मिलता है। केवल एक बैल के गोबर से 20 पैसे प्रति किलो के हिसाब से पशु-पालक को नित्य 4 रुपये तथा 1440 रुपये वार्षिक आय हो सकती है।

मृत पशुओं के खुरों, टखने, ओंठ, कान तथा हड्डियों से जिलेटिन एवं ग्लू तैयार होता है। पूँछ के बाल ब्रुश बनाने के काम में आते हैं। हड्डियों से अस्थि चूर्ण, माँस तथा रक्त से माँस चूर्ण एवं रक्त चूर्ण बनकर पशुओं के लिये कैल्शियम, फास्फोरस तथा प्रोटीन युक्त खाद्य बनता है। वाष्पीकृत अस्थि चूर्ण खाद के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है।

राष्ट्र के उत्थान में पशुओं का योगदान

सन् 1973-74 की पशु गणना के अनुसार देश में पशुओं की कुल संख्या 35 करोड़ 50 लाख है। भारतवर्ष में पाये जाने वाले पशुओं की संख्या विश्व की पशु संख्या का 1/4 है। राष्ट्र की कुल वार्षिक आय का लगभग 20% भाग केवल पशुओं से ही प्राप्त होता है। यदि इसके साथ खेती की आय भी शामिल कर ली जाये तो यह आंकड़े देश की कुल वार्षिक आय के आधे से भी अधिक प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कृषि और पशुपालन भारत देश का सबसे बड़ा धन्धा है और हमारे पशु राष्ट्र के कोहिनूर हीरे के समान हैं क्योंकि पशुओं के बिना खेती नहीं हो सकती। खेती के लिए हमारे देश में 7 करोड़ से भी अधिक बैल पाले जाते हैं। इन पशुओं से प्राप्त मल-मूत्र से अच्छी खाद प्राप्त होकर हमारी जमीन को उपजाऊ बनाती है। साथ ही पशुओं का गोबर आधुनिक जीवन में गोबर गैस प्लांट लगाने में उपयोगी

सिद्ध हुआ है। इस प्रकार गोवर से बनी हुई गैस विजली जलाने, मशीनें चलाने तथा खाना पकाने के काम आती है और गोवर गैस प्लांट का वचा हुआ गोवर एक अच्छी खाद का काम देता है।

हमारे पशुओं से प्रतिवर्ष लगभग 663 करोड़ रुपये का दूध एवं दुग्ध-जन्य पदार्थ, 15 करोड़ रुपये की ऊन, 45 करोड़ रुपये की खाल, हड्डी तथा सींग और 99 करोड़ रुपये का माँस उपलब्ध होता है। कुल मिलाकर इस उद्योग से देश को दूध, माँस, अण्डे, कुक्कुट, ऊन, चमड़े तथा अन्य उत्पादों के रूप में प्रतिवर्ष लगभग 35–36 अरव रुपयों की आय होती है। वर्ष 1989–90 में भारतवर्ष से विदेशों को 16 अरव 40 करोड़ रुपयों का चमड़े से वना सामान निर्यात किया गया। इस अवधि में केवल कनाडा को 22 करोड़ रुपये का चमड़े से बना सामान भेजा गया। आजकल भारत में वनी चमड़े की वस्तुओं की विदेशों में वड़ी माँग है।

दिनांक 14.8.90 को अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित चमड़ा उद्योग विकास संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुये दिल्ली में केन्द्रीय उद्योग मंत्री श्री अजीत सिंह ने इस उद्योग की भावी संभावनाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट किया कि चमड़े की कलात्मक वस्तुओं के निर्यात का भविष्य अति उज्ज्वल है, अतः इसका विकास किया जाना चाहिए। इस गोष्ठी में देश के जाने-माने चमड़ा उद्योगपतियों तथा शिल्पियों ने भाग लिया।

अच्छी खेती तथा अच्छे स्वास्थ्य के लिये हमें अच्छे वैल तथा वढ़िया किस्म के दुधारु पशुओं की विशेष आवश्यकता है। किसी भी देश के आर्थिक विकास में पशुओं का विशेष योगदान रहा है। अमेरिका जैसे विकसित देश के पशु आज सबसे अधिक हृष्ट-पुष्ट एवं उत्पादक हैं। हमारे देश में भी वही प्रदेश अधिक उन्नति कर सके हैं जहाँ अच्छे कार्य करने वाले एवं अधिक दूध देने वाले पशु पाले जाते हैं। पंजाव, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश की खुशहाली इन्हीं पशुओं के कारण है। इन क्षेत्रों में यदि आप कभी जायें तो हर किसान के घर वढ़िया बैलों की जोड़ी तथा अधिक दूध देने वाली हरियाणा गाय या मुर्रा भैंस वाहरी चौपाल में आपको जरूर वंधी मिलेगी। दुधारू पशुओं से इन्हें अच्छा दूध मिलता है जिसे पीकर वे अधिक परिश्रमी एवं स्वस्थ रहते हैं। अच्छे बैलों से अधिक काम लेकर वे थोड़ी ही भूमि से अधिक उपज लेते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रदेश की जमीन उपजाऊ होते हुए भी यहाँ की पैदावार कम है तथा मनुष्य गरीब है। इसका कारण है यहाँ का निर्वल एवं निम्न कोटि का पशुधन जिससे न तो अच्छे बैल प्राप्त होते हैं और न दुधारू गाय। अतः मनुष्य को न तो दूध मिल पाता है और न भरपेट भोजन। फलतः वह बराबर कमजोर एवं निर्धन होता चला जाता है। भारतीय गाय एक व्यांत में औसतन 200 लीटर दूध देती है जबकि अमेरिका, यू० के०, डैनमार्क तथा स्विटजर-

लैण्ड में इनका उत्पादन प्रति व्यांत औसतन क्रमशः 4154, 3950, 3660 तथा 3902 लिटर है। अतः हमारे देश में पशुधन विकास हेतु बहुत सुधार करना आवश्यक है।

सारणी 1·1—विभिन्न देशों में गो पशुओं की संख्या
(दस लक्ष)

1.	भारतवर्ष	88·5
2.	वंगला देश	13·0
3.	इण्डोनेशिया	6·3
4.	वर्मा	7·7
5.	आस्ट्रेलिया	7·3
6.	मेक्सिको	13·3
7.	वेनेजुएला	8·7
8.	क्यूवा	7·5
9.	व्राजील	85·0
10.	कोलम्विया	22·0
11.	नाइजेरिया	11·0
12.	इथोपिया	26·5
13.	सूडान	15·3
14.	मडागास्कर	9·5
15.	कीनिया	7·5

अतः आवश्यकता इस बात की है कि खेती के विकसित एवं उन्नतिशील तौर-तरीकों की जानकारी के साथ-साथ हम पशुधन की उपेक्षा न करें। कृषि के सर्वांगीण विकास एवं मनुष्य की खुशहाली के लिये अच्छे कार्य करने वाले तथा अधिक दुधारू पशुओं की हमारे देश में विशेष आवश्यकता है। हमारे किसान भाइयों को चाहिये कि वे इनके रख-रखाव एवं पालन-पोषण पर अधिक ध्यान दें। सरकार की ओर से आजकल पशुधन विकास की कई योजनायें चलाई जा रही हैं। हमें चाहिये कि इनसे हम पूरा-पूरा लाभ उठायें और अपने हर प्रदेश को पंजाब तथा हरियाणा की भाँति खुशहाल बनायें। आर्थिक सहयोग के लिये आप ग्रामीण बैंकों तथा बीमा कम्पनी से सम्पर्क कर सकते हैं। सरकार तथा कुछ विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित समन्वित ग्राम्य विकास कार्यक्रम में भाग लेकर भी आप पूरी जानकारी तथा लाभ उठा सकते हैं।

सारणी 1·2—मृत पशुओं के अंगों से प्राप्त होने वाली औषधियाँ

उपजात	औषधि
1. पैंक्रियाज	इन्सूलीन, ग्लूकागान
2. म्युकोसा एवं फेफड़े	हिपैरिन
3. पिट्युटरी ग्रंथि	कार्टिकोट्रापिन, एफ. एस. एच. एल. एच.
4. हाइपोथैलामस	हार्मोन उत्पादक हार्मोन
5. थायरायड ग्रंथि	थायरॉक्सिन, थायरोग्लोब्युलिन
6. पैराथायरायड ग्रंथि	पैराथायराइड हार्मोन
7. पीनियल ग्रंथि	मेलाटोनिन
8. यकृत तथा रक्त	एन्जाइम, एन्जाइम सह-कारक
9. गोनैड	प्लैसेंटा लैक्टोजन अन्य हार्मोन तथा स्टीरॉयड
10. एड्रीनल ग्रंथि	स्टीरॉयड बनाने वाले एन्जाइम, एड्रीनलीन
11. स्पाइनल कार्ड तथा मस्तिष्क (कोलेस्टेराल) और पित्ताशय (पित्त, अम्ल)	स्टीरॉयड

मानवोपयोगी दवाओं हेतु पशुओं का उपयोग

संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और नीदरलैण्ड के वैज्ञानिकों ने काफी अनुसंधान के वाद बकरियों, भेड़ों और गायों की ऐसी नयी जेनटिक नस्लें तैयार की हैं जो अपने दूध में मानवोपयोगी दवाओं के तत्व भी छोड़ती हैं। दवा उत्पादन के क्षेत्र में इसे एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा रहा है क्योंकि इससे कुछ दुर्लभ दवाओं के उत्पादन मूल्यों में काफी कमी आयेगी। अमेरिका में प्रकाशित रिपोर्ट में कहा गया है इन सर्वथा नयी तकनीकों से चन्द पशुओं को कुछ दवाओं के उत्पादन के लिए 'जीवित औषधशालाओं' में वदला जा सकेगा और ऐसी दवाएँ हासिल की जा सकेंगी जिन्हें तैयार करना या तो बहुत कठिन है या महँगा। इन तकनीकों से सम्बन्धित पशुओं को कोई हानि नहीं होगी। वैज्ञानिकों ने जेनटिक रूप से परिवर्तित ऐसी बकरियाँ पैदा की हैं जो टिश्यू प्लासमिनोजेन एक्टीवेटर (टी पी ए) तैयार करती हैं। टी पी ए एक मुख्य मानवीय प्रोटीन है जो रक्त के थक्कों को घुला देता है और दिल के दौरों में उपचार के लिए प्रयुक्त होता है।

भारतवर्ष में 130 दसलक्ष भारवाही पशु देश में ऊर्जा का महान स्रोत हैं। ऐसे पशु देश में उपलब्ध 13 दसलक्ष बैलगाड़ियों को खींचने का काम करते हैं। हमें स्थानीय ऊर्जा के स्रोतों की आवश्यकता है और पशु शक्ति इस दृष्टि से सर्वोपरि है। भारतवर्ष में उपयोग होने वाली कुल ऊर्जा का एक तिहाई भाग मांसपेशियों अथवा दैहिक शक्ति से उपलब्ध होता है। इसमें से 28 प्रतिशत ऊर्जा भारवाही पशुओं तथा केवल 6 प्रतिशत मनुष्य से प्राप्त होती है। साँडों तथा भैंसों से 40 दसलक्ष अश्व शक्ति (horse power) ऊर्जा मिलती है जो 30,000 मेगावाट बिजली के बराबर है

और रुपयों में इसका मूल्य 15,000 करोड़ है। औसतन एक भारवाही पशु 0·5 अश्व शक्ति प्रदान करता है। अतः 130 दसलक्ष भारवाही पशुओं से हमें 65 दसलक्ष अश्व शक्ति ऊर्जा प्रतिदिन प्राप्त होती है जो कृषि कार्यों में खर्च होती है। लगभग 5 जोड़ी बैल एक ट्रैक्टर के बराबर कार्य करने की क्षमता रखते हैं। अतः इन बैलों से काम न लेने पर हमें 13 दसलक्ष ट्रैक्टर चाहिये होंगे, इनके लिये ईंधन, तेल उपलब्ध कराना भी एक समस्या होगी। खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के सर्वेक्षण के अनुसार विकासशील देशों में लगभग 52 प्रतिशत कृषि कार्य पशुओं पर ही निर्भर है। गाँवों में यातायात का प्रमुख साधन भी भारवाही पशु ही हैं। 5–7 किलोमीटर प्रति घण्टा की रफ्तार से एक जोड़ी बैल लगभग 1000 किलोग्राम वजन 40 किलोमीटर तक ले जा सकते हैं। इन बैलगाड़ियों को उपयोग में न लाने से लगभग 13 दसलक्ष आदमी तथा लगभग 26 दसलक्ष बैल बेकार हो जायेंगे—जो भारतीय परिस्थितियों में नितान्त असम्भव है। किन्तु खेद की बात है कि हमारे देश में भारवाही पशुओं के उत्थान के लिये कोई योजना नहीं बनाई गई। कृषि कार्यों में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों तथा बैलगाड़ी की बनावट में भी कोई अपेक्षाकृत सुधार नहीं किया गया। दुधारू पशुओं की तुलना में बोझा खींचने वाले पशुओं को आहार भी अच्छा नहीं मिलता। इन बातों पर ध्यान देकर इनकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ाई जा सकती है। देश में बढ़ रहे क्रास-ब्रीडिंग (संकरण) प्रोग्राम के तहत भारवाही पशुओं की दशा दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है क्योंकि संकर नस्ल के बैल कार्य के लिये अधिक अच्छे नहीं होते।

कृषि, वानिकी एवं पर्यावरण प्रदूषण

विगत दो-तीन दशकों में बढ़ती हुई आबादी के कारण वनों (जंगलों) का लगातार उजाड़ हुआ है। अनेक आदिवासियों का जीवन यापन आज भी वनों पर ही निर्भर है। जलाने के लिए लकड़ी काटने के अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि प्राप्त करने के लिये भी वनों की लगातार कटाई हो रही है। इससे दिन प्रतिदिन वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की बढ़ोत्तरी होकर पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। पहले हवा में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा 5% थी जो अब बढ़कर 10% हो गई है। वायुमण्डल में इसकी मात्रा 25% हो जाने पर जन-जीवन दूभर हो जाएगा। आज भी देश के लगभग 16 करोड़ पशु जंगल में चरकर ही अपना पेट भरते हैं। जंगलों की कटाई से, होने वाली वर्षा पर भी कुप्रभाव पड़ता है अतः हमारी उपजाऊ जमीन भी रेगिस्तान बनती जा रही है। देश में आज हर जगह प्रदूषण का बोलबाला है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि वनों की कटाई रोकी जाय और जगह-जगह नये पेड़ लगाये जाएँ एवं उनकी रक्षा की जाये अन्यथा आने वाले दिन देशवासियों के लिए और अधिक प्रदूषित एवं खराब होंगे। मनुष्य, पशुओं तथा फसल में बीमारियाँ बढ़कर उनका निरन्तर ह्रास होता चला जायेगा।

देश की बदली हुई परिस्थितियों में आज हमारे देश की जनता, सरकार, प्रशासकों तथा नियोजकों को इन तथ्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

परिच्छेद : 2

चारे के प्रकार एवं उनका वर्गीकरण

(KINDS OF FODDER AND THEIR CLASSIFICATION)

मानव अथवा पशु का शरीर एक मशीन के समान है। जिस प्रकार यन्त्र के सुचारू रूप से चलाने के लिये उसमें तेल देना, सफाई करना आदि अनिवार्य होता है, उसी प्रकार शरीर के लिये भी खाद्य पदार्थ आवश्यक होता है। यन्त्र की तरह शरीर भी शनैः-शनैः क्षीण होता रहता है। उस खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री की आवश्यकता होती है। पशु खाद्य पदार्थ मुख्य रूप से निम्न-लिखित दो प्रमुख भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—

1. मोटे चारे (Raughages), 2. दाने (Concentrates)।

मोटे चारे (Roughages)

वे चारे जिसमें रेशे (Crude fibre) **की मात्रा 18 प्रतिशत से अधिक तथा सम्पूर्ण पाचक तत्वों** (T. N. D.) **की मात्रा कम हो, मोटे चारे कहलाते हैं; जैसे भूसा, घास इत्यादि**। यह दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो हरे और दूसरे सूखे चारे। इसके अतिरिक्त, इसमें उपस्थित नमी के आधार पर इन्हें **रसीले** (Succulent) तथा **बेरसीले** (Non-succulent) भागों में बाँटा जा सकता है। वे चारे, जिनमें 75% या इससे अधिक नमी होती है, **रसीले** तथा इससे कम नमी वाले **बेरसीले** कहलाते हैं। वे चारे जिनमें फली आती हैं, **फलीदार** (Leguminous) कहलाते हैं, जैसे—वरसीम, लोभिया आदि। इसके विपरीत **बेफलीदार** (Non-leguminous) वे चारे हैं, जिनमें फली नहीं आती, जैसे—दूव, घास इत्यादि।

बेफलीदार चारे
(Non-leguminous Feeds)

(अ) बेफलीदार सूखे चारे

वे चारे, जिनमें नमी की मात्रा बहुत कम होती है, सूखे चारे कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत भूसा, सूखी घास तथा उनसे तैयार की हुई उपजात, इत्यादि अनन्य प्रकार के चारे आते हैं।

अधिकतर भूसे वहुत ही निम्न कोटि के चारे माने जाते हैं, क्योंकि इनमें प्रोटीन तथा फॉस्फोरस की मात्रा या तो वहुत कम होती है या होती ही नहीं। ऐसे चारे केवल पशु का पेट भरने के काम आते हैं। हमारे देश में सम्पूर्ण मोटे चारे की उपलव्धता में 50 प्रतिशत भूसा पैदा होता है।

गेहूँ का भूसा—भारतवर्ष के पशुओं का यह सबसे मुख्य चारा है। इसमें पाचक प्रोटीन की मात्रा विल्कुल ही नहीं होती। कैल्शियम भी वहुत कम होता है, परन्तु फॉस्फोरस कुछ अच्छी मात्रा में होता है। बहुत अधिक रेशेदार एवं आवश्यक

तत्वों की कमी होने के कारण यह बहुत ही निम्न श्रेणी का खाद्य है, परन्तु अन्य हरे चारे एवं दानों के साथ खिलाने में इसकी काफी उपयोगिता है।

जौ का भूसा—गेहूँ के वाद जौ भारत की मुख्य उपज है। अतः देश के उन भागों में जहाँ जौ पैदा होता है, उसका भूसा पशुओं का आहार वनता है। पौष्टिकता तथा रासायनिक संघटन में यह जई के भूसे से लगभग मिलता-जुलता है। इसमें अधिक मात्रा में सींकुर होने के कारण, इसके सेवन से कभी-कभी पशु का मुँह छिल जाता है।

जई का भूसा—जितने भी प्रकार के भूसे पशुओं को खिलाये जाते हैं, उनमें जई का भूसा सर्वश्रेष्ठ है। इसमें प्रोटीन तथा खनिज लवणों की मात्रा अन्य भूसों की अपेक्षा अच्छी होती है। यह काफी मुलायम एव स्वादिष्ट होता है। औसतन इसमें 93 प्रतिशत शुष्क पदार्थ (Dry Matter), 4·8 प्रतिशत सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) तथा 2·2% पाच्य प्रोटीन (D.C.P.) होती है।

धान का भूसा (पुआल)—भारत के कुछ भागों में इसका उत्पादन बहुत अधिक होता है, अतः पशुओं के चारे में इसकी काफी उपयोगिता है। इसमें प्रोटीन नहीं होती तथा फास्फोरस भी बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। पुआल में अपाचक रेशा तथा पोटाशियम लवण बहुत अधिक होते हैं। अधिक पोटाशियम लवण होने के कारण कैल्शियम का शोषण शरीर में कम हो जाता है तथा सोडियम लवण शरीर से अधिक निकलने लगता है। चूँकि इसमें कैल्शियम ऑक्जलेट की मात्रा भी बहुत अधिक होती है, अतः इसके अघुलनशील होने के कारण पशु कैल्शियम का उपयोग अपने शरीर के लिये नहीं कर पाते। आधुनिक ढंगों के अनुसार इसको **क्षारीय चिकित्सा** (Alkali Treatment) देकर उपर्युक्त दोष से रहित करके पशुओं को खिलाया जा सकता है।

ज्वार का भूसा—इसमें प्रोटीन, कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की मात्रा अन्य भूसों से अधिक अच्छी होती है। उत्तर प्रदेश में यह बहुतायत से पैदा होता है। पशुओं को खिलाने के लिये यह पुआल से अधिक अच्छा है। हमारे देश में ज्वार तथा वाजरे के सूखे डण्ठल कुट्टी के रूप में काटकर प्रायः पशुओं को खिलाये जाते हैं।

सूखी घास—यह दुधारू एवं उत्पादक पशुओं के लिये अति उत्तम चारा है। इसमें प्रोटीन, कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की मात्रा भूसों की अपेक्षा काफी अच्छी होती है।

(ब) बेफलीदार हरे चारे

यह दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो स्वयं उग आते हैं, जैसे दूब घास के चारागाह तथा दूसरे वे, जो उगाये जाते हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के चारे उगाये जाते हैं। इनमें से मुख्य उगायी जाने वाली फसलें जई, मक्का, ज्वार और वाजरा हैं। इन खाद्यों में आवश्यक तत्वों की मात्रा का होना, इनके काटे जाने वाले समय पर निर्भर होता है। विशेष तौर पर फूलते समय इनमें पोषक तत्व सबसे अधिक होते हैं।

मक्का—यह चारा खरीफ की फसल में तैयार होता है। फूलते समय इनमें पोषक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहते हैं। यह बहुत ही स्वादिष्ट एवं पाचक चारा है। इसकी अच्छी उपज के लिये खाद की भी आवश्यकता पड़ती है। जून से जुलाई तक इसकी बुवाई होती है। ऐसी भूमि, जिसमें पानी न रुकता हो, मक्का की उपज के लिये सर्वोत्तम है। (**चारे के लिये पूसा पीली नं० 2, मेरठी तथा के० टी० 41 नामक मक्का की किस्में काफी अच्छी हैं।**) लगभग दो माह में यह चारा तैयार हो जाता है। एक एकड़ भूमि से लगभग 90–110 क्विंटल चारा उपलब्ध होता है। इससे अच्छे किस्म की साइलेज भी बनती है।

जई—इसमें प्रोटीन तथा अन्य आवश्यक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं। यह रबी की फसल का मुख्य चारा है। संसार की यह बहुत आवश्यक फसल है। प्रति एकड़ भूमि की बुवाई के लिये लगभग 40 कि० ग्राम बीज की आवश्यकता पड़ती है। बुवाई के समय भूमि में काफी नमी होनी चाहिये। नमी की कमी होने पर खेत में पलेवा लगाना चाहिये। हरे चारे तथा दाने, दोनों का ही यह सर्वोत्तम स्रोत है। अक्टूबर से दिसम्बर तक इसकी बुवाई होती है। प्रति एकड़ जई की अनुमानित उपज लगभग 150 क्विंटल है। इसका प्रयोग सूखी घास बनाने के लिये भी होता है।

सेंजी—गन्ना तथा जूट बोये जाने वाले क्षेत्र का यह मुख्य चारा है। रबी के साथ इसकी बुवाई होती है। इसके लिये पानी की भी अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। बोने के लगभग दो माह बाद इसकी कटाई हो जाती है। एक एकड़ भूमि की बुवाई के लिये 6 से 8 किलो ग्राम बीज की आवश्यकता पड़ती है। प्रति एकड़ इसकी अनुमानित उपज लगभग 75 क्विंटल है।

ज्वार—डेरी पशुओं को खिलाने वाली उत्तरी भारत में यह खरीफ की मुख्य फसल है। ज्वार काफी शीघ्र उगकर थोड़ी ही भूमि से अधिक चारा दे देती है। प्रति एकड़ इसकी अनुमानित उपज 110–150 क्विंटल है। इससे साइलेज भी बनाई जाती है। समुचित सिंचाई अथवा पानी के अभाव में कभी-कभी उगने की प्रारम्भिक अवस्था में इसमें विष पैदा हो जाता है (Sorghum Poisoning) जिसको खाकर पशु मर जाता है। फूलते समय काटने पर आवश्यक तत्वों की मात्रा इसमें बहुत अच्छी होती है और हर वर्ग के पशुओं के लिये स्वयं ही निर्वाह आहार है। **चारे के हेतु पंजाब टाइप 100, 263 तथा एस० एच०–10 ज्वार की किस्में सर्वोत्तम हैं।**

बाजरा—यह चारे के लिये बहुत कम उगाया जाता है। इसमें फसल लेने के बाद बचा हुआ चारा पशुओं को खिलाया जाता है। जब केवल हरे चारे के लिये उगाया जाता है, तो इससे दानें की फसल नहीं ली जाती। यह काफी शीघ्र बढ़ता है, अतः प्रारम्भिक अवस्था में हरा काटकर ही पशुओं को खिलाया जा सकता है। पौष्टिकता में यह ज्वार तथा मक्का से कुछ कम होता है। इसमें 22 प्रतिशत शुष्क पदार्थ (D.M.) 13% सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) तथा 0·9% पाच्य प्रोटीन (D.C.P.) होती है।

सारणी 2·1—खाद्य पदार्थों का वर्गीकरण

वर्ग	उप-वर्ग	प्रकार	भेद	उदाहरण
1. मोटेचारे	सूखे चारे	सूखी घास	फलीदार	बरसीम की सूखी घास
			बेफलीदार	घास से बनी हुई सूखी घास
		भूसा	दानों का	जौ या गेहूँ का भूसा
			मिलेट का	ज्वार, बाजरा आदि का भूसा
			दालों का	लोभिया, अरहर, उर्द का भूसा
	हरे चारे	बिना उगाये गये	घास	दूव घास
			पेड़ों की पत्तियाँ	पीपल, गूलर, वेर आदि
			झाड़ियाँ	झरबेरी
		उगाये हुये	फलीदार	लूसर्न तथा बरसीम
			बेफलीदार	मक्का, ज्वार, हाथी घास इत्यादि
	साइलेज			मक्का, ज्वार, की साइलेज
2. जड़ें				आलू, गाजर आदि
3. दाना	बीज			बिनौले
	अनाज			जौं, जई, मक्का, चना
	खली			अलसी, मूँगफली, तिल इत्यादि
4. अनाज की उपजात				चोकर, चूनी इत्यादि
5. पशु उपजात				सपरेटा, मछली-चूर्ण, अस्थि-चूर्ण
				रक्तचूर्ण
6. औद्योगिक उपजात				यीस्ट तथा शीरा
7. खनिज तथा विटामिन मिश्रण				खाने वाला नमक, नूविमिन फोर्ट
				मिल्कमिन, वून-ओ-मिल्क
8. प्रतिजैविक पदार्थ				टेरामाइसिन, पैनिसिलिन
				स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि

9. व्यावसायिक खाद्य : हिन्द लिवर पशु आहार, झूला पशु आहार, पराग पशु आहार, टाटा पशु आहार आदि ।

पशु खाद्य में अजल पदार्थ (Dry matter) की मात्रा :

(1) भूसा, सूखी घास, दाने, भूसी तथा खली में 90%, (2) हरी ज्वार, हरी मक्का, हरी घास में 25%, (3) हरे फलीदार चारे जैसे बरसीम तथा लूसर्न में 20%, (4) पेड़ी की ज्वार में 35%, अजल पदार्थ पाया जाता है।

सूडान घास—ज्वार से काफी मिलता-जुलता बरसात के मौसम में उगने वाला यह हरा चारा है। यह बहुत पाचक, स्वादिष्ट एवं दुग्धवर्धक है। मार्च में बुवाई होकर मई में यह चारा देने लगती है। गर्मियों में इसे सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। वर्ष में इससे 7 कटिंग तक ली जा सकती हैं। प्रति एकड़ इसकी अनुमानित उपज लगभग 320 क्विटल तक है।

गिनी घास—यह वर्ष भर उपलब्ध हरा चारा है, जो जाड़ों में निर्जीव रहकर बरसात में काफी तेजी से उगता है। इसमें पोषक-तत्व अधिक होते हैं। यह खाने में भी स्वादिष्ट होती है।

नेपियर या हाथी घास—गिनी घास की भाँति यह भी वर्ष भर के लिये उपलब्ध हरा चारा है। यह घास, नम तथा गर्म मौसम में खूब उगती है। बरसात में इसकी बढ़ोत्तरी बहुत शीघ्र होती है। एक बार उगकर लगभग 5–6 वर्ष तक लगातार हरा चारा देती है। ऑक्जलेट की मात्रा इसमें अधिक होने के कारण पशुओं के लिये यह चारा कुछ हानिकारक सिद्ध हुआ है। कार्य करने वाले पशुओं का यह एक उत्तम चारा है, परन्तु उत्पादक एवं दुधारू पशुओं के लिये अधिक अच्छा नहीं होता। इसकी प्रति एकड़ अनुमानित उपज 225 क्विटल के लगभग है तथा वर्ष में 6 कटिंग देती है। इस बार काटने के बाद इसमें जोत तथा पानी लगाना पड़ता है। इससे साइलेज भी बनाई जाती है। इसमें 21·9% सम्पूर्ण पाचक (Dry Matter), 0·3% पाच्य प्रोटीन (D.C.P.) तथा 12·5% सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) होते हैं। हाथी घास देखने में गन्ने की फसल से मिलती-जुलती है।

पूसा जाइंट नेपियर—भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान (I.A.R.I.) द्वारा निर्मित यह बाजरा तथा नेपियर के मध्य की एक हाइब्रिड है, जिसकी अभी हाल में ही खोज की गई। यह हर प्रकार से नेपियर से अच्छी है तथा इसमें प्रोटीन एवं अन्य पोषक तत्वों मात्रा भी अपेक्षाकृत अधिक होती है।

अंजन घास—भारत में इसकी उपज खूब होती है। अन्य घासों की अपेक्षा यह अधिक पौष्टिक है। इसमें लगभग 4 प्रतिशत पाच्य प्रोटीन (D.C.P.) तथा 55 प्रतिशत सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) होते हैं। इस घास की एक नई किस्म पूसा जाइंट अंजन नाम से भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान द्वारा विकसित की जा चुकी है। इसमें पोषक तत्व अधिक मात्रा में होते हैं और साथ ही सब प्रकार से यह अंजन घास से उत्तम है।

करनाल घास (Diplachine fusca)—सेन्ट्रल स्वायल सैलिनिटी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, करनाल के वैज्ञानिकों ने करनाल घास के नाम से एक ऐसी घास का

आविष्कार किया है जो क्षारीय मिट्टी में भली-भाँति उगकर मिट्टी को भी उपजाऊ बनाती है। यह पशुओं के लिये अच्छा चारा है। क्षारीय मिट्टी में 2–3 वर्ष तक घास लेने के वाद उसमें धान तथा गेहूँ उगाया जा सकता है।

दूब चारा—इसको वरमुदा घास के नाम से भी जाना जाता है। भारत के प्रत्येक स्थान में प्राप्त यह सर्वश्रेष्ठ घास है। इसमें प्रोटीन की मात्रा 8 से 14% तक देखी गई है। गहरी तथा हल्की भूमि पर यह खूब तेजी से उगती है।

चारे के रूप में प्रयुक्त होने वाली पत्तियाँ

गन्ना की पत्ती तथा अगोले—गन्ना भारत की प्रमुख उपज है। अगस्त से अक्टूबर तक इसकी पत्ती काफी वड़ी होकर पशुओं को खिलाने के काम आती है। इस अवधि में इसमें पोषक तत्व काफी मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

पीपल, गूलर तथा बरगद की पत्तियाँ व कोपलें—इन पत्तियों में प्रोटीन अच्छी होती है। इसके पेड़ देश के पहाड़ी व मैदानी क्षेत्रों में वहुतायत से पाये जाते हैं। कुसमय में सभी जुगाली करने वाले पशुओं को भर पेट खिलाने के लिये इनका भली-भाँति उपयोग हो सकता है।

पहाड़ी क्षेत्र में उगने वाले **कीमू, बेदुली, बेड़ू, पिल्खन-पिलाक** तथा **तिमुला व ग्वाल तिमुला** के पेड़ों की पत्तियाँ वर्ष भर पशुओं को खिलाने में प्रयुक्त होती हैं। विशेषकर वेदुली की पत्तियाँ दुधारू पशुओं के लिये बहुत उपयोगी हैं।

नदियों के किनारे तराई वाले क्षेत्रों में **केले के पेड़, तरबूज, खरबूजा तथा उनकी बेलें** भी चारे के अभाव में अप्रैल से जुलाई तक भूसा के साथ मिलाकर पशुओं को खिलाई जा सकती हैं।

झरबेरी—भारत के प्राय: रेतीले क्षेत्रों में झरवेरी खूब उगती है। इसकी हरी कोमल पत्तियाँ संकट काल एवं गर्मी के दिनों में, जब अन्य हरे चारे का अभाव हो, पशुओं को भली-भाँति खिलाई जा सकती हैं। इसको खाने से दुधारू पशुओं का दूध भी बढ़ता है।

बाँस तथा खजूर की कोपलें—जिन क्षेत्रों में बाँस तथा खजूर अधिक पैदा होता है वहाँ अन्य चारे के अभाव में बाँस तथा खजूर की नई-नई कोपलें भी छोटी-छोटी काटकर भूसे के साथ मिलाकर पशुओं को खिलाई जाती हैं।

वाढ़ तथा सूखा से प्रभावित क्षेत्रों में पशुओं को ऐसी पत्तियाँ खिलाकर उनकी जीवन रक्षा की जा सकती है।

फलीदार चारे
(Leguminous Fodder)

(अ) फलीदार सूखे चारे

इनके अन्तर्गत अरहर, चना तथा मटर का सूखा भूसा एवं फलीदार शुष्क घासें आती हैं। वैसे तो यह भूसे काफी अच्छे खाद्य हैं, परन्तु यह बहुत ही थोड़ी मात्रा में उपलब्ध हो पाते हैं और इनके तने काफी सख्त होते हैं। यह अन्य भूसों की अपेक्षा अधिक पौष्टिक एवं स्वादिष्ट होते हैं। इनमें प्रोटीन की मात्रा कुछ अच्छी होती है, परन्तु फिर भी अकेले यह निर्वाह आहार नहीं माने जाते।

फलीदार सूखी घास—लूसर्न, बरसीम इत्यादि को सुखाकर जो घास तैयार की जाती है, उसे फलीदार सूखी घास कहते हैं। यद्यपि भारत में इस चारे का विल्कुल ही चलन नहीं है, परन्तु कुछ राजकीय पशुधन प्रक्षेत्रों एवं कृषि सम्वन्धी अनुसंधान संस्थाओं में इन्हें खूव प्रयुक्त किया जाता है। **भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्था**, इज्जतनगर में बरसीम, लूसर्न, मूँगफली तथा लोभिया सुखाकर ऐसी घासें तैयार की जाती हैं। इनमें प्रोटीन तथा कैल्शियम की मात्रा अधिक होने के कारण ये वड़े अच्छे खाद्य माने जाते हैं और अकेले ही निर्वाह आहार का कार्य कर सकते हैं। दुधारू पशुओं में इनका प्रयोग वहुत गुणकारी है। झांसी जिले में भरारी फार्म के पशुओं पर दास गुप्ता के क्रियात्मक अनुभवों के पश्चात् यह सिद्ध किया जा चुका है कि दाने के स्थान पर इन घासों को प्रयुक्त करके दूध उत्पादन का मूल्य कम किया जा सकता है।

(ब) फलीदार हरे चारे

हमारे देश में लूसर्न, बरसीम, मटर, लोभिया, ग्वार तथा सोयावीन इत्यादि फलीदार हरे चारे पशुओं को खिलाने में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं। ये उन सब क्षेत्रों में अधिक उगाये जाते हैं, जहाँ सिंचाई के अच्छे साधन उपलब्ध हों। ये चारे सर्वोत्तम माने जाते हैं, क्योंकि इनमें प्रोटीन, कैरोटीन तथा कैल्शियम की मात्रा बहुत अधिक होती है। ऐसे चारे बहुत ही पौष्टिक एवं स्वादिष्ट होते हैं। अधिक पौष्टिक होने के कारण सन्तुलित आहार के दाने की कमी को इनसे पूरा करके, सस्ता आहार वनाया जा सकता है। भूमि की उर्वरता बनाये रखने में भी ये चारे काफी सहायक होते हैं।

लूसर्न, मेथी, सेंजी तथा बरसीम रवी की फसल में उगाये जाने वाले तथा ग्वार, मोथ, मूँग और लोभिया खरीफ में बोये जाने वाले फलीदार हरे चारे हैं। इनमें से टेट्राप्लायड बरसीम, T-9 लूसर्न, लोभिया T-2, रसियन जाइंट E.C. 4216, K–397 तथा ग्वार T–2, F. S. 277 इनकी अधिक उपज देने वाली प्रकार हैं।

बोने के समय इन बीजों को राइजोबियम नामक सम्वर्ध (कल्चर) से उपचारित करने से इनसे अंकुरण बहुत अच्छा होता है और लगभग 10 प्रतिशत अधिक उत्पादन होता है। यह सम्वर्ध आप अपने प्रदेश के पशु-पालन विभाग द्वारा अथवा भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली से प्राप्त कर सकते हैं। फास्फेट युक्त उर्वरक, फलीदार फसलों को उगाने के लिये अधिक अच्छे माने जाते हैं।

लूसर्न—यह वर्ष भर उपलब्ध हरा चारा है। सितम्बर-अक्टूबर में इसकी बुवाई होती है। इससे एक वर्ष में 7–8 कटिंग ली जा सकती हैं। प्रत्येक कटिंग के बाद इसमें पानी लगाना पड़ता है। प्रति एकड़ इसकी अनुमानित उपज 225 क्विंटल है। **चारे के लिये सिरसा नं० 8 तथा 9 इसकी सर्वोत्तम किस्में हैं**। चूंकि यह घास शरीर में अधिक गर्मी उत्पन्न करती है अतएव इसका प्रयोग दुधारू पशुओं में बहुतायत से नहीं किया जाता। सूखे महीनों में जब हरे चारे की उपलब्धता कम होती है,

तभी प्रायः दुधारु पशुओं को खिलाने में इसका उपयोग किया जाता है। घोड़ों के लिये यह काफी अच्छा चारा है। कुसमय के लिये इसे शुष्क घास (hay) वनाकर सुरक्षित भी रखा जाता है। इसे 'रिजका' के नाम से भी जाना जाता है।

बरसीम—डेरी पशुओं का यह मुख्य चारा है। उत्तरी भारत में यह जाड़ों के महीने में उगायी जाती है। अक्टूबर का दूसरा सप्ताह इसकी बुआई के लिये सर्वोत्तम है। वोने के 8–10 दिन वाद इसके अंकुर निकल आते हैं। 15 से 20 दिन के अवकाश पर इसकी सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। हर 40 दिन वाद इसकी कटाई होती है। कटाई के तुरन्त वाद इसमें पानी लगाना चाहिये। पशु की सम्पूर्ण चारे की आवश्यकता का 50 प्रतिशत तक इसको खिलाया जा सकता है। प्रति एकड़ इसकी उपज वहुत अधिक होती है। इसमें एक वर्ष में 4-7 कटिंग ली जा सकती हैं। प्रति एकड़ भूमि की बुवाई के लिये 8–10 कि॰ ग्रा॰ वीज की आवश्यकता पड़ती है। इसे खिलाने से पशुओं का दूध वढ़ता है। वरसीम में प्रोटीन तथा कैल्शियम की मात्रा काफी अच्छी होती है। अतः इसे खिलाने से दाने की वचत होती है।

मटर—यह जाड़ों की फसल है, जो रवी के साथ तैयार होती है। चारे के रूप में इसका वहुत कम उपयोग होता है। पशुओं को खिलाने के लिये यह स्वादिष्ट चारा है, परन्तु इसकी पैदावार बहुत ही कम है।

लोभिया—यह खरीफ की फसल का हरा चारा है, जो सिंचाई के साधन उपलब्ध होने पर मार्च के अन्तिम सप्ताह से मध्य जुलाई तक वोया जाता है। प्रति एकड़ भूमि की बुवाई के लिये 10–12 कि॰ ग्रा॰ वीज की आवश्यकता पड़ती है। हर प्रकार की मिट्टी में यह फसल खूव होती है। 2–2½ महीनों में यह तैयार हो जाती है। चारे की अनुमानित पैदावार लगभग 150 क्विंटल प्रतिएकड़ है। दुधारू पशुओं के लिये बहुत ही उत्तम चारा है। फली आते समय इसमें पोषक तत्व सवसे अधिक होते हैं। अतः इसी अवस्था में इसे काटकर पशुओं को खिलाना चाहिये।

ग्वार—यह वहुत ही शीघ्र तैयार होने वाली खरीफ की फसल का एक हरा चारा है। मई से अगस्त तक इसकी बुवाई होती है। लगभग 10 से 20 कि॰ ग्राम वीज एक एकड़ भूमि के लिये पर्याप्त होता है। प्रति एकड़ चारे की अनुमानित उपज 55 से 75 क्विंटल के लगभग होती है। अधिक कार्य करने वाले पशुओं के लिये यह वहुत ही अच्छा चारा है। दुधारू पशुओं में भी थोड़ा वहुत इसका उपयोग होता है।

जड़ें तथा गुठलियाँ

भारत में गाजर पशुओं को खूव खिलाई जाती हैं। इसका प्रयोग विशेषकर दुधारू पशुओं में ही अधिक होता है। इसमें कैरोटीन की मात्रा बहुत अधिक होती है। गाजर खिलाने से पशुओं का दूध वढ़ता है। इसके अतिरिक्त, थोड़ी मात्रा में आलू भी पशुओं का खाद्य उन भागों में वनता है, जहाँ इसकी उपज अधिक होती है। कुसमय में टैपिओका की जड़ें तथा आम व जामुन की गुठलियाँ भी पशुओं को खिलाई जा सकती हैं।

हमारे देश में लाखों टन आम तथा जामुन की गुठलियाँ प्रतिवर्ष उपलब्ध होती हैं। भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर के पशु-पोषण विशेषज्ञ डॉ० केहर तथा डॉ० सहाय ने अपने क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि इन गुठलियों में पशु-जीवन-रक्षा हेतु पौष्टिक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं। अतः संकट काल में ये पशुओं को खिलाई जा सकती हैं।

पशु आहार में मोटे चारे की उपयोगिता
(Value of Roughages in Feeding Livestock)

जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं, अधिक रेशेदार होने के कारण ये चारे राशन की मात्रा बढ़ाते हैं, जो कि भोजन प्रणाली के तनाव के लिये नितान्त आवश्यक हैं। अतः इस प्रकार तनाव पाकर ही भोजन प्रणाली अपना पूरा कार्य करने में समर्थ होती है। ये चारे भोजन प्रणाली के अन्दर अधिक पानी शोषित करके मृदुरेचक (Laxative) प्रभाव पैदा करते हैं। ऐसे चारे अधिक सस्ते एवं शीघ्र शक्तिदायक होते हैं। जुगाली करने वाले पशुओं में इनका और भी अधिक महत्व है। रूमेन में बैक्टीरिया, प्रोटोजोआ आदि जीवाणुओं को कार्यान्वित करने के लिये ये चारे अनुकूल अवस्थायें प्रदान करते हैं। ये जीवाणु इन खाद्यों के रेशे या दुष्पचनीय तन्तु को तोड़कर, उनसे वाष्पशील वसीय अम्ल (Volatile Fatty Acids), जैसे एसिटिक, प्रोपिआनिक तथा ब्यूटायरिक अम्ल पैदा करते हैं, जो पशुओं के शरीर के लिये शक्ति प्रदान करते हैं। ये जीवाणु इन खाद्यों से कुछ आवश्यक ऐमिनो अम्ल (Essenital Amino Acid) तथा विटामिन्स भी तैयार करते हैं। कुछ अच्छे प्रकार के मोटे चारे अकेले ही निर्वाह आहार बनते हैं। भोजन प्रणाली की दीवालों में संकोचन और विमोचन क्रियाओं के सम्पन्न होने में भी इन खाद्यों की आवश्यकता होती है। पाचक-रसों की क्रिया के लिये ये चारे अधिक बड़ी सतह प्रदान करते हैं, जिससे उनका प्रभाव भोजन पर भली प्रकार हो सके। उत्पादक पशुओं में, उनकी अजल पदार्थ (Dry Matter) की सम्पूर्ण आवश्यकता का 2/3 भाग इन्हीं चाराओं से दिया जाता है।

दाने
(Concentrates)

चूँकि दानों में रेशे की मात्रा कम तथा सम्पूर्ण पाचक तत्वों (T. D. N.) की मात्रा 60% या अधिक होती है, अतः यह उत्पादन, वृद्धि एवं कार्य करने वाले पशुओं के राशन का आवश्यक भाग हैं। यह भली-भाँति विदित है कि मोटे चारे अकेले ही उत्पादन, वृद्धि एवं कार्य करने वाले पशुओं को सभी आवश्यक तत्व प्रदान नहीं कर सकते। अतः इस कमी की पूर्ति पशु को विभिन्न प्रकार के दाने या पौष्टिक मिश्रण खिलाकर की जाती है। दानों के अन्तर्गत अनाजों एवं फलियों के दाने, तैलीय वीज, खली तथा आनाजों की उपजात आते हैं, जिनका वर्णन अगले पृष्ठ पर किया जा रहा है—

(1) अनाज के दाने (Grains)

इनमें रेशे (Crude Fibre) की मात्रा बहुत कम तथा स्टार्च अधिक होती है। सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.) अधिक होने के कारण यह बहुत शक्तिदायक माने जाते हैं। दाने बड़े ही स्वादिष्ट होते हैं। भारत में मक्का, ज्वार, बाजरा, जौ तथा चने का दानों के रूप में काफी प्रयोग होता है। इनमें बहुधा सोडियम क्लोराइड तथा कैल्शियम की कमी होती है, परन्तु फॉस्फोरस तथा पोटेशियम की मात्रा संतोषजनक होती है। दाने में विटामिन 'बी' तथा 'ई' काफी मात्रा में होते हैं परन्तु पीली मक्का को छोड़कर सभी में विटामिन 'ए' तथा 'डी' की विशेष कमी होती है।

जौ तथा जई का दाना सभी प्रकार के पशुओं को खिलाया जा सकता है। चना भारत में सब पशुओं को खिलाया जाता है। इसमें कैल्शियम, फॉस्फोरस की मात्रा एवं अनुपात काफी अच्छा होता है। अरहर तथा ग्वार काफी सस्ते होने के कारण चने के स्थान पर थोड़ा-बहुत प्रयुक्त होते हैं। मक्का अधिक खिलाने से पशु के पेट में दर्द हो जाता है। अतः इसको अन्य दानों के साथ मिलाकर ही खिलाना चाहिये।

(2) दानों की उपजात (Concentrate Byproducts)

गेहूँ का चोकर (Wheat Bran)—यह बहुत ही स्वादिष्ट एवं पाचक है। पशुओं के दाने में इसका अधिक प्रयोग होता है। इसमें 7 से 10 प्रतिशत प्रोटीन तथा काफी मात्रा में फॉस्फोरस होता है। रोगी पशुओं को भी निर्भीकता से इसे खिलाया जा सकता है। यह अंतड़ी को साफ रखता है। उपर्युक्त गुणों के कारण दुधारू पशुओं के राशन में इसका बहुत उपयोग होता है। छोटे बछड़ों को पालने में कुल पौष्टिक मिश्रण का 50% तक इसे खिलाया जा सकता है।

चावल का चोकर या घूटा (Rice Bran)—यह भी काफी स्वादिष्ट होता है। घोड़ों को खिलाने में आजकल लोग इसे अधिक प्रयुक्त करते हैं। परन्तु इसे अकेला खिलाने से उनके पेट में दर्द पैदा होने का भय रहता है, अतः दानों के साथ मिलाकर इसे प्रयुक्त करना चाहिये। गेहूँ के चोकर की अपेक्षा इसकी पौष्टिकता काफी कम है।

चूनी (Husk)—दाल बनाते समय जो छिलका निकलता है, उसे चूनी कहते हैं। प्रोटीन की मात्रा अधिक होने के कारण पशुओं को खिलाने में इसका काफी उपयोग होता है। इसमें खनिज लवण भी समुचित मात्रा में होते हैं। इसको खिलाने से पशुओं के दूध का बहाव बढ़ जाता है। आमतौर से भारत में अरहर, उर्द, मूंग तथा मसूर की चूनी पशुओं को खिलाई जाती है।

(3) तैलीय बीज तथा खली (Oil Seeds & Oil Cakes)

ये बहुत स्वादिष्ट एवं शीघ्र पाचक पदार्थ हैं। इनमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होने के कारण, राशन में प्रोटीन का सन्तुलन करने के लिये इनका विशेष

उपयोग होता है। भारत में खली दो प्रकार से तैयार होती है—एक तो मशीन द्वारा, दूसरे बैलों के कोल्हू द्वारा। कोल्हू द्वारा निर्मित खली पौष्टिक होती है और देहातों में मध्य-वर्ग के कृषक इन्हीं को प्रयुक्त करते हैं। इनमें फॉस्फोरस की मात्रा अधिक तथा कैल्शियम कम होता है। इन खाद्यों को सुरक्षित रखने के लिये विशेष सावधानी वरतनी पड़ती है, क्योंकि यदि ठीक प्रकार भंडारित न किया जाये तो इनमें सड़न एवं फफूँदी लग जाती है। तैलीय बीज में अधिकतर विनौलों का ही प्रयोग पशु के खिलाने में देश के कुछ भागों में होता है और लोगों का यह विश्वास है कि इसमें अधिक तेल होने के कारण दूध के उत्पादन तथा उसमें चिकनाई की वृद्धि होती है, परन्तु विनौलों में एक विषैला पदार्थ उपस्थित होने के कारण, इन्हें खिलाने से पशुओं को हानि भी होती देखी गई है। खिलाने से पूर्व एक घण्टा तक गर्म पानी में भिगोने से इनकी पौष्टिकता अच्छी हो जाती है।

अलसी, बीज के रूप में पशुओं को नहीं खिलाई जाती परन्तु कभी-कभी इसका प्रयोग बीमार पशुओं, घोड़ों तथा निधृत दूध पीने वाले छोटे बछड़ों के लिये होता है, जिनको उवालकर अथवा कुचलकर यह बीज खिलाये जाते हैं।

बिनौलों की खली (Cotton Seed Cake)—इसमें प्रोटीन तथा फॉस्फोरस की मात्रा अधिक होती है और दुधारू पशुओं को खिलाने में इसका खूब उपयोग होता है। इसे खिलाने से दूध की मात्रा वढ़ जाती है।

मूँगफली की खली (Groundnut Cake)—इसमें प्रोटीन की मात्रा 40 प्रतिशत तक होती है। अतः अधिक उत्पादक एवं युवा पशुओं में इसका काफी उपयोग होता है। इसमें 1·28 प्रतिशत फॉस्फोरस भी होता है तथा यह काफी स्वादिष्ट होती है।

अलसी की खली (Linseed Cake)—इसमें कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा प्रोटीन की मात्रा काफी होती है। अधिक स्वादिष्ट एवं पाचक होने के कारण युवा पशुओं को खिलाने में इसका खूब प्रयोग होता है। इसमें 25 प्रतिशत पाचक प्रोटीन होती है। दुधारू पशुओं को यह विशेष रूप से खिलाई जाती है।

तिल की खली (Til Cake)—इसमें कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा प्रोटीन अधिक मात्रा में पाया जाता है। यह अधिक समय तक सुरक्षित रह सकती है। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि अधिक मात्रा में इसका उपयोग दूध में ठोस पदार्थों (Total Solids) की कमी कर देता है।

सरसों की खली (Mustard Cake)—भारत में इसका उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु अधिक तेज गन्ध आने के कारण इसको पशु पसन्द नहीं करते। बैलों के खिलाने में इसका उपयोग अधिक होता है। पौष्टिकता में यह अलसी की खली के लगभग बराबर ही होती है।

गरी की खली (Coconut Cake)—जिन प्रदेशों में नारियल पैदा होता है, वहाँ इनकी खली का उपयोग पशुओं को खिलाने में होता है। इसमें पाचक प्रोटीन

की मात्रा 7 से 10 प्रतिशत तक होती है। दक्षिण भारत में इसका अधिक उपयोग होता है।

पशु उपजात (Animal Byproducts) :

सपरेटा (Skimmed Milk)—दूध से मक्खन निकाल लेने के बाद जो तरल पदार्थ बचा रहता है उसे सपरेटा अथवा मखनिया दूध कहते हैं। सिंचाई को छोड़ कर इसमें दूध में उपस्थित लगभग सभी पोषक तत्व मौजूद रहते हैं। बछड़ों तथा अन्य बढ़ोत्तरी करने वाले पशुओं के लिये यह अति उपयोगी है। डेरी फार्मों पर कृत्रिम विधि से पाले जाने (Artificial Rearing) वाले बछड़ों को यह खूब पिलाया जाता है।

मछली का चूर्ण (Fish meal)—अनुपयोगी मछलियों से तैयार किया जाने वाला यह बहुत ही पौष्टिक पदार्थ है। इसमें लगभग 10 प्रतिशत पानी, 55 प्रतिशत प्रोटीन, 6–9 प्रतिशत चिकनाई तथा 25 प्रतिशत खनिज लवण, विशेषकर 5·4 प्रतिशत कैल्शियम और 3·4 प्रतिशत फॉस्फोरस होता है। विटामिन 'ए', 'डी' तथा कुछ 'बी' ग्रुप के विटामिन भी इसमें पाये जाते हैं। विटामिन '$बी_{12}$' का यह सर्वोत्तम स्रोत है। उत्पादन एवं वृद्धि करने वाले पशुओं को जीवाणुरहित मछली का चूर्ण खिलाना लाभप्रद होता है।

अस्थि चूर्ण (Bone Meal)—मछली के चूर्ण की भाँति यह भी एक बहुत ही पौष्टिक पदार्थ हैं, जो हड्डियों को जीवाणुरहित (Sterilize) करने के बाद बनाया जाता है। इसमें 7 प्रतिशत प्रोटीन, 30 प्रतिशत कैल्शियम, 15 प्रतिशत फॉस्फोरस तथा 3 प्रतिशत चिकनाई होती है। उत्पादन एवं वृद्धि करने वाले पशुओं में खनिज लवणों, विशेषकर कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की पूर्ति के लिये इसका खिलाना बहुत ही लाभदायक सिद्ध होता है।

रक्त चूर्ण (Blood Meal)—यह पशुवध गृहों (Slaughter Houses) में मारे गये पशुओं के निकाले हुए रक्त को सुखाकर तैयार किया जाता है। इसमें प्रोटीन की मात्रा लगभग 70 प्रतिशत होती है। अतः राशन में प्रोटीन की मात्रा पूरी करने के लिये विदेशों में इसका खूब उपयोग होता है। कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की मात्रा इनमें कम होती है। भारत में मुर्गियों को छोड़कर अन्य पशुओं को खिलाने के काम में इसका उपयोग अभी नहीं के बराबर है। बड़े-बड़े पशुवध-गृहों जैसे—बम्बई, कलकत्ता इत्यादि शहरों में जहाँ बहुत से पशु नित्य हलाल किये जाते हैं, काफी मात्रा में रक्त चूर्ण तैयार होता है।

औद्योगिक उपजात (Industrial Byproducts)—शक्कर एवं शराब बनाने वाले कारखानों से निकला हुआ यीस्ट तथा शीरा पशुओं के लिये बहुत ही उत्तम खाद्य है। यीस्ट में 45 प्रतिशत प्रोटीन, 35 प्रतिशत विलेय (Soluble) कार्बोहाइड्रेट, 10% खनिज पदार्थ तथा बहुत ही थोड़ी मात्रा में चिकनाई होती है। इसमें विटामिन 'बी काम्पलेक्स' बहुत होता है। यह पूर्ण राशन का 7 प्रतिशत तक खिलाया जा

सकता है। शीरे में कार्बोहाइड्रेट तथा फॉस्फोरस की मात्रा काफी होती है। अधिक प्रोटीन युक्त चारे खिलाने के वाद एक दो पौंण्ड शीरा खिलाने पर, उसमें अणुजैविक भंजन (Bacterial Synthesis) अधिक होने के कारण चारे की पौष्टिकता बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रतिजैविक पदार्थ (Antibiotics) बनाने वाली फैक्टरियों से निकले उपजात, जैसे पैनिसिलिन-माइसिलिया (Penicillin Mycelia) जो उनके द्वारा पड़ौस के मैदान पर फैंक दिये जाते हैं, पशुओं के लिये बहुत ही अनुपम खाद्य हैं।

खनिज पूर्ति (Mineral Supplement)—वृद्धि करने वाले एवं उत्पादक पशुओं को दैनिक दिये जाने वाले राशन से पर्याप्त खनिज लवण नहीं मिल पाते। अतः उनको अलग से खाने वाला नमक 30 से 60 ग्राम तथा थोड़ी मात्रा में विभिन्न औषधि निर्माताओं द्वारा बनाये गये खनिज मिश्रण चारे में मिलाकर खिलाना वहुत आवश्यक होता है। इनसे उनके शरीर में किसी भी खनिज लवण की कमी नहीं होने पाती। बूट्स प्योर ड्रग कम्पनी द्वारा बनाये गए सुपरमिन्डफ खनिज मिश्रण में 23·6 प्रतिशत कैल्शियम, 11·4 प्रतिशत फॉस्फोरस, 510 भाग प्रति दस लक्ष (Million) ताँवा, 500 भाग प्रति दस-लक्ष कोवाल्ट, 1800 भाग प्रति दस-लक्ष मैंगनीज, 0·025% आयोडीन, 0·75% गन्धक, 0·24% लोहा तथा 30% सोडियम क्लोराइड होता है। इसी प्रकार साराभाई केमिकल्स द्वारा निर्मित 'नूविमिन' तथा 'मिल्कमिन', हेक्स्ट द्वारा निर्मित 'हेक्स्ट खनिज मिक्षण', एरिज द्वारा निर्मित 'वून-ओ मिल्क', सायनामिड इण्डिया लिमिटेड द्वारा निर्मित 'आरोफैक', फाइजर द्वारा निर्मित 'टी-एम० 5' तथा 'विटामिक्स-एम', और शा वैलेस एण्ड कम्पनी द्वारा निर्मित 'स्टार्मिन', आदि अन्य खनिज मिश्रण हैं जिन्हें पशुओं को उनकी आवश्यकतानुसार चारे दाने में मिलाकर खिलाया जा सकता है।

प्रतिजैविक पदार्थ (Antibiotics)—भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) इज्जतनगर, में किये गये कुछ अन्वेषण इस बात की पुष्टि करते हैं कि छोटे एवं वृद्धि करने वाले प्रायः सभी पशुओं को थोड़ी मात्रा में प्रतिजैविक पदार्थों का खिलाना विशेष महत्व रखता है। रूमेन के विकास के पूर्व छोटे बछड़ों में इनका प्रयोग, उनकी वृद्धि के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह भोजन प्रणाली में उपस्थित, खाद्य भंजन करने वाले जीवाणुओं की कार्यक्षमता बढ़ाते हैं। 20 से 40 मिलीग्राम की मात्रा में बछड़ों को प्रतिजैविक पदार्थ खिलाने पर उनमें कोई भी भोजन प्रणाली का रोग नहीं होने पाता और उनकी शीघ्र बढ़ोत्तरी होती है। प्रति-जैविक पदार्थों में यह गुण उनमें उपस्थित एक **'पशु प्रोटीन कारक'** (Animal Protein Factor) के कारण होता है। आजकल उपलब्ध प्रतिजैविक पदार्थ **टेरा-माइसिन, पैनिसिलिन, वैसिट्रेसिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा आरोमाइसिन इत्यादि हैं।**

व्यावसायिक खाद—आजकल कुछ कम्पनियों द्वारा पौष्टिक मिश्रण अथवा विटामिन मिश्रण के रूप में बने बनाये पशु-खाद्य पदार्थ बाजार में उपलब्ध हैं जिन्हें

खरीदकर पशुओं तथा कुक्कटों को खिलाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में हिन्द लीवर पशु तथा कुक्कुट आहार, झूला पशु आहार, 3–नाइट्रो-हेक्स्ट, स्टार मार्का पशु आहार, पराग तथा पुश्ती आहार का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें खिलाने से पशुओं को अलग से दाना खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

देश में चारा विकास की नई दिशायें

अभी हाल में किये गये अन्वेषणों से यह पता चला है कि तालाबों में होने वाली काई, पहाड़ों पर उगाया जाने वाला साँवा, दीनानाथ घास तथा शलजम भी पशुओं के लिये अच्छे चारे हैं। साथ ही ज्वार, बाजरा, टैपिओका, सरसों, लूसर्न, बरसीम, लोबिया, ग्वार तथा जई की अधिक उत्पादन देने वाली नई किस्मों का भी विकास किया गया है। महुआ की खली को भली-भाँति धोकर पशुओं को खिलाया जा सकता है। दुधारू पशुओं के लिये रबर के बीजों की खली भी उपयोगी पाई गई। भारतीय पशु चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान में भूसे और चारे में यूरिया तथा शीरा मिलाकर उनके ईंटों की आकृति के बनाये गये चौकोर टुकड़े पशुओं के लिये अच्छा तथा सस्ता आहार सिद्ध हुए।

प्रादेशिक पशु-पालन विभागों की ओर से चारा विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत किसानों को उन्नतिशील पौष्टिक हरे चारे के बीज पशु चिकित्सकों के मांध्यम से वितरित किये जाते हैं। बुन्देलखण्ड तथा प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में चारे के बीच 50 प्रतिशत अनुदान पर दिये जाने की व्यवस्था है तथा शेष भागों में बिना लाभ-हानि के उक्त सुविधा प्रदान की जाती है। अपने निकट के विकास अधिकारी अथवा पशु चिकित्सक से सम्पर्क करके आप उपर्युक्त सुविधाओं की जानकारी करके पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं।

देश में लूसर्न, बरसीम तथा लोबिया जैसी प्रोटीन-बहुल दलहनी चारे की फसलों का प्रचलन लगातार बढ़ रहा है। फालतू हरे चारे एवं घास से तैयार सूखे चारे का उपयोग गर्मी के मौसम में भली-भाँति किया जा सकता है। धान का पुआल एवं गेहूँ का भूसा जैसे निम्न कोटि के चारे तथा गन्ने की खोई का उचित उपचार करके अधिक पौष्टिक एवं रुचिकर बनाया गया है। चारे के अभाव के समय इनकी विशेष उपयोगिता है। पशुओं की आहार सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं दाने-चारे के पोषण मूल्य की जानकारी प्रदान करने के लिये उनके पोषक गुणों में रेडियो-आइसोटोपों का प्रयोग किये जाने लगा है। सल्फर, कॉपर, कोबाल्ट, जिंक, मैग्नीशियम तथा सेलेनियम की निर्धारित मात्रा देकर विभिन्न नस्ल के पशुओं की उत्पादन क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

परिच्छेद : 3

खाद्य-तत्व एवं उनके कार्य

(FOOD CONSTITUENTS AND THEIR FUNCTIONS)

जैसा भोजन वैसा तन-मन। पशुओं का जीवन अधिकतर वनस्पति जगत पर ही निर्भर है। भिन्न वर्ग के पशुओं को अपनी शरीर रक्षा, वृद्धि एवं विकास के लिये विभिन्न प्रकार के चारे-दाने की आवश्यकता पड़ती है।
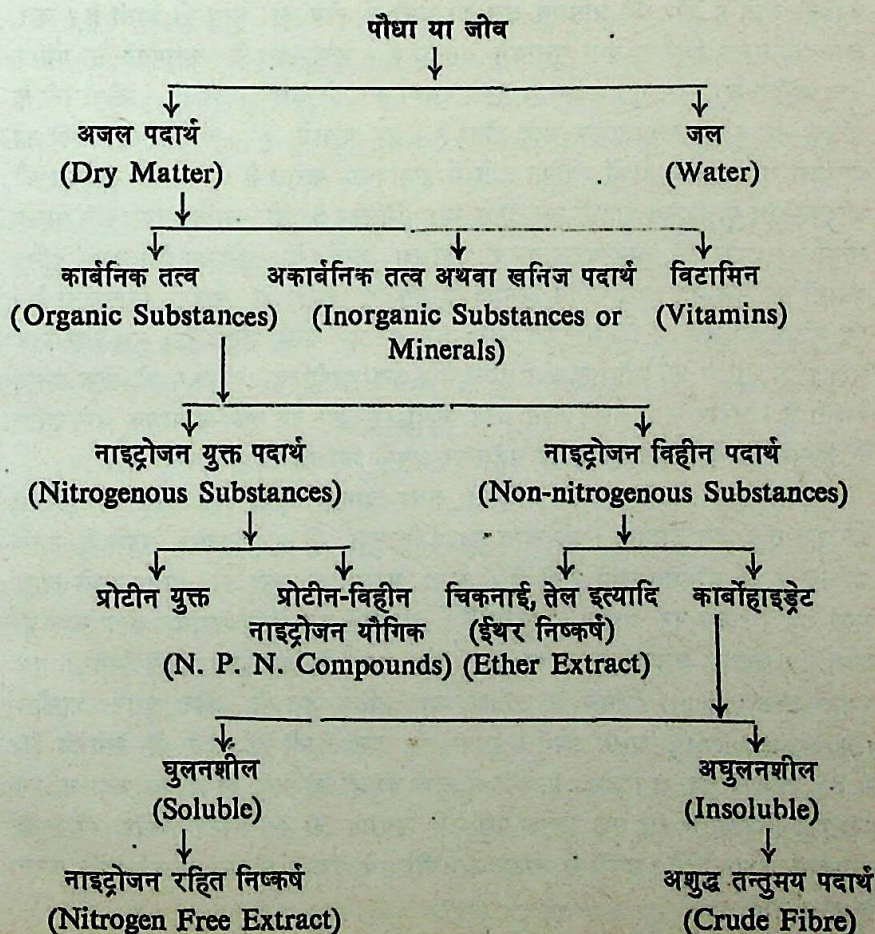
पशु आहार वैसे तो भिन्न दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इन सब में लगभग एक ही प्रकार के पोषक तत्व होते हैं। ये कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, चिकनाई, जल, खनिज-लवण तथा विटामिन हैं। इन सब तत्वों का अपना अलग-अलग कार्य होता है। पशु के शरीर में भी यह समस्त तत्व पाये जाते हैं, परन्तु यहाँ इनका अनुपात पौधों की अपेक्षा कुछ भिन्न होता है। किसी भी जीवधारी में चाहे वह पौधा हो, पशु हो अथवा मनुष्य निम्नलिखित पोषक तत्व पाये जाते हैं, जिनका वर्णन यहाँ किया जा रहा है—

जल

यद्यपि जल एक सर्व-साधारण एवं सस्ता पदार्थ है, परन्तु इसके बिना किसी भी जीवधारी का जीवन नहीं चल सकता। यदि पशु को भोजन न मिले, तो वह बगैर खाये ही काफी दिनों तक जीवित रह सकता है। परन्तु **आवश्यकता का 10 प्रतिशत जल यदि शरीर में कम हो जाये, तो जीवधारियों में विभिन्न प्रकार के कष्ट पैदा हो जाते हैं और 20 प्रतिशत जल की कमी में जीव की मृत्यु हो जाती है।** जल, खाने को तरल, चिकना तथा मुलायम बनाता है। अतः इसकी सहायता से पोषक तत्व शरीर के अन्दर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाये जाते हैं। जीवधारी के प्रत्येक अंग का जल आवश्यक भाग होता है। यह पचाये हुये भोजन को अंतड़ी की दीवालों से रक्त प्रणाली में शोषित होने में सहायता करता है। रक्त में भी जल की आवश्यकता है, जिसके सहारे उसे तरल रूप मिलता है, जो शोषित किये हुये पोषक तत्वों को शरीर की आवश्यकतानुसार विभिन्न अंगों में पहुँचाता है। जल दूषित पदार्थों को मल-मूत्र तथा पसीने इत्यादि के रूप में शरीर के बाहर निकालता है। पूरे शरीर का लगभग 50 प्रतिशत भाग जल का ही बना होता है। कुछ शारीरिक तन्तुओं में 70 से 90 प्रतिशत जल होता है। जल शारीरिक तापक्रम को ठीक बनाये रखता है। शरीर से निकलने वाले प्रायः सभी रसों का यह एक आवश्यक भाग होता है, जिससे कि वे उचित स्थान पर पहुँचकर अपनी विभिन्न क्रियायें करते हैं।

हरे चारे में 70 से 90 प्रतिशत तथा दाना, भूसा एवं सूखे चारे में 10 प्रतिशत तक जल होता है। जो खाद्य पदार्थ बिल्कुल ही सूखे दिखाई पड़ते हैं, उनमें भी 10 से 15 प्रतिशत नमी होती है। खाद्य पदार्थों में जल की मात्रा उनके खाद्य मूल्य एवं संरक्षण पर प्रभाव डालती है। अधिक जल-युक्त पदार्थ शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जल के आधार पर खाद्य पदार्थ दो भागों में विभाजित किये गये हैं, एक रसीले (Succulent), जिनमें 75 प्रतिशत या अधिक जल हो, और दूसरे बेरसीले (Non-succulent), जिसमें उपर्युक्त मात्रा से कम पानी हो। दूध में लगभग 80 से 85 प्रतिशत तक जल होता है, अतः दुधारू पशुओं को जल की आवश्यकता अधिक पड़ती है। आमतौर पर एक दुधारू पशु को लगभग 50–60 लिटर पानी की नित्य आवश्यकता पड़ती है। इसमें से आधा जल पीने के तथा शेष जल सफाई आदि करने के काम आता है।

एक उदाहरण में दुधारू गाय को 72 घण्टे तक पानी न देने पर उन्होंने दाना तो पहले दिन पूरा खाया किन्तु घास 41% कम खाई तथा इनके दुग्ध उत्पादन पर कोई कुप्रभाव न पड़ा। हाँ शारीरिक तापक्रम 0·5° सें० गिर गया। दूसरे तथा तीसरे दिन गाय ने घास बिल्कुल न खाकर सामान्य का केवल 15% दाना खाया। इसके दुग्ध उत्पादन में 75% की कमी हो गई। उसकी श्वांस काफी धीमी गति से चलने लगी तथा मूत्र की मात्रा भी कम हो गई। पुनः पानी पिलाने पर 24 से 48 घण्टे में उसकी हालत ठीक होकर दिनचर्या तथा उत्पादन सामान्य हो गया।

उपापचयक जल (Metabolic Water)—शरीर में उपयोग होने वाला जल विभिन्न प्रकार के खाद्यों को खाने एवं जल को पीने से उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त, उपापचयक (Metabolic) क्रियाओं के सम्पन्न होने के फलस्वरूप भी शरीर में कुछ जल बनता है। इसे उपापचयक पानी कहते हैं, जैसे—

ग्लूकोज + ऑक्सीजन = कार्बन-डाइ-ऑक्साइड + जल

शरीर में जब कार्बोहाइड्रेट शक्ति प्रदान करने के लिये जलते हैं, तो उनसे उपर्युक्त प्रकार कार्बन-डाइ-ऑक्साइड तथा जल बनता हैं। इसके अतिरिक्त, शरीर में प्रोटीन, चिकनाई तथा कार्बोहाइड्रेट के शुष्क संयोग समन्वय (Dehydration Synthesis) द्वारा भी उपापचयक जल बनता है। ऑक्सीकरण (Oxidation) होने पर 100 ग्राम चिकनाई से 107 ग्राम, 100 ग्राम कार्बोहाइड्रेट से 60 ग्राम तथा 100 ग्राम प्रोटीन से लगभग 42 ग्राम उपापचयक जल प्राप्त होता है। इस जल के द्वारा ही शारीरिक कोशिकाओं (Body Cells) के अन्दर भोजन पहुँचता है तथा शिशिर सुप्तावस्था (Hibernation) में इसी के द्वारा पशु का जीवन चलता है।

संक्षेपतः शरीर के अन्दर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसा में उपस्थित हाइड्रोजन के ऑक्सीकरण द्वारा जो जल बनता है, उसे 'उपापचयक जल' कहते हैं।

कार्बोहाइड्रेट

यह वे पदार्थ हैं, जो कार्बन, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन से मिलकर बनते हैं। इनमें हाइड्रोजन और ऑक्सीजन सदैव पानी के अनुपात में ही उपस्थित रहते हैं। वनस्पति जगत का 3/4 शुष्क भाग कार्बोहाइड्रेट ही बनाता है, जिसके ऊपर पशुओं का जीवन निर्भर रहता है। यह दो प्रकार के होते हैं, एक तो रेशेदार और दूसरे नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष (N.F.E.)।

दुष्पचीय तन्तु या रेशा (Crude Fibre)—यह अधिकतर कार्बोहाइड्रेट का सेल्यूलोज वाला भाग होता है। भूसा, घास तथा दोनों में, जिनका वाह्य आवरण कठोर हो, रेशे की मात्रा अधिक होती है। यह बहुत कम पाचक होता है। जुगाली करने वाले पशुओं में, सेल्यूलोज को रूमेन में रहने वाले जीवाणु तोड़ते हैं और उस पर अपनी प्रतिक्रिया करके रेशे को शरीर के लिये उपयोगी बनाते हैं। यहाँ यह साधारण शर्करा एवं वाष्पशील वसीय अम्लों में परिवर्तित होकर शरीर को शक्ति प्रदान करता है। यह पेट तथा अंतड़ी की दीवालों में तनाव उत्पन्न करता है, जो कि

पशु के लिये बहुत ही आवश्यक है तथा उनमें संकोचन एवं विमोचन की क्रिया को संचारित करने में भी सहायक होता है। भोजन प्रणाली की दीवालों में तनाव उत्पन्न करके, रेशा पाचक रसों को निकालने के लिये उत्तेजित करता है।

घुलनशील कार्बोहाइड्रेट—कार्बोहाइड्रेट का यह भाग साधारण शर्करा, स्टार्च तथा अर्ध-सेल्यूलोज (Hemicellulose) का बना होता है। इसे नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष (N. F. E.) भी कहते हैं। प्रयोगशाला में निकली हुई कच्चे प्रोटीन (Crude protein), चिकनाई, रेशा तथा भस्म (Ash) की मात्रा को पूर्ण अजल-पदार्थ से घटाकर नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष की मात्रा ज्ञात करते हैं।

कार्बोहाइड्रेट का मुख्य कार्य शरीर को शक्ति प्रदान करना है, जो शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य संचालन, उत्पादन एवं नियन्त्रण के लिये परम आवश्यक है। शरीर की आवश्यकता से अधिक खाये हुये कार्बोहाइड्रेट, चर्बी में बदलकर शरीर में जमा होते रहते हैं और कार्बोहाइड्रेट की कमी होने पर शरीर को शक्ति पहुँचाने का कार्य करते हैं। **1 ग्राम कार्बोहाइड्रेट ऑक्सीडेशन होने पर 4·1 कैलोरी ताप उत्पन्न करता है।** दूध में कुछ चिकनाई तथा मिठास यही प्रदान करते हैं।

$$C_6H_{12}O_6 + 6O_2 = 6CO_2 + 6H_2O + \text{heat}$$
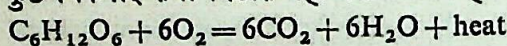
चिकनाई या वसा

कार्बोहाइड्रेट की भाँति यह भी कार्बन, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन के बने होते हैं, परन्तु इनमें हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में पानी वाला अनुपात नहीं होता। इसका मुख्य कार्य शरीर को **शक्ति तथा चर्बी प्रदान** करना है। यह कार्बोहाइड्रेट से सवा दो गुनी अधिक शक्ति प्रदान करते हैं। **1 ग्राम चिकनाई ऑक्सीकरण होने पर 9·3 कैलोरी ताप उत्पन्न करती है।** ऐसा इनमें ऑक्सीजन कम होने के कारण होता है। चिकनाई, ग्लीसरोल के साथ चिकने तेजाबों (Fatty-acids) का यौगिक है, अतः यह शरीर को अनिवार्य चिकने तेजाब, जैसे—**लिनोलीक, अरैकिडोनिक** तथा **लिनोलीनिक अम्ल** भी प्रदान करती है। भोजन से प्राप्त वसा दूध की वसा को भी बनाते हैं। यह कैल्शियम तथा कैरोटीन के शोषण में भी सहायक होते हैं। छोटे बछड़ों की वृद्धि के लिये भी वसा आवश्यक है।

जीवन के लिये बहुत ही थोड़ी मात्रा में इनकी आवश्यकता होती है। चूंकि यह मात्रा साधारण देने वाले दैनिक आहारों में पहले ही विद्यमान रहती है, अतः इनकी शरीर में कमी नहीं पड़ती और न इनको पूरा करने के लिये कोई अलग से चारा देना पड़ता है। प्रौढ़ पशुओं के शरीर में लगभग 20% चिकनाई होती है।

प्रोटीन

यह अत्यन्त ही जटिल रासायनिक पदार्थ है, जो 15·5 से 18% नाइट्रोजन, 51 से 55 प्रतिशत कार्बन, 6·5 से 7·3 प्रतिशत हाइड्रोजन, 21·5 से 23·5% ऑक्सीजन तथा कभी-कभी 0·5 से 2 प्रतिशत गन्धक और 0·0 से 1·5 प्रतिशत फॉस्फोरस से मिलकर बनते हैं। प्राकृतिक रूप से प्रोटीन ऐमिनो अम्लों की बनी

होती है और ये ऐमिनो अम्ल एक दूसरे से एक विशेष सूत्र द्वारा सम्बन्धित रहते हैं, जिसे 'पेप्टाइड लिंकेज' कहते हैं। प्रोटीन की संरचना में 24 या इससे अधिक ऐमिनो अम्ल भाग लेते हैं। अतः प्रोटीन परस्पर संलग्न ऐमिनो अम्लों की एक शृंखला हैं।

प्रोटीन में उपस्थित इन्हीं ऐमिनो अम्लों की संख्या से प्रोटीन का गुण ज्ञात किया जाता है। यह दो प्रकार के होते हैं—एक तो **अनिवार्य और दूसरे अ-अनिवार्य।** वे ऐमिनो-अम्ल जो शरीर की प्रोटीन (मांस) बनाते हैं, आवश्यक होते हैं तथा शब्द अनिवार्य या अ-अनिवार्य उनकी खुराक में आवश्यकता के लिए प्रयुक्त होता है। डब्लू० सी० रोज (W. C. Rose) के अनुसार लगभग 10 ऐमिनो अम्ल अनिवार्य तथा 14 अ-अनिवार्य कहलाते हैं। वे ऐमिनो अम्ल जो शरीर के अन्दर ही बन जाते हैं और उनकी भोजन द्वारा पूर्ति की बाहर से आवश्यकता नहीं पड़ती, अ-अनिवार्य कहलाते हैं। इसके विपरीत, **अनिवार्य ऐमिनो अम्ल वे हैं, जिनका वृद्धि की गति के आवश्यकतानुसार शरीर में संश्लेषण नहीं हो पाता और इनकी पूर्ति पशु में विभिन्न राशनों द्वारा की जाती है।** जितने ही अधिक आवश्यक ऐमिनो अम्ल प्रोटीन में होते हैं, उतनी ही अच्छी वह प्रोटीन जानी जाती है। प्रोटीन में अनिवार्य तथा अ-अनिवार्य ऐमिनो अम्लों की सूची निम्नलिखित है—

सारणी 3·1—प्रोटीन में पाये जाने वाले ऐमिनो अम्ल

अनिवार्य ऐमिनो-अम्ल (Essential Amino Acids)	अ-अनिवार्य ऐमिनो-अम्ल (Non-Essential Amino Acids)
(1) आर्जिनीन (Arginine)	(1) अलैनीन (Alanine)
(2) वैलीन (Valine)	(2) सिस्टीन (Cysteine)
(3) हिस्टीडीन (Histidine)	(3) सिटरूलीन (Citrulline)
(4) आइसोल्यूसिन (Isoleucine)	(4) ग्लाइसीन (Glycine)
(5) ल्यूसिन (Leucine)	(5) प्रोलीन (Proline)
(6) लाइसीन (Lysine)	(6) सेरीन (Serine)
(7) मिथियोनीन (Methionine)	(7) ऐस्पैरेटिक अम्ल (Asparatic Acid)
(8) फिनायल ऐलेनीन (Phenylalanine)	(8) ग्लूटैमिक अम्ल (Glutamic Acid)
(9) थ्रियोनीन (Threonine)	(9) टाइरोसीन (Tyrosine)
(10) ट्रिप्टोफेन (Tryptophane)	(10) हाइड्राक्सी प्रोलीन (Hydroxy Proline)
याद रखने के लिये इन्हें AVHILLMPTT के नाम से जाना जाता है।	(11) हाइड्रॉक्सी ग्लूटैमिक अम्ल (Hydroxy Glutamic Acid)
	(12) नॉरल्यूसिन (Norleucine)
	(13) सिस्टाइन (Cystine)
	(14) हाइड्राक्सी लाइसिन (Hydroxy Lysine)

अधिकतर प्रोटीन में 16 प्रतिशत नाइट्रोजन होती है और इसी के आधार पर किसी भी कार्बनिक पदार्थ की प्रोटीन प्रतिशत ज्ञात की जाती है। 6·25 से नाइट्रोजन की कुल मात्रा को गुणा करने से कच्चे प्रोटीन (Crude Protein) की मात्रा निकल जाती है।

बहुत से खाद्यों में नाइट्रोजन; प्रोटीन विहीन-नाइट्रोजन युक्त यौगिक (N.P.N. Compounds) के रूप में उपस्थित रहती है, जैसे—अमाइड, अमोनियम लवण तथा यूरिया आदि। पहले प्रोटीन की आवश्यकता पाच्य यथार्थ प्रोटीन (Digestible True Protein) के रूप में बताई जाती थी और इसमें नाइट्रोजन युक्त पदार्थों के प्रोटीन विहीन वाले भाग का कोई भी मूल्यांकन नहीं किया जाता था। परन्तु बाद में यह बात माननी पड़ी कि ऐसे पदार्थ, जैसे अमाइड, शरीर में अ-अनिवार्य ऐमिनो-अम्ल बनाते हैं। इस प्रकार ब्रिटिश खाद्य व्यवस्था के अनुसार **'प्रोटीन तुल्यांक'** (Protein Equivalent) बना, जिसमें पाच्य कच्चे प्रोटीन के, बिना प्रोटीन वाले नाइट्रोजन युक्त भाग को 50 प्रतिशत मान्यता दी गई। प्रोटीन तुल्यांक (P. E.) की गणना निम्न प्रकार की जाती है—

$$\text{प्रोटीन तुल्यांक} = \frac{\text{पाच्य कच्चे प्रोटीन} + \text{पाच्य यथार्थ प्रोटीन}}{2}$$

$$\text{P. E.} = \frac{\text{Digestible Crude Protein} + \text{Digestible True Protein}}{2}$$

प्रोटीन विहीन-नाइट्रोजन युक्त यौगिक जुगाली करने वाले पशु के पेट में यथार्थ (True Protein) की भाँति ही कार्य करते हैं। प्रोटीन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) प्रोटीन शरीर का माँस बनाती है। प्रौढ़ पशु के शरीर का लगभग 17 प्रतिशत भाग प्रोटीन का बना होता है।

(2) शरीर के क्षीण हुए माँस की पूर्ति करती है।

(3) प्रोटीन वृद्धि एवं उत्पादन के लिये आवश्यक है।

(4) एन्जाइम तथा हारमोन की सामान्य क्रिया के लिए प्रोटीन आवश्यक है।

(5) प्रोटीन शरीर की आवश्यकता से अधिक हो जाने पर पशु को शक्ति प्रदान करने का कार्य करती है, परन्तु जहाँ तक इसका प्रोटीन पोषण से सम्बन्ध है, यह कार्य गलत है।

(6) प्रोटीन मादा के निकले दूध, पाचक रसों, खाल, बाल, सींगों और खुरों का भी कुछ भाग बनाती है। दूध में लगभग 3·5 प्रतिशत प्रोटीन होती है।

(7) आहार में प्रोटीन की मात्रा की कमी साधारण तौर पर शीघ्र पाचक कार्बोहाइड्रेट के उपयोग पर कुप्रभाव डालती है।

(8) भ्रूण के विकास एवं अण्डा व दूध के उत्पादन के लिये प्रोटीन बहुत आवश्यक है।

(9) प्रोटीन, बाल तथा ऊन की वृद्धि में आवश्यक है।

पशुओं को आवश्यकता से अधिक प्रोटीन नहीं खिलानी चाहिये, क्योंकि शरीर में यह भण्डारित नहीं होती तथा इसका नाइट्रोजन विहीन भाग टूटकर गुर्दे के बाहर निकलने लगता है। उत्पादन, वृद्धि तथा अधिक कार्य करने वाले पशुओं को अच्छा प्रोटीन-युक्त चारा खिलाना चाहिये।

खनिज पदार्थ

किसी भी वस्तु के जलने पर जो राख बचती है, उसे भस्म या खनिज पदार्थ कहते हैं। यह बहुत ही थोड़ी मात्रा में प्रत्येक प्रकार के चारे-दाने तथा शरीर के प्रायः सभी अंगों में पाये जाते हैं। जन्तुओं के शरीर में प्रमुख तत्वों की आपेक्षिक मात्रायें होगेन तथा नॉरमैन के अनुसार निम्नलिखित हैं—

सारणी 3·2—शरीर के प्रमुख खनिज लवण

संख्या	नाम	प्रतिशत
(1)	कैल्सियम	1·33
(2)	फॉस्फोरस	0·74
(3)	पोटेशियम	0·19
(4)	सोडियम	0·16
(5)	गन्धक	0·12
(6)	क्लोराइड	0·11
(7)	मैग्नीशियम	0·04

इसके अतिरिक्त मैंगनीज, आयोडीन, ताँबा, लोहा, जिंक, कोबाल्ट, सेलेनियम तथा मॉलबिड्नम बहुत ही कम अंश में पाये जाते हैं और इन्हें विरल तत्व (Trace Elements) कहते हैं। इनकी कमी से पशुओं में छूत की बीमारी, बाँझपन तथा प्रजनन सम्बन्धी अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार कैल्सियम, फॉस्फोरस, सोडियम, पोटेशियम, मैगनीशियम, गन्धक, क्लोराइड, लौह, ताँबा, कोबाल्ट, आयोडीन, तथा जिंक आदि पशुओं के लिये अति आवश्यक लवण हैं जो जीवन एवं स्वास्थ्य रक्षा हेतु निम्न प्रकार आवश्यक हैं—

(1) दूध देने वाले पशुओं में ये दूध में निकले हुये खनिजों, लवणों की पूर्ति करते हैं।

(2) शरीर के द्रव्यों में परिसारक दाब (Osmotic Preseure) को ठीक बनाये रखते हैं।

(3) वृद्धि करने वाले पशुओं में हड्डी, दाँत एवं माँस बढ़ाने में सहायक होते हैं।

(4) भोजन को पचाते हैं।

(5) विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में सन्तुलन स्थापित करते हैं।

(6) रक्त को ऑक्सीजन शोषण की शक्ति प्रदान करते हैं।

(7) पाचक रसों को अमलत्व अथवा क्षारत्व प्रदान करते हैं।

कैल्सियम तथा फॉस्फोरस, दाँत व अन्य हड्डियों के बनने में आवश्यक हैं। दुधारू गायों के रक्त में कैल्सियम की कमी से उन्हें मिल्क-फीवर रोग हो जाता है। सोडियम, पोटेशियम और क्लोराइड शरीर के द्रवों में परिसारक दाब (Osmotic Pressure) को ठीक बनाये रखते हैं तथा उनमें अन्य गुणों का सन्तुलन स्थापित करते हैं। रक्त में पोटेशियम, कैल्सियम तथा सोडियम का समुचित अनुपात हृदय की गति तथा अन्य चिकनी माँस पेशियों को उत्तेजित करने एवं उनमें संकोचन की क्रिया सम्पन्न करने के लिये आवश्यक है। अन्य खनिज पदार्थ या तो प्रोटोप्लाज्म का कुछ आवश्यक भाग बनाते हैं या ऐन्जाइम सिस्टम के आवश्यक तत्व बनाते हैं। लौह लवण, लाल रक्त कणों में हीमोग्लोबिन बनाने में आवश्यक होता है, जिसके कारण रक्त में ऑक्सीजन लेने की शक्ति पैदा होती है। इसके अतिरिक्त, अन्य खनिज लवणों के कुछ विशेष कार्य भी होते हैं।

शरीर में कैल्सियम तथा फास्फोरस के कार्य

1. हड्डियों तथा दांतों का निर्माण और उन्हें मजबूत बनाना।
2. रक्त को थक्का बनने की शक्ति प्रदान करना।
3. दूध का आवश्यक भाग बनना।
4. बच्चों को सूखा रोग (Rickets) से बचाना।
5. बड़े पशुओं की अस्थि-मृदुता (Osteomalacia) रोग से रक्षा करना।
6. अधिक दुधारू पशुओं को दुग्ध-ज्वर (मिल्क-फीवर) से वचाना।

शरीर में मैग्नीशियम लवण के कार्य

1. रक्त का आवश्यक भाग बनना।
2. दूध में मग्नीशियम लवण की कमी को पूरा करना।
3. पशु को मैग्नीशियम लवण की कमी से होने वाले दोषों (लकवा) से बचाना।
4. शरीर में कैल्सियम तथा फॉस्फोरस के उपयोग में सहायता करना।

शरीर में क्लोराइड के कार्य

1. भोजन के पाचन में सहायता करना।
2. पशु की बढ़ोत्तरी में सहायक होना।
3. दूध तथा रक्त का आवश्यक भाग बनना।
4. शरीर के विभिन्न द्रवों (Fluids) में परिसारक दाब ठीक बनाये रखना।

शरीर में कॉपर (ताम्र) तथा कोबाल्ट के कार्य

1. रक्त का आवश्यक भाग बनकर ताम्र लवण लाल रक्त कणों द्वारा ऑक्सीजन शोषित किये जाने में सहायक है।

2. सूकरों तथा अन्य पशुओं में वाल का गिरना रोकना ।

3. मेमनों की Sway back नामक बीमारी से रक्षा करना ।

4. कोवाल्ट रूमेन में विटामिन B_{12} के निर्माण में सहायक है ।

अधिकतर ये खनिज पदार्थ बहुधा दैनिक दिये जाने वाले आहारों में पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं । परन्तु, फिर भी, इनमें से एक दो की कमी हो सकती है जो शरीर के विकास पर कुप्रभाव डालती है । अतः पशुओं को राशन देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि उनमें यह सभी आवश्यक तत्व समुचित मात्रा में उपस्थित हों । राशन में सोडियम तथा क्लोराइड लवणों की विशेष कमी होती है । अतः पशु के शरीर में इनकी पूर्ति खाने वाला नमक (Common Salt) खिलाकर की जाती है ।

अम्ल-क्षार सन्तुलन
(Acid base Balance)

शारीरिक तन्तुओं, रक्त एवं अन्य द्रवों में अनेक अम्ल तथा क्षार उपस्थित रहते हैं । कुछ खनिज लवण, जैसे—क्लोराइड, गन्धक तथा फॉस्फोरस; अम्लत्व प्रदान करने वाले और सोडियम, पोटेशियम, मैग्नीशियम एवं कैल्सियम, क्षारत्व प्रदान करने वाले होते हैं । दैनिक दिये जाने वाले पशु आहार में भी इन लवणों की विभिन्नता होती है । यह सब होते हुये भी शरीर, रक्त में निष्क्रियता रखकर इनमें सन्तुलन स्थापित करता है । समस्त पशु और विशेषकर जुगाली करने वाले पशुओं के शारीरिक तन्तुओं में अमोनिया बनाने की क्षमता होती है, जो शरीर में उपस्थित आवश्यकता से अधिक अम्लों को निष्क्रिय कर देती है ।

विटामिन

↓

चिकनाई में घुलनशील (वसा विलेय) (Fat soluble)
↓
विटामिन ए | डी | ई | के

जल में घुलनशील (जल विलेय) (Water soluble)
↓
बी काम्पलेक्स | सी (ऐस्कोर्बिक अम्ल)

बी काम्पलेक्स ↓
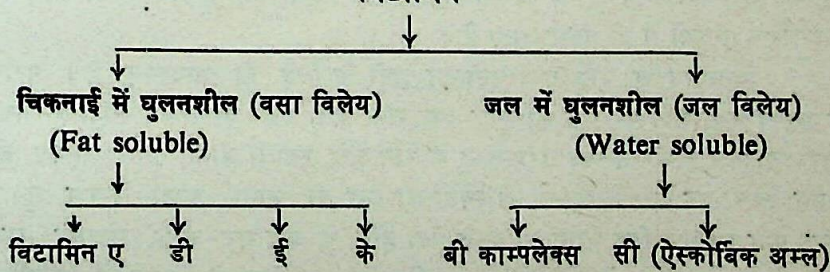
1. बी$_1$ (थायामीन), 2. बी$_2$ (रिवोफ्लेबीन), 3. बी$_6$ (पाइरीडाक्सिन) 4. निकोटिनिक अम्ल, 5. बी$_{12}$, 6. बायोटिन, 7. पैन्टोथीनिक अम्ल, 8. पैराऐमिनो बैंजोइक अम्ल, 9. फालिक अम्ल, 10. कोलीन, तथा 11. इनोसीटाल ।

विटामिन—वैज्ञानिक फ्रैंक (1912) के अनुसार, विटामिन वे कार्बनिक रासायनिक यौगिक हैं, जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में शारीरिक क्रियाओं के भली-भाँति सम्पन्न होने एवं स्वास्थ्य रक्षा के लिये आवश्यक होते हैं । इनकी कमी से शरीर में

अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। उपरोक्त प्रकार इनको, (1) जल विलेय तथा (2) वसा विलेय, दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

पशु आहार में विटामिनों का विशेष स्थान है। विटामिन पशुओं के स्वास्थ्य, वृद्धि एवं पाचन क्रिया के लिये आवश्यक होते हैं। ये पशुओं में बीमारी रोकने की शक्ति वृद्धि करते हैं तथा उनकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाते हैं। शरीर में ऊर्जा के उपापचयन (Energy Metabolism) को ठीक करने के लिये ये अनिवार्य हैं तथा कई विटामिन एन्जाइम प्रक्रम में भी भाग लेते हैं। मादा पशुओं के गर्भकाल में ये अत्यन्त आवश्यक होते हैं, जिससे उसका एवं भ्रूण, दोनों, का ही स्वास्थ्य तथा जीवन सुरक्षित रहे। शरीर में प्रत्येक विटामिन के अपने अलग-अलग विशेष कार्य होते हैं। ये अधिकतर पौधों में पाये जाते हैं, परन्तु कुछ विटामिन बैक्टीरिया द्वारा भोजन-प्रणाली में भी तैयार किये जाते हैं। कुछ आवश्यक विटामिनों का वर्णन नीचे किया जा रहा है—

विटामिन-'ए'—मछली के तेल, अंडपीत (Egg Yolk), मक्खन तथा रक्त में विटामिन 'ए' पाया जाता है। सब प्रकार के पशुओं के लिये यह विटामिन राशन में देना आवश्यक है, क्योंकि पशु के शरीर के अन्दर यह तैयार नहीं होता। यह पौधों में विटामिन 'ए' के रूप में न होकर अपने अग्रसर (Precursor) **'कैरोटीन'** के रूप में उपस्थित रहता है। कैरोटीन प्रायः सभी हरे चारे एवं पत्तियों में होती है और इसे **प्रो-विटामिन 'ए'** (Pro-Vitamin 'A') भी कहते हैं। गाजर में कैरोटीन की मात्रा अधिक होती है। कैरोटीन चारे के रूप में शरीर के अन्दर भोजन प्रणाली में पहुँचती है और फिर शोषण के बाद अंतड़ी की दीवारों, यकृत तथा कुछ शारीरिक तन्तुओं द्वारा विटामिन 'ए' में परिणित हो जाती है। इस प्रकार विटामिन 'ए' शारीरिक तन्तुओं में ही पाया जाता है।

विटामिन 'ए' वृद्धि तथा उत्पादन दोनों के लिये ही आवश्यक है। शरीर में इसकी कमी होने पर पशु की वृद्धि रुक जाती है। वह चारा कम खाता है तथा निरन्तर दुर्बल होकर उसको तरह-तरह के रोग जैसे, रतौंधी आना, आँखें खराब हो जाना, त्वचा पर दाने निकलना, अस्थियों का टेढ़ा हो जाना, कानों से कम सुनाई देना, गाय का गर्भ गिर जाना या बच्चे पैदा होने के बाद मर जाना, इत्यादि कष्ट हो जाते हैं। अधिक मात्रा में दिया हुआ विटामिन 'ए' पशु के यकृत में भंडारित होता रहता है जो अभाव के समय इसकी पूर्ति करता है।

विटामिन 'डी'—मछली के तेल, अंडपीत, मक्खन तथा दूध में यह विटामिन पाया जाता है। कैरोटीन की भाँति शरीर में इसका अग्रसर **अरगोस्टीरोल** है, जो त्वचा में उपस्थित रहता है। सूर्य की परा-बैंगनी किरणों (Ultraviolet Rays) के त्वचा पर पड़ने से इस अरगोस्टीरोल से विटामिन 'डी' तैयार होता है। इसकी कमी से शरीर में सूखा रोग हो जाता है, अतः इस विटामिन को **सूखारोधी** (Antirachitic) विटामिन भी कहते हैं। वह कैल्शियम और फॉस्फोरस के उपापचयन

(Metabolism) से सम्बन्धित है। इसकी कमी से कैल्शियम तथा फॉस्फोरस का ठीक अनुपात होने पर भी, शरीर में उनका भली प्रकार उपयोग नहीं हो पाता। पशु की वृद्धि करने की अवस्था में यह बहुत ही आवश्यक होता है। गर्भावस्था में भ्रूण की हड्डियाँ एवं दाँत बनने के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती है।

विटामिन 'ई' 'के' 'बी-काम्पलेक्स' तथा 'सी' दैनिक प्रयोग होने वाले साधारण पशु-आहारों में पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं और साथ ही जुगाली करने वाले पशुओं के रूमेन में जीवाणुओं द्वारा इनका संश्लेषण होता है। अतः पशु-पोषाहार में इन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। शरीर के ऊतक (Tissue) भी विटामिन 'सी' का निर्माण करते हैं। विटामिन 'ई' दूध में ऑक्सीकृत गन्ध को नियन्त्रित करता है तथा पशु की पुजनग क्षमता ठीक रखता है। इसकी कमी से पशु बाँझ हो सकते हैं तथा उनकी मांस पेशियों में दर्द होने लगता है। विटामिन 'बी$_{12}$' पशु को रक्तस्वाल्पता (Anaemia) से बचाता है। शरीर में इसके निर्माण के लिये कोबाल्ट लवण जरूरी है।

प्रति विटामिन (Anti-vitamin)

यदा-कदा खाद्य पदार्थों में कुछ ऐसी वस्तुयें उपस्थित होती हैं, जो शरीर में विटामिन की क्रिया को या तो सम्पन्न ही नहीं होने देतीं या विटामिन को ही नष्ट कर देती हैं। ऐसी वस्तुयें **प्रति विटामिन** या **चयापचयजरोधी** (Antimetabolite) कहलाती हैं। शरीर में इनकी उपस्थिति विटामिन के उपयोग पर कुप्रभाव डालती है।

परिच्छेद : 4

पशु पोषण के सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF FEEDING)

पशु के लिये चारे की आवश्यकता

पशु का शरीर एक भाप के इन्जिन की भाँति है। जिस प्रकार इन्जिन को चलाने के लिये भाप की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार इस शरीर रूपी इन्जिन को चलाने के लिये शक्ति चाहिये। चूँकि भाप बनाने के लिये हमें इन्जिन में कोयला और पानी की आवश्यकता पड़ती है, अतः शरीर को जीवित रखने एवं कार्य संचालन हेतु हमें शक्ति चाहिये। यह शक्ति जीवधारी को चाहे वह मनुष्य हो या पशु, भोजन से मिलती है। जिस प्रकार कोयला एवं पानी जलकर भाप पैदा करता है, उसी प्रकार भोजन हमारे शरीर के अन्दर ऑक्सीकृत होकर शक्ति प्रदान करता है। इसलिये पशुओं को जीवित रहने तथा उत्पादन एवं वृद्धि करने हेतु चारे की आवश्यकता पड़ती है। अतः पशु का आहार ऐसे पौष्टिक तत्वों का बना होना चाहिये, जिससे उसकी आवश्यकतानुसार उसे सभी पोषक तत्व मिल सकें। चूँकि यह सभी तत्व उसे एक ही चारे में नहीं मिल सकते, अतः पशु को विभिन्न प्रकार के पौधों एवं अन्य जीवधारियों पर इनकी प्राप्ति के लिये निर्भर रहना पड़ता है।

पशु को किस प्रकार खिलाया जाये

पशुओं को खिलाना प्राचीन काल से ही एक महत्वपूर्ण कला रही है, जो पशु-पालकों के प्रयोगात्मक अनुभवों के साथ-साथ विकसित होती आई है। वैज्ञानिक ढंग से पशु को खिलाने का तरीका अब से लगभग एक शताब्दी पूर्व अपनाया गया। तब से पशु के शरीर भार के अनुसार, उसको जीवित रहने के लिये **निर्वाह राशन**, तथा वृद्धि, उत्पादन एवं कार्य के लिये **वर्धक आहार** देकर, भार एवं चारे की आवश्यकता में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का निरन्तर प्रयास किया गया। इस प्रकार पशु को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये 24 घण्टे में जितना चारा दाना दिया गया है; वह मात्रा राशन कहलाई। राशन को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया गया—

सन्तुलित आहार (Balanced Ration)

वह आहार है, जिसमें अमुक पशु की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा उसे स्वस्थ रखने के लिये सभी आवश्यक पोषक-तत्व ठीक अनुपात एवं उचित मात्रा में उपलब्ध हों।

"Balanced ration is that food mixture which contains all the essential nutrients in right quantity and quality as needed by the animal body."

निर्वाह आहार (Maintenance Ration)

चारे की वह मात्रा है, जो एक ऐसे पशु का शरीर भार बिना बढ़े, घटे समान रखती है, जो न वृद्धि करता हो, न उत्पादन करता हो और न कोई कार्य करता हो। अतः सन्तुलित आहार की वह मात्रा, जो अमुक पशु को केवल शरीर रक्षा हेतु दी जाती है, निर्वाह-आहार कहलाती है।

'The amount of balanced ration which is required to fulfil the maintenance need of a particular animal is called maintenance ration."

शरीर में निर्वाह आहार के निम्नलिखित कार्य हैं :

(1) शारीरिक तापक्रम ठीक बनाये रखने के लिये ऊष्मा (heat) प्रदान करना।

(2) हृदय, फेफड़ों आदि के कार्यों को संचालित रखने के लिये ऊर्जा (energy) प्रदान करना।

(3) दैनिक नष्ट हुये ऊतकों (tissues) की मरम्मत करना।

(4) थोड़ी मात्रा में लगातार होने वाले खनिज लवणों के ह्रास की पूर्ति करना।

(5) जीवन को चलाने वाले आवश्यक विटामिन प्रदान करना।

वर्धक आहार (Production Ration)

चारे-दाने की वह मात्रा, जो अमुक पशु को वृद्धि, उत्पादन या कार्य के लिये निर्वाह-आहार के अतिरिक्त दी जाती है वर्धक आहार या उत्पादक राशन कहलाती है। पशु की उत्पादन आवश्यकता प्रायः दाने से ही पूरी की जाती है।

"The amount of food which is offered to growing, working or producing animal over and above the maintenance need is known as production ration. This need is mostly met by concentrate mixture."

एक आदर्श राशन (An Ideal Ration)

चारे अथवा चारे-दाने का वह सम्मिश्रण, जो पशु की समस्त आवश्यकताओं को उसके शरीर भार के अनुसार, उचित मात्रा में देने पर ही पूर्ण कर देता हो, आदर्श राशन कहलाता है। ऐसा आहार सब प्रकार से स्वास्थ्य-वर्धक होता है।

"That food or feed mixture containing all the essential components of a balanced ration which has ability to fulfil all the

need of a particular animal when given according to his body weight, is called an ideal ration."

एक आदर्श राशन में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं :

(1) एक आदर्श राशन में समस्त वांछनीय पौष्टिक-तत्व; जैसे—प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, चिकनाई, विटामिन, जल और खनिज पदार्थ उचित मात्रा में होने चाहियें। इसके लिये पशु को उच्च-कोटि का हरा चारा देना चाहिये।

(3) आहार सन्तुलित होना चाहिये।

(3) राशन में समुचित मात्रा में रेशा सम्मिलित होना चाहिये, जिससे आमाशय तथा अन्तड़ी का तनाव होकर पाचक रसों को कार्य करने के लिये अधिक क्षेत्र मिल सके।

(4) यह पशु के लिये बहुत ही स्वादिष्ट एवं पाचक होना चाहिये।

(5) राशन काफी सस्ता होना चाहिये।

(6) यह विषैला नहीं होना चाहिये।

(7) इसे खिलाने से दूध में अवांछित गन्ध नहीं उत्पन्न होनी चाहिये।

(8) इसे आसानी से उपलब्ध होना चाहिये।

पशुओं को आहार देने के मूल नियम
(General principles of rationing the Animals)

(1) पशुओं का आहार सन्तुलित एवं नियमित होना चाहिये। ऐसा आहार देने से पशु की पाचन-क्रिया कभी खराब नहीं होती। दिन में लगभग दो वार चारा-दाना देना चाहिये और इसके मध्य 8–10 घण्टे का अवकाश होना आवश्यक है जिससे भोजन-प्रणाली को आराम मिल सके तथा जुगाली करने वाले पशु इस बीच जुगाली भी कर सकें।

(2) पशुओं को स्वच्छ, स्वादिष्ट, पाचक, पौष्टिक तथा सस्ता आहार खिलाना चाहिये।

(3) पशुओं को जो आहार दिया जाये उसमें विभिन्न प्रकार के चारे-दाने जैसे भूसा, हरा चारा, दाना इत्यादि शामिल होना चाहिये, जिससे पशु को उसकी आवश्यकतानुसार सभी पोषक-तत्व उचित मात्रा में मिल सकें।

(4) चारा भली-भाँति तैयार किया जाना चाहिये, जिससे वह आसानी से पचने वाला व रुचिकर बन सके। सख्त दाने जैसे चना, जौ, मक्का इत्यादि को चक्की से दलवा लेना चाहिये, ताकि पशु को चबाने एवं पचाने में सुगमता हो। अधिक मुलायम और रोचक बनाये के लिये इन सूखे दानों एवं खली को पशुओं को खिलाने से कुछ देर पूर्व, पानी में भिगो लेना चाहिये जिससे वे फूलकर स्वादिष्ट बन जायें। सख्त व जड़दार चारे की कुट्टी काटकर पशुओं को खिलाना चाहिये ताकि वे अपने पोषण के लिये भली-भाँति उसका उपयोग कर सकें।

(5) चारे का प्रकार एकदम बदलना नहीं चाहिये। बदलने के लिये धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा चारा पशु को खिलाना चाहिये, ताकि उसको भोजन प्रणाली पर कोई कुप्रभाव न पड़े।

(6) प्रत्येक दूध देने वाले तथा गर्भित पशु को 2 से 5 किलोग्राम हरा चारा अवश्य देना चाहिये। इसमें प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज लवण जैसे पौष्टिक तत्व अधिक होते हैं, जिससे पशुओं की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त दुग्धोत्पादन के लिये कुल दूध की मात्रा का लगभग एक तिहाई भाग पौष्टिक मिश्रण पशुओं को खिलाना चाहिये।

(7) दाना सदैव पहले खिलाकर बाद में सूखा या हरा चारा पशुओं को देना चाहिये।

(8) पशु को कुल शुष्क पदार्थ (Dry Matter) की आवश्यकता का 2/3 भाग सूखे व हरे चारे से तथा बचा हुआ $\frac{1}{3}$ भाग पौष्टिक मिश्रण से मिलना चाहिये।

(9) यदि पशु के आहार में हरा चारा शामिल हो, तो पौष्टिक मिश्रण में 11–12 प्रतिशत पाचक प्रोटीन होनी चाहिये। इसके विपरीत, यदि हरा चारा नहीं है, तो दाने में इसकी मात्रा कम से कम 18 प्रतिशत होनी चाहिये।

(10) दुधारू एवं वृद्धि करने वाले पशु यदि चरने नहीं जाते, तो उन्हें दिये जाने वाले 2/3 शुष्क पदार्थ का 1/3 भाग हरे चारे या साइलेज से देना चाहिये। यदि हरा चारा फलीदार हो, तो यह मात्रा 1/4 होनी चाहिये।
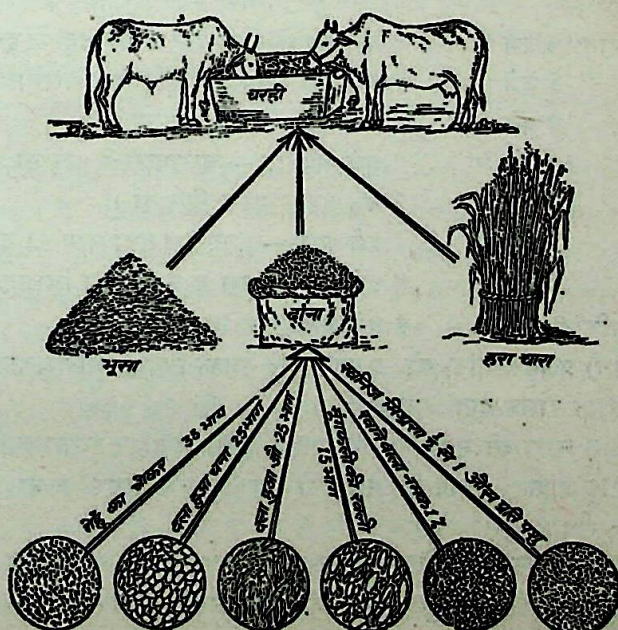
चित्र 4·1—पशुओं के लिये सन्तुलित आहार

(11) प्रत्येक पशु को 2 से 2½ किलोग्राम शुष्क पदार्थ प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार पर देना चाहिये। भैंसों को तीन किलोग्राम तक शुष्क पदार्थ प्रति 100 किलोग्राम शरीर भाग पर दिया जा सकता है।

(12) पशुओं को प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार पर 8–10 ग्राम खाने वाला नमक नित्य देना चाहिये। इसके अतिरिक्त, 2 प्रतिशत जीवाणु रहित (Sterilized) हड्डी का चूर्ण, खड़िया मिट्टी इत्यादि देने से पशु की कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है। अच्छे किस्म के पशुओं को स्टार्मिन, ऑरोफैक, नूविमिन, मिल्कमिन, वून-ओ-मिल्क आदि कोई एक खनिज लवणों का मिश्रण दिया जा सकता है, जिससे उनके शरीर में किसी भी लवण की कमी न होने पाये।

(13) पशु को उसकी आवश्यकतानुसार ही चारा देना चाहिये। कम या अधिक चारा देना, दोनों ही, उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं।

(14) दुग्धोत्पादन के लिये गायों को उनकी स्वेच्छानुसार चारा देना चाहिये।

(15) अधिकतम उत्पादन के लिये व्यक्तिगत आहार देना चाहिये।

(16) पशु एक बार में तुरन्त ही जितना चारा खा सकते हों, उससे अधिक नहीं देना चाहिये।

(17) चारा खिलाने की नाँदें बिल्कुल स्वच्छ होनी चाहियें। उसमें नया चारा या दाना डालने से पूर्व पिछली वची हुई जूठन को वाहर निकाल देना चाहिये।

(18) दुधारू पशुओं, मुख्य तौर पर गाय, भैंसों की दिनचर्या निम्न प्रकार होनी चाहिये—

प्रातः 4 बजे से	8 वजे तक—दाना देना तथा सुबह का दूध निकालना।
8 वजे से	9 वजे तक—सूखा व हरा चारा खिलाना।
9 वजे से	10 बजे तक—पानी पिलाना।
10 बजे से	2 वजे अपराह्न—चारागारों में चराना।
2 बजे से	3 बजे तक—पानी पिलाना।
3 बजे से	7 वजे सायं—दाना देना तथा शाम का दूध निकालना।
7 बजे से	8 बजे तक—सूखा व हरा चारा खिलाना।
रात्रि 8 बजे से	4 बजे प्रातः तक आराम।

(19) प्रजनक साँडों को प्रजनन हेतु उनकी निर्वाह आवश्यकता के ऊपर 20 से 30 प्रतिशत राशन देना चाहिये।

(20) चारा देते समय पशु के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

(21) आहार पचाने हेतु पशु को उसकी इच्छानुसार ताजा जल पिलाना चाहिये।

(22) आहार को अधिक रुचिकर बनाने तथा भोजन को सुचारू रूप से पचाने के लिऐ पशु को कभी-कभी गुड़ अथवा शीरा भी समुचित मात्रा में खिलाना चाहिये।

परिच्छेद : 5

खाद्य मानक

(FEEDING STANDARDS)

पशु को जीवित रहने, कार्य करने एवं उत्पादन के लिये चारे की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक पशु के चारे में, उसको भली भाँति अपनी दिनचर्या चलाने के लिये; प्रोटीन, चिकनाई, कार्वोहाइड्रेट खनिज लवण, पानी तथा विटामिनों का होना आवश्यक है। संसार में कोई भी एक ऐसा चारा नहीं है, जो अकेले ही उपर्युक्त समस्त तत्व पशु की आवश्यकतानुसार उसे प्रदान कर सके। अतः पशु को इन तत्वों की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के खाद्यों पर निर्भर होना पड़ता है। इन तत्वों की आवश्यकता पशु के शरीर भार, उसके द्वारा उत्पादन तथा कार्यक्षमता पर निर्भर होती है।

अतः खाद्य मानक विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा तैयार की हुई वे तालिकायें हैं, जो पशुपालकों को उनके पशुओं की आवश्यकतानुसार, सन्तुलित आहार देने में सहायक होती हैं और उन्हीं तालिकाओं द्वारा इस विषय का उनको निर्देशन होता है, कि किन नियमों के अनुसार, किस आधार पर सन्तुलित एवं सस्ता आहार पशुओं को दिया जाये। "Prepared by scientists 'Feeding Standard' are the tables containing numerical values based upon feeding trials, which are used as a practical guide in computing the ration for different animals.

इन तालिकाओं में विभिन्न वर्ग के पशुओं को निर्वाह, वृद्धि, उत्पादन आदि के लिये भिन्न प्रकार के पोषक-तत्वों का अभिलेख रहता है। आदिकाल से ही इस समस्या पर संसार के वैज्ञानिक विचार-विमर्श करते आये हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ ही समय-समय पर आधुनिक बनाने के लिये इन तालिकाओं में नये-नये सुझाव होते आये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि खाद्य मानक विभिन्न प्रकार के पशुओं का आहार नियत करने हेतु, पशु-पालक के पास परम आवश्यक यन्त्र हैं।

खाद्य मानकों का इतिहास तथा विकास
(History and Development of Feeding Standards)

जब इस विषय पर विचार करते हैं, तो प्रतीत होता है कि खाद्य मानकों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। आदिकाल से ही, विशेषकर दुधारू पशुओं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर संसार के प्रमुख वैज्ञानिकों ने इनकी खोज करने का निरन्तर प्रयास किया है। इतिहास तथा विकास के आधार पर इनको अग्रिम प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—
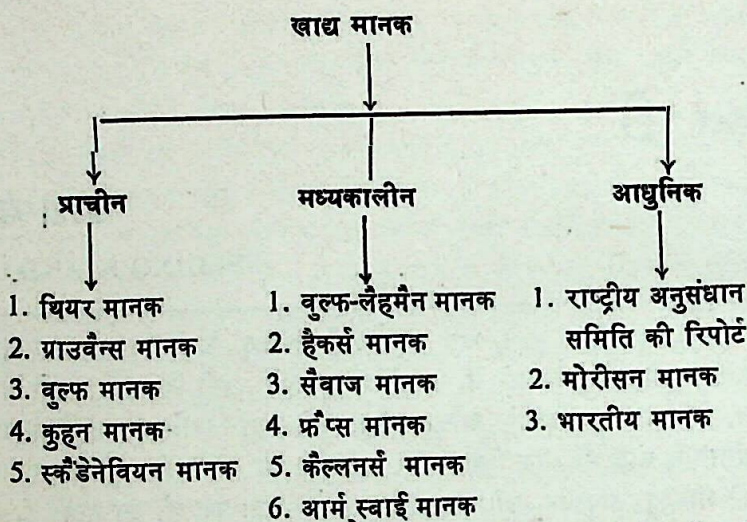
संक्षेप में इन खाद्य मानकों को मुख्य तौर पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) तुलनात्मक खाद्य मानक (Comperative Type Feeding Standards)—जैसे थियर खाद्य मानक, स्कैंडेनेवियन खाद्य इकाई मानक।

(2) उत्पादक खाद्य मानक (Productive Type Feeding Standards)—जैसे कैल्लनर्स खाद्य मानक, आर्म्स्वाई खाद्य मानक।

(2) पाचनशील पोषक तत्व खाद्य मानक (Digestible Nutrient Type Feeding Standards)—जैसे ग्राउवेन्स, वुल्फलैहमैन, हैंकर, सैवाज तथा मोरीसन खाद्य मानक।

प्राचीन खाद्य मानक
(Old Feeding Standards)

(3) थियर खाद्य मानक (Thaer's Hay Standards)

थियर एक जर्मन वैज्ञानिक था, जिसने सन् 1810 में खिलाने के ढंग में कार्बनिक तत्वों का ज्ञान होने के पूर्व ही विभिन्न खाद्य पदार्थों की परस्पर तुलना करके, एक मानक नियत किया, जो 'हे मानक' कहलाया। इसके अन्तर्गत, उसने चारागाह की सूखी घास को एक इकाई माना तथा अन्य खाद्य पदार्थों की इससे तुलना करके, उसकी पौष्टिकता का मूल्यांकन किया। सूखी घास को पानी, एल्कोहल, हल्के अम्ल तथा हल्के क्षार से निचोड़ करके जो पूर्ण तत्व बचे, उनको थियर ने 'बुनियादी हे मूल्य' (Basic Hay Value) की संज्ञा दी। इस प्रकार अन्य खाद्यों को इन सब चीजों से पास करके जो अंक प्राप्त हुए उनकी इस 'बुनियादी हे मूल्य' से थियर ने तुलना की। अपने इन प्रयोगात्मक अनुभवों के परिणामस्वरूप उसने 91 पौण्ड शुष्क अल्फाल्फा घास का 100 पौण्ड चारागाह की सूखी घास के बराबर तथा 200 पौंड

आलुओं का 100 पौंड चारागाह की सूखी घास के बराबर खाद्य मूल्य अंकित किया। चूँकि इस समय तक पशुओं की शरीर-क्रियात्मक आवश्यकताओं (physiological needs) एवं चारे के रासायनिक संघटन (chemical composition) का कुछ भी ज्ञान नहीं था, अतः **यह खाद्य मानक अवैज्ञानिक एवं अशुद्ध था।**

ग्राउवैन्स खाद्य मानक (Grouven's Standard)—आवश्यक कार्बनिक तत्व, प्रोटीन, चिकनाई तथा कार्बोहाइड्रेट की खोज के बाद; एक जर्मन वैज्ञानिक **ग्राउवैन** ने सन् 1859 में पशुओं का आहार नियत करने के लिये प्रथम खाद्य मानक बनाया, जो भोजन में उपस्थित **कच्चे** (Crude) **प्रोटीन कार्बोहाइड्रेट तथा चिकनाई** की मात्रा पर आधारित था। इस मानक के अनुसार, 1000 पौंड शरीर भार वाली गाय के लिये 28·7 पौंड शुष्क पदार्थ (D. M.), 2·76 पौंड कच्चे प्रोटीन (Crude Protein); 0·86 पौंड कच्चे वसा (Crude Fat), तथा 14·55 पौंड कच्चे कार्बोहाइड्रेट की मात्रा निर्धारित हुई। **यह मानक राशन में उपलब्ध पूर्ण तत्वों पर आधारित था, जो पशु के शरीर द्वारा पूर्णतया उपयोग में नहीं लाये जाते। अतः यह खाद्य मानक अधिक समय तक न चल सका।**

वुल्फ खाद्य मानक (Wolff's Standard)—**ग्राउवैन** के खाद्य मानक में उपर्युक्त दोष देखकर, जर्मन वैज्ञानिक **डॉ० ईमिलवान वुल्फ** ने सन् 1864 में पशुओं को आवश्यक **पाचक प्रोटीन, पाचक चिकनाई तथा पाचक कार्बोहाइड्रेट** के आधार पर एक खाद्य मानक नियत किया। इसमें उन्होंने 1000 पौंड शरीर भार वाली गाय के लिये 24·5 पौंड शुष्क पदार्थ, 2·5 पौंड पाचक प्रोटीन, 12·5 पौंड पाचक कार्बोहाइड्रेट तथा 0·4 पौंड पाचक वसा की मात्रा निश्चित की। वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित यह प्रथम खाद्य-मानक था जो बहुत समय तक प्रचलित रहा। यह मानक भी आधुनिक मानकों की तरह पूर्ण नहीं था, इसी कारण इसका भी विशेष रूप से चलन न हो सका। **चूँकि इस मानक में निर्वाह एवं उत्पादक आवश्यकताओं का अलग-अलग ब्यौरा न था और न दूध की मात्रा व गुण पर कोई प्रकाश डाला गया था, अतः प्रो० कुहन ने इसकी भारी आलोचना की।**

कुहन खाद्य मानक (Kuhan's Standard)—वुल्फ खाद्य मानक की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए सन् 1867 में **प्रो० कुहन** ने अपना खाद्य मानक प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने पशुओं की विभिन्न आवश्यकताओं; जैसे—निर्वाह, वर्धक तथा दूध की मात्रा के लिये अलग-अलग चारे की मात्रा निश्चित की।

स्कैंडिनेवियन खाद्य इकाई मानक (Scandanavian Feed Unit Standard)—इसके अन्तर्गत प्रोफेसर **एफजोर्ड** ने सन् 1884 में खाद्यों की परस्पर तुलना करने के लिये 1 पौंड जौ या मक्का को इकाई माना। उन्होंने यह भी बताया कि ऐसी एक खाद्य इकाई प्रति 150 पौंड शरीर भार तथा एक खाद्य इकाई प्रति 3 पौंड दूध देने के लिये पशु को खिलानी चाहिये। यह खाद्य मानक फार्म की गायों से वास्तविक दुग्धोत्पादन के लेखों पर आधारित था।

बाद में इसके विकास स्वरूप यह भी बताया गया कि खाद्य इकाई के अतिरिक्त 0·065 पौंड पाचक कच्चे प्रोटीन (D.C.P.) प्रति 100 पौंड शरीर भार तथा 0·05 पौंड पाचक कच्चे प्रोटीन प्रति पौंड दूध उत्पादन के लिये पशु को और देना चाहिये। यह मानक बहुत ही साधारण होने के कारण अच्छा माना जाता है, अतः आज भी स्कैंडेनेवियन देशों में प्रचलित है। परन्तु इसमें खाद्य को एक इकाई माना गया और यह दाने विभिन्न देशों में एक-दूसरे से भिन्न हैं, अतः खाद्य इकाई भी अलग-अलग होनी चाहिये। इस कठिनाई के कारण यह खाद्य मानक सब देशों में लागू न हो सका।

मध्यकालीन खाद्य मानक
(Middle days Feeding Standards)

वुल्फ-लैहमैन खाद्य मानक (Wolff-Lehmann Standard)—प्रो० कुहन द्वारा बतायी हुई त्रुटियों को ध्यान में रखकर एक जर्मन वैज्ञानिक डॉ० सी० लैहमैन ने सन् 1896 में वुल्फ-मानक को दोहराया और बाद में संशोधित करके उसे प्रकाशित किया, जो वुल्फ-लैहमैन मानक के नाम से काफी समय तक अमेरिका तथा यूरोप में पशुओं को संतुलित आहार नियत करने के लिये प्रचलित रहा। इसमें उन्होंने दुग्धोत्पादन की मात्रा के लिये अलग चारे की मात्रा भी निश्चित की। इस मानक के अनुसार 1000 पौंड शरीर वाली गाय के लिये, जो 22 पौंड नित्य दूध देती हो, 29 पौंड शुष्क पदार्थ (D.M.), 13 पौंड कार्बोहाइड्रेट, 2·5 पौंड कच्चे प्रोटीन तथा 0·5 पौंड वसा की मात्रा निश्चित की गई। इसके अतिरिक्त, 18 पौंड शुष्क पदार्थ, 0·5 पौंड कच्चे प्रोटीन, 8 पौंड कार्बोहाइड्रेट तथा 0·1 पौंड वसा, उसके शरीर रक्षा हेतु निर्धारित हुआ। परन्तु इसमें फिर भी यह कमी रह गई कि दूध में उपस्थित चिकनाई पर कोई विचार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त, कुछ वैज्ञानिकों के विचार से इसमें प्रोटीन की मात्रा आवश्यकता से अधिक निर्धारित हुई।

हैकर्स खाद्य मानक (Hecker's Standard)—वुल्फ लैहमैन खाद्य मानक की त्रुटि को ध्यान में रखते हुए अमेरिका के एक वैज्ञानिक हैकर ने सन् 1903 में सर्वप्रथम एक ऐसा खाद्य मानक प्रकाशित किया, जिसमें गाय की निर्वाह एवं उत्पादन आवश्यकता के अतिरिक्त, दूध की मात्रा के लिये उसमें चिकनाई की प्रतिशत के अनुसार अलग चारे की मात्रा भी निश्चित की। इन्होंने निर्वाह तथा दुग्धोत्पादन के लिये आवश्यक तत्वों की अलग-अलग मात्रा बताई। यह मानक पाचक कच्चे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसा पर आधारित हुआ, जो बाद में पाचक कच्चे प्रोटीन (D. C. P.) तथा सम्पूर्ण पाचक तत्वों (T. D. N.) के रूप में प्रकट किया गया। बाद में अन्य वैज्ञानिकों ने यह कहकर कि इस मानक में प्रोटीन की मात्रा कम निश्चित है, इसकी आलोचना की।

सैवाज खाद्य मानक (Savage Standard)—अमेरिकन वैज्ञानिक सैवाज ने सन् 1912 में हैकर के मानक में प्रोटीन की कमी बताकर अपना खाद्य मानक

प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने पशु की प्रोटीन की आवश्यकता को 20 प्रतिशत और वढ़ा दिया। सैंवाज ने अपने खाद्य मानक को कच्चे प्रोटीन (D.C.P.) तथा सम्पूर्ण पाचक-तत्व (T.D.N) के आधार पर प्रदर्शित किया। इन्होंने यह भी वताया कि पशु की पूर्ण शुष्क पदार्थ की आवश्यकता का 2/3 भाग मोटे चारे से, शेष 1/3 भाग दाने से पशु को दिया जाना चाहिये।

फ्रैप्स खाद्य मानक (Fraps Standard)—दुधारू गायों के लिये संवाज, हैकर के अतिरिक्त, फोरवेस्, इल्लेट, मोलगार्ड, ब्रॉडी, गेन्स, बेकर तथा फ्रैप्स ने भी अपने खाद्य मानक प्रस्तुत किये। स्थान की कमी होने के कारण इनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

फ्रैप्स ने शुष्क पदार्थ, पाचक कच्चे प्रोटीन तथा उत्पादक मूल्य पर आधारित अपना खाद्य मानक प्रकाशित किया।

कैल्लनर का खाद्य मानक (Kellner's Standard)—सन् 1907 में एक जर्मन वैज्ञानिक प्रो० ओसकार कैल्लनर ने प्राप्य ऊर्जा (Net energy) तथा पाचक यथार्थ प्रोटीन (Digestible True Protein) पर आधारित अपना स्टार्च-तुल्यांक ढंग (Starch Equivalent System) प्रकाशित किया। इसके अन्तर्गत उन्होंने 1 पौंड स्टार्च को एक आधार माना और अन्य तत्वों को स्टार्च के रूप में वदलकर उनका मूल्यांकन किया। इसके द्वारा पशु को कितनी ऊर्जा की आवश्यकता है एवं अमुक चारे में कितनी शक्ति है, इस वात का वोध होता है।

विशुद्ध-पाच्य-स्टार्च की वह मात्रा जो अमुक खाद्य के 100 पौंड के बराबर प्राप्य ऊर्जा (Net Energy) **प्रदान करती है, उस खाद्य का 'स्टार्च तुल्यांक'** (Starch Equivalent) **कहलाती है।**

"Pounds of digestible starch which have got the same net energy value as 100 lbs. of that feed is called its Starch Equivalent or S. E."

सर्वप्रथम कैल्लनर ने खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन करने के लिये यह रीति जर्मनी के मोटे होने वाले बैलों पर प्रयोग की। उन्होंने सबसे पहले एक पूर्ण बैल की निर्वाह आवश्यकता के लिये सूखी घास की मात्रा का पता लगाया। इसके बाद उन्होंने शुद्ध स्टार्च की एक निश्चित मात्रा पशु की निर्वाह की आवश्यकता के ऊपर उसे मोटा होने के लिये खिलाई और यह ज्ञात किया कि वह पशु इस मात्रा से अपने शरीर में कितनी चर्बी भण्डारित करता है। इस प्रकार, वे इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रत्येक पौंड भण्डारित चर्बी के लिये 4 पौंड शुद्ध-पाच्य-स्टार्च की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार उन्होंने अन्य शुद्ध पोषक तत्व; चिकनाई, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट की मात्रा भी एक पौंड भण्डारित चर्बी के लिये ज्ञात की।

अगले प्रयोगों में उन्होंने शुद्ध तत्वों के स्थान पर बैलों को साधारण चारे खिलाये और इस प्रकार इनके शरीर में जमा हुई चर्बी की मात्रा ज्ञात की। इन

परिणामों में उन्होंने पाचक स्टार्च की उस मात्रा का पता लगाया जो उतनी चर्बी शरीर में जमा कर सके, जितनी कि अमुक चारे के 100 पौंड, और इस मात्रा को कैल्लनर ने स्टार्च तुल्यांक (Starch Equivalent) कहा। उदाहरणार्थ; 100 पौंड अलसी की खली पशु को खिलाने पर उसमें 18·5 पौंड चर्बी पैदा होती है। चूँकि 4 पौंड स्टार्च, 1 पौंड चर्बी पैदा करती है, अतः 18·5 पौंड चर्बी पैदा करने के लिये हमें उस पशु को 18·5×4=74 पौंड स्टार्च की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अलसी की खली का स्टार्क तुल्यांक 74 हुआ।

कैल्लनर ने अपने परीक्षणों से निम्नलिखित परिणाम निकाले—

पोषक तत्व (Digestible nutrients)	शरीर में चबी का उत्पादन (Production of fats in the body)
1 पौंड विशुद्ध पाच्य प्रोटीन	0·235 पौंड
1 पौंड विशुद्ध पाच्य वसा, रुक्ष चारे (coarse fodder) से प्राप्त	0·420 पौंड
1 पौंड विशुद्ध पाच्य वसा, दाने से प्राप्त	0·525 पौंड
1 पौंड विशुद्ध पाच्य वसा, तैलीय बीजों से प्राप्त	0·600 पौंड
1 पौंड विशुद्ध पाच्य कार्बोहाइड्रेट	0·250 पौंड

इस रीति के अनुसार 1000 पौंड शरीर भार वाले पशु के लिये 0·6 पौंड पाचक प्रोटीन तथा 5·35 पौंड स्टार्च तुल्यांक (S.E.) की मात्रा निर्धारित की गई और यह रीति आज भी पशुओं को खिलाने के लिये यूरोपीय देशों में अपनाई जाती है।

विभिन्न प्रकार के पोषक तत्वों के लिये कैल्लनर ने निम्न प्रकार स्टार्च मूल्य निर्धारित किया, जिससे कि बिना किसी कठिनाई के शीघ्र ही इस रीति का भली-भाँति उपयोग हो सके—

1 पौंड पाच्य नाइट्रोजन विहीन निष्कर्ष (Digestible N.F.E.) =1 पौंड स्टार्च
1 पौंड पाच्य रेशा (Digestible Crude Fibre) =1 पौंड स्टार्च
1 पौंड पाच्य प्रोटीन (Digestible Protein) =0·94 पौंड स्टार्च
1 पौंड पाच्य वसा (Digestible Fat), मोटे चारे से प्राप्त =1·91 पौंड स्टार्च
1 पौंड पाच्य वसा दानों से प्राप्त =2·12 पौंड स्टार्च
1 पौंड पाच्य वसा तैलीय खली से प्राप्त =2·41 पौंड स्टार्च

नोट—प्रायः सभी क्रियात्मक प्रयोगों के लिये सामान्य खाद्य पदार्थों में वसा का स्टार्च तुल्यांक (S.E.) 2·3 माना जाता है।

किन्तु इन कड़े चारों के प्रयोग में रेशा या दुष्पचनीय तन्तु को चबाने में जो ऊर्जा (energy) का ह्रास होता है, वह इसमें सम्मिलित नहीं है। अतः इस त्रुटि के सुधार हेतु सम्पूर्ण योग में अग्रलिखित घटाव किया जाता है—

(1) सभी मोटे चारों (roughages) के लिये यह घटाव उसमें उपस्थित रेशे की प्रतिशत पर निम्न प्रकार निर्भर है—

चारे में रेशे की प्रतिशत (% of Crude Fibre in the feed)	प्रत्येक प्रतिशत रेशे के लिये घटाव (Deduction for every percent of crude fibre)
4 या कम	0·29
5 या कम	0·31
6 या कम	0·34
7 या कम	0·36
8 या कम	0·38
9 या कम	0·40
10 या कम	0·43
11 या कम	0·45
12 या कम	0·48
13 या कम	0·50
14 या कम	0·53
15 या कम	0·55
16 या कम	0·58

(2) दाने के लिये रेशे का घटाव न करके कैल्लनर की मूल्य संख्या (Value Number) से गुणा किया जाता है।

मूल्य संख्या (Value number)—किसी खाद्य की गणना की हुई 'वसा उत्पादन शक्ति' की वह प्रतिशत मात्रा, जो शारीरिक वसा के रूप में उसी खाद्य से वास्तविकता में प्राप्त होती है, उसकी 'मूल्य संख्या' कहलाती है।

इस संख्या को अंग्रेजी अक्षर 'V' से सम्वोधित किया जाता है।

"The percentage amount of calculated fat production power of any feed which is obtained as body fat from the same food, is called its value number. It is always represented by the letter 'V'.

बाद में यह ज्ञात हुआ कि इस प्रकार रेशे के लिये घटाव होकर भूसा तथा सूखी घास का वास्तविक मूल्य कुछ कम हो जाता है। अतः 'वुडमैन' ने सुझाव दिया कि इन खाद्यों के कैल्लनर की रीति से निकाले हुए स्टार्च तुल्यांक (S.E.) को 1/5 गुना बढ़ा देना चाहिये। कैल्लनर के इन प्रयोगों में से किसी भी खाद्य का स्टार्च तुल्यांक यहाँ दी गई रीति से निकाला जा सकता है।

स्टार्च तुल्यांक (S. E.) = [(% पाच्य प्रोटीन × 0·94) + (% पाच्य नाइट्रोजन विहीन निष्कर्ष × 1) + (% पाच्य शुद्ध तन्तुमय पदार्थ × 1) + (%पाच्य वसा × 2·4 या 2·1 या 1·9) × मूल्य संख्या]

इस विधि में सबसे बड़ा लाभ यह है कि केवल सरल पाचन परीक्षण (simple digestion trial) द्वारा खाद्यों की प्राप्य ऊर्जा (net energy) का मूल्य ज्ञात हो जाता है।

आर्म्स्वाई खाद्य मानक (Armsby Standard)—सन् 1917 में वैज्ञानिक **आर्म्स्वाई** ने यथार्थ प्रोटीन (True Protein) तथा प्राप्य ऊर्जा (Net Energy) पर आधारित करके अपना खाद्य मानक प्रकाशित किया, जो आजकल **प्राप्य ऊर्जा विधि** (Net energy system) के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह अधिक खर्चीला एवं समय लेने वाला होने के कारण भली-भाँति प्रचलित न हो सका।

"Taking into account all the losses in metabolism (loss of energy in urine, faeces, combustible gases and heat increment) 'Net Energy' is that part of ingested energy which actually appears as a product."

इसके अन्तर्गत आर्म्स्वाई ने श्वसन कैलोरीमीटर (respiration calorimeter) द्वारा; चारे के शोषण, चबाने, पचाने, दाह्य गैसों (combustible gases), विशेषकर मिथेन तथा मलमूत्र में ह्रास होने वाली ऊर्जा (Energy) को नापा। भोजन से उत्पन्न सकल ऊर्जा (Gross Energy) से इस प्रकार नापी हुई इन कार्यों में खर्च की हुई ऊर्जा को घटाकर, जो शेष ऊर्जा बची, उसका नाम आर्म्स्वाई ने **प्राप्य ऊर्जा** (Net Energy) रखा। यही प्राप्त ऊर्जा उन्होंने उत्पादक कार्यों के लिये आवश्यक बताई। आर्म्स्वाई ने ऊर्जा के प्रत्येक सम्भावित ह्रास की गणना की ओर इस प्रकार खाद्यों से प्राप्त वास्तविक ऊर्जा को थर्म्स (Therms) में प्रदर्शित करके 1917 में अपना यह मानक दुधारू गायों के लिये प्रस्तुत किया।

इन मानक के अन्तर्गत पशु की आवश्यकता तथा राशन की प्राप्त ऊर्जा (Net energy) **ज्ञात करना बहुत ही मूल्यवान एवं अधिक समय लेने वाला होने के कारण, इसकी आलोचना हुई।** इसके अतिरिक्त, शीत ऋतु में या शीत प्रदेशों में यह खाद्य मानक पशुओं का आहार नियत करने के लिये भली-भाँति प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके द्वारा मोटे चारे की पौष्टिकता का मूल्यांकन उनकी वास्तविक पौष्टिकता से कम होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि आर्म्-स्वाई ने ऊष्ण वातावरण (Hot Environment) में पशुओं पर परीक्षण करके अपने परिणाम निकाले थे। अतः इस समय चबाने, पचाने एवं संश्लेषण (Synthesis) क्रियाओं में जो ऊर्जा (Energy) खर्च हुई, उससे पशु को कोई लाभ न हुआ, परन्तु जाड़ों में यही ऊर्जा पशु के शारीरिक तापक्रम को सामान्य रखने में खर्च होती है। इन अवस्थाओं में भोजन की निकली प्राप्त ऊर्जा (Net Energy) से उसकी उपयोगी

ऊर्जा अधिक हुई । आर्म्स्वाई ने बहुत थोड़े खाद्यों की प्राप्य ऊर्जा वास्तविक रूप से ज्ञात की तथा अधिकतर इस कार्य में इन्होंने मोरीसन की पाचक तत्व वाली तालिका की सहायता ली ।

आधुनिक खाद्य मानक
(Present day feeding Standards)

राष्ट्रीय अनुसन्धान समिति की रिपोर्ट (National Research Council's Report)—कुछ वर्ष पूर्व इस समिति ने विशेष कमेटी द्वारा तैयार की हुई, विभिन्न पशुओं की खाद्य आवश्यकता के लिये ग्रंथमाला प्रकाशित की । इसमें पशुओं की खाद्य आवश्यकता एक संख्या में ही रखी गई तथा खाद्य की पूर्ण आवश्यकता शुष्क-तत्व (dry matter) पर निर्धारित न होकर 'वायु शुष्क खाद्य' (air dry feed) पर निर्धारित हुई ।

मोरीसन खाद्य मानक (Morrisons Standard)

सन् 1915 तक अमेरिकन देशों में दुधारू पशुओं के अतिरिक्त अन्य पशुधन को आहार नियत करने हेतु वुल्फ-लैहमैन खाद्य मानक बहुतायत के प्रचलित रहा । दूध उत्पादन के लिये अमेरिकन खाद्य मानक जैसे हैकर्स, सैवाज तथा इकेल इत्यादि अधिक अच्छे सिद्ध हुए ।

सन् 1915 में **एफ० बी० मोरीसन** ने यह सोचकर कि वुल्फ लैहमैन खाद्य मानक में आवश्यकता से अधिक प्रोटीन देने से पशु-पालक को आर्थिक क्षति होती है; शुष्क तत्व, पाच्य प्रोटीन तथा सम्पूर्ण पाचक तत्वों पर पशु की आवश्यकता निर्धारित करके अपना खाद्य मानक प्रकाशित किया । इस प्रकार, इन्होंने अब तक प्रकाशित समस्त खाद्य मानकों के विभिन्न विचारों को संग्रह करके भिन्न वर्ग के पशुओं के लिये आहार नियत करने में एकता का रूप दिया । इस प्रकार, तत्वों की आवश्यकता एवं उन पर आर्थिक दृष्टि रखते हुए सर्वप्रथम सन् 1915 में **"फीड्स और फीडिंग"** (Feeds and Feeding) नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में मोरीसन ने वुल्फ-लैहमैन मानक के नाम से उन्हें प्रकाशित किया । वास्तव में वह मानक वुल्फ-लैहमैन खाद्य मानक के ही विकास स्वरूप थे, जो बाद में मोरीसन खाद्य मानक कहलाये । इसमें मोरीसन ने पशुओं की आवश्यकता एक संख्या में न रखकर, उसको एक क्रम में रखा; जिससे कि पशुओं का आहार-नियत करने के लिये और भी सहुलियत हो गई । मोरीसन ने पशु के लिये न्यूनतम तथा अधिकतम आवश्यकता निर्धारित की ।

विज्ञान की प्रगति के साथ आज के वैज्ञानिक युग में आधुनिक रखने के लिये यह खाद्य मानक समय-समय पर संशोधित किये गये, जो आज संसार के विभिन्न प्रकार के पशुओं का आहार नियत करने के लिये खूब प्रयुक्त हो रहे हैं । साथ ही इस विषय पर खोज में संलग्न वैज्ञानिकों के लिये यह एक पथ-प्रदर्शक का कार्य करते हैं ।

सर्वप्रथम सन् 1936 में इनको दोहराया गया, जिसमें सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.) के अतिरिक्त, प्राप्य ऊर्जा (Net Energy) के अंक भी पशु का आहार नियत करने हेतु इस तालिका में सम्मिलित किये गये। पुनः सन् 1948 में अधिक अच्छे प्रयोगात्मक अनुभवों के आधार पर इन्हें और भी आधुनिक रूप दिया गया। तत्पश्चात् सन् 1956 में मोरीसन ने अपनी तालिका में पशुओं की आवश्यकतानुसार कैल्शियम, फास्फोरस तथा कैरोटीन की मात्रा भी सम्मिलित की। **इस प्रकार मोरीसन के खाद्य मानक आज सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.) पाचक प्रोटीन (D. C. P.), प्राप्य ऊर्जा (Net Energy), कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा कैरोटीन की मात्रा पर पशु की आवश्यकतानुसार आधारित हैं और विभिन्न प्रकार के पशुओं का आहार नियत करने के लिये सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।**

भारतीय खाद्य मानक (Indian Feeding Standards)—अभी तक भारत के वैज्ञानिक अलग से कोई भी खाद्य मानक निश्चित नहीं कर पाये और ये लोग अन्य वैज्ञानिकों द्वारा निकाले हुए खाद्य मानकों पर ही आश्रित रहते आये हैं। आज भी भारत में बहुधा मोरीसन मानकों के आधार पर ही पशुओं का आहार नियत किया जाता है। भारतीय सभी खाद्य सम्बन्धी समस्याओं के निदान के लिये, चाहे वे पशुपालक के लिये हों या अनुसंधान के लिये, मोरीसन की **"फीड्स और फीडिंग"** नामक पुस्तक प्रयोगात्मक रूप से एक निर्देशक का कार्य करती है। **परन्तु यह मानक भारतीय पशुओं के लिये कहाँ तक उपयुक्त है, इस पर अभी अनुसंधान होना है।** भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.), इज्जतनगर, तथा राष्ट्रीय गव्य अनुसंधान संस्थान (N. D. R. I.) करनाल में पशुओं पर अनुभूत प्रयोगों के बाद यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय पशुओं को प्रतिदिन 0·4 पौंड पाचक प्रोटीन पर्याप्त है, जबकि विदेशी माप 0·6 पौंड प्रोटीन प्रतिदिन का है।

कोयम्बटूर में विश्वनाथ और रामिआ ने काम करने वाले बैलों की प्रोटीन आवश्यकता तथा डेरी स्टॉक की खनिज लवणों की आवश्यकता पर कुछ प्रयोग किये। **कारवरी तथा सहायक** वैज्ञानिकों ने ढाका में पचन-गुणांक (Digestion Coefficient) निकालने पर कार्य किया। **डॉ० राइट** ने इन कार्यों के संचालन में समय-समय पर अपनी बहुमूल्य राय भी दी।

सन् 1937 में **सेशान** ने 6 गायों के एक समूह को 20·7% पाच्य प्रोटीन तथा अन्य 6 गायों के एक समूह को 29·1% पाच्य प्रोटीन खिलाकर भी उनके दुग्धोत्पादन एवं शरीर भार में कोई अन्तर नहीं पाया। अतः स्पष्ट है कि भारतीय पशुओं के आहार में 25 प्रतिशत प्रोटीन की कमी मोरीसन मानक के हिसाब से की जा सकती है।

लायलपुर (पंजाब) में **पी० ई० लैण्डर तथा धर्मानी** नामक वैज्ञानिकों ने बैलों पर इस विषय में कुछ प्रयोग किये जो अधूरे रह गये। भारतीय पशुओं में मोरीसन मानक की उपयोगिता के लिये **के० सी० सेन** ने 1957 में काफी सफल प्रयोग प्रदर्शित

किये। उन्होंने मोरीसन के दिये हुये अधिकतम और न्यूनतम आंकड़ों के औसतों को भारतीय पशुओं की आवश्यकता निर्धारित करके अपना खाद्य मानक प्रकाशित किया। यही खाद्य मानक दी हुई तालिकाओं के रूप में आजकल भारतीय पशुओं का आहार नियत करने में प्रयुक्त हो रहे हैं। डॉ० सेन ने यह भी बताया कि गर्भित गाय या भैंस को गर्भ धारण करने के 5 माह बाद 0·3 पौण्ड पाच्य प्रोटीन (D. C. P.) तथा 1·5 पौण्ड सम्पूर्ण-पाचक तत्व (T. D. N.) उसकी निर्वाह एवं उत्पादन आवश्यकता के ऊपर, भ्रूण (Foetus) के विकास के लिये नित्य देना चाहिये। इन्होंने कार्य करने वाले बैलों को मोरीसन के तीन समूहों के बजाय दो समूहों—एक तो सामान्य कार्य करने वाले और दूसरे अधिक कार्य करने वाले में विभाजित किया।

इसके अतिरिक्त, इस विषय पर कुछ कार्य अन्य प्रमुख भारतीय पशु-पोषण विशेषज्ञों, जैसे—डॉ० एस० के० तालपात्रा, डॉ० एन० डी० केहर, डॉ० के० सहाय, डॉ० ए० के० पाल, डॉ० बी० एन० मजूमदार इत्यादि ने भी भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) इज्जतनगर (बरेली) में किया और भारतीय पशुओं की आवश्यकता आमतौर पर मोरीसन खाद्य मानक से 20 प्रतिशत कम निर्धारित हुई।

सन् 1961 में इस पुस्तक के लेखक ने डाक्टर बी० महादेवन, अध्यक्ष पशु-पोषण विभाग के कुशल निर्देशन में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में भारत में प्रथम बार इस विषय में कुछ यारशायर नस्ल के सूकरों पर पाचकता प्रयोग (Digestion Trial) करके, उनकी विभिन्न वृद्धि अवस्था पर, उनके शारीरिक भार के अनुसार पाच्य प्रोटीन (D. C. P.) तथा सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.) पर आधारित खाद्य मानक प्रदर्शित करके यह बताया कि 100 पौण्ड, 200 पौण्ड तथा 300 पौण्ड शरीर भार पर इन सूकरों को क्रमानुसार 0·507, 0·728, 0·949 पौण्ड पाच्य प्रोटीन (D. C. P.) तथा 3·771, 4·574, 5·977 पौण्ड सम्पूर्ण-पाचक तत्व (T. D. N.) की आश्यकता पड़ती है।

खाद्य मानकों का परिसीमन
(Limitations of Feeding Standards)

खाद्य मानकों के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग के पशुओं के लिये निर्धारित आवश्यकता, भिन्न वातावरण में रहने वाले पशुओं के लिये भिन्न हो जाती हैं। भिन्न स्थानों के खाद्यों का पौष्टिक मूल्य भी एक-सा नहीं रहता। एक ही वर्ग के पशुओं को कभी-कभी व्यक्तिगत आहार भी देना पड़ता है, जिसमें कि खाद्य मानकों की उपयोगिता भी भिन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त, खाद्यों के रासायनिक संघटनों (Chemical Compositions) में भी कभी-कभी विभिन्नता हो जाती है। इस प्रकार खाद्य मानक भिन्न वर्ग के पशुओं का आहार नियत करने में उपयुक्त अवस्थाओं में पूर्णतया लागू नहीं हो पाते।

उपर्युक्त विचार इस बात की पुष्टि करते हैं कि विभिन्न त्रुटियों के कारण कोई भी खाद्य मानक अभी परिपूर्ण नहीं है और इस विषय पर अभी अन्वेषण कार्य

होना है। संसार के अनेक पशुपोषण विशेषज्ञ आज भी इस दिशा में निरन्तर कार्यरत हैं। विगत वर्षों में भारतवर्ष में डॉ० एस० के० रंजन, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर; तथा डॉ० एस० पी० अरोड़ा एवं डॉ० मुद्गल, राष्ट्रीय गव्य अनुसंधान संस्थान, करनाल के कुशल निर्देशन में इस दिशा में काफी अच्छा कार्य हुआ है। इसके अतिरित भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, कृषि भवन, नई दिल्ली के तत्वाधान में देश के विभिन्न केन्द्रों में चल रही पशुपोषण सम्वन्धी परियोजनाओं में भी इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हो रहा है।

अभी हाल में महात्मा फूले कृषि विद्यापीठ में किये गये अन्वेषणों के अनुसार यह ज्ञात हुआ है कि संकर जाति की वछियों को मोरीसन द्वारा निर्धारित खाद्य मानकों की तुलना में 20 प्रतिशत कम कुल पाच्य प्रोटीन पर रखा जा सकता है।

खाद्यों मानकों की प्रयोगात्मक उपयोगिता
(Practical Utility of Feeding Standards)

विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित खाद्य मानकों में विशेप परिस्थितियों में थोड़ा-वहुत परिवर्तन, अथवा सुधार करके इन्हें पशुओं के लिये लागू करना चाहिये। परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इनमें 10 से 15 प्रतिशत तक हेर-फेर किया जा सकता है। इसे margin of safety कहते हैं। पशु की व्यक्तिगत क्षमता, चारे का उपयोग तथा खिलाने के ढंगों में विभिन्नता के कारण ऐसा थोड़ा-वहुत हेर-फेर करना आवश्यक हो जाता है।

परिच्छेद : 6

चारे की उपयोगिता ज्ञात करना

(MEASURING USEFULNESS OF FEEDS)

अमुक चारे में कितना ऊर्जा (energy) छिपी हुई है, यह ज्ञात करना, उस चारे की पशु के लिये उपयोगिता का द्योतक है, जैसे कि शारीरिक कार्यों के लिये शक्ति प्रदान करना, शारीरिक ऊतकों एवं शरीर से निकलने वाले रसों को नाइट्रोजन विहीन कार्बनिक तत्व प्रदान करना इत्यादि। चारे का सबसे बड़ा कार्य शारीरिक कार्यों के लिये ऊर्जा उत्पन्न करना है। चूंकि सभी कार्बनिक खाद्य पदार्थ यह कार्य कर सकते हैं, अतः उनकी ऊर्जा प्रदान करने की क्षमता एक ऐसा साधारण मापक है जिससे उनका पारस्परिक पोषण मूल्य (Nutritive Value) ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार खाद्य ऊर्जा (Feed Energy) तथा पोषण मूल्य के आधार पर ऊर्जा के लाभ या हानि के मापक, पशु की खाद्य व्यवस्था एवं चारे की उस पशु के लिये उपयोगिता का सूचक है।

ऊष्मा की इकाई (Unit of Heat)—समस्त प्रकार की ऊर्जा (energy), ऊष्मा (heat) में परिवर्तित हो जाती है। अतः शारीरिक क्रियाओं के सम्पन्न होने में जो भी ऊर्जा के परिवर्तन होते हैं, वे ऊष्मा की इकाई द्वारा जिसे 'कैलोरी' कहते हैं, नापे जा सकते हैं।

कैलोरी (Calorie)—ऊष्मा की वह मात्रा जो एक ग्राम पानी के तापक्रम को एक डिग्री सेण्टीग्रेड तक बढ़ाने में खर्च होती है, कैलोरी या ऊष्मांक कहलाती है। इसको सदैव अंग्रेजी के छोटे अक्षर 'c' से सम्बोधित करते हैं।

किलो कैलोरी (Kilo-Calorie)—ऊष्मा (Heat) की वह मात्रा जो एक किलोग्राम पानी के तापक्रम को एक डिग्री सेन्टीग्रेड तक बढ़ाने में खर्च होती है, किलो-कैलोरी या वृहत कैलोरी कहलाती है। एक किलो-कैलारी एक हजार छोटी कैलीरी के बराबर होती है और इसे सदैव बड़े अक्षर 'C' से सम्बोधित किया जाता है। सामान्यतः वृहत कैलोरी द्वारा ही खाद्यों की ऊर्जा नापी जाती है।

थर्म (Therm)—यह भी ऊष्मा नापने की एक बड़ी इकाई है जो एक हजार किलो-कैलोरी या दस लाख छोटी कैलोरी के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में ताप की वह मात्रा जो एक हजार किलोग्राम पानी के तापक्रम को एक डिग्री सेन्टीग्रेड तक बढ़ाने में खर्च होती है, थर्म कहलाती है।

सकल-ऊर्जा अथवा दहन ऊष्मा
(Gross Energy or Heat of Combustion)

जब कोई खाद्य सम्पूर्ण रूप से जलकर अपने ऑक्सीकृत पदार्थों (Oxidation Products), जैसे—कार्बन डाइऑक्साइड तथा पानी में बदलता है, तो इस प्रकार उत्पन्न हुए परिवर्तन में जो ऊष्मा निकलती है, उसे सकल ऊर्जा या दहन ऊष्मा कहते हैं। खाद्य पदार्थों की ऊर्जा देने की क्षमता ज्ञात करने के लिये इस ऊष्मा को नापना एक प्रारम्भिक विन्दु है। इस ऊष्मा का नाप एक विशेष यन्त्र कैलोरीमीटर या ऊष्मा-मापी द्वारा होता है। यह कई प्रकार के होते हैं, जिनमें से वाम्ब-कैलोरीमीटर अधिक उपयुक्त माना जाता है।

खाद्य में उपस्थित आवश्यक तत्व कार्बोहाइड्रेट, चिकनाई तथा प्रोटीन की सकल ऊर्जा सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अटवाटर तथा ब्रायन्ट के अनुनार निम्नलिखित हैं—

कार्बोहाइड्रेट	4·15 किलो-कैलोरी प्रति ग्राम
वसा	9·40 किलो-कैलोरी प्रति ग्राम
प्रोटीन	5·65 किलो-कैलोरी प्रति ग्राम

विभिन्न प्रकार की ऊर्जा को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—
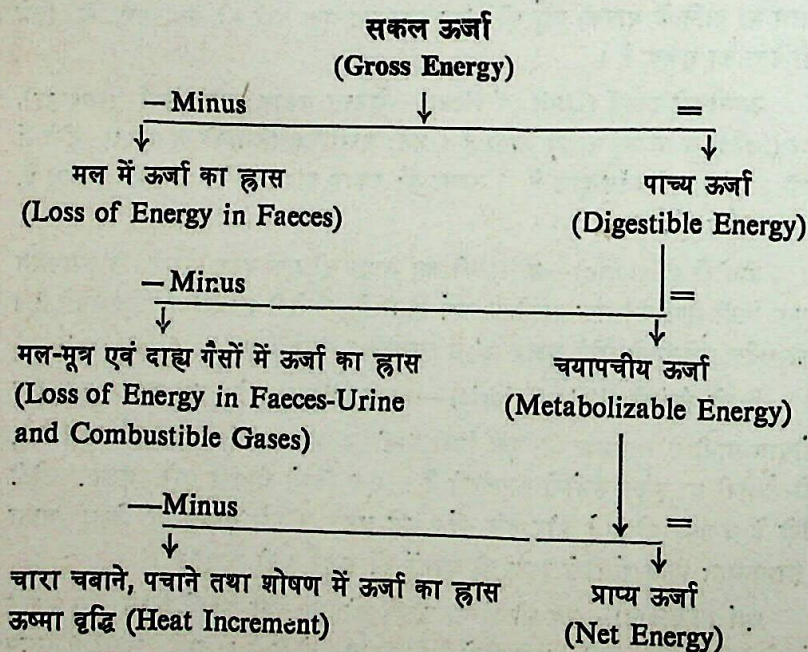
किसी भी खाद्य पदार्थ की ऊष्मा ज्ञात करने के लिये अग्रलिखित विभिन्न मापक हैं—

1. चयापचीय ऊर्जा (Metabolizable Energy)
2. सम्पूर्ण पाचक तत्व (Total Digestible Nutrients)
3. प्राप्य ऊर्जा (Net Energy)
4. स्टार्च तुल्यांक (Starch Equivalent)

चयापचीय ऊर्जा (Metabolizable Energy)

सकल ऊर्जा (Gross Energy) में से यदि मलमूत्र तथा दाह्य गैसों में खर्च हुई ऊर्जा को निकाल दिया जाये, तो बचा हुआ भाग चयापचयी ऊर्जा कहलाता है। परन्तु इस ढंग से हम खाद्य पदार्थों की शरीर में पूर्ण उपयोगिता नहीं नाप सकते, क्योंकि इसमें वह ऊर्जा सम्मिलित नहीं होती जो खाने को चबाने, पचाने तथा शोषण में खर्च होती है। इस विधि से खाद्यों का वह मूल्य ज्ञात होता है, जो शरीर के तापक्रम को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है।

इस विधि के परिसीमन (Limitations)

(1) मूत्र एकत्रित करके उसकी सकल ऊर्जा (Gross Energy) निकालनी पड़ती है।

(2) दाह्य गैसों (Combustible Gases) द्वारा ह्रास हुई ऊर्जा नापने के लिये एक बहुत ही मूल्यवान श्वसन उपकरण (Respiration Apparatus) की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें बहुत परिश्रम तथा बुद्धि खर्च होती है।

(3) बहुत मूल्यवान एवं समय लेने वाला ढंग होने के कारण, इसमें कुछ ही खाद्य पदार्थों की चयापचीय ऊर्जा (M.E.) ज्ञात की जा सकी है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण आर्म्स्बाई तथा फ्रीज ने श्वसन कैलोरीमीटर (Respiration Calorimeter) प्रयोगों द्वारा खाद्यों के पाचक कार्बनिक पदार्थों से चयापचीय ऊर्जा ज्ञात करने के लिये निम्नलिखित आँकड़े निकाले—

(1) मोटे चारे (Roughages) के लिये → 1·588 थर्म प्रति पौंड पाचक कार्बनिक पदार्थ

(2) दाना तथा अन्य ऐसे चारे जिनमें—

(अ) 5 प्रतिशत से कम पाचक चिकनाई हो → 1·969 थर्म, प्रति पौंड पाचक कार्बनिक पदार्थ

(ब) 5 प्रतिशत से अधिक चिकनाई हो → 1·814 थर्म, प्रति पौंड पाचक कार्बनिक पदार्थ

(3) तैलीय खाद्य → 1·996 से 2 177 थर्म, प्रति पौंड पाचक कार्बनिक पदार्थ

पाचकता परीक्षण (Digestion Trial)

किसी भी खाद्य पदार्थ की शरीर में पूर्ण उपयोगिता जानने के लिये यह आवश्यक है कि उस खाद्य में उपस्थित समस्त कार्बनिक पदार्थों की अलग-अलग पचन गुणांक (Digestion Coefficient) या प्रतिशत पाचनशीलता (% Digestibility)

ज्ञात की जाये। एक बार जब पचन गुणांक के अंक ज्ञात हो जाते हैं, तो खाद्य की उपयोगिता उसके कार्य के अनुसार आधारित होकर जानी जा सकती है, जैसे—चारे से प्राप्त प्रोटीन—पाच्य कच्चे प्रोटीन (D.C.P.) तथा प्राप्त ऊर्जा—स्टार्च तुल्यांक (S.E.) अथवा सम्पूर्ण पाचक-तत्व (T.D.N.) रूप में प्रकट की जाती है।

पचन गुणांक (Digestion Coefficient)—**किसी भी खाद्य में प्रत्येक पोषक तत्व की प्रतिशत मात्रा जो पच जाती है, उस पोषक-तत्व का पचन गुणांक कहलाती है।**

"The percentage amount of every nutrient in any feed which is actually digested inside the body is known as 'digestion coefficient' of that particular nutrient."

किसी भी चारे का पचन गुणांक निकालने के लिये पाचकता परीक्षण (Digestion Trial) करना पड़ता है। यह परीक्षण पशुओं को विशेष प्रकार के बने हुये उपापचयक गृहों (Metabolism Stalls) में रखकर किये जाते हैं जिनमें वे अधिक चल फिर न सकें। रासायनिक विश्लेषण द्वारा सर्वप्रथम चारे में उपस्थित पोषक-तत्वों की प्रतिशत मात्रा ज्ञात कर ली जाती है। ऐसे परीक्षण करने में पशु को 15 से 21 दिन तक प्रातः एवं सायं एक निश्चित मात्रा में लगभग वही राशन दिया जाता है, जिसकी पाचकता हमें निकालनी है। यह अवधि **'प्रारम्भिक काल'** (Preliminary Period) कहलाती है। ऐसा करने से भोजन प्रणाली से पुराने चारे का प्रभाव जाता रहता है। प्रारम्भिक काल समाप्त होने के बाद, पशु को उसकी आवश्यकतानुसार तौलकर इस चारे की ज्ञात हुई मात्रा नित्य खिलाई जाती है। पशु का गोबर उसके पीछे बंधे थैले में भारात्मक रूप से (Quantitatively) एकत्र किया जाता है और खाने से बचा हुआ चारा भी तौल लिया जाता है। यह क्रिया लगभग 8 या 10 दिन तक, या जब तक प्रयोग करना हो नित्य दोहराई जाती है। गोबर को नित्य तौलकर, उसमें से नमूना लेकर रासायनिक विश्लेषण करके, इसमें निकले हुए पोषक तत्वों की मात्रा को ज्ञात करते हैं। अब जितना पोषक-तत्व हमने पशु को चारे में खिलाया, उसमें से गोबर में निकली हुई मात्रा को घटा देते हैं। इस प्रकार, बचा हुआ अंक पाच्य पोषक तत्व की मात्रा प्रकट करता है, जो वास्तव में शरीर में काम आया। इस संख्या को जब प्रतिशत के आधार पर प्रकट करते हैं, तो यह 'पचन गुणांक' कहलाती है, इसकी गणना इस प्रकार की जाती है—

$$\text{पचन गुणांक} = \frac{\text{खाये हुये चारे की मात्रा} - \text{गोबर में निकले हुए चारे की मात्रा}}{\text{पूर्ण खाये हुये चारे की मात्रा}} \times 100$$

$$\text{Digestion Coefficient} = \frac{\text{Ingestion} - \text{Excretion in faeces}}{\text{Total Ingestion}} \times 100$$

परन्तु इस प्रकार पाचकता (digestibility) उन्हीं खाद्य पदार्थों से निकाली जा सकती है जो स्वयं निर्वाह आहार हों। इसके अतिरिक्त ऐसे खाद्य जो स्वयं

निर्वाह आहार (maintenance ration) नहीं होते या अकेले नहीं खिलाये जा सकते; जैसे जुगाली करने वाले पशुओं में दाना, इनकी पाचकता निकालने के लिये इन्हें अन्य खाद्यों के साथ मिलाकर खिलाना होता है। ऐसी अवस्था में, पहले उस खाद्य की पाचकता निकालते हैं, जो स्वयं निर्वाह आहार है। तत्पश्चात् दोनों चारे एक साथ मिलाकर पशु को खिलाकर, मिश्रण की पाचकता निकाल लेते हैं। अब इस संख्या में से पहले वाली संख्या घटा देने पर, दूसरे चारे की पाचकता निकल आती है।

उदाहरणार्थ—साइलेज में प्रोटीन का पचन गुणांक ज्ञात करना—

मान लिया 10 दिन के एक पाचकता परीक्षण (digestion trial) में एक वैल को प्रतिदिन 10 किलो साइलेज दी गई, जिसमें कि 13 प्रतिशत प्रोटीन है। इस वैल ने औसत 20 किलो नित्य गोबर किया, जिसमें कि रासायनिक विश्लेषण के वाद ज्ञात हुआ कि 2·0 प्रतिशत प्रोटीन है।
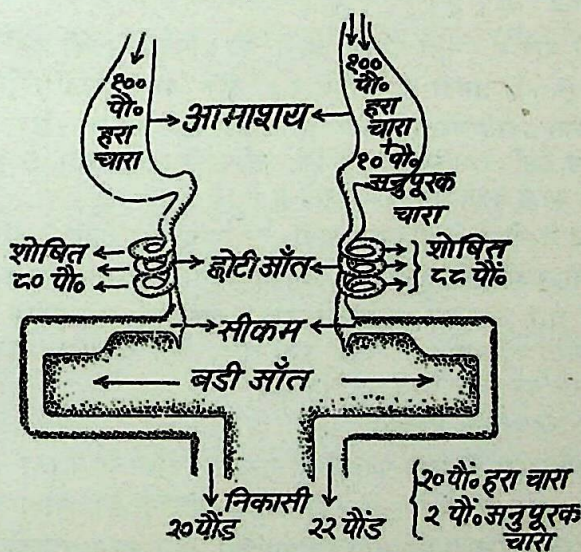
चित्र—6·1 पाचकता का आरेखीय निरूपण
(Diagrammatic Represenation of the Digestibility)

अब ∵ 100 किलो साइलेज में 13 किलो प्रोटीन है।

∴ 1 " " 13/100 "

∴ 10 " " $\frac{13 \times 10}{100} = \frac{13}{10}$ या 1·3 किलो ग्राम

अतः 10 किलो साइलेज में पशु को खिलाई हुई प्रोटीन की मात्रा = 1·3 किलो

∵ 100 किलो गोबर में 2 किलो प्रोटीन है।

∴ 1 किलो गोबर में 2/100 किलो प्रोटीन है।

$\therefore$ 20 ,, ,, $\frac{2 \times 20}{100} = 0.4$ किलो ग्राम

अब 1·3 में से 0·4 घटाने पर यह ज्ञात हुआ कि 0·9 किलो प्रोटीन वास्तव में पचकर शरीर के लिये उपयोगी हुई। अतः यह प्रोटीन की पाच्य मात्रा हुई।

अतः प्रोटीन का पचन गुणांक $= \frac{1.3 - 0.4}{1.3} \times 100 = 69.23$

इसी प्रकार साइलेज के अन्य अवयवों; जैसे—रेशा, नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष (N.F.E.) तथा वसा (Fat) का भी पचन गुणांक निकाला जा सकता है।

सम्पूर्ण पाचक तत्व (Total Digestible Nutrients)

पचन गुणांक (Digestion Cofficient) ज्ञात होने पर सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.) निम्न प्रकार निकाले जा सकते हैं।

सम्पूर्ण पाचक तत्व = %पाच्य प्रोटीन + %पाच्य कार्बोहाइड्रेट + %रेशा (C.F.) + (%पाच्य वसा × 2·25)

किसी भी चारे में सम्पूर्ण पाचक तत्वों की प्रतिशत उसकी ऊर्जा (energy) क्षमता या ऊष्मा (heat) क्षमता का प्रतीक है। चूँकि वसा, कार्बोहाइड्रेट से सवा दो गुनी अधिक ऊर्जा प्रदान करता है, अतः इसे 2·25 से गुणा कर दिया जाता है। प्रोटीन इस योग में इसलिये सम्मिलित है कि शरीर की आवश्यकता से अधिक होने पर यह भी ऊर्जा प्रदान करने का कार्य करती है।

इस विधि से गोबर में ही खाद्य तत्वों का ह्रास देखा जाता है और चारे को चबाने आदि में जो ऊर्जा खर्च होती है, उसका हिसाब नहीं लगाया जाता। अतः इसके द्वारा मोटे चारे का खाद्य मूल्यांकन उनकी वास्तविकता से अधिक हो जाता है, क्योंकि ऐसे खाद्यों को चबाने से अधिक ऊर्जा खर्च होती है। परन्तु फिर भी अति सरल होने के कारण यह विधि बहुत प्रचलित है।

पोषक अनुपात (Nutritive Ratio)

इस अनुपात द्वारा भी खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन किया जा सकता है। पोषण अनुपात सामान्यतः खाद्य पदार्थों में उपस्थित पाच्य प्रोटीन की मात्रा को प्रदर्शित करता है। यह पाच्य प्रोटीन (Digestible Protein) तथा पाच्य नाइट्रोजन विहीन पोषक तत्वों (Digestible non-nitrogenous nutrient) के पारस्परिक अनुपात द्वारा निम्न प्रकार सूचित किया जाता है—

पोषण अनुपात (N.R.) =

पाच्य नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष + पाच्य रेशा + (पाच्य वसा × 2·25)

$$\frac{\text{(Dig. N.F.E.)} + \text{(Dig.C.F.)} + (\text{Dig.fat} \times 2.25)}{\text{पाच्य प्रोटीन (Dig. Protein)}} = 1 : ?$$

उपर्युक्त गणना से पोषक अनुपात का सदैव दूसरा चरण प्राप्त होता है, क्योंकि पहला चरण सदैव 1 निश्चित रहता है। यह अनुपात अग्र तीन प्रकार का होता है—

(1) विस्तीर्ण अनुपात (Wide N.R.) = 1 : 9 से 10, जैसे जई का भूसा
(2) मध्य अनुपात (Medium N.R.) = 1 : 6 से 8, जैसे जई
(3) संकीर्ण अनुपात (Narrow N.R.) = 1 : 3 से 6, जैसे सोयाबीन

जिन खाद्यों का पोषण-अनुपात संकीर्ण होता है, इसका तात्पर्य यह है कि अनुपात के हिसाब में ऐसे चारे में प्रोटीन की मात्रा, नाइट्रोजन विहीन पदार्थों की अपेक्षा काफी अधिक है। विस्तीर्ण अनुपात में बिल्कुल इसका विपरीत होता है। पशुओं को शरीर रक्षा हेतु सदैव विस्तीर्ण अनुपात वाला चारा ही दिया जाता है।

खाद्य के पोषण मूल्य पर प्रभाव डालने वाले कारक
(Factors influencing Nutritive Value of Feeds)

(1) मोटे चारे के संघटन में विभिन्नता—विभिन्न समय पर काटे गये तथा सुरक्षित किये गये खाद्य पदार्थ अपनी पोषकता में भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, फूलते समय काटी गई घास में, पकने के बाद कटी हुई घास की अपेक्षा पोषक तत्व अधिक होते हैं। छोटे-छोटे टुकड़ों में कटे हुये चारे सम्पूर्ण चारे की अपेक्षा अच्छी तरह शरीर में पोषित होते हैं।

(2) दाने तथा उनके उपजात के संघटन में विभिन्नता—दाने और उनके उपजात अपने तैयार किये गये ढंगों के कारण पौष्टिकता में एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। दल कर तथा पानी में भिगोकर खिलाये जाने वाले दानों को अपेक्षा, समूचे दानों की पौष्टिकता कम हो जाती है। दले हुये दानों का शरीर में उपयोग अधिक अच्छा होता है, जबकि समूचे दाने वैसे ही गोबर में बाहर निकल जाते हैं।

(3) खाद्यों में पानी की विभिन्नता—खाद्यों में पानी की मात्रा उनके विभिन्न वृद्धि कालों में भिन्न होती है। अधपके हरे चारे में पके चारे की अपेक्षा अधिक पानी होता है, जिससे कि वे पशु द्वारा भली प्रकार खाये जाकर अपने को सूखे चारे की अपेक्षा अधिक पौष्टिक सिद्ध करते हैं। ऐसे चारे को सुखाकर रखने से कुछ पोषक तत्वों का ह्रास भी होता है।

(4) खाये गये खाद्य की मात्रा—थोड़ा-थोड़ा और नियमित आहार देकर पशु के शरीर में खाद्य की उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। एक साथ इकट्ठा चारा पशु के सामने रखने पर, उसकी रुचि कुछ मन्द पड़ जाती है।

(5) खिलाने के ढंगों में विभिन्नता—पशु पालकों द्वारा खिलाने के ढंगों से भी खाद्य के पोषण मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। मोटा चारा देने के पूर्व पशु को पौष्टिक मिश्रण खिलाने से उसका पोषण मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है।

(6) खाद्यों में प्रोटीन की मात्रा में विभिन्नता—वे राशन, जिनमें पाचक प्रोटीन की मात्रा, पाचक कार्बोहाइड्रेट के अनुपात में बहुत कम होती है, अपनी पौष्टिकता में कम हो जाते हैं।

सारणी 6·1—कुछ पशु खाद्य पदार्थों का पोषण मूल्य
(Nutritive Value of Some Animal Feeds)

चारे के नाम	पाच्य कच्चे प्रोटीन (D.C.P.)%	सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.)%	कैल्शियम%	फॉस्फोरस%
(अ) भूसा और सूखे चारे				
धान का भूसा	0·00	40·0	0·33	0·07
गेहूँ का भूसा	0·00	43·0	0·30	0·07
ज्वार करबी	0·58	45·0	0·33	0·14
(ब) हरे चारे				
बरसीम	2·67	11·5	0·32	0·06
गिनी घास	1·11	12·8	0·08	0·04
हरी ज्वार (नई फसल)	0·34	11·6	0·17	0·10
हरी ज्वार (पेड़ी की फसल)	0·50	16·7	0·13	0·03
हरी मक्का	1·17	17·0	0·10	0·07
(स) अनाज और उनके उपजात				
जौ (दाना)	7·10	75·0	0·07	0·28
जई (दाना)	7·07	70·6	0·12	0·33
मक्का (दाना)	6·30	76·6	0·02	0·07
चने की चूनी	12·00	74·0	0·40	0·20
चने का छिलका	0·00	55·0	0·42	0·04
गेहूँ का चोकर	9·22	65·5	0·07	0·35
धान की भूसी (घूटा)	7·13	63·6	0·06	0·12
(द) तैलीय बीज व खली				
बिनौला	11·24	80·0	0·23	0·50
अलसी की खली	25·83	71·8	0·49	0·89
बिनौले की खली	17·47	72·0	0·11	0·53
मूँगफली की खली	41·75	71·0	0·08	0·23
(य) साइलेज				
मक्का की साइलेज	3·41	61·4	0·10	0·06
ज्वार की साइलेज	2·35	51·1	0·08	0·04
(र) अन्य [illegible]				
जामुन की गुठली	5·82	45·53	0·41	0·17

परिच्छेद : 7

उत्पादन, वृद्धि, कार्य तथा गर्भिणी के लिये आहार

(FOOD REQUIREMENTS FOR PRODUCTION, GROWTH, WORK & PREGNANCY)

शारीरिक और मानसिक विकास भोजन के गुण पर ही निर्भर है। यह बात जितनी अन्य प्राणियों के वारे में सत्य है, उतनी ही पशुओं के लिये भी। निम्नलिखित आवश्यकताओं के आधार पर विभिन्न पशुओं को विभिन्न मात्रा में भिन्न प्रकार से पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है।

(1) शरीर रक्षा हेतु।
(2) दूध, माँस, ऊन तथा अण्डा उत्पादन हेतु।
(3) कार्य करने हेतु।
(4) गर्भ रक्षा हेतु।
(5) वृद्धि करने हेतु।
(6) सांडों को प्रजनन हेतु।

दुग्धोत्पादन के लिये आहार
(Food Requirements for Milk Production)

दूध का अनुकूलतम उत्पादन जितना गाय की उत्पादन क्षमता पर निर्भर है, उतना ही इस वात पर भी निर्भर करता है कि उसकी देखभाल कैसे की जाती है तथा उसे आहार क्या दिया जाता है। पोषक-तत्व जो पशु के आहार में उसके शारीरिक पोषण की आवश्यकता से अधिक गाय को दिये जाते हैं, उसका दूध बढ़ाने में सहायक होते हैं।

पशुओं को दुग्धोत्पादन के लिये जो राशन दिया जाता है, उसकी मात्रा पशु द्वारा दिये गये दूध की मात्रा एवं उसमें चिकनाई की प्रतिशत पर निर्भर होती है। अयन में दूध बनता है। प्रति लीटर दूध बनने के लिये अयन में लगभग 400 लीटर रक्त का संचार होना आवश्यक होता है। अतः दूध बनते समय अयन में बहुत शीघ्र रक्त का संचार होता है। दूध देने वाले पशु को उसकी निर्वाह आवश्यकता के ऊपर ऐसे पोषक-तत्व और खिलाना चाहिये, जो दूध में निकले हुए तत्वों की कमी को शरीर में पूरा कर सके तथा साथ ही उन तत्वों को भी पूरा करें जो इस क्रिया

के सम्पन्न होने में नष्ट हुए हों। आम तौर पर, दिये हुए दूध की मात्रा का एक तिहाई भाग अच्छा पौष्टिक मिश्रण देने से पशु की उत्पादन आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है।

दूध उत्पादन के लिये ऊर्जा (energy) की आवश्यकता—पशु को दूध में उपस्थित चिकनाई के अनुसार ही ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि अधिक चिकनाई वाले दुधारू पशु को अधिक मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह मात्रा पशु को निर्वाह आवश्यकता के ऊपर दी जाती है। दुधारू पशुओं में दूध के साथ कार्बोहाइड्रेट तथा चिकनाई उनके शरीर से बाहर निकलती है अतः इसे ह्रास को पूरा करने के लिये पशु को 5% चिकनाई तथा अच्छे कार्बोहाइड्रेट वाले हरे चारे, जैसे—ज्वार, मक्का, फूलते समय काट कर खिलाना चाहिये। इन्हें खिलाने से दूध में निकले आवश्यक तत्वों की कमी शरीर में पूरी हो जाती है।

सारणी—7·1

दूध में वसा की प्रतिशत (% of fat in milk)	प्रति किलो दूध के लिये सम्पूर्ण पाचक तत्व की आवश्यकता (Requirement of T.D.N. per kg. Milk) (kg)
4%	0·319
5%	0·363
6%	0·411
7%	0·458
8%	0·506
9%	0·553

दूध उत्पादन के लिये प्रोटीन की आवश्यकता—शरीर भार के अनुसार प्रोटीन की आवश्यकता भी भिन्न-भिन्न होती है। पशु को दिये गये संतुलित राशन में मौजूद

सारणी—7·2

दूध में वसा की प्रतिशत (% of fat in milk)	प्रति किलो दूध के लिये पाच्य प्रोटीन की आवश्यकता (Requirement of D.C.P. per kg. Milk) (kg)
4%	0·045
5%	0·051
6%	0·057
7%	0·063
8%	0·069
9%	0·075

80% से अधिक प्रोटीन दूध से बाहर आती है। इसी कारण दूध में उपस्थित चिकनाई के अनुसार पशु को यहाँ दी हुई तालिका 7·2 के अनुसार प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है।

प्रोटीन की आवश्यकता दूध उत्पादन के लिये निर्वाह आवश्यकता से ऊपर है, अतः इसे उसी में जोड़कर पशु की कुल आवश्यकता ज्ञात करनी चाहिए। मोरीसन के अनुसार, एक पौंड पूर्ण दुग्ध प्रोटीन उत्पादन के लिये पशु को अपनी शरीर की रक्षा हेतु प्रोटीन की आवश्यकता के अतिरिक्त 1·25 पौंड पाचक प्रोटीन की आवश्यकता होती है। कार्बोहाइड्रेट की भाँति दूध बनने एवं उसके शरीर से बाहर निकलने में प्रोटीन का ह्रास होता है। कैसीन दूध में निकलने वाली प्रोटीन है। अतः इस ह्रास को पूरा करने के लिए पशु को उसकी निर्वाह आवश्यकता से ऊपर खली व दाना खिलाना चाहिए।

दूध उत्पादन के लिये खनिज लवणों की आवश्यकता—प्रति गैलन (लगभग 4½ लिटर) दूध उत्पादन में गाय के शरीर को 5 ग्राम क्लोरीन, 8 ग्राम कैल्शियम ऑक्साइड तथा 15 ग्राम फॉस्फेट लवणों का ह्रास होता है। अतः पशुओं को दिये जाने वाले राशन में इनकी मौजूदगी पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रौढ़ तथा दुधारू पशुओं को नित्य ही 30–60 ग्राम नमक की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह मात्रा या तो दाने-चारे में मिलाकर, अथवा नमक का ढेला चटाने से पूरी की जा सकती है। दूध में कैल्शियम तथा फॉस्फोरस की मात्रा काफी होती है। अतः शरीर में इनकी पूर्ति के लिए कैल्शियम तथा फॉस्फोरस युक्त अच्छा आहार पशु को देना चाहिए। जो खनिज लवण दूध में पाए जाते हैं; वे बहुधा दैनिक प्रयोग होने वाले राशन में समुचित मात्रा में उपलब्ध रहते हैं। फलीदार हरे चारे, जैसे—लूसर्न तथा बरसीम में कैल्शियम और गेहूँ के चोकर में फॉस्फोरस की मात्रा काफी होती है। अतः इसकी पूर्ति के लिए दुधारू पशुओं को ऐसे ही चारे-दाने खिलाने चाहियें।

दूध उत्पादन के लिये विटामिनों की आवश्यकता—दूध में कई एक मूल्यवान विटामिन पाये जाते हैं। दूध के बनने एवं बाहर निकलने में विटामिनों का काफी महत्व है। अतः विटामिनों और विशेष तौर पर चिकनाई में घुलनशील विटामिनों 'ए' और 'डी' शरीर के अन्दर नहीं बनते, विभिन्न प्रकार के खाद्यों द्वारा पशु को खिलाना चाहिये। विटामिन 'ए' पशु को हरे चारे खिलाने से प्राप्त होता है। हरे चारे में इसका अग्रसर 'कैरोटीन' उपस्थित रहता है, जो शरीर में विटामिन 'ए' में परिवर्तित हो जाता है। पशु को धूप में खड़ा करने अथवा धूप में चरागाहों पर चराने से त्वचा पर सूर्य की किरणों के प्रभाव से विटामिन 'डी' बन जाता है। विटामिन 'ई' दैनिक प्रयोग होने वाले दानों में काफी मात्रा में पाया जाता है। अतः इसे अलग से देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बी-ग्रुप के विटामिन्स पशु के शरीर के अन्दर भोजन प्रणाली में, विशेषकर जुगाली करने वाले पशुओं के रूमेन में

जीवाणुओं द्वारा चारे पर प्रतिक्रिया होकर स्वतः बन जाते हैं और इस प्रकार उसकी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

बढ़ोत्तरी करने वाले पशुओं के लिये आहार
(Food Requirements for growing Animals)

बचपन से लेकर युवावस्था तक पशुओं की निरन्तर वृद्धि हुआ करती है। अतः इस समय में उनको ऐसा राशन देना चाहिये, जिसमें कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा विटामिन, अच्छी किस्म की प्रोटीन तथा अधिक मात्रा में सम्पूर्ण पाचक तत्व (टी० डी० एन०) उपस्थित हों। हड्डियों की वृद्धि के लिये कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा विटामिन 'डी' आवश्यक हैं और मांस की बढ़ोत्तरी के लिये प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है। पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने के उपरान्त पशु को प्रोटीन की आवश्यकता कम तथा वसा व कार्बोहाइड्रेट की आवश्यकता अधिक हो जाती है। वृद्धि करने वाले पशुओं के लिये सोडियम क्लोराइड लवण (खाने वाला नामक) भी विशेष आवश्यक है। पशु को दिये जाने वाले दाने के मिश्रण में एक प्रतिशत नमक मिला देने से यह आवश्यकता पूरी हो जाती है। बछड़ों की वृद्धि के लिये प्रोटीन की मात्रा तथा गुण, दोनों, पर ही ध्यान देना जरूरी है। रूमेन के विकास के बाद ($1\frac{1}{2}$ से 2 माह बाद) पशु के शरीर में प्रोटीन स्वतः बनने लगती है। बच्चों को दूध पिलाना नितान्त आवश्यक है क्योंकि इससे उनको सर्वोत्तम प्रोटीन मिलती है। यदि वृद्धि करने वाले बछड़े को धूप नहीं मिलती तो उन्हें 400 अन्तर्राष्ट्रीय यूनिट विटामिन D प्रति 45 किलोग्राम शरीर भार के अनुसार नित्य मिलनी चाहिये।

माँस उत्पादन के लिये आहार
(Food Requirements for Production)

कुछ पशु; जैसे—भेड़, बकरी तथा विदेशों में बछड़े माँस उत्पादन के लिये ही पाले जाते हैं। इनसे प्राप्त माँस, मनुष्य की खुराक बनता है। अतः ऐसे पशु पालक जो केवल उपरोक्त लक्ष्य से ही बाजार के लिये पशु पालते हैं, सदैव यही सोचते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र कम खर्चे पर ही उनके पशु अधिक से अधिक माँसाधारी हो सकें।

कार्बोहाइड्रेट, चिकनाई तथा आवश्यकता से अधिक खाई हुई प्रोटीन से पशु अपने शरीर में चर्बी भंडारित करते हैं। चूंकि कार्बोहाइड्रेट सदैव अधिक मात्रा में खाये जाते हैं, अतः सबसे अधिक चर्बी शरीर में इन्हीं से एकत्रित होती है। इन तत्वों की आवश्यकता पशु की आयु पर निर्भर होती है। प्रायः दो वर्ष की उम्र तक इनको साधारण वृद्धि करने वाला राशन दिया जाता है।

मोटे होने की दो अवस्थायें होती हैं—

(1) प्रारम्भिक अवस्था (Preliminary Fattening Stage)

(2) सघन अवस्था (Intensive Fattening Stage)

इन्हीं दोनों अवस्थाओं के अनुसार पशु को भोजन की आवश्यकता पड़ती है।

माँस उत्पादन के लिये ऊर्जा (energy) की आवश्यकता—मोटे होने की प्रारम्भिक अवस्था में पशु को उसकी निर्वाह आवश्यकता के ऊपर लगभग 1 किलोग्राम अधिक स्टार्च तुल्यांक (Starch Equivalent) या सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) देना चाहिये। इसमें कार्बोहाइड्रेट, चर्बी में परिवर्तित हो जाते हैं।

मोटे होने की सघन अवस्था में 1·5 से 2 किलोग्राम अधिक स्टार्च तुल्यांक या सम्पूर्ण पाचक तत्व खिलाना चाहिये। यह पशु फिर चार-पाँच माह में 300 से 400 किलोग्राम शरीर भार के होकर, कटने के लिये तैयार हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, जो बछड़े माँस उत्पादन के लिये रखे जाते हैं, उनमें वृद्धि एवं मोटापा साथ-साथ होता है। अतः इनको रेशेदार चारे के साथ अच्छा पौष्टिक मिश्रण भी प्रारम्भ से ही खिलाना चाहिये।

माँस उत्पादन के लिये प्रोटीन की आवश्यकता—जब बहुत ही छोटी उम्र के पशु बाजार के लिये मोटे किये जाते हैं, तो उसे माँस बढ़ाने एवं मोटे होने के लिये काफी मात्रा में प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत जब परिपक्व पशु मोटे किये जाते हैं, तो उन्हें कम प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है। मोटे होने वाले पशुओं को यदि प्रोटीन की मात्रा बहुत कम तथा अधिक मात्रा में कार्बोहाइड्रेट तथा चिकनाई दी जाती है, तो पाचन विकार उत्पन्न होकर उन्हें बहुत बदबूदार दस्त आने लगते हैं।

मांस उत्पादन के लिये खनिज लवणों एवं विटामिनों की आवश्यकता—छोटे तथा कम उम्र के पशुओं को मोटा करने के समय काफी मात्रा में उनकी वृद्धि की आवश्यकता के ऊपर खनिज लवण तथा विटामिन मिलने चाहियें। परिपक्व पशुओं के लिये इनकी आवश्यकता पर विशेष ध्यान देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इनको जो निर्वाह आहार दिया जाता है, उसमें स्वतः काफी मात्रा में यह तत्व उपस्थित रहते हैं।

ऊन उत्पादन के लिये आहार
(Food requirements for Wool Production)

चूंकि ऊन स्वतः शुद्ध प्रोटीन है, अतः इसके उत्पादन के लिये काफी मात्रा में भेड़ को प्रोटीन युक्त राशन खिलाना परम आवश्यक है। यदि भेड़ को दिये जाने वाले आहार में प्रोटीन अथवा कार्बोहाइड्रेट की कमी है, तो उस भेड़ की ऊन निम्न कोटि की होगी। अतः एक स्वस्थ भेड़ को निर्वाह एवं ऊन उत्पादन के लिये 1·5 किलो शुष्क पदार्थ (D.M.), 0·8 किलो स्टार्च तुल्यांक (S.E.), तथा 0·12 किलो पाचक प्रोटीन (D.C.P.) नित्य मिलना चाहिये। चूंकि ऊन की प्रोटीन में गन्धक-युक्त ऐमिनो-अम्ल अधिक होते हैं, अतः अच्छी किस्म की ऊन लेने के लिये भेड़ को राशन में गन्धकयुक्त ऐमिनो-अम्ल, जैसे—'सिस्टीन' या गन्धक मिलाकर खिलाना चाहिये।

कार्य के लिये आहार
(Food Requirement for Work)

कार्य करने वाले पशुओं में पोषक तत्वों की आवश्यकता उनके द्वारा किये गये कार्य पर निर्भर होती है। कार्य करने पर प्रोटीन का ह्रास न होकर शरीर की शक्ति का ह्रास होता है और यह शक्ति कार्बोहाइड्रेट तथा चर्बी से पशुओं को प्राप्त होती है। अतः जब तक शरीर में कार्बोहाइड्रेट तथा चर्बी उपस्थित है तब तक कार्य करने में प्रोटीन का ह्रास नहीं हो सकता। अतः पशु जितना ही अधिक कार्य करता हो, उसको उसी अनुपात से शीघ्र पाचक कार्बोहाइड्रेट खिलाना चाहिये और यह मात्रा अच्छे पौष्टिक मिश्रण से दी जानी चाहिये। जो पशु हल्का कार्य करते हैं उनको अधिक मात्रा में रेशेदार चारा तथा थोड़ी मात्रा में दाना देना चाहिये। अधिक कार्य करने से पसीने द्वारा पशुओं में नमक का भी ह्रास होता है, अतः ऐसे पशुओं को अलग से खनिज मिश्रण तथा खाने वाला नमक देना चाहिये। कार्य करने में विटामिन का ह्रास नहीं होता, अतः इनको अलग से देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आमतौर पर यदि निर्वाह तथा वर्धक राशनों में खनिज लवणों का सन्तुलन ठीक है, तो इनको अलग से देने की आवश्वकता नहीं पड़ती, क्योंकि इनका ह्रास बहुत ही कम मात्रा में होता है।

गर्भिणी के लिये आहार
(Food Requirement for Pregnancy)

भ्रूण अपनी विकास अवस्था में पोषक तत्वों के लिये अपनी माँ पर भी निर्भर रहता है। अतः गर्भकाल में अन्तिम एक-तिहाई समय में यानि गर्भित गाय को 5 या 6 माह बाद 0·14 किलो पाचक प्रोटीन (D. C. P.), 0·7 किलो सम्पूर्ण पाचक तत्व (T. D. N.), 12 ग्राम कैल्शियम, 7 ग्राम फॉस्फोरस तथा 30 मिलिग्राम विटामिन A नित्य ही उसकी निर्वाह एवं उत्पादन आवश्यकता के ऊपर, भ्रूण के विकास हेतु मिलना चाहिये। लगभग 1·5 किलो अच्छा पौष्टिक मिश्रण और देने से पाचक प्रोटीन, सम्पूर्ण पाचक तत्व तथा फॉस्फोरस की पूर्ति हो जाती है, परन्तु इससे 12 ग्राम कैल्शियम नहीं मिल सकता। अतः इसकी पूर्ति के लिये दाने में दो प्रतिशत कैल्शियम कार्बोनेट और मिला देना चाहिये। यदि गाय दूध दे रही हो, तो यह आवश्यक है कि इस अवधि में उसका दूध सुखा दिया जाये। ब्याने के एक या दो सप्ताह पूर्व गर्भिणी को उच्च कोटि के शीघ्र पाचक चारे, जैसे—चोकर तथा अलसी की खली देकर दाने की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। यह मादा का स्वास्थ्य सुरक्षित रखने के लिये दिया जाता है, अन्यथा आने वाले ब्याँत में उसका दूध कम होगा। ब्याने के तुरन्त बाद थनों से दूध का बहाव इतना शीघ्र होता है कि दैनिक दिये जाने वाले आहार के अतिरिक्त मादा को अपने शरीर में भण्डारित भोजन पर निर्भर होना पड़ता है। अतः यह बहुत ही अनिवार्य है कि गाय को गर्भकाल में अच्छा भोजन

दिया जाये, ताकि वह ब्याने के समय तक अपने स्वास्थ्य को अच्छा रख सके। इस क्रिया को **'विकासोन्मुख'** (Steaming up) कहते हैं।

ब्याने के बाद का आहार
(Feeding after Calving)

ब्याने के तुरन्त बाद कार्बोहाइड्रेटयुक्त चारे पशु को खिलाने चाहियें। तेलीय खलियाँ (oil cakes); चूँकि दूध के बहाव को और भी अधिक उत्तेजित करती हैं, अतः इनका प्रयोग ब्याने के बाद 3 से 4 दिन तक सर्वथा वर्जित है। दाने की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये, जिससे एक या दो सप्ताह में मादा अपनी आवश्यकतानुसार अधिक से अधिक दाना खा सके। इसके बाद गाय को निर्वाह एवं उत्पादन आवश्यकता के ऊपर लगभग ½ किलोग्राम सम्पूर्ण पाचक तत्व (T.D.N.) नित्य ही और देना चाहिये जिससे उसके अधिकतम उत्पादन का पता लग सके। यदि इस बढ़ाये हुये पौष्टिक मिश्रण से पशु का दूध 5–6 सप्ताह से अन्दर न बढ़े, तो फिर उसके द्वारा दी हुई दूध की मात्रा के अनुसार ही उसे राशन देना चाहिये।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि ब्याने के बाद कुछ लोग गाय तथा बछड़े को कड़ुवा तेल, जौ का आटा अथवा अरहर की दाल नाल (ढरका) द्वारा पिलाते हैं। जहाँ तक हो सके पशु को ढरका से कोई चीज नहीं पिलानी चाहिये। ब्याने के बाद गर्भाशय की सफाई के लिये पशु को औटी दी जा सकती है। पशु को फालतू चारा-दाना देने की अपेक्षा सन्तुलित आहार देना अधिक उपयुक्त एवं लाभकारी है। सन्तुलित आहार देने से पैसा कम खर्च होकर, पशु से अधिक उत्पादन मिलता है और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है।

परिच्छेद : 8

बछड़ों को खिलाना

(FEEDING OF CALVES)

चूँकि आज का बछड़ा कल का साँड तथा आज की बछिया कल की गाय होती है, अतः बचपन से ही उनके आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये। हमारे देश में बछड़ों को खिलाने के दो ढंग प्रयुक्त होते हैं—एक तो माँ के थन से दूध पिलाना, दूसरे कृत्रिम रूप से बछड़ों को पालना। पहला ढंग भारतीय कृषकों द्वारा पूर्णतया अपनाया जाता है। दूसरा ढंग एक वैज्ञानिक ढंग है, जो विशेष रूप से सरकारी एवं निजी डेरी फार्मों पर प्रयुक्त होता है।
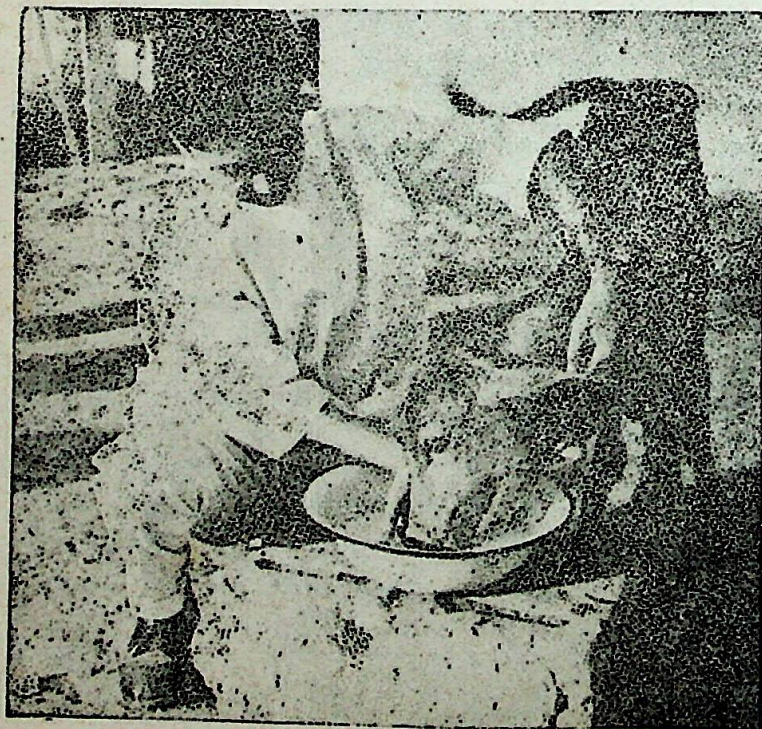
चित्र 8·1—बछड़े को कृत्रिम रूप से दूध पिलाना

बचपन में शरीर की वढ़ोत्तरी के लिये अधिक मात्रा में प्रोटीन तथा खनिज पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। आहार में इनकी कमी रहने पर बच्चे की वृद्धि रुक जाती है। व्याने के बाद बछड़े को प्रथम तीन दिन तक खीस (colostrum) पिलाना चाहिये। खीस में विटामिन 'ए' तथा ऐण्टीवाडीज अधिक मात्रा में होने के कारण, यह वच्चों की छूत की वीमारियों से रक्षा करता है और साथ ही अधिक पाचक होने के कारण अन्तड़ी को साफ रखता है। इसमें प्रोटीन तथा खनिज लवणों की मात्रा भी अधिक होती है। यदि बछड़े को खीस उपलब्ध न हो तो आधा चमम्च भर रेंडी का तेल, आधा पिंट पानी में फेंटा हुआ एक अण्डा, एक पिंट गरम दूध मिलाकर पहले तीन दिन तक, दिन में तीन वार नित्य पिलाना चाहिये। एक से दो माह तक बछड़े को उसके शरीर का दसवाँ भाग की मात्रा में दूध पिलाना चाहिये। प्रारम्भ से लगभग 2·5 लिटर दूध देकर, दूसरे माह के अन्त तक 3·5 लिटर तक दूध देना चाहिये। इस अवधि में बच्चे को नित्य तीन चार बार दूध पिलाना चाहिये। दो माह के बाद धीरे-धीरे सम्पूर्ण दूध के स्थान पर मक्खन निकला हुआ दूध ही दिया जाने लगे। ऊर्जा की पूर्ति करने के लिये बछड़े को एक माह की आयु से ही थोड़ा-थोड़ा पौष्टिक मिश्रण, पूरक आहार के रूप में देना प्रारम्भ करना चाहिये। दाने की मात्रा एक मुट्ठी से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे इतनी बढ़ानी चाहिये कि 6 माह में वह 1·5 किलोग्राम पर पहुँच जाये। चौथे माह में मखनिया दूध (separated milk) की मात्रा भी कम कर देनी चाहिये। महले माह के अन्त से बछड़े को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सूखी घास (hay) भी खिलानी चाहिये और तीन माह बाद उसे हरा चारा भी दिया जाना चाहिये, जिससे उसके रूमेन (प्रथम आमाशय) का विकास हो सके। बछड़े को दिया जाने वाला पौष्टिक मिश्रण (concentrate mixture) निम्न प्रकार बनाना चाहिये—

जौ, जई या मक्का (दला हुआ)	45 भाग
मूँगफली की खली	35 भाग
चोकर	17 भाग
खड़िया	2 भाग
नमक	1 भाग

छोटे बछड़ों को तामचीनी के तसले में दूध पिलाना सिखाना चाहिये। इसके लिये बछड़े को 12 से 16 घण्टे भूखा रखकर, तसले में रखे हुए दूध में साफ हाथ डुबोकर तथा अंगुली ऊपर करके दूध चुसाना चाहिये (चित्र 8·1)। यह कार्य तसले में रवड़ का निपिल डालकर भी किया जा सकता है। यह निपिल बच्चों को दूध पिलाने वाली चौड़े मुँह की बोतल में लगी निपिल की आकार की होती है। पैदा होने के प्रथम दो सप्ताह तक बछड़े को 3–4 बार नित्य दूध पिलाना चाहिये। तसले को खूब

स्वच्छ रखना चाहिये। बछड़ों को कम से कम 15 दिन तक सम्पूर्ण दूध पिलाना आवश्यक है। इसके बाद धीरे-धीरे मखनिया दूध में परिवर्तन किया जा सकता है। यदि इस परिवर्तन काल में बछड़े को दस्त आने लगें तो उसे 24 घण्टे भूखा रखकर उबला हुआ पानी तथा दो औंस रेंडी का तेल पिलाना चाहिये। विटामिन की कमी के लिये मछली का तेल देना चाहिये। निम्न सारणी के अनुसार भी बछड़ों का आहार निर्धारित किया जा सकता है—

सारणी 8·1—बछड़ों के लिये आहार

बछड़े की आयु	सम्पूर्ण दूध (whole milk) (लिटर)	निघृत दूध (skimmed milk) (लिटर)	पिसा हुआ दाना (कि०ग्राम)	सूखी घास (hay) (कि०ग्राम)	हरा चारा या साइलेज (कि० ग्राम)
1 दिन	माँ का थन पिलाना	—	—	—	—
2-4 दिन	2·27 से 2·5 खीस	—	—	—	—
5-7 दिन	2·72 खीस	—	—	—	—
7-14 दिन	3·2 खीस	—	—	—	—
15 वाँ दिन	2·72 दूध	0·91	—	—	—
16 वाँ दिन	2·72 दूध	0·91	—	—	—
17 वाँ दिन	1·81 दूध	1·81	—	—	—
18 वाँ दिन	1·81 दूध	1·81	—	—	—
19 वाँ दिन	0·91 दूध	2·72	—	—	—
20 वाँ दिन	0·91 दूध	3·18	—	—	—
21 वाँ दिन	0·45 दूध	3·63	—	—	—
चौथा सप्ताह	—	4·54	0·11	0·23	—
पाँचवा सप्ताह	—	4·54	0·23	0·23	—
छठा सप्ताह	—	4·54	0·34	0·23	—
सातवाँ सप्ताह	—	5·45	0·45	0·45	—
आठवाँ सप्ताह	—	5·45	0·56	0·68	—
नवाँ सप्ताह	—	5·45	0·68	0·91	—
दसवाँ सप्ताह	—	6·35	0·68	0·91	—
ग्यारहवाँ सप्ताह	—	6·81	0·91	0·91	—
बारहवाँ सप्ताह	—	6·81	0·91	1·36	1·8
4–6 माह	—	5·46	1·36	1·81	3·0

बछड़ों के आहार में कभी भी एकाएक परिवर्तन नहीं करना चाहिये। यदि परिवर्तन आवश्यक हो तो यह क्रमिक तथा धीरे-धीरे होना चाहिये। एकाएक परिवर्तन करने से उनका पेट खराब होकर दस्त आने लगते हैं, जो प्राणघातक हो सकते हैं। उनको नियमित रूप से निश्चित समय पर ही आहार देना चाहिए। दूध अथवा राशन के साथ थोड़ी मात्रा में प्रतिजैविक पदार्थ अथवा खनिज मिश्रण खिलाना भी बछड़ों के लिये लाभदायक होता है। इसके लिये ऑरोफैक, टी० एम० 5, सुपर-मिण्डिक, नूविमिन तथा स्टार्मिन आदि खनिज मिश्रण उपभोग में लाये जा सकते हैं। इन्हें खिलाने से बछड़ों के शरीर में बीमारियों के प्रति सहन-शक्ति उत्पन्न होकर, उनकी वृद्धि एवं विकास अधिक अच्छा होता है।

दूध पीने वाले छोटे बछड़ों के खान-पान पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। बछड़ों को कभी भी ढरके से दूध नहीं पिलाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उनकी श्वांस नली में दूध जाने का भय रहता है जिससे नमोनिया होकर ऐसे शत-प्रतिशत बछड़ों की मृत्यु हो जाती है। यदि बछड़ा दूध पीना छोड़ दे तो उसे चम्मच, दूध पीने वाली बोतल अथवा तामचीनी की टोंटी में लगे कटोरे से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बहुत धीरे-धीरे दूध पिलाना चाहिये। दूध पिलाते समय उसकी गर्दन को अधिक ऊँचा नहीं उठाना चाहिये।

राष्ट्रीय डेरी अनुसन्धान संस्थान, करनाल में बछड़ों के लिये सस्ता आहार खोज निकालने के लिये अध्ययन से यह पता चला कि बछड़ों को 30 दिन की आयु के बाद दूध बिल्कुल बन्द करके अन्य आहार देने पर तीन माह की आयु पर उनके खान-पान के खर्चे में 200 रुपये की बचत होती है।

बहुधा ऐसा देखने को मिलता है कि नवजात बछड़ों की नाभि फूलकर, पैरों के जोड़ों में सूजन आकर अथवा सफेद बदबूदार दस्त आकर मृत्यु हो जाया करती है। गन्दा रहन-सहन, नाल न काटना तथा भली-भाँति दूध न पिलाने से ऐसे कष्ट होते हैं। अनेक बछड़ों के पेट में केंचुए पड़ने से जी उनकी मृत्यु होती है। केंचए के लिये 15-20 दिन की आयु पर ही बछड़े को पिपराजीनयुक्त कृमिनाशक औषधि पिलाकर हर माह दोहराना चाहिये।

परिच्छेद : 9

खाद्य-संरक्षण
(FODDER CONSERVATION)

स्वायलिंग विधि
(Soiling System)

इस विधि के अन्तर्गत चारे को उगाना, काटना तथा हरे चारे को जहाँ वह उगाया गया हो, उसी स्थान पर भण्डारित करना आदि आता है। हरे चारे की फसलें जो ताजी काटकर ही पशुओं को खिलाई जाती हैं स्वायलिंग क्राप्स (soiling crops) कहलाती हैं। इन फसलों को स्वाइलेज (soilage) भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत सूखी घासें, हरी लूसर्न, बरसीम, मटर, जई तथा लोभिया इत्यादि फसलें आती हैं।

इस विधि के अनुसार मिट्टी में बीज उगाया जाता है तथा फसलें उचित समय पर काटकर ताजी अथवा भण्डारित करके पशुओं को खिलाई जाती हैं। इस प्रकार इस ढंग से कृषि योग्य भूमि तथा खाद्य एवं वाड़ (fences) की बचत होकर पशुधन की अच्छी उन्नति हो सकती है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह ढंग अधिक प्रचलित नहीं है। जर्मनी जैसे देशों में जहाँ कृषि योग्य भूमि का बहुत अधिक मूल्य तथा चरागाहों की विशेष कमी है, यह ढंग बहुतायत से अपनाया जाता है।

इस ढंग से लाभ

(1) कृषि योग्य भूमि की बचत—फसलें भूमि के थोड़े भाग पर उगाई जाती हैं और इनसे उत्पादन, पशु की आवश्यकतानुसार काफी होता है। चूँकि यह फूलते समय ही काट ली जाती है, अतः इसी भूमि पर अन्य फसलें भी उगाई जा सकती हैं।

(2) बाढ़ (fences) की बचत—चूँकि फसलें शीघ्र ही, फूलते समय काटकर पशुओं को खिला दी जाती हैं, अतः इसी क्षेत्र में पशुओं की घूर्णनीय चराई (rotational grazing) के लिए टुकड़ों में तार नहीं लगाने होते। खेत के चारों ओर केवल एक ही तार लगवाना पर्याप्त होता है।

(3) खाद की बचत—पशुओं को चराने के लिए चारागाहों पर नहीं ले जाना होता, अतः उनका मल-मूत्र नष्ट न होकर पूर्ण रूप से खाद बनाने के उपयोग में आता है।

(4) पशुओं का स्वस्थ रहना—हरा चारा स्वयं ही एक निर्वाह आहार है, अतः पशु इसे खाकर, चरने की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रह सकते हैं।

स्वायलिंग क्रॉप्स (soiling crops) अधिकतर डेरी गायों को खिलाने में प्रयुक्त होती हैं। पशुपालक इन फसलों को उगाकर, काटकर तथा भण्डारित करके अपने पशुओं को वर्ष भर अच्छा चारा प्रदान कर सकते हैं।

इस ढंग से हानि

(1) अधिक खर्चीला—हरे चारे को नित्य काटने में काफी मजदूरी लग जाती है। अतः यह ढंग खर्चीला पड़ता है।

(2) ऋतु परिवर्तन—कुसमय में जब मौसम खराब हो, इस कार्य में विशेष बाधा पड़ जाती है।

खाद्य संरक्षण की विधियाँ
(Methods of Fooder Conservation)

हमारे देश में पशुओं को हरा चारा केवल उसी समय मिल पाता है, जब तक कि वह खेत में होता है। गर्मियों एवं जाड़े के दिनों के लिये चारे को संरक्षित रखने की कृषकों द्वारा कोई विशेष विधि नहीं अपनाई जाती। बहुधा हरे चारे, जैसे ज्वार, बाजरा की करवी, अगौले एवं अन्य हरे खर-पतवार कुट्टी के रूप में काटकर थोड़े सूखे चारे में मिलाकर पशुओं को खिलाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त हरी घास को भी बहुधा चारागाहों पर ही चरा लिया जाता है। इस प्रकार वर्ष के उन दिनों के लिए चारा सुरक्षित रखना अनिवार्य हो जाता है, जबकि पशुओं के लिये हरा चारा प्राप्य न हो।

अतः कुसमय में पशुओं को खिलाने के लिए निम्नलिखित विधियों से भंडारित किया हुआ चारा सुरक्षित रखा जा सकता है—

1. **घास की 'हे' बनाकर रखना (Hay Making)**
2. **साइलेज बनाना (Silage Making)**
3. **कृत्रिम रूप से घास को सुखाना (Artificial Drying of Grasses)।**

सच तो यह है कि वास्तविक रूप में इनमें से एक भी ढंग भारतवर्ष के किसानों द्वारा नहीं अपनाया जाता। किसी हद तक घास को सुखाया जाता है, परन्तु यहाँ की घास इतनी निम्न कोटि की होती है कि वह निर्वाह-आहार कार्य भी नहीं कर सकती। कुछ सरकारी फार्मों को छोड़कर साइलेज बनाने का ढंग भी कृषकों द्वारा उपयोग में नहीं लाया जाता। कृत्रिम रूप से घास को सुखाना भारतवर्ष में क्रियात्मक रूप से बिल्कुल ही अनभिज्ञ है।

घास की 'हे' बनाना (Hay Making)

परिभाषा एवं उपयोगिता

एक अच्छी प्रकार की सूखी घास वह है जिसमें बेकार की घास-पात न मिली हो तथा ऐसी परिस्थितियों में सुखाई गई हो, जिसमें न तो उसकी पत्तियों, शुष्क तत्व तथा पौष्टिक तत्वों का ह्रास हुआ हो, न सड़न पैदा हुई हो, न प्राकृतिक हरा रंग नष्ट हुआ हो, और न उसकी मिठास खत्म हुई हो। 'हे' उस सूखी घास को कहते हैं,

जिसमें कि हरी घास, उसमें उपस्थित आवश्यक तत्वों के ह्रास के बिना ही कुसमय में जबकि अन्य हरा चारा उपलब्ध न हो, पशुओं को खिलाने के लिये संरक्षित करके भण्डारित की गई हो।

"Hay is the name given to such a grass which has been dried and stored under conditions without the loss of its nutrients and original green colouration."

इस प्रकार तैयार किया हुआ आहार अधिक स्वादिष्ट, पौष्टिक, पाचक एवं उच्च कोटि का माना जाता है। भारतवर्ष में इस विधि द्वारा घास को सुखाना अभी कृषकों द्वारा नहीं अपनाया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक तो हमारे कृषकों को इस विधि का पूर्ण ज्ञान नहीं है और दूसरे सिंचाई के साधनों का अभाव होने के कारण वर्षा ऋतु में ही घासें पर्याप्त मात्रा में उगती हैं, जो उस समय मौसम की खराबी के कारण भली-भाँति सुखाई नहीं जा सकतीं। इसके अतिरिक्त जब मौसम सूखता है तो घासें बढ़कर पक जाती हैं और उनमें उपस्थित पौष्टिक तत्व कम हो जाते हैं। प्रायः इसी समय काश्तकार रबी की फसल के लिये अपनी भूमि सुधारने में लगे होते हैं। अतः उनके पास इतना समय भी नहीं बच पाता कि वे कोई अन्य कार्य कर सकें। भारत में 'हे' के नाम पर बहुत ही निम्न कोटि की कड़े तनों वाली तथा अधिक रेशेदार घासें बाजार में बेची जाती हैं। किसी हद तक चारे को संरक्षित रखने का यह ढंग देश में सरकारी फार्मों एवं अनुसन्धान संस्थानों में प्रयुक्त होता है।

घास को सुखाने की क्रिया का संक्षिप्त विवरण

(अ) घास को सुखाने के लिये आवश्यक बातें

(1) घास पत्तीदार, खोखले एवं पतले तनोंदार होनी चाहियें।

(2) सुखाई जाने वाली घास में 7 से 9 प्रतिशत प्रोटीन तथा 0·5 प्रतिशत कैल्शियम होना चाहिये।

(3) कटी हुई घास को खेत में तब तक सुखाना चाहिये, तब तक कि उसमें शुष्क पदार्थों की मात्रा 60 प्रतिशत न हो जाये। इसके बाद उसे किसी ढाँचे पर लटकाकर 80 से 85 प्रतिशत तक शुष्क पदार्थ होने तक सुखाना चाहिये और इसमें यह ध्यान रहे कि उसका असली हरा रंग नष्ट न होने पावे।

(4) ढाँचे के ऊपर सुखाने से यदि घास का रंग नष्ट होने लगे तो उसमें सड़न लगकर उसकी पौष्टिकता कम हो जाती है। अतः अन्दर वाले भाग की निश्चित अवकाश पर बार-बार हाथ घुसेड़कर परीक्षा करनी चाहिये और यदि उसमें गर्मी पैदा होने लगे तो समझना चाहिये कि सूखी घास नष्ट हो रही है।

(5) भण्डारित करने वाली घास में 15 प्रतिशत से अधिक नमी नहीं होनी चाहिये।

(6) जहाँ तक सम्भव हो घास को शीघ्रातिशीघ्र सुखाना चाहिये। ऐसा करने से उसमें उपस्थित आवश्यक तत्व नष्ट नहीं होने पाते।

(अ) काटते, उठाते एवं सुखाते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी पत्तियाँ टूटकर न गिरने पावें।

(ब) 'हे' बनाने वाली फसलें

वरसीम, लूसर्न, जई, लोभिया, सोयाबीन, अन्जन तथा सूडान घास इत्यादि 'हे' बनाने के लिए उपयुक्त फसलें हैं।

(स) 'हे' बनाने वाली फसलों को काटना

'हे' बनाने वाली फसलों को फूलते समय ही काट लेना चाहिये, क्योंकि इस समय घासों में कैरोटीन, प्रोटीन, पाचक कार्वोहाइड्रेट तथा खनिज लवणों की मात्रा अधिक होती है। काटने का सबसे अच्छा समय वह है, जबकि सुबह ओस छूट चुकी हो, जिससे कटी हुई घासें पृथ्वी पर फैल जायें, तो वह समान रूप से सूख सकें।

(द) घास सुखाने की विभिन्न विधियाँ
(Method of Hay Making)

(1) **तिगुड़िया विधि (Tripod Method)**—इस विधि में लम्बी-लम्बी तथा पतली तीन वल्लियों से एक तिगुड़िया-सी बनाते हैं, जिनका ऊपरी तथा तीनों बल्लियों के सिरों से मिलकर नुकीला-सा बनाया जाता है। यह सिरे तार, रस्सी अथवा स्क्रू द्वारा एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि उनके मध्य भण्डारित घास में वायु
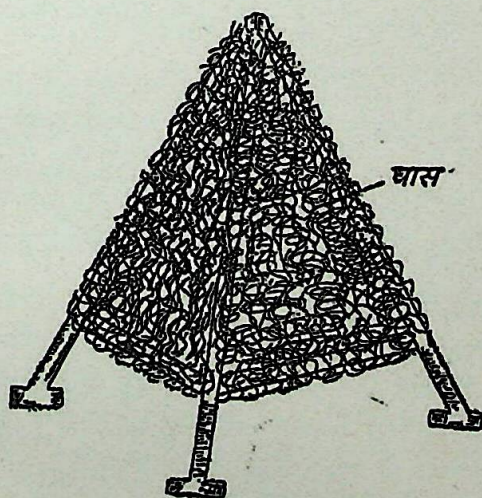
चित्र 9·1—'हे' बनाने की तिगुड़िया विधि
(Tripod method of Hay Making)

के यातायात के लिये कुछ रिक्त स्थान छूटा रहे। पृथ्वी पर इन तीनों बल्लियों के सिरे इस प्रकार रखे जाते हैं कि वे भूमि पर अपने मध्य समत्रिबाहु त्रिभुज बनावें। अब इस तिगुड़िया पर घास समान रूप से फैला दी जाती है। एक-सा सुखाने के लिये

इसे कभी-कभी बाँस की सहायता से पलटना भी पड़ता है। **खराब मौसम में घास की 'हे' बनाने का यह अच्छा ढंग है।**

(2) फार्म वाड़ विधि (Farm Fences Method)—इस विधि के अन्तर्गत फार्म के चारों ओर खिचे हुए कांटेदार तारों अथवा चार दीवारी पर सुखाने वाली घासों, जैसे लूसर्न, बरसीम या जई को फैला देते हैं, भण्डारित करने से पूर्व इनको एक या दो बार पलट देते हैं, ताकि समान रूप से सूख सकें।

(3) भू-तल विधि (Ground Method)—इस विधि में कटी हुई घास को या तो शुष्क भूमि पर 9 से 12 इन्च की मोटी तह में फैला देते हैं अथवा इस घास की कई छोटी-छोटी ढेरियाँ बना देते हैं, जिन्हें 'विन्ड्रोज' (windrows) कहते हैं। यह घास इस प्रकार धूप में सुखाई जाती है तथा समान रूप से सूखने के लिये एक-दो बार पलट भी दी जाती है।

(4) मकान अथवा पशुशाला की छत पर घास सुखाना—घास सुखाने की यह विधि पर्वतीय क्षेत्रों के लिये अधिक उपयुक्त है। लेखक ने अपने कार्यकाल में भूटान में यह देखा कि वहाँ के पशु पालन अपने घरों की टीन की छत पर घास फैलाकर उसे सुखाते हैं। वहाँ के राजकीय पशु प्रजनन फार्म सर्विथाँग, थिम्फू में भी इसी प्रकार पशुशाला की टीन की ढालू छत पर मोटी तह बिछाकर हरी घास सुखाई जाती है। एक-दो बार पलटकर सूखने के बाद इसे पशुशाला में ही छत से नीचे लगी लकड़ी तथा टीन के बीच भण्डारित किया जाता है।

(य) 'हे' को भण्डारित करना (Storage of Hay)

उपर्युक्त विधियों द्वारा सुखाई हुई घास में भण्डारित करते समय नमी की मात्रा 15–20 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये। अधिक सूखने पर घास में प्रोटीन एवं कैरोटीन की मात्रा कम हो जाती है। कम सूखने पर घास में सड़न अधिक होती है, जिसके फलस्वरूप निम्न कोटि की 'हे' बन सकती है या कभी-कभी यह जल भी सकती है। हमारे देश में, सूखने में बाद यह 'हे' किसी ऊँचे छायादार स्थान में ढेरी के रूप में संचित की जाती है।

(र) 'हे' बनाने में आवश्यक तत्वों का ह्रास
(Loss of Nutrients in Hay Making)

(1) पत्तियों के गिरने से हानि—घास की पत्तियों में पौष्टिक तत्व अधिक होते हैं, अतः इनके गिर जाने पर घास की पौष्टिकता कम हो जाती है। इस दोष पर काबू पाने के लिए घास को अधिक सूखने एवं दिन की गर्मी में उलटने-पलटने से बचाना चाहिये, जिससे उसकी पत्तियाँ न गिरने पावें।

(2) रंग उड़ाने से हानि—जब घास तेज धूप में सुखाई जाती है, तो उसका हरा रंग उड़कर, कैरोटीन की मात्रा को कम कर देता है।

(3) रिसाव (Leaching) से हानि—सुखाते समय घास पर यदि कभी वर्षा पड़ जाती है, तो कुछ आवश्यक तत्व, जैसे प्रोटीन तथा नाइट्रोजन विहीन-निष्कर्ष की 20 प्रतिशत या अधिक मात्रा घास में कम हो जाती है।

(4) किण्वन (Fermentation) से हानि—किण्वन होते समय कुछ आवश्यक तत्व, जैसे स्टार्च तथा शक्कर का ऑक्सीकरण होने पर कार्बन डाइ आक्साइड और पानी बनता है तथा साथ ही इस क्रिया के सम्पन्न होने पर कुछ ऊर्जा (energy) का ह्रास भी होता है।

घास को काटने, उठाने रखने में सावधानी बरतने एवं अच्छी परिस्थितियों में सुखाने पर, इन हानियों से बचाया जा सकता है।

साइलेज बनाना (Silage Making)

पशुओं के लिये हरा चारा बहुत ही आवश्यक है। संसार में बहुत ही कम ऐसे देश हैं, जिनमें वर्ष भर जलवायु ऐसी रहती हो, जिससे कि हरे चारे पैदा किये जा सकें। यह भली-भाँति विदित है कि अच्छे दुग्धोत्पादन के लिये दुधारू पशुओं को हरा अथवा रसीला चारा देना नितान्त आवश्यक है। अतः सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही संसार के प्रमुख पशु-पालक इस समस्या के सुलझाने पर विचार करते आये हैं।

साइलेज बनाकर हरे चारे को सुरक्षित रखने का ढंग सर्वप्रथम कभी गत शताब्दी के आरम्भ में केन्द्रीय यूरोप से आरम्भ हुआ। हमारे देश में साइलेज बनाना आधुनिक युग में ब्रिटिश के वैज्ञानिकों ने प्रारम्भ किया।

वह विधि, जिसके द्वारा हरे चारे अपनी रसीली अवस्था में गड्ढे में दाबकर सुरक्षित रखे जायें, साइलोइंग या इनसाईलिंग (siloing or ensiling) कहलाती है और इस प्रकार जो वस्तु बनकर तैयार होती है उसे साइलेज या इनसाइलेज कहते हैं।

"The process by which the green fodder is preserved in its succulant stage inside a silo pit is called **'Siloing or Ensiling'** and the product thus formed is called **Silage.**"

साइलेज बनाकर चारे को सुरक्षित रखने का ढंग, घास को सुखाकर रखने से अधिक अच्छा है। खराब मौसम में भी साइलेज बनाई जा सकती है। कड़े तने-दार पौधों से, जिनसे निम्न कोटि की सूखी घास बनती है, अच्छी साइलेज बनाई जा सकती है।

साइलेज बनाने के लिये कुछ आवश्यक निर्देश

(1) जिस चारे से साइलेज़ बनाना हो, उसमें शुष्क पदार्थ (dry matter) की मात्रा 30–40 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये। यदि नमी अधिक हो, तो इसे सुखा लेना चाहिये और यदि नमी कम हो, तो साइलेज बनाते समय चारे पर पानी छिड़कना चाहिये।

(2) चारे में यदि नमी बहुत कम है तो वह भली-भाँति गड्ढे में दब नहीं पायेगा। इसके फलस्वरूप चारे में अधिक हवा रहने के कारण उसमें सड़न लगने का अन्देशा रहता है। यदि चारे में नमी अधिक है तो खट्टी साइलेज बनकर तैयार होगी।

(3) अच्छी साइलेज बनाने के लिये यह आवश्यक है कि चारा भली-भाँति गड्ढे में दाबा जाये। अतः बड़े पौधों को काटकर छोटा कर लेना चाहिये। यदि पत्तियों की साइलेज बनानी हो तो उन्हें शाखाओं से तोड़कर अलग कर लेना चाहिये।

(4) साइलेज बनाने वाले हरे चारे में काफी मात्रा में कार्बोहाइड्रेट उपलब्ध होनी चाहिये। यदि इनकी कमी हो, तो साइलेज बनाने वाले कुल चारे की मात्रा का दो प्रतिशत शीरा छिड़क कर इस कमी को दूर कर लेना चाहिये, ताकि किण्वन (fermentation) के समय साइलेज को सुरक्षित रखने के लिये काफी अम्ल बन सके।

(5) साइलेज बनाने वाले चारे के तने काफी ठोस होने चाहियें।

साइलेज बनाने के लिये उपयोगी फसलें

जैसा कि पीछे लिख चुके हैं, साइलेज बनाने वाले चारे में काफी मात्रा में कार्बोहाइड्रेट तथा नमी होना आवश्यक है। हमारे यहाँ मक्का एवं ज्वार साइलेज बनाने के लिये सर्वोत्तम चारे हैं। फलीदार फसलों से भी साइलेज बनाई जाती है। परन्तु इनमें कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम होती है, अतः ऊपर से शीरा अथवा खनिज अम्ल (mineral acid) छिड़कना पड़ता है। कार्बोहाइड्रेट की कमी पूरा करने से, फलीदार फसलों से अच्छी साइलेज बन जाती है। इसके अतिरिक्त बाजरा, लोभिया, पुआल, लूसर्न, वरसीम, जई, घास-पात, अगौले इत्यादि हरे चारे से भी साइलेज बनाई जाती है।

साइलेज बनाने वाली फसल को फूलते समय ही काटा जाना चाहिये, क्योंकि इस समय इनमें पोषक तत्व अधिक मात्रा में होते हैं। सुवह ओस छूटने के वाद चारे को काटकर, दोपहर तक के लिये खेत पर फैलाकर छोड़ देते हैं; जिससे कि कुछ नमी इसमें से सूख जाये। दोपहर के वाद इस चारे के वण्डल बाँधकर एक क्रम से लगा लिये जाते हैं।

चित्र—9·2
पक्का साइलोघर

साइलेज बनाने के ढंग

साइलेज मुख्य तौर पर निम्नलिखित तीन विधियों द्वारा वनाई जाती हैं—

(1) खाई विधि (Trench Silo)
(2) बुर्ज विधि (Silo Tower)
(3) गर्त विधि (Silo Pit)

खाई विधि (Trench method)—इस विधि में ऐसी खाई खोदी जाती है, जो पृथ्वी के धरातल पर 3 मीटर चौड़ी हो तथा पृथ्वी के अन्दर $2\frac{3}{4}$ मीटर। एक सिरे से दूसरे सिरे तक इसमें ढाल भी दी जाती है। इसकी गहराई बहुधा $2\frac{1}{4}-2\frac{3}{4}$ मीटर होती है।
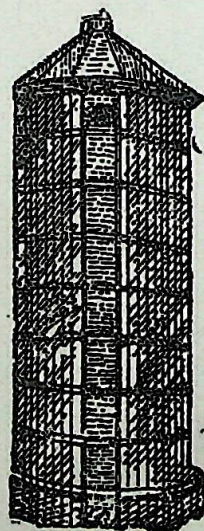
बुर्ज विधि (Tower Method)—इस विधि से साइलेज केवल उन्हीं स्थानों पर बनाई जाती है, जहाँ पानी की सतह काफी ऊपर हो। साइलोघर या बुर्ज, भूमि के धरातल पर बनी पक्की कोठियाँ हैं, जो सीमेंट, कंक्रीट अथवा लकड़ी की बनाई जाती हैं। इनका खुला हुआ ऊपरी भाग छप्पर, खपरैल अथवा टीन से ढक दिया जाता है। यह छप्पर दीवालों से लगभग 1·5 मीटर ऊपर रखा जाता है, जिससे चारा भरने में कोई कठिनाई न हो। साइलोघर में लगभग $\frac{3}{4}$ मीटर चौड़ा दरवाजा धरातल से उसके ऊपरी भाग तक बना दिया जाता हैं। चारा भरते समय इस दरवाजे को लकड़ी के बड़े तख्तों से बन्द करते जाते हैं। एक 6–7 मीटर ऊँचे एवं $2\frac{3}{4}$ मीटर व्यास वाले साइलोघर में लगभग 25 टन हरा चारा इस प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है। साइलेज बनाने का यह ढंग अन्य ढंगों की अपेक्षा अधिक अच्छा माना जाता है।

गर्त विधि (Pit Method)—इस विधि में साइलेज बनाने के लिये विभिन्न स्थानों पर आयताकार अथवा गोलाकार भूमिगत कच्चे या पक्के गड्ढे बनाये जाते हैं। इनकी गहराई, चारे की मात्रा तथा वहाँ के पानी की सतह पर निर्भर होती है। फार्मों पर सबसे ऊँचे एवं ढालू स्थान पर, जहाँ पानी की सतह काफी दूर हो, यह गड्ढे बनाये जाते हैं। कच्चे गड्ढों में यदि साइलेज बनाना हो तो खोदने के पश्चात् उसकी चार दीवारी तथा धरातल में लकड़ी के तख्ते अथवा घास-फूंस बिछा देनी चाहिये। ऐसा करने से दबाया हुआ चारा कच्ची मिट्टी से मिलकर खराब नहीं होने पाता।

गोलाकार गड्ढे उन फसलों के लिये अच्छे माने जाते हैं, जो टुकड़ों में काटी गई हो, जैसे मक्का, ज्वार इत्यादि, क्योंकि इनमें चारे भली-भाँति दब जाते हैं तथा उनमें हवा भी नहीं रहती। लम्बी घासों की साइलेज बनाने के लिये आयताकार गड्ढे बनाये जाते हैं। इनमें घासें अपनी पूरी लम्बाई के बिना काटे ही डाल दी जाती हैं। एक छोटे कृषक के लिये 2 मीटर व्यास का 3 मीटर गहरा गोलाकार गड्ढा उपयुक्त है। इसमें लगभग 6 टन हरा चारा सुरक्षित रखा जा सकता है। सस्ती होने के कारण, वह विधि कुछ अच्छी समझी जाती है, किन्तु इसमें काफी चारा नष्ट हो जाता है।

साइलेज बनाने वाले गड्ढों में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं—

(1) गड्ढे की दीवालों की हवा बन्द होनी चाहिए, जिसमें चारे में हवा पहुँच कर साइलेज को नष्ट न करने पाये।

(2) दीवालें लम्बवत् तथा चिकनी होनी चाहियें।

(3) दीवालें काफी सुदृढ़ होनी चाहियें ताकि वे किण्वन (fermentation) के समय पैदा हुए दबाव को भली-भाँति सहन कर सकें।

(4) गड्ढे की ऊँचाई उसके व्यास से दुगनी होनी चाहिये, जिससे साइलेज पर से हवा निकलने के लिये काफी दबाव पड़ सके।

भारतवर्ष में कृषकों की औसत आवश्यकता एवं उनकी साइलेज बनाने की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान, इज्जत नगर (बरेली) के पशु पोषण विशेषज्ञों ने साइलेज बनाने के लिये बहुत ही सरल ढंग की खोज की। उन्होंने बताया कि $2\frac{3}{4} \times 1\frac{3}{4} \times 1\frac{1}{4}$ मीटर गहराई का गड्ढा आसानी से एक या दो मनुष्य द्वारा खोदा जा सकता है और इसमें लगभग 40 क्विंटल हरे चारे की साइलेज बनाई जा सकती है। ऐसा गड्ढा 4–5 दिन में दो मनुष्यों द्वारा भरा भी जा सकता है और इस प्रकार उपलब्ध साइलेज दो बैलों को दो माह के लिये काफी है। जितना चारा भरना हो उसी के अनुसार गड्ढे की नाप भी बढ़ाई जा सकती है।

गड्ढे को भरना (Filling of Silo Pit)—गड्ढे को चारे से भरते समय इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि चारा खूब दाबकर भरा जाये, जिससे उसमें हवा न रहने पाये। अतः जो चारा भरना हो, उसको गड्ढे में सतह लगाकर पैरों से खूब दाबते जाते हैं। बड़े गड्ढे में यह कार्य चारे के ऊपर बैलों की दाँय चलाकर भी किया जा सकता है। इस प्रकार चारे की सतह लगाकर तथा खूब दबाकर कई बार में गड्ढे को पूरा कर भर लेते हैं। जब काफी मात्रा में चारा काटकर साइलेज बनाना होता है, तो कुट्टी काटने वाली मशीन को गड्ढे के ऊपर एक किनारे पर लगा देते हैं ताकि चारा कट-कट कर स्वयं ही गड्ढे में गिर जाये। ऐसे गड्ढे एक दिन में नहीं भरे जा सकते, बल्कि इनको भरने में कई दिन लग जाते हैं। नित्य भरे हुये चारे की सतह को तिरपाल से ढक देते हैं, ताकि यह सूख न जाये। ऐसे गड्ढे को विशेष कर धूप तथा वर्षा से बचाना पड़ता है। अतः गड्ढा भरते समय यदि मौसम खराब जान पड़े तो उस पर अस्थायी छप्पर या टीन डालकर छाया कर लेनी चाहिये। कभी-कभी वर्षा का पानी गड्ढा भरने में रुकावट डालता है, जैसा कि अधिक वर्षा पड़ने वाले स्थानों में रखा गया है। ऐसे समय में पानी से भीगा हुआ चारा भूसे की एक के बाद एक तह लगाकर भरते हैं, जब तक कि मौसम साफ न हो जावे।

गड्ढे का अति शीघ्र अथवा बहुत धीरे-धीरे भरना बहुत ही हानिकारक है। यदि गड्ढा बहुत शीघ्र भरा जाता है, तो चारा भली-भाँति दब नहीं पाता और उसमें हवा रह जाती है, जो साइलेज को खराब कर देती है। अधिक धीरे-धीरे भरने से चारा सूखने का भर रहता है, जिससे अच्छी साइलेज नहीं बनती। आमतौर पर $1-1\frac{1}{4}$ मीटर गड्ढा रोज भरना चाहिये, परन्तु बरसात में यदि गड्ढे का भरना आवश्यक हो तो उसे $\frac{1}{2}-1$ मीटर से अधिक नित्य नहीं भरना चाहिये। गड्ढे को इतना भरना चाहिये कि उसमें दबने के बाद चारा पृथ्वी के धरातल से कम से कम $\frac{1}{2}$ मीटर ऊँचा रहे। अतः जब गड्ढा भर जाये, तो उसके ऊपर 1 मीटर की ऊँचाई तक चारा भरकर, ऊपर से घास-फूस या पुआल की तह बिछाकर, अन्त में मिट्टी और पत्थरों से इनको ढक देते हैं। जब यह पूर्णतया दबकर नीचा हो जाता है, तो ऊपर से गीली मिट्टी और गोबर का लेपकर दिया जाता है, ताकि हवा उसमें न पहुँच सके।

गड्ढे को खोलना— लगभग 50 से 80 दिन गड्ढे में वन्द रखने के पश्चात् यह चारा, प्रचार का रूप धारण कर लेता है, जो हरे चारे से विल्कुल भिन्न होता है। इसी को साइलेज कहते हैं। जब साइलेज बनकर तैयार हो जाये तो इसे गड्ढे से लगभग 5–10 सेमी॰ नित्य निकालकर पशुओं को खिलाना चाहिये। पूरा गड्ढा न खोलकर, उससे एक किनारे से ही साइलेज निकालनी चाहिये। ऐसा न करने से गड्ढे की साइलेज के सड़ने गलने का भय रहता है।
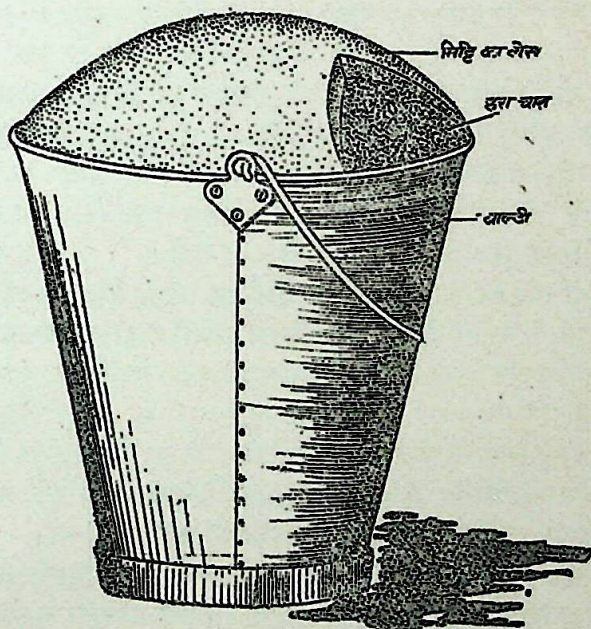
चित्र 9·3—प्रयोगशाला में साइलेज बनाना

किस प्रकार साइलेज की क्रिया होकर चारा सुरक्षित रहता है (How Ensiling Preserves Green Feed)

साइलेज वनाते समय चारे में कुछ रासायनिक क्रियायें होती हैं, जिनके द्वारा उसमें उपस्थित प्रोटीन शर्करा तथा स्टार्च अधिक सरल तत्वों में विघटित हो जाते हैं, जो पशुओं के लिये शीघ्र पाचक एवं अधिक उपयोगी होते हैं। जब हरा चारा गड्ढे में वन्द किया जाता है, तो उसमें उपस्थिति इन्जाइम, यीस्ट, बैक्टीरिया तथा कवक उस पर क्रिया करके चारे को साइलेज में वदल देते हैं।

गड्ढा वन्द करने के वाद पौधों के जीवित कोषाणु, चारे में उपस्थित ऑक्सीजन में कुछ देर तक श्वाँस लेते हैं और इस प्रकार ऑक्सीजन लेकर कार्बन-डाइ ऑक्साइड छोड़ते हैं। कुछ ही घण्टों में सब ऑक्सीजन, कार्बन-डाइ ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाती है, जिसके कवक का विकास ही नहीं हो पाता। अब गड्ढे में

उपस्थित चारे का तापक्रम वढ़ता है और कुछ अन्य आवश्यक परिवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

पौधों के इस प्रकार श्वाँस लेने के साथ ही, उनके कोषाणुओं में उपस्थित एन्जाइम चारे की कार्वोहाइड्रेट को ऐल्कोहल, कार्वोनिक अम्ल तथा पानी में विघटित कर देते हैं। जैसे ही पौधों में श्वाँस-प्रश्वास एवं एन्जाइम की प्रतिक्रिया मन्द पड़ती है, अम्ल उत्पादक बैक्टीरिया वढ़ने लगते हैं और यीस्ट तथा कवक नष्ट होते जाते हैं। यह बैक्टीरिया घुलनशील कार्वोहाइड्रेट को तोड़कर उनसे लैक्टिक, एसिटिक तथा सूक्ष्म मात्रा में ब्युटायरिक अम्ल वनाते हैं और साथ ही कुछ ऐल्कोहल भी पैदा करते हैं, जो इन अम्लों से मिलकर साइलेज में अच्छी गन्ध उत्पन्न करता है। इन अम्लों के कारण अवाँछित जीवाणु जो साइलेज खराब करते हैं, नहीं पनपने पाते। यह वैक्टीरिया किसी हद तक प्रोटीन पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। इसमें भाग लेने वाले वैक्टीरिया, **स्ट्रैप्टोकाक्कस लैक्टिस** (Str. Lactis) तथा **लैक्टो-बैसीलस बल्गैरिकस** (Lactobacillus Bulgaricus) हैं।

जैसे ही साइलेज में अम्लत्व एक निश्चित मात्रा से ऊपर बढ़ता है, वैक्टी-रियल प्रतिक्रिया, किण्वन एवं अन्य सब क्रियायें शिथिल होकर समाप्त होने लगती हैं और साइलेज वनकर तैयार हो जाती है। अच्छी बनी साइलेज का रंग हरा अथवा बादामी हरा होना चाहिये और इसमें अच्छी गन्ध आती हो। इसको पशु वड़े चाव से खाते हैं तथा इसके बनने में पोषक तत्वों का ह्रास भी बहुत कम होता है।

साइलेज की किस्में (Kinds of Silage)—कुछ वर्ष पूर्व अमेरिकन डेरी एसोसिएशन द्वारा साइलेज की निम्नलिखित किस्में निर्धारित की गईं—

(1) बहुत अच्छी साइलेज (Very good Silage)—जिसमें स्पष्ट अम्लत्व की गन्ध तथा स्वाद हो, ब्युटायरिक अम्ल तथा फफूंदी विल्कुल न हो। इसकी पी-एच० 3·5 से 4·2 हो और 10 प्रतिशत से कम अमोनिया नाइट्रोजन हो।

(2) अच्छी साइलेज (Good Silage)—अम्लत्व का स्वाद तथा महक, मामूली ब्युटायरिक अम्ल, पी-एच० 4·2 से 4·5, अमोनिया नाइट्रोजन 10 से 15 प्रतिशत।

(3) कुछ अच्छी साइलेज (Fair Silage)—थोड़ा ब्युटायरिक अम्ल पी-एच० 4·5 से 4·8, अमोनिया नाइट्रोजन 15 से 20 प्रतिशत।

(4) खराब साइलेज (Bad Silage)—अधिक मात्रा में ब्युटायरिक अम्ल के कारण बुरी महक, पी-एच० 4·8 से अधिक तथा अमोनिया नाइट्रोजन 20 प्रतिशत से भी ऊपर।

अपने में उपस्थित रंग तथा स्वाद के अनुसार साइलेज निम्न प्रकार वर्गीकृत की जा सकती है—

(1) बादामी साइलेज (Brown Silage)—यदि चारे के गड्ढे में पैंकिंग ठीक प्रकार नहीं होती तो उसमें उपस्थित वायु के कारण किण्वन होने पर तापक्रम

अधिक बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप ऐसी साइलेज बन जाती है। इसमें ऑक्सी-करण होने के कारण आवश्यक तत्वों का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार की साइलेज में प्रोटीन की पाचकता भी कम हो जाती है, अतः यह अच्छी नहीं मानी जाती।

(2) हल्की बादामी या पीली बादामी साइलेज (Light Brown or Yellow Brown Silage)—यह उन कच्ची फसलों से तैयार होती है, जिनमें शुष्क पदार्थ की मात्रा 30 प्रतिशत होती है। इसमें तापक्रम 100° फारेनहाइट से अधिक नहीं होते पाता। चूँकि पशु इसको बड़े चाव से खाते हैं, अतः यह सर्वोत्तम साइलेज मानी जाती है।

(3) हरी साइलेज (Green Silage)—इस प्रकार की साइलेज बनाने में तापक्रम 90° फारेनहाइट से अधिक नहीं होने पाता। इनमें कैरोटीन की मात्रा भी काफी होती है। चूँकि तापक्रम कम रखा जाता है, अत: आवश्यक तत्व भी अधिक नष्ट नहीं होते। इसमें पशुओं को लुभाने वाली महक आती है, जिससे वे इसे खूब चाव से खाते हैं।

(4) खट्टी साइलेज (Sour Silage)—जब अधपकी हरी फसलें साइलेज बनाने के लिए प्रयुक्त होती हैं, तो वे गड्ढे की तली में दबकर बैठ जाती हैं तथा बहुत कम हवा अपने में शोषित कर पाती हैं। अत: किण्वन भली-भाँति न होकर तापक्रम भी कम रह जाता है। इस प्रकार बनी हुई साइलेज अधूरी रह जाती है और खाने में इसका स्वाद खट्टा होता है।

ए० आई० वी० साइलेज (A. I. V. Silage)—फिनलैंड के एक वैज्ञानिक ए० आई० विरटेनन (A. I. Virtenan) ने 1949 में साइलेज बनाने का ढंग बताया जिसका नाम ए० आई० वी० साइलेज पड़ा। यह ढंग अब भी यूरोपियन देशों में घासों से साइलेज बनाने के लिए काफी प्रचलित है। इसके अन्तर्गत नमक तथा गन्धक के अम्लों (HCl & H_2SO_4) का मिश्रण साइलेज बनाने वाले चारे पर छिड़का जाता है। यह अम्ल, किण्वन होने के पश्चात् कार्बोहाइड्रेट से बनने वाले अम्लों से मिलकर, चारे में काफी अम्लत्व उत्पन्न कर देता है, जिससे अच्छी साइलेज बन जाती है। इस ढंग का अधिक प्रचार इस कारण नहीं है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त होने वाले अम्ल मनुष्यों के कपड़े, मशीनरी तथा गड्ढे की दीवालों को काट देते हैं।

साइलेज बनाने से लाभ

(1) कुछ फसलें जिनमें कि अन्तिम अवस्था में कीड़े लगने का भय रहता है फूलते समय साइलेज के लिये कट जाने पर यह भय दूर हो जाता है।

(2) साइलेज सूखे चारे की अपेक्षा थोड़े स्थान में ही रखी जा सकती है; इस प्रकार स्थान की बचत होती है।

(3) हरे चारे अपनी पौष्टिक अवस्था में काफी समय सुरक्षित रखे जा सकते हैं, जो जाड़े एवं चारे के अभाव में पशुओं को खिलाये जाते हैं।

(4) साइलेज खिलाने से दाने की बचत होती है।

(5) वरसात के मौसम में उगे हुये चारे, जो कुछ समय के वाद बेकार हो जाते हैं, इस ढंग से कुसमय के लिए सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

(6) जिस भूमि पर साइलेज के लिए फसल वोई गई हो, वह भूमि फसल कट जाने पर रबी वोने के लिये प्रयुक्त हो सकती है। इस प्रकार भूमि की भी बचत होती है।

(7) बीजयुक्त मिली-जुली घास-पात जो 'हे' वनाने के लिए उपयुक्त नहीं होती, अच्छी प्रकार की साइलेज में परिणित हो सकती है।

(8) मानसून के समय में जवकि घास का सुखाना काफी कठिन होता है, साइलेज आसानी से बनाई जा सकती है।

(9) एक वार जो पशु साइलेज खा लेता है, वह उसे वार-वार खाना पसन्द करता है, क्योंकि यह वहुत स्वादिष्ट होती है।

(10) साइलेज अधिक पाचक एवं पौष्टिक होने के कारण पशु को अधिक स्वस्थ एवं उत्पादक बनाने में सहायक होती हैं।

(11) डेरी गायों के लिये साइलेज मुख्य रूप से एक वहुत अच्छा चारा है, क्योंकि इसे खिलाने से उनका दूध वढ़ता है।

कृत्रिम रूप से घास को सुखाना
(Artificial Drying of Grasses)

इस विधि के अन्तर्गत घास को खेत से काटने के वाद, उसके टुकड़े करके विजली से चलने वाली एक गर्म हवा की भट्टी में होकर निकालते हैं। इस प्रकार उसमें से नमी निकलकर घास सूख जाती है। इन गर्म हवा की भट्टियों में घास वहुत थोड़े समय, लगभग आधा घण्टे के लिये रखी जाती है। इस प्रकार सुखाई हुई घास की पौष्टिकता विल्कुल वही रहती है, जो सुखाने से पूर्व थी तथा इसमें उपस्थित तत्व भी नष्ट नहीं होते। 'हे' की अपेक्षा इस प्रकार सुखाई हुई घास में 20 प्रतिशत प्रोटीन तथा तीन गुनी कैरोटीन की मात्रा अधिक होती है।

भारत जैसे देश में जहाँ के पशु अल्प उत्पादक हैं, यह ढंग अधिक मूल्यवान होने के कारण नहीं अपनाया जा सकता। इस ढंग में सवसे वड़ा लाभ यह है कि खराव से खराव मौसम में भी, जवकि घास को सुखाना तथा साइलेज बनाना कठिन होता है, इस विधि से घास को सुखाकर रखा जा सकता है।

परिच्छेद : 10

भारत में पशु-खाद्य समस्या और उसका समाधान

(FODDER PROBLEM IN INDIA AND ITS SOLUTION)

विषय परिचय—सन् 1973–74 की पशु-गणना के अनुसार देश में 35 करोड़ 50 लाख पशु हैं। भारत की पशु संख्या संसार की पशु संख्या की लगभग ¼ है। इसके अतिरिक्त, यहाँ 1·5 दसलक्ष (million) घोड़े, 87 दसलक्ष भेड़ बकरियाँ, 4 दसलक्ष सूअर, 1 दसलक्ष गधे, ½ दसलक्ष ऊँट तथा लगभग 74 दसलक्ष मुर्गियाँ हैं।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में मनुष्य के जीवन में पशु सदैव से ही कृषक की रीढ़ की हड्डी की भाँति रहा है। यह यथेष्ट उन्नति कर चुके हैं, इस कारण आधुनिक सभ्यता ने स्वर्ण को कागज के रूप में बदल दिया है। परन्तु पारस रूपी कृषि आज भी अपने उस मिट्टी से स्वर्ण बनाने वाले निरन्तर सत्य पर स्थित है। यह सत्य तभी तक स्थिर है, जब तक पशु उसका सहचर है। जिस दिन कृषि और पशु का सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा, उसी क्षण यह पारस रूपी कृषि पुनः मिट्टी का ढेर दिखाई देगी। **अतः पशुधन की उन्नति ही, एक कृषि प्रधान देश की वास्तविक उन्नति है।**

हमारे देश में इतनी अधिक पशु संख्या होते हुए भी इनसे उत्पादन इतना कम है कि जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य की न्यूनतम दूध की आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं हो पाती। इसका मुख्य कारण पशु-पोषाहार की स्वल्पता एवं कृषकों को चारा उगाने तथा खिलाने के ज्ञान में कमी है। देश की जनसंख्या भी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है जिसके कारण कृषि योग्य भूमि पर अनावश्यक दवाव पड़ रहा है, क्योंकि इस बढ़ती हुई जनसंख्या को अपने रहने एवं जीविका कमाने के लिये भी इसी में से भूमि चाहिये। इस प्रकार चारा उगाने तथा चारागाहों के लिये भूमि की कमी पड़ कर पशु खाद्य समस्या और भी जटिल होती जा रही है। पशु, भूसा, घास, खली, चोकर, चूनी, भूसी, आदि खाकर; मनुष्य को दूध, घी, मक्खन, माँस, अण्डा इत्यादि बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करते हैं। कभी-कभी दैविक प्रकोपों, जैसे अधिक वर्षा एवं बाढ़ से पशुओं का उपलब्ध चारा भी नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत, सूखा पड़ जाने से कभी-कभी चारे का कुछ क्षेत्रों में बिल्कुल अकाल सा पड़ जाता है। इसके फलस्वरूप अनेक पशु तो अधपेट भूखे रहकर तथा कुछ अन्य बीमारियों का

शिकार होकर अपनी दिनचर्या चलाते हैं और अन्त में मौत के घाट उतरते हैं। यह है हमारे देश में पशुओं की खाद्य समस्या, फिर हम उनसे अच्छे उत्पादन की आशा क्यों कर करें।

सारणी 10·1—पशु पोषाहार की अनुमानित आवश्यकता एवं उसकी उपलब्धता (10,000 टन में प्रति वर्ष)

खाद्य पदार्थ	अनुमानित आवश्यकता	वर्तमान पूर्ति	न्यूनता (−) या अधिकता (+)
भूरा	190	130	−60
हरी घास	453	527	+74
हरा चारा	289	111	−178
दाना	40	14	−26

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वर्तमान समय में पशुओं के खाद्यों में हरे चारे और दाने की विशेष कमी है। ये चारे निर्वाह एवं उत्पादन दोनों ही दृष्टि से पशुओं के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि समुचित मात्रा में प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज लवण विशेषकर कैल्शियम और फॉस्फोरस इन्हीं खाद्यों से पशु को प्राप्त होते हैं। इनकी कमी से पशुओं का उत्पादन कम होकर अनेक रोग हो जाते हैं।

कुछ प्रयोग करके यह सिद्ध किया जा चुका है कि अच्छा, पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार देने से हमारे पशुओं का उत्पादन कई गुना अधिक बढ़ जाता है। अतः पशु खाद्य समस्या का हल ढूँढ निकालना हमारे लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि सुप्रजनन एवं रोग नियन्त्रण। आज के वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है कि इस समस्या के निराकरण के लिये निम्न प्रकार ठोस कदम उठाये जायें।

1—पशु खाद्यों की उपलब्धि बढ़े।

2—चारे-दाने का समुचित रूप से उपयोग हो।

3—संकट काल में पशु-पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाये।

4—अनुपयोगी पशुओं को गो-सदन भेजकर उनकी संख्या कम की जाये।

5—पशुओं की संख्या की अपेक्षाकृत उनके गुण पर अधिक ध्यान दिया जाये।

6—खाद्य-संरक्षण की विधियाँ अपनाई जायें।

7—स्थान-स्थान पर चारा बैंक खोले जायें।

पशु खाद्यों की उपलब्धि बढ़े

चारे की पैदावार बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि कृषि कार्यों में उन्नतिशील ढंग अपनाये जायें। थोड़ी ही भूमि से अधिक उपज के लिये मिश्रित खेती (Mixed Farming) करने की विधि अपनाई जाये। इससे पशु तथा मनुष्य दोनों के लिये ही खाद्य पदार्थ उपलब्ध होंगे। साथ ही भूमि की उर्वरा शक्ति भी बढ़ेगी जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी। वर्ष में हरे चारे के अभाव के लिये मानसून में उगी हुई घासों को साइलेज या सूखी घास बनाकर संरक्षित किया जाये। चारागाहों का समुचित विकास किया जाये जिससे कि 5·52 करोड़ एकड़ भूमि जो आजकल हमारे देश में बंजर के रूप में पड़ी है, चारे के लिये समुचित उपयोग में आये। अधिक उपज लेने के लिये जमीन में खाद दी जाये तथा सिंचाई के समुचित साधन जुटाये जायें। जंगलों में उगी घासों को पशुओं को चराया जाये। कृषि योग्य भूमि में अधिकतर दो दालों वाली फसलें बोई जायें, जिससे कि थोड़ी ही भूमि से अच्छा एवं अधिक चारा उपलब्ध हो। बुवाई के लिये उन्नतिशील बीजों को प्रयुक्त किया जाये।

आजकल पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रसार सेवा क्षेत्रों का कृषि कार्यों में पूर्ण सहयोग प्राप्त है। अतः ग्रामीण भाइयों को चाहिये कि वे निकट के क्षेत्र विकास अधिकारी (B. D. O.) अथवा सहायक विकास अधिकारी (कृषि) [A. D. O. (Ag)] से सम्पर्क स्थापित करके इस विषय में पूरा-पूरा लाभ उठायें।

चारे-दाने का समुचित रूप से उपयोग हो

अशिक्षित कृषक-समाज को चारे के उपयोग का समुचित ज्ञान कराया जाये। ऐसा करने से चारा नष्ट नहीं होगा और साथ ही थोड़ी मात्रा से पशुओं को उनकी आवश्यकतानुसार प्रायः सभी पोषक-तत्व मिल सकेंगे। अतः पशु की आवश्यकता तथा सन्तुलित आहार का किसान भाइयों को पूरा-पूरा ज्ञान कराया जाये। मोटे तौर से सन्तुलित आहार दाना, हरा चारा तथा भूसे का वह अनुपात है, जो कि दिये गये पशु को जिस अवस्था में वह हो, उसे स्वस्थ रखे और साथ में उत्पादन के लिये भी पर्याप्त हो। एक अच्छे बैल को 7 किलो भूसा या 30 किलो हरा चारा $1\frac{1}{2}$ से 2 किलोग्राम पौष्टिक मिश्रण (concentrate mixture) उसके शरीर के पोषण के लिये पर्याप्त है। यदि यह बैल औसत दर्जे का कार्य भी करता है, तो 1 किग्रा॰ पौष्टिक मिश्रण इस कार्य पर खर्च की गई शक्ति को पुनः वापस लाने के लिये और देना चाहिये। लगभग 4 किग्रा॰ हरा चारा 1 किग्रा॰ सूखे चारे के बराबर होता है। पौष्टिक मिश्रण में दला हुआ चना 25%, गेहूँ का चोकर 30%, खली 20% तथा दला हुआ जौ 25% होना चाहिये। (अधिक जानकारी के लिये 'पशु पोषण के सिद्धान्त' वाला पाठ देखिये)।

पशु की आवश्यकता जानने के लिये अभी तक हम लोग विदेशी खाद्य-मानकों (Morrison's Feeding Standard) पर आश्रित रहते आये हैं। परन्तु इनकी उपयोगिता भी हमारे लिये त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि भारत में किये गये प्रयोगों के अनुसार हमारे पशुओं की आवश्यकता मोरीसन खाद्य मानकों में दिये हुए आँकड़ों से लगभग 25% कम है। इसलिये यह आवश्यक है कि भारतीय गौ तथा भैंस जाति के पशुओं को डॉ० के० सी० सेन द्वारा तैयार किये हुये खाद्य मानकों के अनुसार ही आहार दिये जायें।

संकट काल में पशु-पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाये

बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रदेशों में पानी की अधिकता के कारण तथा कभी-कभी बाढ़ आ जाने से अन्य प्रदेशों में भी चारे नष्ट होकर पशु खाद्य एक समस्या बन जाते हैं। इसके विपरीत, रेगिस्तानी प्रदेशों में पानी की कमी के कारण तथा कभी-कभी देश के अन्य भागों में सूखा पड़ जाने के कारण चारे का अकाल सा पड़ जाता है। ऐसे दैविक प्रकोपों का सामना करने के लिये कुसमय में निम्नलिखित चारे खिलाकर पशुओं के जीवन की रक्षा करनी चाहिये—

(1) सूरजमुखी—संकट काल में पशुओं का पेट भरने के लिये सूरजमुखी काफी अच्छा चारा है। इसमें पशु की जीवन रक्षा हेतु पौष्टिक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इसे पशु बड़े चाव से खाना पसन्द करते हैं। चारे के लिये 10 से 14 किलोग्राम बीज प्रति एकड़ डाला जाता है। फूलते समय इसमें पौष्टिक तत्व अधिक होता है। अतः इसी समय इसे काटकर पशुओं को खिलाया जाता है।

(2) मूंज तथा काँस—वर्षा ऋतु में यह घासें बंजर तथा परती भूमि में स्वतः बड़ी तेजी से उगती हैं। अक्टूबर-नवम्बर के मध्य में यह फूलने लगती हैं। इसी समय अथवा इससे पहले इन्हें काटकर कुट्टी के रूप में पशुओं को खिलाया जा सकता है। दाने के साथ मिलाकर खिलाने में इनकी पौष्टिकता बढ़ जाती है।

(3) पेड़ों की पत्तियाँ—पीपल, पाकड़, गूलर तथा बरगद की पत्तियाँ एवं कोपलें भी संकट काल में पशुओं को खिलाने के लिये काफी उपयुक्त हैं। इनमें प्रोटीन और विटामिन समुचित मात्रा में होते हैं। इसके अतिरिक्त कीमू, बेदुली, बेढू, पिलखन-पिलाक तथा तिमुला व ग्वाल तिमुला के पेड़ जो पहाड़ी क्षेत्रों में विशेष रूप से पाये जाते हैं, इनकी पत्तियाँ वर्ष भर तथा विशेषकर संकट काल में पशुओं को खिलाने के लिये काम में लायी जाती हैं।

उन क्षेत्रों में जहाँ गन्ना पैदा होता है, गन्ने की पत्ती या अगोले (Sugarcane tops) पशुओं को खूब खिलाये जाते हैं। इनमें पशु की जीवन रक्षा हेतु पोषक तत्व उपस्थित रहते हैं। बाढ़ काल यानि अगस्त से अक्टूबर तक गन्ने की पत्तियाँ काफी बड़ी होकर पशुओं को खिलाने योग्य हो जाती हैं।

उन भागों में जहाँ महुआ पैदा होता है, फरवरी से अप्रैल तक महुआ की पंखुड़ियाँ इकट्ठी करके आपात काल में पशुओं को खिलाई जा सकती हैं। किसी हद तक महुआ की पत्तियों का प्रयोग भी ज्वार-बाजरा की भूसी के साथ मिलाकर पशुओं को खिलाने के लिये हो सकता है।

बाँस तथा खजूर की नव-विकसित कोपलें भी थोड़ी बहुत मात्रा में भूसे के साथ मिलाकर पशुओं को खिलाई जा सकती हैं। नदियों के किनारे जहाँ पलेज डाली जाती है फसल लेने के बाद तरबूज, खरबूजे की बेलें भी पशुओं को खिलाने में प्रयुक्त की जा सकती हैं।

(4) आम तथा जामुन की गुठली—भारत में आम तथा जामुन की गुठली लाखों टन प्रतिवर्ष उत्पन्न होती हैं। भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) के सुविख्यात पशु पोषण विशेषज्ञों ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया कि इन गुठलियों में पशु जीवन रक्षा हेतु पोषक-तत्व समुचित मात्रा में उपस्थित रहते हैं। अतः संकट काल में पशु-पोषाहार में इनका प्रयोग भलि-भाँति हो सकता है।

(5) घासें—गर्म तथा नम मौसम में उगने वाली नेपियर अथवा हाथी घास पशुओं का मुख्य चारा है। वर्षा एवं बाढ़ से इनको कोई क्षति नहीं पहुँचती। बरसात के बाद हर वर्ष खाद डालकर गुड़ाई कर देने से इसकी पैदावार दूनी बढ़ जाती है और प्रति एकड़ इससे लगभग 500 क्विटल चारा प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। संकट काल के लिये सुरक्षित रखने हेतु इससे साइलेज भी बनाई जा सकती है।

सूखा पड़ने के दिनों में नहरों तथा नलकूपों के किनारे घासें एवं अन्य चारे उगाकर पशुओं के चारे की पूर्ति की जा सकती है। सेंजी; पानी के अभाव में उगने वाला मुख्य चारा है। इसको खिलाने से दुधारू पशुओं का दूध भी बढ़ता देखा गया है।

(6) झाड़ियाँ—झरबेरी जैसी झाड़ियाँ रेतीली भूमि में बहुतायत से उगती हैं। इनके लिये पानी की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। शुष्क प्रदेश, जैसे राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत के कुछ भागों में इनकी उपज खूब होती है। नदियों के खार, बंजर तथा परती भूमि इनकी उपज के लिये सर्वोत्तम हैं। सूखा पड़ने के दिनों में चारे के अभाव में इनकी हरी कोमल पत्तियाँ सितम्बर-अक्टूबर तथा मार्च के महीनों में पशुओं का खाद्य बन सकती हैं।

(7) यूरिया-शीरा एवं भूसा मिश्रण—चारे के अभाव में 15–20 किलो भूसा पर 15–20 ग्राम यूरिया का 4% घोल छिड़ककर तथा 1 किलो शीरा मिलाकर दिन में दो-तीन बार थोड़ा-थोड़ा करके पशु को खिलाकर उनकी प्राण रक्षा की जा सकती है।

अनुपयोगी पशुओं को गो-सदन भेजकर उनकी संख्या कम की जाये

हमारे देश में धार्मिक विचारधारा के कारण बूढ़े, अपाहिज तथा अनुत्पादक पशुओं को नष्ट करने के लिये वध की नीति (Slaughter policy) नहीं अपनाई जा सकती। अतः ऐसे पशुओं को गो-सदन भेजकर उनकी संख्या कम की जाये, ताकि इनसे बचा हुआ चारा स्वस्थ एवं अच्छे पशुओं के उपयोग में आये।

पशुओं की संख्या की अपेक्षा उनके गुण पर अधिक ध्यान दिया जाये

देश में खाद्य समस्या का निराकरण करने तथा पशुओं से अधिक उत्पादन लेने के लिये यह परम आवश्यक है कि थोड़ी संख्या में अच्छी नस्ल के द्वि-प्रयोजनीय (dual purpose) पशु रखे जायें। इनमें गुणों की वृद्धि के लिये आधुनिक प्रजनन के वैज्ञानिक ढंग अपनाये जायें। ऐसा करने से कम खर्चे पर ही इनकी अच्छी देख-भाल हो सकेगी और साथ ही इनसे उत्पादन भी अधिक होगा। इस प्रकार, पशु-खाद्य समस्या का निदान होकर देश की भुखमरी का प्रश्न भी किसी हद तक हल हो सकेगा।

खाद्य-संरक्षण की विधियाँ अपनाई जायें

हमारे देश में कृषकों द्वारा कुसमय के लिये चारे को सुरक्षित रखने की कोई विधि नहीं अपनाई जाती। बहुधा ऐसा देखा गया है कि अधिकांश घासें बरसात बाद मैदानों में खड़े-खड़े ही सूख जाती हैं। अतः यह आवश्यक है कि संकट काल के लिये इनको साइलेज अथवा सूखी घास में परिणित करके संरक्षित रखा जाये। (साइलेज अथवा सूखी घास बनाने की जानकारी के लिये खाद्य संरक्षण वाला पाठ देखिये)।

स्थान-स्थान पर चारा बैंक खोले जायें

आजकल के समय में चारे का प्रादुर्भाव देखकर हमारी सरकार का ध्यान भी इस ओर आर्कषित हुआ है। सरकार की ओर से कुछ चारा बैंक खोलने का आयोजन इसमें सबसे प्रमुख है। पंच-वर्षीय योजना में ऐसी ही चारा बैंक बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में खोली गई हैं। इन बैंकों का मुख्य उद्देश्य हरे चारे को उगाकर, काटकर तथा सुखाकर संकट काल के लिये पशुओं को खिलाने हेतु संरक्षित रखना है। इन बैंकों से पशु-पालक निम्न प्रकार लाभान्वित हो सकेंगे—

1. एक तो उन्हें संकट काल में उनके पशुओं के लिये चारा मिल सकेगा।
2. वे चारे को संरक्षित रखने वाली विधियों को सीख सकेंगे।

चारा अनुसंधान केन्द्र, मथुरा में अधिक उत्पादन देने वाली चारे की फसलें उगाने का कार्य निरन्तर प्रगति पर है। वाराणसी में आराजी लाइन्स फार्म पर भी 5·25 लाख की लागत का ऐसा ही केन्द्र खुलने की व्यवस्था की गई है। प्रदेश में चारा उगाये जाने वाले बीजों की कमी होने के कारण, इस कार्य में आशातीत सफलता न मिल सकी है। चारागाह एवं चारा विकास अनुसंधान संस्थान, झांसी में भी चारे की उपलब्धता एवं विकास की कई योजनाएँ चल रही हैं।

पाँचवी पंचवर्षीय योजना में वीज-उत्पादन हेतु 12179 लाख रु० की लागत का फार्म खोलने की योजना वनाई गई जिससे पर्याप्त मात्रा में बीज उत्पादित होकर अधिक से अधिक चारा उगाया जा सके। चौथी पंचवर्षीय योजना में 0·22 लाख हेक्टेयर भूमि पर चारा उगाने के लिये वितरित बीज की तुलना में पंचम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 1·23 लाख हेक्टेयर भूमि के लिये ऐसा बीज वितरित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अगली पंचवर्षीय योजनाओं में इस कार्य को और अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

मिश्रित खेती की जाए

मिश्रित खेती में फसलोत्पादन के साथ पशु-पालन, दुग्ध व्यवसाय, मछली, कुक्कुट तथा मधुमक्खी पालन एक पूरक उद्योग के रूप में किया जा सकता है। अमेरिका में फसलोत्पादन के साथ मांस उत्पादन, नाइजीरिया और इंगलैंड में खाद्यान्न उत्पादन के साथ घास उगाना मिश्रित खेती के रूप में किया जाता है। भारतीय कृषि अर्थशास्त्र समिति के 20वें सम्मेलन में मिश्रित खेती पर बल देते हुए यह सिफारिश की गई कि इसमें कुल आय की 10 से 49 प्रतिशत आमदनी पशु-धन से प्राप्त होनी चाहिये। अतः अव पशु-पालन तथा फसलीकरण संयोजन को ही मिश्रित खेती की संज्ञा देना सर्वोत्तम है। साधारण खेती की तुलना में मिश्रित खेती से दो गुना लाभ होता है। साथ ही इसमें दोहरा फायदा है। पशु-पालन के साथ खेती करने से खेती के लिये अच्छे बैल तथा कृषि के लिये गोबर की खाद प्राप्त होकर जमीन को अधिक उपजाऊ बनाती है। पशुओं तथा खेती से प्राप्त पौष्टिक आहार से मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा बनता है और वह अधिक मेहनत कर सकता है। किसान का जीवन स्तर स्वतः ऊपर उठ जाता है। मिश्रित खेती करने के लिये यह आवश्यक है कि अच्छे पशु पाले जाएँ तथा अवांछित पशुओं को यूथ से निकाल दिया जाए। पशुओं की खाद का खेती के लिये समुचित उपयोग हो। उत्तम फसल-चक्र अपनाए जाएँ। अधिक दुधारू तथा अच्छे कार्य करने वाले पशु पालें। कृषि तथा डेयरी उत्पादों को बेचने के लिये बाजार की अच्छी सुविधा उपलब्ध हो। 3 हेक्टर से 5 हेक्टर जमीन वाले कृषक 2 से 3 गायें तथा 1 जोड़ी बैल पाल सकते हैं।

प्रचार-प्रसार की विधियाँ अपनाई जाएँ

रेडियो वार्ता तथा टेलीविजन के माध्यम से विषय से सम्बन्धित कार्यक्रम समय-समय पर प्रसारित किया जाये जिससे पशु-पालकों को समुचित जानकारी प्राप्त हो और वे उस पर अमल कर लाभ उठा सकें। आजकल कृषि जगत, कृषि दर्शन तथा चौपाल के नाम से ऐसे कार्यक्रम रेडियो तथा टी० वी० पर दिखाये जा रहे हैं, जिससे पशु-पालकों को समयानुसार अच्छी जानकारी मिल रही है।

विदेशों में कुछ दिन पूर्व एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ है जिसके द्वारा प्रत्येक 8–10 दिन पर नया हरा चारा प्राप्त किया जा सकता है। बिजली से चलने वाली इस मशीन में अनेक ट्रे लगी होती हैं। समुचित तापक्रम पर इनमें जौ बो दिये जाते हैं जो जमकर 8–10 दिन में 30–40 से० मी० ऊँचे होकर हरा चारा प्रदान करते हैं। इस मशीन से नित्य ही वर्ष भर ताजा हरा चारा प्राप्त किया जा सकता है। बम्बई में ऐसी एक मशीन लगाई जा चुकी है और इससे वहाँ के पशु-पालकों को सस्ते मूल्य पर हरा चारा प्राप्त होता है।

पशु प्रजनन
ANIMAL BREEDING

कृत्रिम गर्भाधान
(ARTIFICIAL INSEMINATION)

परिच्छेद : 11

कृत्रिम गर्भाधान का इतिहास तथा विकास

(HISTORY AND DEVELOPMENT OF A. I.)

परिभाषा—कृत्रिम रूप से नर का वीर्य संचित करके, प्रयोग में लाने के समय तक उचित ढंग से सुरक्षित रखकर एवं उसकी गर्भ धारण करने की शक्ति की परीक्षा करके, वैसा ही पतला करके, ऋतुमयी मादा की योनि में यन्त्र द्वारा पहुँचाना ही कृत्रिम गर्भाधान या कृत्रिम वीर्य सेचन कहलाता है ।

"Collection of semen from a healthy bull and its deposition in diluted or undiluted form, after examining it for fertility, inside the cervix of a female in heat, by instruments is known as Artificial Insemination or A. I."

कृत्रिम गर्भाधान का संक्षिप्त इतिहास

आवश्यकता आविष्कार की जननी है । विदेशों में जब विशुद्ध नस्लीय साँडों की कमी हुई, तब वहाँ के वैज्ञानिकों ने एक नवीन प्रणाली 'कृत्रिम गर्भाधान' का प्रयोग किया ।

सर्वप्रथम अरब के राजा ने अपनी घोड़ी को एक शत्रु के घोड़े का वीर्य चुरवाकर सन् 1322 में गर्भित कराया । सन् 1677 में ऐनटेनुवान लीवेनहाक् के एक विद्यार्थी 'हैम' ने शुक्रकीट की खोज की । अतः इस खोज के बाद सन् 1780 में इटली के अनुभवी वैज्ञानिक भ्रूल० स्पेलेन्जानी ने कृत्रिम गर्भाधान के ढंग को कुतियों में प्रयोग किया । इस प्रकार गर्भित हुई एक कुतिया ने 62 दिन बाद बच्चे दिये, जो अपने माता-पिता से मिलते-जुलते थे । 1782 में स्पेलेन्जानी के प्रयोगों को पी० रोजी ने दोहराया तथा प्रो० ब्रोंकाई ने उनके परिणामों को देखा ।

सन् 1799 में हंटर ने इस विधि का स्त्रियों में सफल प्रयोग किया ।

सन् 1876 में प्लोविस ने इस ढंग को यूरोप में सर्वप्रथम कुतियों में लागू किया । इसके बाद 1890 में फ्रांसीसी पशु चिकित्सक रोपीक्युट ने यह ढंग यूरोप में

घोड़ियों को गर्भित करने में अपनाया। सन् 1884 से 1896 तक अमेरिका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवर्ट-मीलेस ने इस ढंग से 19 कुतियों को गर्भित किया, जिसमें से 15 ने बच्चे दिये। सन् 1899 से 1922 तक इ० आई० आइवानोफ ने रूस में इस ढंग को फार्म के पशुओं में लागू किया तथा सन् 1938 के अन्त तक बड़े अच्छे परिणाम निकाले। आइवानोफ ने इस विषय में 300–400 मनुष्यों को प्रथम महा-युद्ध के पूर्वकालीन समय में ट्रेनिंग भी दी। डेनमार्क में सन् 1902 से सैंड ने कृत्रिम गर्भाधान की विधि को घोड़ियों में अपनाया। 1902 में अमेरिका में लीविस ने इसी ढंग से घोड़ियों को गर्भित किया।

हाफमैन ने इस सम्बन्ध में कुछ अच्छे यन्त्रों को खोज निकाला और उन्होंने ही सर्वप्रथम वीर्य में गाय का दूध मिलाकर, उसे पतला करने का ढंग बताया।

ग्रेट ब्रिटेन में कृत्रिम गर्भाधान की विधि का 1942 में श्रीगणेश हुआ तथा 1954 में सम्पूर्ण देश में इसका प्रसार हुआ।

भारत में, सर्वप्रथम अगस्त सन् 1939 में डॉ० सम्पत कुमारन ने पैलेस डेरी फार्म, मैसूर में इल ढंग को जन्म दिया और इस कार्य में उनको काफी सफलता एवं ख्याति मिली। उन्होंने इस विधि से 33 गायों को गर्भित किया जिन्होंने बच्चे भी दिये। तत्पश्चात् भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में सन् 1942 में डाक्टर पी० भट्टाचार्य, अध्यक्ष पशु आनुवंशिकी विभाग के कुशल निर्देशन में यह शुभ कार्य प्रारम्भ हुआ। इस योजना के अन्तर्गत बंगलौर, कलकत्ता, हिसार तथा पटना में सन् 1946–47 में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना हुई। भारत का विभाजन होने के कारण हिसार केन्द्र 15 अगस्त सन् 1947 में बन्द कर दिया गया। बिहार तथा बंगाल की प्रादेशिक सरकार के क्रमानुसार पटना और कलकत्ता के केन्द्र 1950 तक अपने अधिकार में ले लिये। फरवरी सन् 1951 में बंगलौर का केन्द्र भी बन्द कर दिया गया। सन् 1941 में डाक्टर टी० डब्ल्यू मिलन ने कृषि विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद में इस विषय पर कुछ कार्य किया। सन् 1944 में वीरमानी ऐअर ने मद्रास पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय में इस ढंग का गाय-भैंसों में काफी सफल प्रयोग किया।

उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से सन् 1945–46 में सर्वप्रथम झांसी जिले के भरारी फार्म पर एक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र की स्थापना हुई। सन् 1946 में उत्तर प्रदेश पशु-पालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय मथुरा के पशु-प्रजनन के प्रोफेसर डॉ० रामभुजारथ सिंह की अध्यक्षता में माधुरी कुण्ड फार्म, मथुरा में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। इसी समय बरेली में भी एक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोला गया। सन् 1948–49 में भद्रुक डेरी फार्म, लखनऊ में भी एक ऐसे केन्द्र की स्थापना हुई। सन् 1949–50 में मेरठ, गाजीपुर तथा देवरिया में तीन कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोले गये।

सन् 1951–52 में केन्द्रीय ग्राम योजना (Key Village Scheme) के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में 14 अन्य कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र, विभिन्न स्थानों पर खोले गये। इसके बाद पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस कार्य का समुचित रूप से विकास करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके फलस्वरूप प्रत्येक प्रदेश के पशु-पालन विभाग द्वारा सैंकड़ों कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र बड़े-बड़े पशु चिकित्सालयों में तथा उपकेन्द्र छोटे-छोटे कस्बों व गाँवों में खोले गये। आज इनमें केन्द्रित ग्राम योजना के अन्तर्गत बड़ी ही सफलता से कार्य हो रहा है।

कृत्रिम गर्भाधान का उद्देश्य (Object of A. I.)

भारतवर्ष में कृत्रिम गर्भाधान प्रणाली अपनाने का मुख्य उद्देश्य शीघ्रता से पशु सुधार करना और सीमित संख्या में अच्छे साँड होते हुये, अपने पशुओं का दुग्धोत्पादन बढ़ाना तथा कृषि कार्य हेतु अच्छे बैल पैदा करना है।

कृत्रिम गर्भाधान के लाभ (Advantages of A. I)

कृत्रिम गर्भाधान की पद्धति, प्रजनन कार्य को एक ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा गो-पशुओं के सुधार की दिशा में अपेक्षाकृत शीघ्र परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। पशु-पालन के क्षेत्र में कृत्रिम गर्भाधान एक बहुत बड़ा अनुसंधान है, जिसके फलस्वरूप अच्छे सांडों के वीर्य से मादाओं से बच्चे लेकर बहुत ही शीघ्र पशुओं का विकास सम्भव है। कृत्रिम गर्भाधान से निम्नलिखित लाभ हैं—

(1) अच्छी नस्ल के साँड जो सीमित मात्रा में हैं, उनसे इस विधि द्वारा अधिक संख्या में उत्तम सन्तति प्राप्त की जा सकती है। प्राकृतिक रूप से सम्भोग कराने पर एक सांड से एक वर्ष में अधिक से अधिक 70 से 100 बच्चे मिल सकते हैं, जबकि कृत्रिम गर्भाधान द्वारा वही साँड उतने ही समय में 2000 तक बच्चे पैदा कर सकता है। इस प्रकार इस विधि से अधिक लाभ हैं और साथ ही साँडों की कमी की समस्या का समाधान भी।

(2) इस ढंग में बड़े से बड़े साँड को छोटी से छोटी मादा से मिलाया जा सकता है।

(3) अच्छे साँड जो कभी पैरों में चोट लग जाने, लकवा मार जाने, अथवा किसी अन्य कारण से गाय पर नहीं चढ़ सकते, इस विधि द्वारा प्रजनन हेतु प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

(4) साँडों से एकत्रित किया हुआ वीर्य एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज कर, प्रजनन के कार्य में लाया जा सकता है। अतः यह ढंग काफी सस्ता पड़ता है और विदेशों से भी अच्छी नस्ल के साँडों का वीर्य मंगाकर शीघ्र ही पशुधन का उत्थान किया जा सकता है।

(5) इस ढंग द्वारा एक जाति के साँड का अन्य जाति की मादा से संभोग कराया जा सकता है। इस प्रकार नई-नई जातियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जोकि प्राकृतिक प्रजनन से नितान्त असम्भव है।

(6) हमें थोड़ी ही संख्या में अच्छे साँड रखने की आवश्यकता पड़ती है, इसलिये खर्च कम और लाभ अधिक होता है।

(7) एक गरीब किसान जो अच्छा साँड खरीद नहीं सकता, इस विधि द्वारा मनवांछित फल पा सकता है।

(8) परीक्षित साँडों का प्रयोग होने के कारण मादाओं में जननेन्द्रिय रोगों के फैलने से रोकथाम होती है।

(9) चूँकि सहवास (mating) प्राकृतिक रूप से नहीं होता, अतः मादा से नर को भी जननेन्द्रिय रोग नहीं लग पाते।

(10) नर या मादा में बाँझपन अथवा उनके वीर्य या रज में यदि कोई खराबी है, तो परीक्षानुसार पता लग जाता है कि इस दोष के लिये कौन उत्तरदायी है।

(11) कृत्रिम गर्भाधान द्वारा मादाओं में गर्भ धारण करने की क्षमता बढ़ती है।

(12) इस विधि में अच्छा अभिलेख रखा जाता है, जिससे चुनाव तथा प्रजनन सम्बन्धी ज्ञान वृद्धि होती है।

(13) साँडों की प्रजनन शक्ति की परीक्षा हो जाती है, कि सन्तति में कितने प्रतिशत साँड के गुण आये हैं।

(14) वे मादायें जो लूली, लंगड़ी होने के कारण प्राकृतिक मैथुन से गर्भ धारण नहीं कर सकतीं, इस विधि द्वारा गर्भित की जा सकती हैं।

(15) मादा के ऋतुमती होने पर पशु-पालक को साँड की तलाश में गाँव-गाँव नहीं घूमना पड़ता।

(16) इस विधि द्वारा इच्छित गुणों के साँड से मादा को गर्भित कराके मनवाँछित सन्तति प्राप्त की जा सकती है।

(17) कृत्रिम प्रजनन से उत्पाद बढ़ता है, लागत कम पड़ती है और कृषक को इससे काफी लाभ होता है।

(18) यह सब प्रकार के किसानों, शुद्ध वंशीय पशु पालकों, बड़े पैमाने पर पशु पालने वाले प्रजनकों एवं ऐसे कृषकों को भी लाभदायक तथा व्यावहारिक सिद्ध होता है, जिनके पास केवल एक या दो गाय अथवा भैंस हों।

कृत्रिम गर्भाधान के अवगुण (Demerits of A. I.)

(1) इससे हमें प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जो समुचित मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाते और साथ ही उन्हें ट्रेनिंग देने में धन भी खर्च होता है।

(2) इस विधि में प्रयुक्त होने वाला सामान काफी मूल्यवान होता है।

(3) यदि यन्त्रों को साफ करने की व्यवस्था भली प्रकार न रखी गई, तो नर तथा मादा दोनों को ही जननेन्द्रिय रोग लगने का भय रहता है। अतः थोड़ी-सी

लापरवाही करने पर ही बहुत हानि हो सकती है और इस प्रकार अच्छे प्रजनन के स्थान पर दूषित प्रजनन हो जाता है।

(4) कृत्रिम गर्भाधान की सेवाओं का भली-भाँति उपयोग वहीं हो सकता है, जहाँ अच्छी सड़कें उपलब्ध हों, जिनसे वीर्य के यातायात में काफी सुविधा हो।

(5) कृत्रिम गर्भाधान वहीं सफल हो सकता है, जहाँ पर मादा पशु अधिक संख्या में हों।

(6) मादा को ऋतुमती जानने के लिये काफी ज्ञान, परिश्रम एवं समय की आवश्यकता होती है और यदि भली-भाँति इसकी परीक्षा न हो पाई, तो इस विधि से आशातीत परिणाम भी नहीं निकलते।

(7) कठिनता से वश में आने वाले पशुओं में यह कार्य कभी-कभी बिल्कुल असम्भव सा हो जाता है।

भारत में कृत्रिम गर्भाधान का विषय क्षेत्र (Scope of A. I. in India)

मनुष्य के जीवन में आदि काल से ही पशुओं का बहुत बड़ा महत्व रहा है। पशु, भूसा, घास इत्यादि मोटे चारे खाकर, मानव जाति के लिये दूध, अण्डा, ऊन तथा माँस जैसे बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करते हैं। अतः पशु धन की उन्नति ही हमारी वास्तविक उन्नति है। इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक उन्नतिशील देश में बहुत पहले से ही पशुधन विकास की ओर समुचित प्रयास किया गया है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ कि लगभग 80 प्रतिशत जनता का जीवन कृषि के ऊपर ही निर्भर है, पशु रीढ़ की हड्डी के सदृश रहा है और रहेगा भी। वैज्ञानिक दृष्टि से चाहे हम कितना ही विकास क्यों न कर लें, हमारे कृषि क्षेत्र की सर्वांगीण उन्नति तथा प्रगति आखिरकार पशुधन पर ही निर्भर है। दूध के अधिकतम उत्पादन एवं कृषि की सफलता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि पशुधन के उत्थान के लिये ठोस कदम उठाये जायें। उनकी बहुमुखी उन्नति ही हमारी सम्पूर्ण विकास योजनाओं की सफल सिद्धि है। अतः भारत जैसे विकासशील देश का वास्तविक उत्थान पशु धन के समुचित विकास पर ही निर्भर है। **देश को एक कल्याणकारी मंगलमय राज्य बनाने के लिये हमें पशुधन का सर्वांगीण विकास करना होगा और इस उत्कर्ष पर हमें कौन पहुँचायेगा? केवल एक उत्तर—कृत्रिम गर्भाधान।**

भारत की कुल पशु संख्या विश्व की पशु संख्या का लगभग एक चौथाई है। वैसे तो किसी देश में अधिक संख्या में पशु होना, उनके लिये गर्व की बात है, परन्तु यह गर्व तभी सच्चा है, जब वहाँ के पशु अच्छे उत्पादक एवं अधिक उपयोगी हों। परन्तु इस विषय पर हमको अन्य देशों के सामने नतमस्तक होना पड़ता है, क्योंकि हमारी इतनी बड़ी पशु संख्या से उत्पादन सबसे कम है। एक भारतीय गाय का औसत उत्पादन लगभग 200 लिटर प्रति ब्यांत है, जबकि विदेशों में यह

2500–4000 लिटर तक है। लगभग ऐसी ही दशा हमारे भारवाही पशुओं की है। हमारे देश में दूध की खपत 150 मिली० प्रति मनुष्य प्रतिदिन है, जबकि सामान्य स्वास्थ्य रखने के लिये पोषण-विशेषज्ञों ने 300 मिली० नित्य निर्धारित की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में संसार के सभी देशों से अधिक पशु होते हुए भी, हमारी दूध की न्यूनतम निर्धारित दैनिक आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं होती। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वर्तमान समस्या के समाधान के लिये हमारे पशु जैनेटिकली सुविकसित नहीं हैं। अतएव दूध तथा भारवाही गुणों के लिये हमें अपने पशुओं का जैनेटिक विकास करना होगा और यह अच्छा प्रजनन ढंगों को अपनाने से सम्भव हो सकेगा।

चूंकि शुद्ध नस्ल के अच्छे सांडों की कमी होने के कारण उत्तम प्रजनन ढंगों से पशुधन का विकास बहुत धीरे सम्भव है, अतः कृत्रिम गर्भाधान द्वारा उचित नरों का प्रजनन के लिये चुनाव होकर, सर्वोत्तम नर का उत्तम एवं निम्न कोटि की मादाओं से समागम (mating) होकर, एक ही समय में चुनींदा उत्तम नर का अनेक मादाओं में प्रयुक्त होकर तथा वीर्य के परिवहन (transport) द्वारा प्रजनन का चुने हुए रूप में प्रयोग होकर इस विकट समस्या का पूर्ण रूप से निदान होकर, देश शीघ्र ही धन-धान्य से सम्पन्न होकर उन्नति के शिखर पर पहुँच सकेगा।

देश में कृत्रिम गर्भाधान का भविष्य उज्जवल करने के लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) मादा पशु को ऋतुमती होने पर निश्चित समय पर कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पर ले जाया जाये।

(2) वीर्य की दशा, शुक्राणु, नस्ल, तिथि, समय, आदि का पूर्ण अभिलेख रखा जाये।

(3) ऋतुमती होने में सन्देह होने पर मादा की योनि-वीक्षण (vaginal speculum) द्वारा परीक्षा की जाये।

(4) इस प्रकार पैदा हुई उन्नतिशील बछियों को, बड़े होने पर पुनः उन्नत एवं सिद्ध सांडों के वीर्य से गर्भित कराया जाये।

(5) देशी साँडों को बधिया किया जाये ताकि वे प्राकृतिक प्रजनन करके गाँव की नस्ल को खराब न कर सकें।

(6) अनुपयोगी पशु गौ-सदन भेजे जायें।

(7) लोकप्रियता के लिये इस विधि का समुचित प्रचार किया जाये।

भारत में कृत्रिम गर्भाधान के परिसीमन
(Limitations of A. I. in India)

(1) जनता में शिक्षा एवं समुचित ज्ञान की कमी।

(2) कृत्रिम गर्भाधान के प्रति जनता में अश्रद्धा एवं अविश्वास।

(3) जनता में झूठी धारणा, जैसे कि, कुछ लोगों का यह कहना कि इस विधि द्वारा बच्चे तथा पशुओं में जननेन्द्रिय रोग पैदा होते हैं।

(4) धार्मिक विचारों के कारण अनुपयोगी पशुओं का वध तथा देशी साँडों को बधिया करने में कठिनाई।

(5) इस विधि द्वारा जन्मित नर बच्चों के वितरण में कठिनाई।

(6) वीर्य परिवहन के लिए प्रतिकूल वातावरण।

(7) अच्छे प्रशिक्षित मनुष्यों की कमी।

(8) रिकार्ड (अभिलेख) का भली-भाँति न रखा जाना।

(9) समुचित देख-भाल की कमी।

(10) लोकमत द्वारा कृत्रिम गर्भाधान को उत्तम प्रजनन विधि के रूप में न स्वीकार किया जाना।

आजकल कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर होने वाली असुविधा इस कार्य की प्रगति में सबसे अधिक बाधक है। बहुत ही कम पशु-चिकित्सक इस कार्य में पूरी रुचि लेते हैं। फलतः गाय की योनि में पिचकारी द्वारा वीर्य डालने का कार्य अधिकांश केन्द्रों पर डाक्टर द्वारा न करके, परिचारकों द्वारा किया जाता है। इसमें प्रयोग होने वाले सामान को भली-भाँति जीवाणु रहित नहीं किया जाता और ठण्डे पानी से धोकर, अन्य गायों की योनि में यन्त्र डाल दिया जाता है। कभी-कभी मृत शुक्राणुओं वाला वीर्य भी डालने की शिकायत मिलती है। ऐसी परिस्थितियों में गाय को तरह-तरह के जनेन्द्रिय रोग लग जाते हैं। उसकी योनि से सफेद रंग का गाढ़ा स्राव बहने लगता है, और गाय खराब हो जाती है। अतः इस प्रकार लाभ के बजाय इस विधि से हानि हो जाती है और पशुपालक निराश होकर इस विधि की अवहेलना करता है। कृत्रिम गर्भाधान की सफलता के लिये पशु-चिकित्सक को पूरी जिम्मेदारी के साथ यह कार्य स्वयं करना चाहिये, तभी इससे उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त करके पशु-पालक का मन जीता जा सकता है।

परिच्छेद : 12

जनन-तन्त्र
(REPRODUCTIVE SYSTEM)

जनन (reproduction) जीव धारियों की वह कला है, जिससे वे अपने जैसे ही जीवधारी पैदा करते हैं।

"Reproduction may be defined as the process by which living beings are produced after the fusion of male and female gametes together. This is the characteristic feature of all living beings.

नर के शुक्राणु (sperm) तथा मादा के अण्डाणु (ovum) के पारस्परिक मिलाप से ही नये जीव की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। शुक्राणु तथा अण्डाणु की उत्पत्ति क्रमशः नर और मादा जननेन्द्रिय से सम्बन्धित है। अतः यहाँ पर इन्हीं अंगों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

नर जननेन्द्रिय के भाग और उनके कार्य
(Parts of Male Reproductive Organs & their Functions)

नर जननेन्द्रिय के निम्नलिखित भाग होते हैं :

(1) अण्डकोष (Testes)

(2) एपिडिडिमिस (Epididymis)

(3) शुक्र वाहिनी (Vas Deferens)

(4) शुक्राशय (Seminal Vesicle)

(5) प्रोस्टेट (Prostate)

(6) कंद मूत्रिपथ ग्रंथियाँ (Bulbo-urethral or Cowper's Glands)

(7) मूत्र मार्ग (Urethra)

(8) लिंग (Penis)

अण्डकोष नर जननेन्द्रिय के मुख्य अंग तथा शेष सहायक उपांग कहलाते हैं।

अण्डकोष (Testes)—कुछ पशु जैसे हाथी को छोड़कर अधिकतर पशुओं में यह शरीर से बाहर लटककर वृषण कोष (scrotum) में पिछली टांगों की जाँघों के मध्य स्थित रहते हैं। यह थैली काफी ढीली होती है, अतः अण्डकोष इसमें ऊपर नीचे चल सकते हैं। बहुधा बाईं ओर का अण्डकोष, दाईं ओर के अण्डकोष से थोड़ा बड़ा होता है। यह शुक्राणुजनक नलिकाओं (semeniferous tubules) के बने होते

हैं। इनका मुख्य कार्य शुक्र कीट पैदा करना एवं टेस्टेस्टरोन हारमोन निकालना है। शुक्रकीट, शुक्रजनक नलिकाओं में उपस्थित शुक्रजनक कोशिकाओं (स्पर्मैटोगोनिया) से पैदा होते हैं और इस क्रिया को शुक्राणु उत्पादन (spermatogenesis) कहते हैं। शुक्रजनक नलिकाओं में जाल के मध्य, यत्र-तत्र फैले हुए कुछ विशेष प्रकार के कोषाणु होते हैं, जिन्हें अन्तराल कोशिका या लेडिग कोशिका (Interestitial Cells or Cells of Leydig) कहते हैं। यही कोषाणु हारमोन बनाते हैं। शुक्रजनक नलिकाओं की सर्टोली कोशिकायें (Sertoli Cells) शुक्राणुओं को परिपक्व करने तथा ईस्ट्रोजन उत्पादन में सहायक होती हैं।
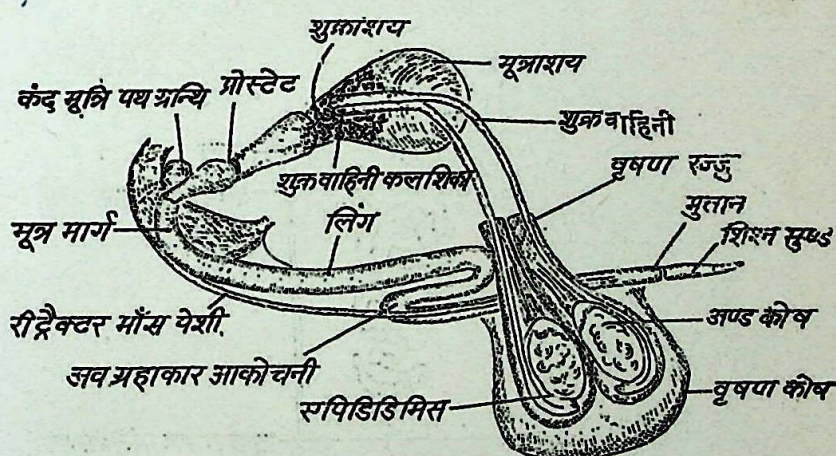
चित्र 12·1—नर जननेन्द्रिय के भाग
(Parts of the Male Reproductive Organs)

खाल का बना हुआ वृषण-कोष (scrotum) एक थैली के रूप में अण्डकोष पर चढ़ा रहता है। **इसका मुख्य कार्य अण्डकोषों को बाहरी धक्कों से बचाना तथा गर्मी व जाड़ों में उनके कार्य हेतु उचित तापक्रम प्रदान करना है।** इसलिये जाड़ों के दिनों में तापक्रम गिरने के कारण यह आवरण सिकुड़ जाता है तथा गर्मियों में तापक्रम बढ़ने के कारण फैल जाता है। दोनों अण्डकोष-आवरणों के बीचों-बीच पूरी लम्बाई में एक-गर्त सा प्रतीत होता है। इससे दोनों अण्डकोष एक दूसरे से बिल्कुल अलग पहचाने जाते हैं।

एपिडिडिमिस—यह एक कुण्डली के आकार की टेढ़ी-मेढ़ी बनी हुई लम्बी नली है जो संयोजी ऊतक (connective tissue), अपवाही वाहिनिका (efferent duct), तथा एक सीरस झिल्ली (serous membrane) द्वारा अण्डकोष से अन्दर की ओर जुड़ी रहती है। शुक्रजंनक नलिकायें (semeniferous tubules) अण्डकोष के इसी किनारे पर आपस में आकर मिलकर एक भाग **'रेटी टेस्टिस'** (retetestes) का निर्माण करती हैं। यहाँ से छोटी-छोटी नलिकायें निकलकर, शुक्र नलिका

(vasa efferentia) बनाती हैं, जो आगे बढ़कर एपिडिडिमिस में खुलती है। इस प्रकार अण्डकोष से लाये हुये शुक्रकीट यहाँ एकत्रित होते हैं तथा यहीं भण्डारित होकर परिपक्व होते हैं। एपिडिडिमिस के सिर, धड़ तथा पूँछ नामक तीन भाग होते हैं। शुक्र नलिका वाला भाग, जिसमें एक दर्जन से भी अधिक छोटी-छोटी नलिकायें हैं, सिर कहलाता है। यह सब नलिकायें आपस में मिलकर, आगे बढ़कर एक बड़ी नलिका को जन्म देती हैं। इसी के मध्य भाग को धड़ कहते हैं। थोड़ा और आगे बढ़कर यह नलिका समाप्त होने लगती है, जिसे पूँछ कहते हैं। और यह अगले भाग शुक्रवाहिनी से मिल जाती है। एपिडिडिमिस के धड़ तथा पूँछ वाले भाग में
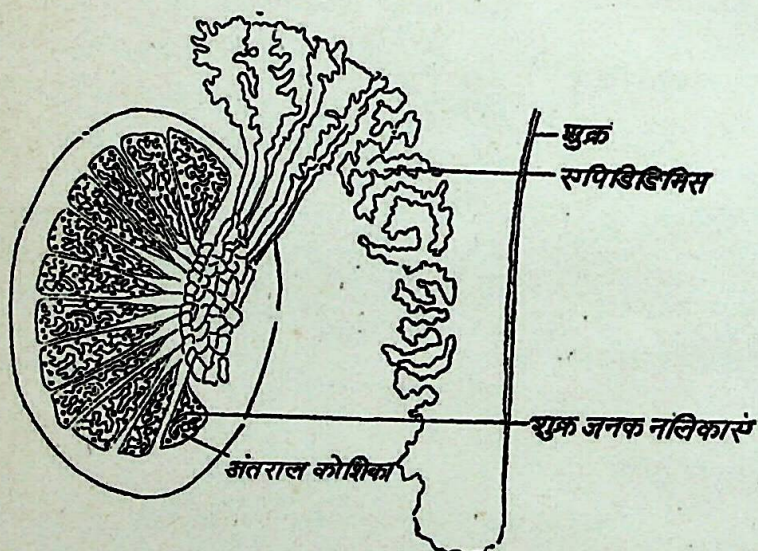
चित्र 12·2—अण्डकोष की आड़ी काट (C. S. of Testes)

ही कुछ समय तक शुक्राणु भण्डारित होकर परिपक्व होते हैं। इसका दूसरा कार्य वीर्य को पतला करने के लिये द्रव स्रावण करना है। शुक्राणुओं में गति तथा संसेचन का गुण यहीं विकसित होता है।

शुक्रवाहिनी (Vas Deferens)—एपिडिडिमिस की पूँछ से लेकर मूत्र-मार्ग तक वीर्य को ले जाने वाली यह दो लम्बी नलिकायें हैं। दोनों ओर की नलिकायें मूत्राशय की ग्रीवा पर बिल्कुल ही एक दूसरे के निकट आकर, ऊपर की ओर शुक्राशय के सम्पर्क में आकर कुछ मोटी हो जाती हैं और इस प्रकार इनके इस फूले हुये आकार को शुक्रवाहिनी कलशिका (Ampullae of the Vas Deferens) कहते हैं। आगे चलकर ये नलिकायें प्रोस्टेट ग्रन्थि के नीचे से निकलकर शुक्र प्रसेचिनी वाहिनी द्वारा मूत्र-मार्ग में खुलती हैं। इनका मुख्य कार्य एपिडिडिमिस में भण्डारित वीर्य को मूत्र-मार्ग तक पहुँचाना है। इसके विपरीत इनकी कलशिका में, वीर्य के बाहर निकलने से पूर्व, शुक्राणु भण्डारित रहते हैं।

शुक्राशय (Seminal Vesicle)—यह नर जननेन्द्रिय के सहायक उपांगों में सबसे बड़ी ग्रन्थियाँ हैं, जो साँड में लगभग 7–8 सेमी० लम्बी तथा 3 सेमी० चौड़ी होती हैं। वह ग्रन्थियाँ शुक्र-वाहिनी के मूत्र मार्ग में खुलने वाले सिरे के एक ओर स्थित रहकर एक नलिका द्वारा मूत्र मार्ग से सम्बन्धित रहती हैं **इनसे एक तरल पदार्थ निकलकर वीर्य को पतला करता है।** देखने में यह द्रव सफेद अथवा पीलापन लिये हुये सफेद रंग का चिपचिपा पदार्थ है जिसमें प्रोटीन, सिट्रिक अम्ल, पोटेशियम आयन तथा फ्रक्टोज मौजूद रहता है। ये तत्व शुक्राणुओं को आवश्यक पोषण तथा शक्ति प्रदान करते हैं। **माँसाहारी पशुओं में शुक्राशय अनुपस्थित रहता है।**

शुक्र प्रसेचिनी वाहिनी (Ejaculatory Duct)—शुक्राशय के अग्र भाग तथा शुक्र-वाहिनी के पारस्परिक संयोग से शुक्र प्रसेचिनी वाहिनी बनती है। यह मूत्र मार्ग के तल में खुलती है। **इसका कार्य इस तक लाये गये वीर्य को मूत्र-मार्ग में पहुँचाना है।**

प्रोस्टेट (Prostate)—यह एक ग्रन्थि के रूप में मूत्राशय की ग्रीवा के ऊपर ठीक उस स्थान पर स्थित रहता है जहाँ से मूत्रमार्ग प्रारम्भ होता है। **इस ग्रन्थि से दूधिया रंग का एक क्षारीय तरल पदार्थ निकलकर वीर्य में मिलता है, जो उसकी विशेष प्रकार की गंध तथा योनि की अम्लीयता के निराकरण के लिये उत्तरदायी होता है।** इस द्रव में प्रोटीन-संलायी एन्जाइम, वीटा-ग्लूकरोनाइडेज, सिट्रिक अम्ल तथा एसिड फास्फटेज मौजूद रहता है।

कन्द मूत्रि-पथ ग्रन्थियाँ (Bulbo-urethral Glands)—प्रोस्टेट के पीछे तथा मूत्र-मार्ग के दोनों ओर स्थित रहने वाली यह छोटी-छोटी गोलाकार दो ग्रन्थियाँ होती हैं। साँड में यह बहुत ही छोटी होकर पेशी ऊतक (muscular tissue) से ढकी रहती हैं। **इनका मुख्य कार्य, एक क्षारीय तथा लसीला रस निकालकर, वीर्य पहुँचने से एक क्षण पूर्व, मूत्र-मार्ग को स्वच्छ एवं चिकना करना तथा वहां की रासायनिक प्रक्रिया (chemical reaction) को नियन्त्रित करना है।**

मूत्र-मार्ग (Urethra)—मूत्राशय से लिंग के शिश्नमुण्ड (Glans Penis) तक जाने वाली यह एक लम्बी नली है, जो मूत्र तथा वीर्य को शरीर से बाहर निकलने के लिये मार्ग प्रदान करती है। मूत्र-मार्ग के प्रोस्टेटिक भाग की सतह पर एक छोटा सा उठा हुआ भाग होता है, जिसे 'क्रिस्टा यूरेथ्रा' (Cristra Urethra) या 'कैपट गेलीनेजिनिस' कहते हैं। इसमें सतर्क या खड़े होने वाले तन्तु होते हैं, जो सम्भोग के समय निकले हुये वीर्य को मूत्राशय में वापस ले जाने से रोकते हैं।

लिंग (Penis)—यह हर्षण ऊतक (erectile tissue) का बना हुआ मसीला भाग है, जो नर जननेन्द्रिय में सम्भोग का विशेष अंग होता है। **इनका मुख्य कार्य शुक्राणुओं को मादा जननेन्द्रिय में पहुँचाना है।** इसके अतिरिक्त यह मूत्र को बाहर निकालने में भी सहायक होता है। इस अंग की रचना विभिन्न पशुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। गौ साँड में इसका कुछ भाग अंग्रेजी के अक्षर 'S' की आकार

का बना होता है, जिसे अवग्रहाकार आकोचनी (Sigmoid Flexor) कहते हैं। लिंग का अग्रभाग शिश्न-मुण्ड (Glans Penis) कहलाता है। संभोग काल में लिंग में बहुत तेजी से रक्त संचार होता है। पूरा लिंग बाहर से त्वचा द्वारा ढका रहता है, जो बाहरी धक्कों तथा गन्दगी आदि से इसकी रक्षा करता है। इसका खुला हुआ द्वार जहाँ से लिंग बाहर निकलता है, मुतान या मुण्डचर्म (Sheath or Prepuce) कहलाता है। इसके चारों ओर छोटे-छोटे बाल भी होते हैं।

मादा जननेन्द्रिय के भाग और उसके कार्य
(Parts of the Female Reproductive Organs and their Functions)

नर जननेन्द्रिय की भाँति मादा जननेन्द्रिय के भी निम्नलिखित भाग होते हैं—

(1) ओवरी (Ovary)
(2) डिंब वाहिनी या फैलोपी नली (Oviduct or Fallopian Tube)
(3) गर्भाशय (Uterus)
(4) योनि (Vagina)
(5) भग (Vulva)

ओवरी, मादा जननेन्द्रिय का प्रमुख अंग तथा अन्य सहायक उपांग कहलाते हैं।
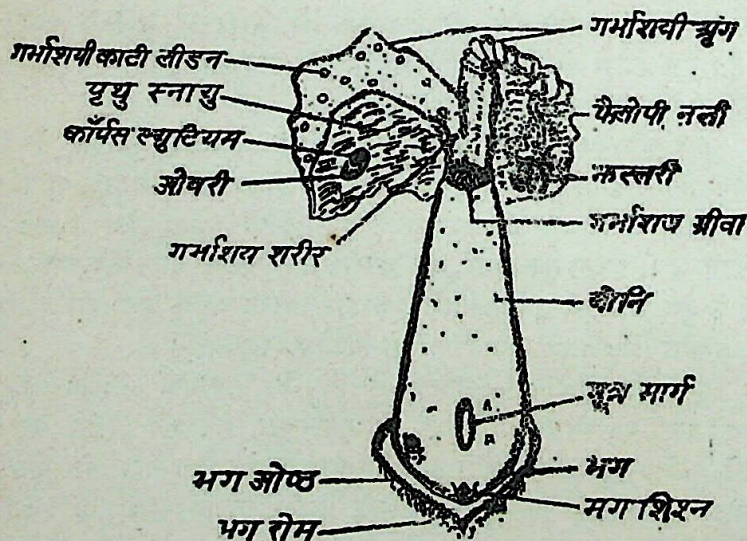
चित्र 12·3—मादा जननेन्द्रिय के भाग
(Parts of the Female Reproductive Organs)

ओवरी (Ovary)—गाय में 2·5 से 4 सेमी० लम्बी ओवरी दोनों ओर गर्भाशय के पृथु स्नायु (Broad Ligament) जिसे मेसोवरियम भी कहते हैं, के द्वारा उदर अथवा श्रोणि-गुहा (Abdominal or Pelvic Cavity) में लटकी रहती है। योनि मुख से लगभग 40–45 सेमी० गाय में तथा 50–55 सेमी० घोड़ी में अन्दर

की ओर यह स्थित रहती है। गाय के गुदा मार्ग में हाथ डालकर इनको महसूस किया जा सकता है। इस प्रकार टटोलने में ओवरी के ऊपर एक मटर के दाने के बराबर उठी हुई छोटी गाँठ सी प्रतीत होती है। इसे कॉपर्स ल्यूटियम कहते हैं।

ओवरी का मुख्य कार्य रजकण या अण्डाणु उत्पादन करना एवं हारमोन निकालना है, जो जनन-क्रिया तथा अयन के विकास से सम्बन्धित है।

डिम्ब वाहिनी (Oviduct)—यह प्रत्येक ओवरी से गर्भाशयी शृंगों (uterine horns) तक जाने वाली टेढ़ी-मेढ़ी पतली नालिकायें हैं, जो ओवरी का गर्भाशय से सम्पर्क स्थापित करती हैं। गाय में इनकी लम्बाई 25–39 सेमी० तक होती है तथा यह मेसोवरियम लिगामेंट पर चिपकी हुई लहरियादार आकार में गर्भाशय से जाकर मिल जाती हैं। इनका ओवरी की ओर वाला सिरा एक कीप के आकार का चौड़ा होकर, ओवरी के ऊपर स्थित रहता है। इसे झल्लरी (Fimbria) कहते हैं। इसका एपीथीलियम स्तम्भाकार रोमाभी (Ciliated Columnar) होता है। इसमें उपस्थित रोमाभ (Cilia), अण्डाणु (Ovum) को गर्भाशय की ओर पहुँचाने में सहायक होते हैं। डिम्बवाहिनी के इनफण्डीबुलम, ऐम्पुला, तथा स्थमस नामक तीन भाग होते हैं। इनमें उपस्थित स्रावक कोशिकायें एक रस निकालती हैं जो दोनों ओर बहने की क्षमता रखता है। गर्भाशयी शृंग में उपस्थित शुक्राणु जब इस द्रव के सम्पर्क में आते हैं तो उनकी संसेचन क्षमता में वृद्धि हो जाती है। इस क्रिया को **'शुक्राणु धारित्व'** (Capacitation of Sperms) कहते हैं।

गर्भाशय (Uterus) यह एक बहुत ही लचीला माँस का खोखला भाग है, जो गर्भकाल में भ्रूण को सुरक्षित रखकर एवं उसकी वृद्धि करके, एक जीव के रूप में संसार में जन्म देता है। इसको; दो शृंग (Horns), शरीर (Body) तथा ग्रीवा (Neck) नामक तीन भागों में वर्णन करने हेतु विभाजित किया जा सकता है। शृंग टेढ़ी-मेढ़ी आकृति के नीचे की ओर चौड़े होकर गर्भाशय के शरीर में जुड़े रहते हैं तथा आगे की ओर डिम्ब-वाहिनी नलिका से जा मिलते हैं। गाय में इन शृंगों की लम्बाई लगभग 40 सेमी० तक होती है। गर्भाशय का शरीर वाला भाग गाय में लगभग 4 सेमी० लम्बा होता है। **गर्भाशय ग्रीवा** (Cervix) एक छेददार रबर की कार्क की आकार का बना हुआ 8–10 सेमी० लम्बा तथा 2·5 सेमी० के व्यास का मसीला भाग है। इसमें 15–25 लम्बे पुटक तथा 4 गोल पुटक (folds) होते हैं। इसका पिछला भाग योनि में बढ़ा हुआ नुकीला-सा प्रतीत होता है जो कड़े छल्लेदार माँस पर्तों का बना होता है। यह छल्ला लगभग हर समय ग्रीवा के मुख को बन्द-सा किये रहता है, जिससे कोई भी वस्तु गर्भाशय में सरलता से प्रवेश नहीं कर पाती। मादा के ऋतुमती होने पर यह मसीला छल्ला कुछ ढीला पड़ जाता है। अतः इस समय नर का लिंग या वीर्य सरलता से इस मुख द्वारा प्रवेश पाकर, आगे गर्भाशय में भली-भाँति जा सकता है। गर्भकाल में गर्भाशय ग्रीवा का मुख श्लेष्मिक डाट (mucous plug) से बिल्कुल ही बन्द हो जाता है। अतः आसानी से गर्भ गिरने नहीं पाता।

गर्भाशयी शृंगों (Uterine Horns) में भ्रूण पलता है तथा गर्भकाल पूर्ण होने पर इसके शरीर एवं ग्रीवा के अन्दर का खोखला भाग बच्चे बाहर निकालने के लिये मार्ग देता है। शृंगों की भीतरी दीवालों पर कुछ उठे हुए गोल-गोल मसीले भाग होते हैं, जिन्हें काटीलीडन कहते हैं। गाय में इनकी संख्या 100 के लगभग होती है। इन्हीं से भ्रूण जुड़ा रहता है। प्रत्येक गर्भाशयी शृंग में 35–60 काटीलीडन मौजूद हो सकते हैं। गर्भाशय की माँस पेशी लचीली होने के कारण प्रसवकाल में संकोचन एवं विमोचन की क्रिया करके बच्चे को बाहर निकालने में सहायक होती है तथा प्रसव के बाद कुछ ही दिनों में सिकुड़कर अपनी पूर्ण अवस्था ग्रहण कर लेती है।

योनि (Vagina)—गर्भाशय की ग्रीवा से लेकर भग तक का भाग योनि कहलाता है। गाय में इसकी लम्बाई 25 से 35 सेमी० तक होती है। इसी के अन्दर मूत्र नली खुलती एवं प्रजनन नली प्रारम्भ होती है। ओसरों में, प्रजनन नली का मुख एक पतले छोटे मसीले पर्त से बन्द रहता है, जिसे हाइमन (hymen) कहते हैं। गर्भाशय के अन्य भागों की भाँति योनि भी बहुत लचीली माँस पेशी की बनी होती है, जो उसी तरह सिकुड़ एवं फैल सकती है। यह मादा में सहवास का विशेष अंग है। **अतः संभोग के समय नर का लिंग ग्रहण करना इसका प्रमुख कार्य है।** इसका दूसरा कार्य ब्यांत के समय बच्चे के लिये मार्ग प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त मूत्र भी यहीं से होकर बाहर निकलता है।

भग (Vulva)—यह मादा जननेन्द्रिय का अन्तिम भाग है, जिसके दो भग-ओष्ठ (lips of vulva) गुदा (anus) के नीचे लटके दिखाई देते हैं। इसका व्यास योनि के व्यास से कुछ बड़ा होता है। भग की दीवालों पर कुछ ग्रन्थियाँ स्थित रहती हैं, जो संभोग के समय मादा को उत्तेजित करने में सहायक होती हैं। इसकी निचली सतह पर मूत्र जाने के लिये एक मार्ग होता है। नर लिंग के समजात, भग-शिश्न (clitoris) नामक एक छोटा-सा उत्तेजक अंग भी भग के पिछले भाग में स्थित रहता है। संभोग काल में नर का लिंग इसी भग-शिश्न से रगड़ खाकर मादा में अधिक काम-वासना जागृत करता है। भग के ओष्ठों पर बाहर की ओर कुछ छोटे-छोटे रोंगटे भी होते हैं। बाहर दोनों भग के ओष्ठ एक-दूसरे से चिपके रहते हैं, जिससे कि बाहरी दूषित पदार्थ योनि में प्रवेश नहीं पाते। मादा के ऋतुमती होने पर भग के निचले कोने से एक लसदार स्राव बूँद-बूँद करके टपकता है, जो नर लिंग प्रवेश हेतु जननेन्द्रिय मार्ग को चिकना बनाता है। शेष समय में यह भग सूखी सी दिखाई पड़ती है। लचीली होने के कारण ब्यांत के समय **फैलकर यह बच्चे को बाहर निकालने के लिये मार्ग प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त प्रसव के बाद जेर (After Birth) भी यहीं से होकर बाहर निकलती है।**

भ्रूण का विकास (Development of Embryo) :

गाय का अण्डाणु (ovum) केवल एक शुक्राणु द्वारा ही संसेचित (fertilize) होता है और तुरन्त ही श्रेणियों के विभाजन द्वारा उसकी वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। एक संसेचित अण्डाणु (fertilized ovum) दो; चार, आठ, इत्यादि कोशिकाओं
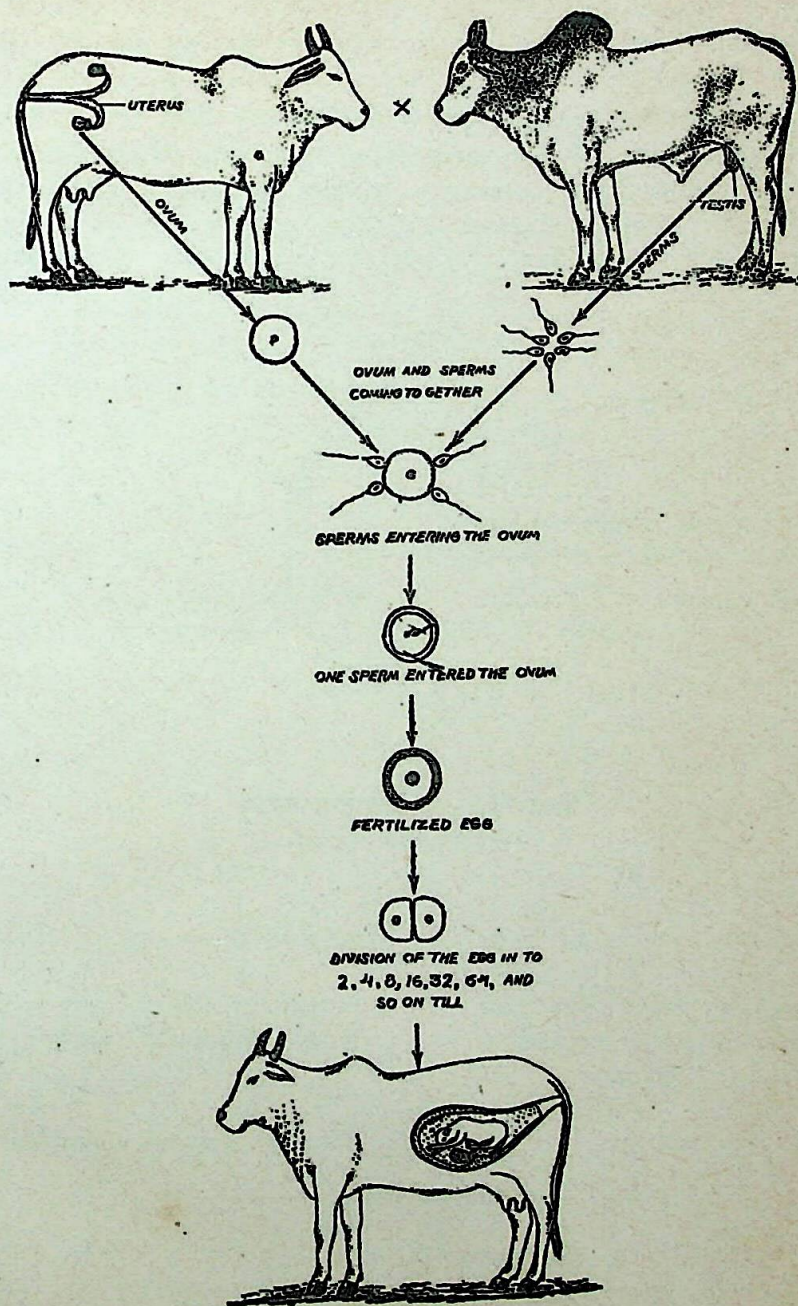
FORMATION OF THE EMBRYO

चित्र 12·4—जनन-क्रिया का आरेखीय निरूपण

(Diagrammatic Representation of Reproduction)

(cells) में विभाजित होता है। तत्पश्चात् इसकी वृद्धि होकर एक प्रौढ़ शरीर का विकास होता है।

गाय का जनन-तन्त्र एक संयुक्त एण्डोक्राइन प्रणाली द्वारा नियन्त्रित होता है। जनन के अंगों के कार्य, जैसे, ऋतुमती होना, गर्भित होना, गर्भकाल, प्रसव तथा दूध देना आदि; पिट्यूटरी, डिम्बग्रन्थि फॉलकिल (ovarion follicle), कार्पस ल्युटियम तथा गर्भनाल (placenta) के हारमोन्स द्वारा नियन्त्रित एवं समन्वित होते हैं। जनन की सम्पूर्ण क्रिया का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार संयोजित किया जा सकता है—
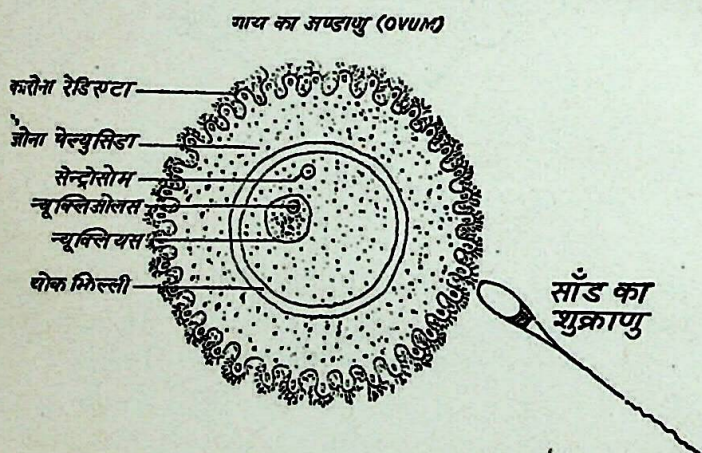
चित्र 12·5—अण्डाणु तथा शुक्राणु
(Ovum and Sperm)

नर	मादा
↓	↓
नर जननेन्द्रिय की वृद्धि एवं विकास	मादा जननेन्द्रिय की वृद्धि एवं विकास
↓	↓
शुक्राणुओं का निर्माण तथा इसमें सहायक ग्रन्थियों का रसास्राव में योगदान	अण्डाणुओं का निर्माण तथा इसमें सहायक ग्रन्थियों का रसास्राव में योगदान
↓	↓
कामोत्तेजना	अण्डाणु उत्पादन। ऋतुमती। कामोत्तेजना

↘ नर मादा का सम्भोग ↙

↓

अण्डाणुसंसेचन (fertilization)

संसेचित अण्डाणु का गर्भाशय की दीवाल में स्थानापान्न

↓

भ्रूण का विकास तथा इसमें सहायक नलिका-विहीन ग्रन्थियों का योगदान

↓

सन्तानोत्पत्ति
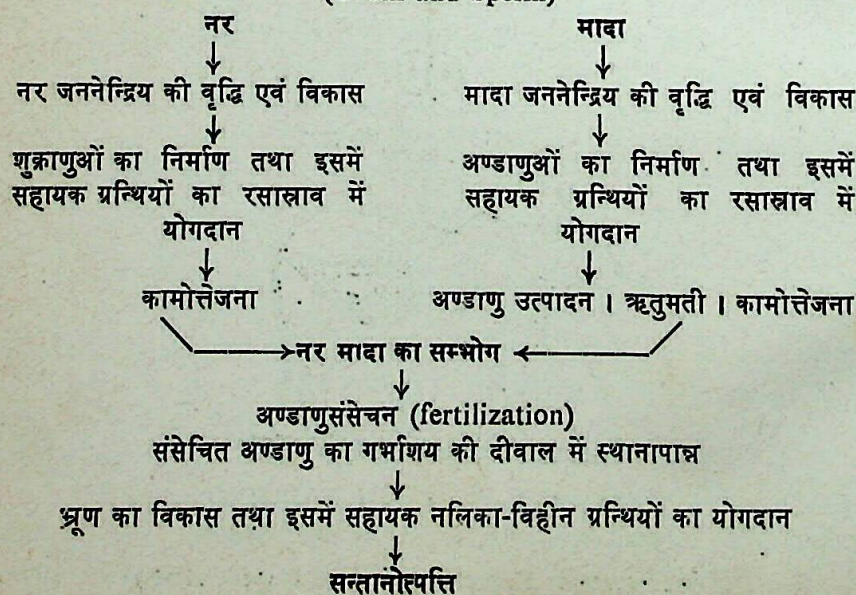
संसेचित अण्डाणु जाइगोट (zygote) कहलाता है। जाइगोट का पहला विभाजन 24 घण्टे में पूरा हो जाता है। भ्रूणीय विकास की कई अवस्थायें होती हैं और इनकी अवधि मादा के गर्भकाल की अवधि पर निर्भर होती है। गाय में 4 दिन में जाइगोट 8 से 16 कोशिकाओं में विभाजित हो पाता है। इसके बाद कोशिका विभाजन द्वारा विशेष प्रकार के कोशा बनकर भ्रूणीय झिल्लियों का विकास करते हैं जो विकास काल में बच्चे या भ्रूण को ढके रहती हैं। ऐसी झिल्लियाँ तीन होती हैं। सबसे भीतरी ऐम्नियॉन, बीच वाली एलन्ट्वाइस तथा बाहरी जरायु झिल्ली कोरियॉन कहलाती है। ऐम्नियॉन तथा एलन्ट्वाइस के बीच एक द्रव भरा रहकर, भ्रूण की बाहरी धक्कों से रक्षा करता है। एलन्टोकोरियन मिलकर गर्भाशय की दीवाल से बच्चे को जोड़ते हैं। गाय में अण्डाणु संसेचन के एक माह बाद यह क्रिया (implantation) प्रारम्भ होकर तीसरे माह में पूरी हो जाती है। अब इसी माध्यम से मां तथा विकास कालीन भ्रूण में पोषक तत्वों का आदान-प्रदान शुरू हो जाता है। इस माध्यम को प्लेसेंटा कहते हैं। प्रारम्भ भ्रूण का विकास बहुत धीरे होता है। गाय का भ्रूण 45 दिन में लगभग 85 ग्राम का, 90 दिन में 1 किलो तथा 220 दिन पर लगभग 10 किलो का हो जाता है।

परिच्छेद : 13

कृत्रिम गर्भाधान प्रविधि एवं वीर्य एकत्रीकरण

(ARTIFICIAL INSEMINATION TECHNIQUE AND COLLECTION OF SEMEN)

कृत्रिम गर्भाधान प्रविधि मुख्य तौर पर निम्नलिखित चार भागों में विभाजित की जा सकती है—

(1) वीर्य एकत्रीकरण (Collection of Semen)

(2) वीर्य परीक्षण एवं उसका मूल्यांकन (Examination and Evaluation of the Semen)

(3) वीर्य संरक्षण एवं उसका परिवहन (Storage and Transport of Semen)

(4) मादा जननेन्द्रिय में वीर्य संचालन (Insemination of the Female)

यहाँ पर वीर्य एकत्रीकरण की विधियों का ही वर्णन किया जा रहा है। शेष का उल्लेख अगले परिच्छेदों में किया जायेगा।

वीर्य एकत्रीकरण की विधियाँ
(Method of Semen Collection)

विषय-परिचय—साँड के वीर्य एकत्रित करने के अनेक ढंग अब तक खोजे जा चुके हैं। चूंकि विज्ञान की प्रगति अनिवार्य है, अतः जो ढंग पुराने एवं दोषमुक्त थे, वे अब प्रयोग में नहीं आते और अब आधुनिक वैज्ञानिकों ढंगों से वीर्य एकत्रित किया जाता है। पुराने ढंग भी अपने स्थान पर अपनी थोड़ी बहुत महत्ता रखते हैं। अतः आधुनिक ढंगों के साथ उनका भी यहाँ वर्णन किया जा रहा है। वीर्य एकत्रीकरण की निम्नलिखित विधियाँ हैं—

(अ) स्पंज विधि (Sponge Method)

(ब) शुक्राणु एकत्रीकरण विधि (Sperm Collection Method)

(स) पैन विधि (Pan Collection)

(द) योनि चूषण विधि (Vaginal Aspiration Method)

(य) प्रजनन थैली विधि (Breeder's Bag Method)

(र) योनि चम्मच विधि (Vaginal Spoon Method)

(ल) मर्दन विधि (Massage Method)

(व) विद्युत द्वारा उद्दीपन विधि (Electrical Stimulation Method)

(म) कृत्रिम आगमन विधि (Artificial Induction of Ejaculation)

(प) नलिका विधि (Fistula Method)

(स) कृत्रिम योनि विधि (Artificial Vagina Method)

(अ) स्पंज विधि (Sponge Method)—इस विधि के अन्तर्गत एक छोटा सा स्पंज का टुकड़ा लेकर उसमें एक लम्बा डोरा बाँध लेते हैं। अब इस स्पंज को खूब साफ करके, नॉर्मल लवण द्रव (normal saline) में डुबोकर तथा निचोड़कर ऋतुमती मादा की योनि में स्वच्छ हाथ अथवा स्वच्छ एवं शुद्ध चिमटी के सहारे प्रविष्ट करते हैं। डोरा योनि से बाहर लटकता रहता है। अब गाय पर साँड छोड़ते हैं और सम्भोग हो जाने के बाद इस डोरे को पकड़कर स्पंज बाहर खींच लेते हैं। इस प्रकार साँड द्वारा निकाला हुआ सारा वीर्य इस स्पंज में सोखकर बाहर आ जाता है, जिसे एक स्वच्छ काँच की परखनली या वाच ग्लास में निचोड़ लेते हैं।

लाभ—(1) यह ढंग छोटे तथा नये साँडों से वीर्य एकत्रित करने के लिये काफी अच्छा है।

(2) इसमें नर मादा का पारस्परिक मिलन एवं वीर्य स्खलन स्वाभाविक होता है।

(3) ढंग काफी साधारण एवं सस्ता है।

हानियाँ—(1) यदि स्पंज रखते समय स्वच्छता की सावधानियाँ न बरती गईं, तो वीर्य दूषित हो सकता है।

(2) पूरा वीर्य एकत्रित नहीं हो पाता, क्योंकि उसका कुछ भाग स्पंज को भिगोने में लगा रह जाता है।

(3) निचोड़ते समय बहुत से शुक्राणु मर जाते हैं।

(4) वीर्य में योनि का स्राव भी मिल जाता है।

(ब) शुक्राणु एकत्रीकरण विधि (Sperm Collection Method)—शुक्राणु एकत्रीकारक यन्त्र, एक रबर या पतली प्लास्टिक का बना हुआ छोटा-सा थैला होता है, जिसमें ऊपर की ओर एक खुला हुआ मुख होता है। नीचे की ओर खाँचेदार होकर यह बन्द-सा रहता है, ताकि संभोगकाल में योनितल से फिसल न सके। यह थैला साफ तथा चिकना करके मादा की योनि में इस प्रकार रख दिया जाता है, कि इसका खुला हुआ मुख भग की ओर रहे। अब मादा पर साँड छोड़ते हैं और इस प्रकार उसके द्वारा निकला हुआ वीर्य इस थैली में स्वतः एकत्रित हो जाता है। थैली को बाहर निकालकर वीर्य को परखनली में उलट लेते हैं।

लाभ—(1) सारा वीर्य एकत्रित हो जाता है।

(2) वीर्य पूर्णतया शुद्ध रहता है।

(3) ढंग साधारण एवं सस्ता है।

(4) नर और मादा का पारस्परिक मिलन एवं वीर्य स्खलन स्वाभाविक है।

(5) एक-दूसरे को छूतदार जननेन्द्रिय रोग नहीं लगते।

हानियाँ—(1) थैली का अन्दर रखना तथा बाहर निकालना काफी कठिन होता है और इसमें वुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा योनि में चोट लग सकती है।

(2) सम्भोग काल में थैली अपने स्थान से हट सकती है।

(3) कुछ साँड इसमें वीर्य देना पसन्द नहीं करते।

(4) यदि थैली साफ न की गई तो वीर्य दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है।

(स) पैन विधि (Pan Method)—यह ढंग उन पशुओं पर लागू होता है, जो वीर्य अधिक निकालते हैं, जैसे घोड़ा और गधा। इसके अन्तर्गत पहले प्राकृतिक मैथुन कराते हैं और बाद में योनि से थोड़ा-बहुत वीर्य जो स्वतः नीचे टपका करता है, वाच ग्लास में ले लेते हैं। इसके अतिरिक्त मादा से उतरने के बाद साँड के लिंग से भी कुछ वीर्य टपकता है। इसको भी उपर्युक्त प्रकार या काँच के स्लाइड पर सूक्ष्मदर्शी परीक्षण हेतु लिया जा सकता है। **यह विधि बहुधा अप्रशिक्षित साँडों के वीर्य परीक्षण हेतु प्रयोग होती रही है।**

लाभ—(1) मैथुन प्राकृतिक होने के कारण नर-मादा को पूर्ण सन्तोष मिलता है।

(2) विधि काफी सरल एवं सस्ती है।

हानियाँ—(1) वीर्य पूर्ण मात्रा में न मिलकर थोड़ा-सा मिलता है।

(2) वीर्य में योनि स्राव मिलकर उसे दूषित कर देता है।

(3) इस प्रकार एकत्रित किया हुआ वीर्य अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता।

(द) योनि चूषण विधि (Vaginal Aspiration Method)—इस ढंग के अन्तर्गत प्रथम नर-मादा का प्राकृतिक मैथुन कराते हैं। तत्पश्चात् मादा की योनि में रबर कैथीटर डालकर हवा निकालने वाले पम्प या मुँह द्वारा वहाँ एकत्रित वीर्य को बाहर खींच कर, शीशी में भर लेते हैं। अधिकतर प्राचीन काल में घोड़ी एवं भेड़ से इस प्रकार वीर्य एकत्रित किया जाता था।

लाभ—(1) वीर्य पूर्ण मात्रा में निकल आता है।

(2) ढंग सरल एवं सस्ता है।

हानियाँ—(1) योनि में चोट लगने की सम्भावना अधिक है।

(2) कमजोर पशुओं के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है।

(3) योनि स्राव मिलकर वीर्य पतला एवं दूषित हो जाता है।

(य) प्रजनक थैली विधि (Breeder's Bag Method)—यह थैली आजकल मनुष्यों में सन्तानोत्पत्ति रोकने के लिये प्रयोग में आने वाली थैली (निरोध) से मिलती-जुलती है। यह रबर या लैटेक्स की बनी होती है, जिसमें एक ओर मुँह

खुला होता है। इस थैली को खूब साफ करके साँड के लिंग पर उत्तेजना आने पर चढ़ा देते हैं और इसका अग्र भाग तथा मादा की भग को वैसलीन लगाकर चिकना कर देते हैं। अब मादा पर साँड छोड़ते हैं। अतः वीर्य निकलकर स्वतः इस थैली में जमा हो जाता है। साँड के मादा से नीचे उतरते ही, इस थैली को उसके लिंग से उतार लेते हैं और इसमें निकला हुआ वीर्य परखनली में एकत्रित कर लेते हैं। यह विधि अधिकतर घोड़ों एवं गधों से वीर्य लेने के लिये प्रयुक्त होती रही है।

लाभ—(1) यह ढंग काफी साधारण एवं सस्ता है।

(2) पूर्ण वीर्य एकत्रित हो जाता है।

(3) वीर्य काफी शुद्ध होता है।

(4) नर मादा का मिलन एवं स्खलन लगभग स्वाभाविक सा होता है।

(5) जननेन्द्रिय रोग लगने की सम्भावना नहीं रहती।

हानियाँ—(1) कभी-कभी सम्भोग काल में थैली फट जाती है।

(2) थैली को लिंग पर चढ़ाने एवं उतारने में समय अधिक लगता है और यदि बुद्धिमता के साथ न चढ़ाई गई तो लिंग पर खरोच आ सकती है।

(3) थैली अपने स्थान से कभी-कभी हटकर सिकुड़ जाती है।

(4) यदा-कदा साँड इसमें वीर्य नहीं देते।

(र) योनि चम्मच विधि (Vaginal Spoon Method)—इस विधि में, सहवास के तुरन्त बाद एक बड़े हत्थे वाले जीवाणु रहित शुद्ध एवं साफ चम्मच की सहायता से योनि के धरातल से वीर्य निकालकर, उसे परख नली में इकट्ठा कर लेते हैं।

लाभ—(1) मिलन एवं स्खलन नितान्त स्वाभाविक है।

(2) ढंग बहुत ही साधारण एवं सस्ता है।

यह विधि छोटे लिंग वाले साँडों के लिये अधिक उपयुक्त है।

हानियाँ—(1) वीर्य योनिस्राव से मिलकर पतला पड़ जाता है।

(2) चम्मच यदि भली-भाँति शुद्ध न हुआ तो वीर्य दूषित हो सकता है।

(3) पूर्ण वीर्य एकत्रित नहीं हो पाता।

(4) मादा के लिये यह विधि कुछ अस्वाभाविक एवं कष्टदायक है।

(5) मादा को यदि कोई जननेन्द्रिय रोग है, तो यह अन्य पशुओं को भी लग सकता है।

(ल) मर्दन विधि (Massage Method)—इस ढंग का सर्वप्रथम मिलर तथा ईवांस नामक वैज्ञानिकों ने सन् 1949 में प्रयोग किया। इसके अन्तर्गत; साँड को अड़गड़े में नियन्त्रित करके, उसके लिंग आवरण का बाह्य द्वार पहले खूब साफ करते हैं। तत्पश्चात् बायें हाथ को साबुन से धोकर, उस पर द्रव पैराफिन या साबुन चिकना करने के लिये लगाते हैं। अब हाथ को मलाशय में डालकर आगे बढ़ाकर शुक्रवाहिनी कलशिका (Ampulla of the Vas Deferens) को तर्जनी तथा

मध्यमा की सहायता से खोज लेते हैं। इस कलशिका को तर्जनी या अंगुष्ठ के बीच दबाकर धीरे-धीरे मलते हैं। इसके फलस्वरूप नर जननेन्द्रिय में उत्तेजना आकर वीर्य स्वखलित होने लगता है, जो लिंग आवरण के बाह्य द्वार से काँच की कीप लगी हुई परखनली में इकट्ठा कर लिया जाता है। यह ढंग साँड एवं कुक्कटों से वीर्य लेने के लिये प्रयुक्त होता है।

कुक्कटों से वीर्य लेने के लिये गुदा स्थान के मर्दन द्वारा उन्हें उत्तेजित करके, बल्बस डक्ट (Bulbous Duct) में एकत्रित वीर्य को अंगूठा तथा उंगली से दबाकर किसी काँच के बर्तन या परखनली में उलट देते हैं।

लाभ—(1) मादा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(2) अच्छी नस्ल के साँड जो टांग टूट जाने या अन्य किसी कारणवश मादा पर नहीं चढ़ सकते, उनका भी इस विधि द्वारा प्रजनन के लिये प्रयोग हो सकता है।

(3) वीर्य के दूषित होने की सम्भावना कम रहती है।

(4) इस विधि द्वारा कामेच्छाविहीन साँडों से भी वीर्य लिया जा सकता है।

हानियाँ—(1) इस ढंग को जानने के लिये काफी बुद्धि एवं समय की आवश्यकता है।

(2) वीर्य थोड़ी मात्रा में निकलता है।

(3) शुक्राशय से स्राव निकलकर वीर्य को अधिक पतला कर देता है।

(4) वीर्य में कभी-कभी मूत्र भी मिल जाता है।

(5) यदि लिंग के बाह्य आवरण की सफाई का विशेष ध्यान न रखा गया, तो उस पर लगी गन्दगी से वीर्य दूषित हो जाता है।

विद्युत द्वारा उद्दीपन विधि (Electrical Stimulation Method)—यह ढंग बिल्कुल ही मर्दन ढंग से मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि हाथ के स्थान पर बिजली का करेंट प्रयोग होता है।

इसमें लगभग दो ऐम्पियर की शक्ति का एक छोटा सा ट्रांसफार्मर, एक वोल्ट मीटर, तथा दो इलेक्ट्रोड प्रयुक्त होते हैं। एक इलेक्ट्रोड गुदा मार्ग में तथा दूसरा चौथे कटि कशेरुका (Lumber Vertebra) के ऊपर रखकर 5 से 40 शक्ति का हल्का विद्युत करेंट प्रति 5 सेकेण्ड के अन्तर पर 4–5 बार पास करते हैं। ऐसा करने से शुक्राशय (Seminal Vesicle) तथा कलशिका (Ampulla) सिकुड़कर वीर्य निकलने लगता है, जिसे परखनली में इकट्ठा कर लिया जाता है। यह ढंग आस्ट्रेलिया के एक वैज्ञानिक गन ने सन् 1936 में सर्वप्रथम मेढ़ा साँड से वीर्य लेने के लिये अपनाया था।

मार्डन ने सन् 1945 में एक नया यन्त्र बनाया। इसमें प्लास्टिक के एक छोटे से सिलिण्डर में पीतल के चार इलेक्ट्रोड लगे होते हैं। इस सिलिण्डर को साँड के गुदा मार्ग (Rectum) में रखकर हल्का विद्युत करेंट पास करते हैं जिससे उत्तेजना पाकर साँड वीर्य दे देता है।

लाभ—इस विधि में वही लाभ हैं, जो ऊपर मर्दन ढंग में वर्णन किये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त यह विधि अधिक वैज्ञानिक है।

हानियाँ—(1) इस यन्त्र को चलाने के लिये काफी बुद्धि की आवश्यकता है, अतः प्रत्येक मनुष्य इसका प्रयोग आसानी से नहीं कर सकता।

(2) यन्त्र मूल्यवान होने के कारण इस विधि का प्रयोग मेढ़ा, बकरा आदि छोटे पशुओं में ही सम्भव है।

(3) विद्युत करेंट से पशु के पिछले पैरों की नसें कुछ समय के लिये अवसन्न पड़ जाती हैं, जिससे वह खड़े होने अथवा चलने में कष्ट महसूस करता है।

(4) यह विधि पूर्णतया अस्वाभाविक है।

(5) वीर्य में कभी-कभी मूत्र भी मिल जाता है।

(स) कृत्रिम आगमन विधि (Artificial Induction of Ejaculation)—यह ढंग कुत्तों से वीर्य लेने में काफी प्रयुक्त होता रहा है। कुत्ते को नियन्त्रित करके, उसका लिंग बाहर से ही हाथ द्वारा मलते हैं। अत. उत्तेजना पाकर उसमें से वीर्य निकलने लगता है, जिसे परखनली में इकट्ठा कर लेते हैं।

लाभ—(1) मादा की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(2) ढंग बहुत ही साधारण, सरल एवं सस्ता है।

(3) इस प्रकार संकलित वीर्य काफी शुद्ध होता है।

(4) वीर्य के दूषित होने की सम्भवना कम रहती है।

हानियाँ—(1) ढंग थोड़ा सा अस्वाभाविक है।

(2) बड़े पशुओं में उन्हें काबू में करने की असावधानी के कारण यह ढंग प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(प) नलिका विधि (Fistula Method)—इस विधि में धातु की बनी हुई अंग्रेजी अक्षर 'J' के आकार की एक नलिका पशु के गुदा स्थान के लगभग 20 सेमी० नीचे आसन मेहराव (Ischial Arch) में जीवाणुरहित चाकू से एक छिद्र बनाकर नर जननेन्द्रिय के मूत्र-मार्ग में प्रविष्ट की जाती है। अब प्राकृतिक रूप से नर-मादा का सहवास कराया जाता है। इस प्रकार वीर्य स्खलित होने पर स्वतः इस नलिका द्वारा नीचे टपकने लगता है, जो इच्छानुसार किसी भी स्वच्छ कांच के बर्तन में संचित कर लिया जाता है। यह विधि सर्वप्रथम एक वैज्ञानिक 'राउसन' ने घोड़ों से वीर्य लेने के लिये प्रयुक्त की थी।

लाभ—(1) इस विधि द्वारा संचित वीर्य बिल्कुल शुद्ध होता है।

(2) वीर्य सम्पूर्ण मात्रा में उपलब्ध होता है।

(3) उन अच्छे साँडों से भी वीर्य एकत्रित किया जा सकता है, जो कृत्रिम योनि में वीर्य नहीं देते।

हानियाँ—(1) इस विधि में ऑपरेशन करके उचित स्थान पर नलिका रखने

में विशेष बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, अतः प्रत्येक मनुष्य इसको नहीं कर सकता ।

(2) यदि नलिका या आपरेशन करने वाले यन्त्र स्वच्छ न हुए, तो वीर्य दूषित होने एवं पशु का घाव पक जाने का अन्देशा रहता है ।

(3) इस प्रकार आपरेशन करने पर पशु को थोड़ा कष्ट महसूस होता है ।

(न) **कृत्रिम योनि विधि (Artificial Vagina Method)**—अब तक खोज किये गये ढंगों में से यह ढंग सर्वश्रेष्ठ है, अतः आधुनिक युग में इसी ढंग से प्रायः सभी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर वीर्य एकत्रित किया जाता है । इसमें सब परिस्थितियाँ बिल्कुल ही प्राकृतिक योनि के अनुकूल हो जाती हैं, अतः साँड को यही अनुभव होता
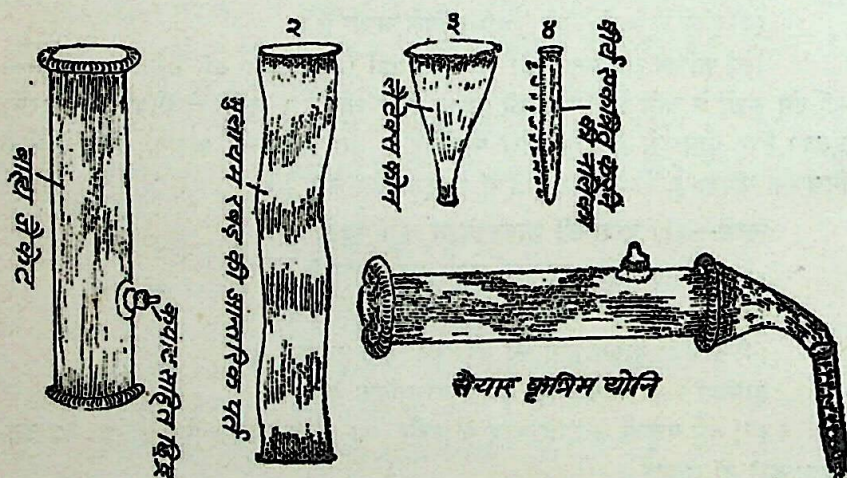
चित्र 13·1—कृत्रिम योनि के भाग
(Parts of the Artificial Vagina)

है कि वह प्राकृतिक ढंग से ही मैथुन कर रहा है । विभिन्न जाति के साँडों के लिये भिन्न माप की कृत्रिम योनि होती है, परन्तु सबका कार्य लगभग एक ही जैसा है । यहाँ पर गौ-पशुओं में प्रयुक्त होने वाली कृत्रिम योनि का उल्लेख किया जा रहा है ।

कृत्रिम योनि के भाग

साँडों में प्रयुक्त होने वाली कृत्रिम योनि के निम्नलिखित चार भाग होते हैं—

(1) वाह्य मोटी रबर का बना हुआ खोखला सिलिण्डर ।

(2) भीतरी लैटेक्स लाइनर ।

(3) लैटेक्स कोन ।

(4) वीर्य इकट्ठा करने वाली नली ।

वाह्य सिलिण्डर (Outer Thick Rubber Jacket)—मोटी रबर का बना हुआ 40 सेमी० लम्बा तथा 7 सेमी० भीतरी व्यास का खोखला सिलिण्डर होता

है। इसके दोनों किनारे शेष भाग से कुछ मोटे तथा ऊपर उठे हुये होते हैं। एक सिरे से लगभग 7–8 सेमी० की दूरी पर एक छिद्र होता है जो वाल्व तथा धातु के स्क्रू (Screw) से बन्द रहता है और आवश्यकता पड़ने पर खोला जा सकता है।

भीतरी लैटेक्स लाइनर (Inner Latex Liner)—एक पतली रबर का प्लास्टिक का बना हुआ लचीला खोखला सिलिण्डर है। इसकी लम्बाई बाह्य मोटे सिलिण्डर से लगभग 10–12 सेमी० अधिक तथा व्यास लगभग उतना ही होता है।

लैटेक्स कोन (Latex Cone)—एक बड़ी कीप की आकार का पतली रबर अथवा प्लास्टिक का बना होता है। इसका चौड़ा मुँह बाह्य सिलिण्डर के स्क्रू वाले सिरे पर चढ़ाया जाता है तथा पतले मुँह में वीर्य एकत्र करने वाली नली लगाई जाती है।

वीर्य एकत्र करने वाली नली (Semen Collecting Tube)—यह काँच अथवा प्लास्टिक की बनी हुई परखनली के आकार की होती है। इसमें 10 घ० से० तक की माप का पैमाना बना रहता है, जिससे कि इकट्ठा किया हुआ वीर्य तुरन्त नापा जा सकता है।

कृत्रिम योनि तैयार करना (Preparation of A. V.)

कृत्रिम योनि बनाने से पूर्व, उनके सभी भाग खूब साफ करके सुखा लिए जाते हैं, ताकि कोई गन्दगी वीर्य में पहुँच कर उसे दूषित न कर सके। अब भीतरी लैटेक्स लाइनर को बाह्य मोटे सिलिण्डर के अन्दर डालते हैं और उसके दोनों सिरे बाह्य सिलिण्डर के सिरों पर मोड़ देते हैं। ऐसा करने से बाह्य सिलिण्डर की भीतरी पर्त तथा लैटेक्स लाइनर की बाह्य सतह के मध्य पूरी लम्बाई में एक रिक्त स्थान बन जाता है। इसमें बाह्य सिलिण्डर में बने हुए स्क्रू द्वार से स्क्रू खोलकर 42° सेन्टीग्रेड का गर्म पानी भरते हैं, जब तक कि लैटेक्स लाइनर की चारों ओर की भीतरी दीवालें फूल कर एक दूसरे को न छूने लगें। इस प्रकार बनी पर्तें गर्म पानी के दबाव से प्राकृतिक योनि में बने मसीले भाग का कार्य करती हैं। छिद्र को अब स्क्रू से बन्द कर देते हैं। यदि पानी भरने से दबाव कम रह गया हो तो मुँह से इसी स्क्रू के सहारे इसमें थोड़ी सी हवा भरकर दबाव को पूरा कर लेते हैं। अब बाह्य सिलिण्डर के स्क्रू वाले सिरे पर लैटेक्स कोन चढ़ा देते हैं, जिसमें की वीर्य एकत्रित करने वाली नली पहले से ही लगा लेते हैं। तत्पश्चात् इस नली तथा कोन को सिलिण्डर के अन्दर की ओर घुसेड़ देते हैं, जिससे वीर्य लेते समय नली टूटने का भय न रहे। इस प्रकार तैयार की हुई कृत्रिम योनि के खुले मुख को एक स्वच्छ लम्बी काँच की छड़ में वैसलीन लगाकर चिकना कर देते हैं। अन्त में इसी मुख से थर्मामीटर प्रविष्ट करके कृत्रिम योनि का तापक्रम देखते हैं, जो वीर्य एकत्रित करने के समय 42° सेन्डीग्रेड होना चाहिये। यदि तापक्रम कम हो, तो और अधिक गर्म पानी भर देते हैं तथा यदि तापक्रम अधिक हो तो, कुछ देर के लिये उसे रख देते हैं, या ठण्डा पानी मिलाकर ठीक कर सकते हैं। इस प्रकार बनी हुई कृत्रिम योनि वीर्य एकत्रित करने के लिये बिल्कुल तैयार होती है।

वीर्य एकत्रित करना (Semen Collection)

वीर्य एकत्रित करने के लिए अड़गड़ा में खड़ी डमी (dummy) या मादा के पीछे जाकर, थोड़ा उसकी बाईं ओर खड़े होते हैं। उपर्युक्त प्रकार से तैयार की हुई कृत्रिम योनि को बायें हाथ में पृथ्वी के धरातल से 45 अंश का कोण बनाते हुए, कस
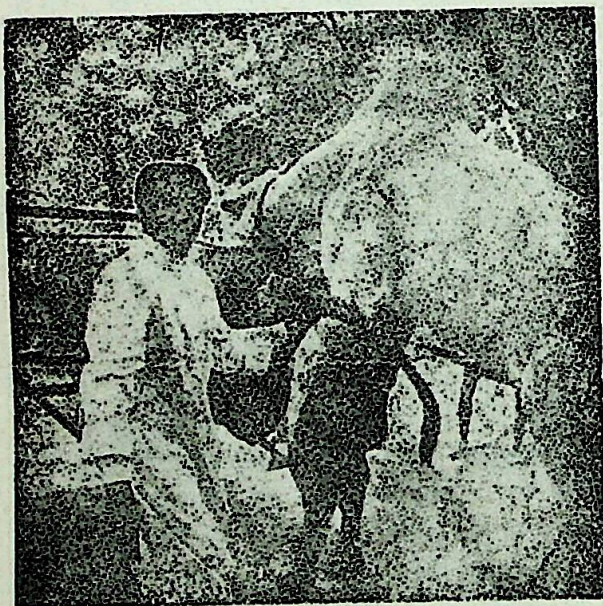
चित्र 13·2—कृत्रिम योनि में वीर्य इकट्ठा करना
(Collection of semen by A. V. methhd)

कर इस प्रकार पकड़ लेते हैं कि उसका खुला मुख साँड के लिंग की ओर रहे। अब साँड को मादा अथवा डमी पर छोड़ते हैं। जैसे ही साँड मादा अथवा डमी पर चढ़ता है, दाहिने हाथ से उसके मुतान (sheath) को पकड़कर लिंग को कृत्रिम योनि के मुख में प्रविष्ट कर देते हैं। साँड तुरन्त ही प्राकृतिक योनि समझकर इसमें वीर्य छोड़ देता है। उसके मादा के ऊपर से उतरते ही कृत्रिम योनि शीघ्र ही लिंग से अलग कर लेते हैं। अब लैटेक्स कोन वाले कृत्रिम योनि के सिरे को नीचा करके, वीर्य एकत्रित करने वाली नली को बाहर खींचकर, वाह्य सिलिण्डर का स्क्रू खोलकर पानी निकाल देते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वीर्य नीचे एकत्र करने वाली नली में पहुँच जाता है। इस नली को लैटेक्स कोन से अलग करके, परीक्षण हेतु प्रयोगशाला में लाया जाता है जहाँ इसे 30 से 35° सेन्टीग्रेड पर रखा जाता है तथा कृत्रिम योनि के सब भागों को साफ करके सुखा लेते हैं।

कृत्रिम योनि के गर्म पानी के सम्पर्क में एकत्रित किये हुए वीर्य को अधिक समय तक नहीं रखना चाहिये क्योंकि अधिक तापक्रम के कारण शुक्राणु कम समय तक जीवित रहते हैं। सूर्य का प्रकाश तथा परावैंगनी किरणें भी शुक्राणुओं पर ऐसा ही प्रभाव डालती हैं, अतः इनसे भी वीर्य को बचाना चाहिये।

लाभ—(1) इस विधि द्वारा इकट्ठा किया हुआ वीर्य नितान्त शुद्ध होता है।

(2) पूर्ण वीर्य की मात्रा एकत्रित की जा सकती है।

(3) मादा को हानि नहीं पहुँचती।

(4) मादा की योनि में लगने वाले जननेन्द्रिय रोगों का प्रसार नहीं हो पाता।

(5) साँड को डमी पर चढ़ाना सिखाने के बाद मादा की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

(6) वीर्य एकत्रित करने के लिये मादा का ऋतुमती होना भी अनिवार्य नहीं होता।

(7) शुक्रकीट अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं।

(8) वीर्य में योनि स्राव मिलकर उसे दूषित नहीं कर पाता।

हानियाँ—(1) इस विधि में प्रयोग होने वाला सामान काफी मूल्यवान होता है।

(2) इसे बनाने एवं वीर्य इकट्ठा करने के लिये प्रशिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, जिसे अलग से ट्रेनिंग देनी पड़ती है।

(3) यदि कृत्रिम योनि का तापमान या दबाव कम रहा तो साँड वीर्य नहीं देता।

(4) तापक्रम अधिक हो जाने पर नर-लिंग के जल जाने की सम्भावना रहती है।

परिच्छेद : 14

वीर्य परीक्षण एवं उसका मूल्यांकन

(EXAMINATION AND EVALUATION OF SEMEN)

वीर्य एकत्र करने के बाद, मादा जननेन्द्रिय में डालने से पूर्व यह परम आवश्यक है, कि उसका परीक्षण करके मूल्याँकन कर लिया जाये, जिससे यह ज्ञात हो सके कि उपलब्ध वीर्य गर्भ धारण करने के योग्य है अथवा नहीं। ऋतु, तापक्रम, पोषण, व्यक्तित्व, नर का स्वास्थ्य, स्वभाव, बीमारी, वैक्टीरिया, आयु, परिवहन (transportation) तथा वंशानुक्रमण (inheritance), आदि कारक वीर्य की ,मात्रा और गुण (quantity and quality) पर प्रभाव डालते हैं। वीर्य का मूल्याँकन, उसकी गर्भ धारण कराने की शक्ति पर ही निर्भर होता है, अतः इस विषय में निम्न लिखित दो बातों पर ध्यान देना अनिवार्य है—

(1) वीर्य में किस संख्या में शुक्राणु (sperms) उपस्थित है।

(2) शुक्राणुओं की मादा जननेन्द्रिय में जीवित रहने एवं अण्डाणु (ovum) से मिलकर गर्भ धारण कराने की क्षमता क्या है ?

वीर्य परीक्षण के निम्नलिखित ढंग प्रचलित हैं—

1. खाली आँख परीक्षण (Naked eye Examination),
2. सूक्ष्मदर्शी परीक्षण (Microscopic Examination),
3. रासायनिक परीक्षण (Chemical Examination),
4. जीवाणु परीक्षण (Bacteriological Examination),
5. सीरम मूलक परीक्षण (Serological Examination)

खाली आँख परीक्षण
(Naked Eye Examination)

इस परीक्षण में वीर्य पर केवल दृष्टिपात द्वारा उसका रंग, आयतन, बदलीपन तथा गाढ़ापन देखते हैं। वीर्य दो पदार्थों से मिलकर बनता है, एक तो शुक्राणु और दूसरा शुक्र रस। प्रत्येक पशु के वीर्य में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होती है, जिसके द्वारा उसकी अच्छाई अथवा बुराई का पता लग जाता है। अतः यहाँ कुछ पशुओं के वीर्य की विशेषता एवं गुणों का उल्लेख किया जा रहा है।

साँड का वीर्य—यह अपारदर्शक, एक समान, क्रीम के रंग जैसा सफेद तरल पदार्थ होता है। अच्छे ताजे वीर्य को आँख से देखने पर उसमें समुद्र की भाँति लहरें

उठती दिखाई पड़ती हैं। औसतन एक बार में साँड 5 मिलिलिटर वीर्य देता है और उसकी पी० एच० (pH) 6·7 होती है।

मेंढा का वीर्य—यह साँड के वीर्य से गाढ़ा तथा अधिक अपारदर्शक होता है। इसका रंग क्रीम जैसा होता है। एक बार में मेंढा 0·5 से 1·55 मिलिलिटर वीर्य देता है। इसकी पी० एच० 7·0 होती है, तथा ताजे वीर्य में नंगी आँख से देखने पर उठती हुई लहरें देखी जा सकती हैं।

सुअर का वीर्य—सुअर एक बार में 200 से 250 मिलिलिटर तक वीर्य देता है, जिसका रंग भूरापन लिये हुये सफेद होता है। इसकी पी० एच० 6·8 से 7·2 तक होती है। सुअर के वीर्य में लहरें उठती नहीं दिखाई देतीं।

घोड़े का वीर्य—घोड़ा एक बार में 50–150 मिलिलिटर वीर्य देता है। इसका रंग भूरापन लिये हुए सफेद होता है। इसमें लहरें नहीं उठतीं। घोड़े के वीर्य की पी० एच० 7 से 7·8 तक होती है।

इस प्रकार वीर्य की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए केवल नंगी आँख से रंग, आयतन तथा वीर्य का गाढ़ापन आदि देखकर उसके अच्छे-बुरे होने का अनुमान हो जाता है। वीर्य का रंग यदि पीला हो तो समझना चाहिये कि उसमें मूत्र मिला है, लाल हो तो रक्त मिश्रित, हरापन लिये हो तो पीव मिश्रित और यदि बादामी हो तो टूटे-फूटे रक्त या तन्तुओं (tissues) के कण मिले समझना चाहिये। इन वस्तुओं के मिश्रित होने पर, वीर्य का आयतन एवं गाढ़ापन भी बदल जाता है। परीक्षा के लिये वीर्य युक्त परखनली को बायें हाथ में पकड़ कर आँख से समतल लाकर देखना चाहिये।

सारणी 14·1—विभिन्न पशुओं के वीर्य की तुलना

पशु की जाति	आयतन प्रति स्खलन (घ० सें०) (Volume Per (Ejucalate	शुक्राणु सांद्रता (Sperm Concentration) प्रति घ० मि०	पी-एच० (pH)
गौ-सांड	3—5	800,000	6·5—7·5
घोड़ा	75—125	60,000	7·0—7·8
सुअर	200—250	100,000	6·8—7·2
मेंढा	0·8—1	1000,000	6·2—7·0
मुर्गा	0·2—2	—	7·3—7·8
खरगोश	0·7	700,000	6·8—7·5
कुत्ता	7·0	—	—
बकरा	0·7	700,000	6·2—6·8

सूक्ष्मदर्शी परीक्षण
(Microscopic Examination)

वीर्य परीक्षण एवं उसके मूल्यांकन की यह सर्वोत्तम विधि है और इससे निम्न प्रकार वीर्य का मूल्यांकन किया जाता है—

(अ) शुक्राणुओं की कुल संख्या ज्ञात करना (Total Count of Sperms)– इस परीक्षा में एक विशेष यन्त्र, रुधिर कोशिका गणनी (Haemocytometer) की आवश्यकता पड़ती है। स्वच्छ, लाल रक्त कण पिपेट में 0·5 निशान तक वीर्य खींच
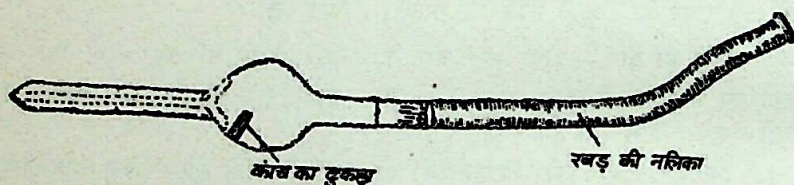
चित्र 14·1—लाल रक्त कण पिपेट (R. B. C. Pipette)

कर, साथ ही पतला करने वाला द्रव 101 निशान तक खींच लेते हैं। अब पिपेट को धीरे-धीरे दोनों हथेलियों के मध्य रखकर घुमाते हैं, जिससे कि उसमें उपस्थित वस्तुयें भली प्रकार मिलकर एक हो जायें। पतला करने वाला द्रव हल्का इयोसिन घोल होता है, जिसमें 2 घ० सें० 2% इयोसिन घोल, 50 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर और एक 1 घ० सें० सोडियम क्लोराइड का संयुक्त घोल मिला होता है। अब पहले कुछ बूंद पिपेट से निकाल कर फेंक देते हैं। तत्पश्चात् पतले किये हुये वीर्य का एक बूंद रुधिर कोशिका गणनी स्लाइड पर रखे हुए एक कवर ग्लास के अन्दर एक किनारे से फैलाकर सूक्ष्मदर्शी (Microscope) के उच्च शक्ति वाले लक्षक काँच (High Power Objective) से देखते हैं और चौखुंटे बीच वाले खाने के पाँच बड़े वर्गों या 80 छोटे खानों में शुक्राणुओं की संख्या गिन लेते हैं। अब असली बिना पतले किये हुये वीर्य में शुक्राणुओं की संख्या ज्ञात करने के लिये इस प्रकार पाई गई संख्या को, मन्दकारी कारक (Diluting Factor) से गुणा कर देते हैं। इस प्रकार हमें शुक्राणुओं की प्रति घ० सें० पूर्ण संख्या ज्ञात
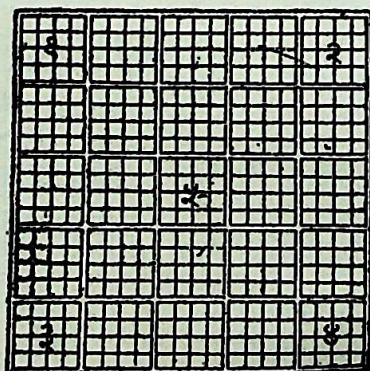
चित्र 14·2—माइक्रोस्कोप में रुधिर कोशिका गणनी स्लाइड के वर्ग (Central Chamber of the Haemocytometer Slide under Microscope)

हो जाती है। यदि यह संख्या औसत संख्या से कम हो तो ऐसा वीर्य प्रजनन के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अवकलन गणना (Differential Count)—इस विधि के अन्तर्गत वीर्य में जीवित एवं मृत शुक्राणुओं की प्रतिशत ज्ञात की जाती है। इस निरीक्षण में निग्रोसीन इयोसीन अभिरंजक (Negrosine-eosine Stain) के आठ बूंद तथा 1 बूंद वीर्य एक छोटी परखनली में लेकर, उसे भली-भाँति मिलाकर 5 मिनट के लिये 30 डिग्री सेन्टीग्रेड के ऊष्मक जलपात (Water Bath) पर रखते हैं। इस मिश्रण से एक स्वच्छ काँच से स्लाइड पर पतला लेप बनाकर, सूखने के वाद, सूक्ष्मदर्शी के उच्च शक्ति वाले लक्षक काँच (High Power Objective) में देखकर मृतक एवं कुल शुक्राणुओं की संख्या की गणना करके मृत शुक्राणुओं की प्रतिशत निकाल लेते हैं। मरे हुए शुक्राणु इयोसीन अभिरंजक (Eosine Stain) लेकर रंगीन तथा जीवित शुक्राणु कोई भी रंग न लेकर श्वेत दिखाई पड़ते हैं।

$$\text{शुक्राणुओं की जीवित प्रतिशत} = \frac{\text{गणना किये हुए जीवित शुक्राणु}}{\text{गणना किये हुए कुल शुक्राणु}} \times 100$$

(स) असामान्यताओं की गणना (Abnormalities Count)—इसमें वीर्य का कांच के स्लाइड पर पतला लेप वनाकर रोज बंगाल या जैनशन वायोलेट (Rose Bengal or Gention Violet) से अभिरंजन (Staining) करके तथा सुखाकर सूक्ष्मदर्शी के उच्च शक्ति वाले लक्षक काँच में शुक्राणुओं की वनावट देखते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार असामान्य (abnormal) एवं कुल शुक्राणुओं की संख्या ज्ञात करके असामान्यता की प्रतिशत निकाल लेते हैं। बहुधा कुल संख्या में 333 शुक्राणुओं की गणना की जाती है। इस प्रकार गणना किये हुए कुल असामान्य की प्रतिशत निकल आती है। इस परीक्षण में निम्न प्रकार की असामान्यतायें देखने को मिल सकती हैं—

(1) शुक्राणुओं का सिरा छोटा, वड़ा, सिकुड़ा टूटा, शुण्डाकार, नाशपाती जैसा अथवा दो सिर होना।

(2) गर्दन का भाग टूटा या निर्वल होना।

(3) मध्य भाग का छोटा, झुका दानेदार, लम्वा, सूत्राकार अथवा टूटा होना।

(4) पुँछ टूटी, कुण्डलाकार (coiled), झुकी अथवा दो होना।

(5) शुक्राणु के किसी भी भाग का लापता होना, जैसे बगैर सिरे या बिना पूँछ का शुक्राणु।

अच्छे प्रजनक सांडों के वीर्य में शुक्राणुओं की असामान्यता 17 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(द) गति निरीक्षण (Motility Examination)—वीर्य को मादा की योनि में डालने से पूर्व, शुक्राणुओं की गति ज्ञात करना बहुत आवश्यक है। इससे हमें पता
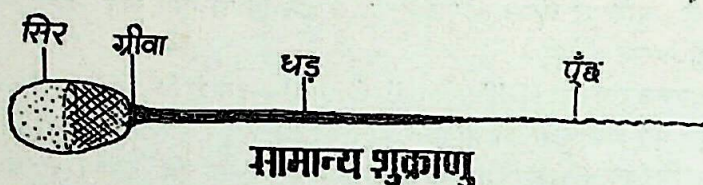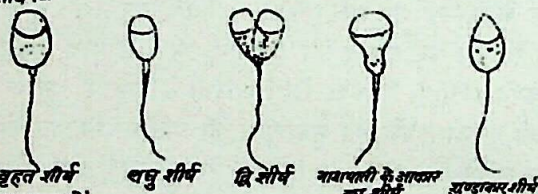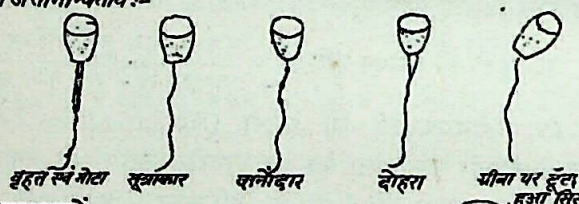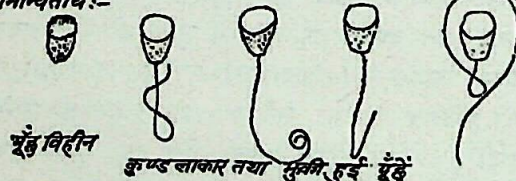
चित्र 14·3—शुक्राणुओं की असमान्यतायें
(Sperm Abnormalities)

लग जाता है कि शुक्राणु मादा जननेन्द्रिय में प्रवेश पाकर अण्डाणु (Ovum) से मिलने के लिये आगे चल सकते हैं अथवा नहीं। अतः इस परीक्षा से उनकी गर्भ धारण करने की शक्ति का अनुमान हो जाता है। आजकल प्रायः सभी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर यह जाँच सरल एवं शीघ्र होने के कारण, एकत्रित वीर्य को योनि में डालने से पूर्व परीक्षा करने के लिये अपनाई जाती है।

परीक्षण हेतु एक बूंद वीर्य को काँच के स्वच्छ स्लाइड पर रखकर माइक्रोस्कोप के नीचे शक्ति वाले लक्षण काँच (Low power Objective) में शुक्राणुओं की गति देखते हैं। साँड के अच्छे ताजे वीर्य में समुद्र के पानी की सी लहरें उठती हुई दिखाई पड़ती हैं। इस परीक्षण से हमें जीवित एवं मृत शुक्राणुओं की संख्या का भी कुछ अनुमान हो जाता है। मृत शुक्राणु बिल्कुल ही चलते नहीं दिखाई पड़ते हैं। शुक्र-कीटों की गति तीन प्रकार की होती है—

(1) घूर्णन गति (Rotatory Motion)– इसमें शुक्राणु एक वृत्त की परिधि के साथ चलते दिखाई देते हैं, जिसका व्यास शुक्राणु की लम्बाई के बराबर होता है।

(2) प्रगामी गति (Progressive Motion)—इसमें शुक्राणु एक लाइन में आगे बढ़ते मालूम पड़ते हैं।

(3) दोलन गति (Oscillatory Motion)—इसमें शुक्राणु एक ही स्थान पर हिलते हुए से दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार, **स्वासन** तथा **हरमैन** के अनुसार शुक्राणु की गति को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—
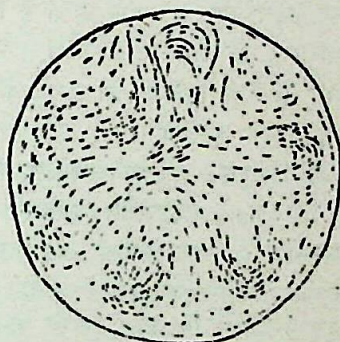
चित्र—14·4
सूक्ष्मदर्शी में वीर्य की लहरें (Semen Waves Under Microscope)

+ + + + +	जब 80 प्रतिशत या अधिक शुक्राणु तेजी से चलते दिखाई दें।
+ + + +	जब 60-80 प्रतिशत शुक्राणु तेजी से चलते दिखाई दें।
+ + +	जब 40-60 प्रतिशत शुक्राणु तेजी से चलते दिखाई दें।
+ +	जब 20-40 प्रतिशत शुक्राणु तेजी से चलते दिखाई दें।
+	जब 20 प्रतिशत या कम शुक्राणु तेजी से चलते दिखाई दें।
0	जब एक भी शुक्राणु चलता दिखाई न पड़े।

कृत्रिम गर्भाधान के लिये + + + या अधिक गति वाला वीर्य ही प्रयोग करना चाहिये।

रासायनिक परीक्षण
(Chemical Examination)

इस परीक्षण में वीर्य की उपापचयक क्रिया (Metabolic Activity) नापी जाती है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित परीक्षायें की जाती हैं।

(1) मेथिलीन ब्ल्यू अवकरण परीक्षण
(Methylene Blue Reduction Test)

इसको M. B. R. परीक्षण भी कहते हैं। यह परीक्षा मेथिलीन ब्ल्यू के नीले रंग को वीर्य कितने समय में घटाता है, इस पर आधारित है। इसमें हमें शुक्राणुओं की संख्या एवं शक्ति का बोध होता है। परीक्षण हेतु 0·2 घ० सें० वीर्य 0·8 घ० सें० अण्डपीत साइट्रेट तनुकारक (Egg Yolk Citrate Dilutor) एवं 0·1 घ० सें० ताजा तैयार किया हुआ मेथिलीन ब्ल्यू घोल (50 मिलीग्राम मेथिलीन ब्ल्यू +100 घ० सें० 3·6 प्रतिशत सोडियम साइट्रेट तनुकारक) एक परखनली में मिलाकर ऊष्मक (Water Bath) पर 38 डिग्री सें० ग्रे० पर रख देते हैं। अब इसमें नीला

रंग उड़ने का समय नोट करते हैं। यदि 3·5 मिनट से 6 मिनट में नीला रंग उड़ जाता है, तो वीर्य अच्छा है, 6 से 7 मिनट लगें तो सन्देहयुक्त तथा 9 मिनट या अधिक लगें तो वीर्य निश्चित ही खराब है और इसे कभी भी कृत्रिम गर्भाधान के लिये प्रयुक्त नहीं करना चाहिये।

(2) पी-एच० (हाइड्रोजन आयन सांद्रण) परीक्षण

(अ) नाइट्राजीन परीक्षण पत्र द्वारा (Nitrazine Test Paper)—वीर्य अम्लीय है अथवा क्षारीय; यह देखने के लिये पतले किये हुए वीर्य की एक बूंद लेकर नाइट्राजीन पत्र पर एक-सा फैलाते हैं। इस प्रकार आये हुये रंग को मानक रंग के दिये हुए पैमाने से मिलाकर उसकी पी-एच० (pH) नोट करते हैं।

(ब) लिटमस कागज द्वारा—इस विधि में लिटमस कागज पर वीर्य की एक बूंद डालने से उसके अम्लीय अथवा क्षारीय होने का पता लग जाता है।

(स) बी० डी० एच० केशिका वर्णमापी (B. D. H. Capillator) द्वारा—इस विधि में काँच की दो केशिका नलिकायें (Capillary Tubes) लेकर, उनमें बराबर की दूरी पर लेखनी से निशान लगा लेते हैं। अब एक नलिका में बनाये हुए निशान तक वीर्य खींचकर तुरन्त वाचग्लास में छोड़ते हैं। दूसरी नलिका में निशान तक मिथायल रेड भरकर इसी वाचग्लास में डालकर खूब मिलाते हैं। इस मिश्रण को पुनः इसी नलिका में भरकर, मिथायल रेड के केशिका वर्णमापी (Capillator) से तुलना करते हैं। जहाँ पर दोनों रंग एक से दिखाई पड़ें, वही वीर्य की पी-एच० होती है। कोशिका वर्णमापी में ब्रोमोथाइमोल ब्ल्यू (पी-एच० 6·0 से 7·6) फीनोल रेड (पी-एच० 6·8 से 8·4) तथा मिथायल रेड (पी-एच० 4·4 के 6·0) के विभिन्न रंग के घोल होते हैं। यदि इस प्रकार एक वार में रंग न मिले तो यही क्रिया दूसरे रंग के घोल से दोहराते हैं।

(3) ब्रोमोथाइमोल नील कैटलेज परीक्षण

(Bromothymol Blue Catalase Test)

इसे B. B. C. परीक्षण भी कहते हैं। कैटलेज, हाइड्रोजन-परऑक्साइड को तोड़ने वाला एक एन्जाइम है। अच्छे वीर्य में बहुत थोड़ी मात्रा में कैटलेज होता है, अतः वह शुद्ध एवं स्वच्छ दिखाई देता है। यदि वीर्य में कैटलेज अधिक हो, तो उसमें पीव कोषाणु, रक्त कोषाणु तथा बैक्टीरिया आदि मिले होना समझना चाहिये। यदि कैटलेज की वीर्य में संख्या 300 से कम है, तो उसे अच्छा; यदि 300 से 400 के मध्य, तो संदेहयुक्त; और यदि 400 से ऊपर है, तो खराब समझना चाहिये।

जीवाणु परीक्षण

(Bacteriological Examination)

यदि उपर्युक्त परीक्षण किये हुए वीर्य में थोड़ी-सी भी जीवाणु उपस्थिति की सम्भावना हो तो तुरन्त ही उसका जीवाणु परीक्षण करना चाहिये। यह ज्ञात करने

के लिये कि वीर्य में किस प्रकार के जीवाणु उपस्थित हैं, प्लेट गणना (Plate Count) अथवा अवकलन-गणना (Differential Count) करनी चाहिये।

सीरम मूलक परीक्षण
(Serological Examination)

बेन-डिक्सन और ब्लोम के अनुसार वीर्य में ब्रुसेल्सा ऐग्लूटिनिन (Brucella Agglutinin) का पता लगाने के लिये उसका ऐग्लूटिनेशन परीक्षण (Agglutination Test) करना चाहिये। इसकी विधि लगभग वही है, जो सीरम के लिये प्रयोग होती है। अन्तर केवल इतना है कि अपकेन्द्रण (Centrifugalisation) के पूर्व शुक्राणुओं को सोडियम एजाइड (Sodium Azide) के एक प्रतिशत घोल से मार दिया जाता है। यदि परीक्षण धनात्मक हो, तो साँड की जननेन्द्रिय में कहीं पर इस छूत का कीटाणु उपस्थित होना समझना चाहिये।

इस प्रकार वीर्य के परीक्षण एवं सही मूल्यांकन करने के उपरान्त ही अच्छे वीर्य को कृत्रिम गर्भाधान हेतु प्रयुक्त करना चाहिये। कृत्रिम गर्भाधान की सफलता इस पर निर्भर है।

परिच्छेद : 15

वीर्य-तनुकारक

(SEMEN-DILUTORS OR SEMEN EXTENDORS)

वीर्य तनुकारक वे पदार्थ हैं जो एकत्रित किए गए वीर्य की जनन क्षमता के ह्रास हुए बिना उसका आयतन तथा अधिक समय तक सुरक्षित रहने की शक्ति बढ़ाते हैं।

"Semen dilutors or semen extendors are those substances which are used for increasing the volume aud keeping quality of collected semen without loss of its fertility."

यह पदार्थ मुख्य रूप से वीर्य का आयतन बढ़ाने के लिये ही उसमें मिलाये जाते हैं, जिससे कम से कम वीर्य से अधिक से अधिक मादायें गर्भित की जा सके। इन्हें मिलाने से वीर्य की गर्भधारण कराने की शक्ति कम नहीं होती। एक अच्छे तनुकारक में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं—

(1) यह शुक्राणुओं के लिये हानिकारक न हो।

(2) यह शीघ्र एवं सरलता से तैयार किया जा सके।

(3) काफी समय तक रखने पर खराब न हो।

(4) शुक्राणुओं के लिये शक्तिदायक हो।

(5) शुक्राणुओं की गति के लिये अनुकूल पी० एच० प्रदान कर सके।

(6) इसका तापक्रम वीर्य के तापक्रम के समान हो।

(7) इसका परिसारक दाव (Osmotic Pressure) वीर्य के परिसारक दाब के समान हो।

(8) इसमें शुक्राणुओं को अधिक ताप तथा ठण्ड से बचने की शक्ति हो।

(9) यह काफी सस्ता होना चाहिये।

(10) इसमें शुक्राणुओं की गर्भधारण कराने की शक्ति सुरक्षित रखने की क्षमता होनी चाहिये।

(11) आसानी से बाजार में उपलब्ध हो सके।

मुख्य रूप से वीर्य को पतला करने के लिये निम्नलिखित तनुंकारक प्रयुक्त होते रहे है—

(1) अण्डपीत फॉस्फेट (Egg Yolk Phosphate)

(2) अण्डपीत साइट्रेट (Egg Yolk Citrate)

(3) अण्डपीत ग्लाइसीन (Egg Yolk Glycine)

(4) दूध तनुकारक (Milk Dilutor)

अण्डपीत फॉस्फेट (E.Y.P.)—फिलिप्स और लार्डी (Phillips & Lardy) ने सर्वप्रथम सन् 1940 में साँड के वीर्य में अण्डे की जर्दी तथा फॉस्फेट घोल मिलाकर, उसे पतला करके कृत्रिम गर्भधान के लिए प्रयोग किया और उन्हें इस कार्य में काफी सफलता भी मिली। वैज्ञानिक विधि पर आधारित कृत्रिम गर्भाधान जगत में यह पतला वीर्य तनुकारक था। इसी के आधार पर अन्य तनुकारकों का विकास हुआ। इसमें निम्नलिखित वस्तुयें होती हैं—

अ— डाइसोडियम हाइड्रोजन फॉस्फेट→2·0 ग्राम

पोटेशियम डाइहाइड्रोजन फॉस्फेट→0·2 ग्राम

डिस्टिल्ड वाटर→100 घ० सेंमी०

ब— ताजा अण्डपीत (Egg Yolk)→बराबर भाग

इसे तैयार करने के लिए स्वस्थ मुर्गी के ताजे अण्डे को पहले पानी, फिर एल्कोहल तथा ईथर से धोकर जीवाणु रहित करते हैं। इसके बाद अण्डे को फोड़कर उसकी जर्दी एक स्वच्छ एवं शुद्ध फिल्टर कागज पर उलट देते हैं और उस पर लगी झिल्ली को जीवाणु रहित चिमटी से तोड़ देते हैं। अब इस अण्डपीत (Egg Yolk) को एक साफ, शुद्ध नपने गिलास में धीरे-धीरे उलट लेते हैं। फॉस्फेट का घोल बनाने के लिए उपर्युक्त मात्रा में डाइसोडियम हाइड्रोजन फॉस्फेट तथा पोटेशियम डाइहाइड्रोजन फॉस्फेट को 100 घ० सें० जीवाणु रहित टपकाये हुए उबले पानी में घोलते हैं। तत्पश्चात् अण्डपीत तथा फॉस्फेट घोल को समान तापक्रम पर लाने के हेतु एक ऊष्मक जलपात (hot water bath) पर रख देते हैं। अब जितना अण्डपीत होता है उसी के बराबर मात्रा में इस प्रकार तैयार किया हुआ फॉस्फेट घोल मिला देते हैं। यह हमारा अण्डपीत फॉस्फेट तनुकारक तैयार हो गया। अब जिस अनुपात में वीर्य को पतला करना होता है, उसी के अनुसार यह तैयार किया हुआ घोल उसमें मिला देते हैं। **अण्डपीत का मुख्य कार्य शुक्राणुओं को ताप आघात तथा प्रतिकूल वातावरण से बचाना है।** इस तनुकारक में 5° सेन्टीग्रेड पर रखे हुए गो-साँड के वीर्य को 72–96 घण्टे तक तथा भैंसा साँड के वीर्य को 2 दिन तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

इस घोल में संबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसके अपारदर्शक (opaque) होने के कारण सूक्ष्मदर्शी परीक्षण (microscopical examination) कठिनता से हो पाता है।

अण्डपीत साइट्रेट (E.Y.C.)—सन् 1942 में **सैलिसबरी, विलेट और फुलर (Salisbury, Willet & Fuller)** ने कारनेल विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम सोडियम साइट्रेट के घोल को अण्डपीत के साथ बराबर भागों में मिलाकर इसका प्रयोग किया। साइट्रेट का घोल तैयार करने के लिए उन्होंने 3·6 ग्राम सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट

को प्रति 100 घ० सें० ग्लास टिस्टिल्ड वाटर में मिलाया। इस प्रकार तैयार किया हुआ तनुकारक मनचाहे अनुपात में वीर्य को पतला करने के लिये मिलाया जाता रहा।

बाद में इस ढंग का और भी अधिक विकास हुआ तथा आजकल 2·9 ग्राम सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट को प्रति 100 घ० सें० टपकाये हुए पानी में सिलाकर साइट्रेट घोल तैयार किया जाता है। तत्पश्चात् इसको तथा एकत्रित किये अण्ड-पीत को एक ऊष्मक जलपात (hot water bath) पर कुछ देर के लिए रख देते हैं ताकि दोनों का तापक्रम समान हो जाये। अब अण्डपीत की ज्ञात की हुई मात्रा को एक परखनली में भरकर इसी के बराबर मात्रा में साइट्रेट घोल लेकर मिला देते हैं। समरूप देने के लिए मिश्रण को थोड़ा हिला लेते हैं। इसके अतिरिक्त, अब चार भाग साइट्रेट के घोल को एक भाग अण्डपीत (egg yolk) में मिलाया जाता है। 4°—7° सेन्टीग्रेड पर रखे इस तनुकारक में 72—96 घण्टे तक शुक्राणु जीवित एवं गतिमान रहते हैं।

यह तनुकारक, फॉस्फेट तनुकारक से अधिक अच्छा है क्योंकि अण्डपीत के स्नेह कणकों (fat globules) को भली-भाँति तितर-बितर करके शुक्राणुओं को माइक्रोस्कोप के अन्दर अधिक साफ प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त इसे बहुत सुगमतापूर्वक तैयार भी किया जा सकता है, क्योंकि इसमें केवल एक ही रसायन तौलना पड़ता है। इसी कारण यह ढंग वीर्य को पतला करने के लिए आजकल प्रायः सभी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर प्रयोग हो रहा है।

अण्डपीत ग्लाइसीन (E.Y.G.)—सन् 1954 में राय और बिशप ने इसे निम्न प्रकार तैयार किया—

अ—	ग्लाइसीन	... ...→4 ग्राम
	डिस्टिल्ड वाटर	... ...→100 घ० सें०
ब—	अण्डपीत (egg yolk)	... ...→बराबर भाग

यह तनुकारक भैंसा साँड के वीर्य को संरक्षित करने हेतु अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका।

अण्डपीत सोडियम साइट्रेट एवं ग्लाइसीन मिश्रण (Egg Yolk Sodium Citrate and Glycine Mixture)—भारत में सारा तथा सिंह ने 1958 में इसे निम्न प्रकार बनाया—

अ—	सोडियम साइट्रेट	... ...→1·8 ग्राम
	ग्लाइसीन	... ...→2·0 ग्राम
	डिस्टिल्ड वाटर	... ...→100 घ० सें०
ब—	अण्डपीत (egg yolk)	... ...→बराबर भाग

सोडा बाईकार्ब एवं ग्लूकोज तनुकारक (Soda Bicarb and Glucose Dilutor)—**कैम्पस्मिट** तथा उनके साथियों ने सन् 1951 में यह तनुकारक निम्न प्रकार तैयार किया—

सोडा बाइकार्ब 1·3 प्रतिशत घोल	...	...	→1 भाग
ग्लूकोज 5·0 प्रतिशत घोल	...	...	→4 भाग
अण्डपीत (egg yolk)	...	...	→1 भाग

इस तनुकारक में साँड के वीर्य को 4 दिन तक सुरक्षित एवं प्रजनन के योग्य रखा जा सकता है। श्रीवास्तवा और प्रभू ने 1956 तथा गोखले ने 1958 में अपने प्रयोगात्मक अनुभव के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि यह तनुकारक भैंसा साँड के वीर्य को संरक्षित रखने हेतु, अण्डपीत साइट्रेट तनुकारक से अधिक अच्छा है।

इसी प्रकार सन् 1956 में सिंह तथा तोमर ने भैंसा साँड का वीर्य संरक्षित करने के लिये D_2 नामक बाइकार्बोनेटयुक्त एक तनुकारक तैयार किया।

D_2 तनुकारक

सोडियम बाइकार्बोनेट	1·3% घोल	10 भाग
ग्लूकोज एनहाइड्रस	5% घोल	40 भाग
फ्रक्टोज	5% घोल	25 भाग
अण्डपीत (egg yolk)		25 भाग

अधिक मात्रा में इसका घोल (Stock Solution) निम्न प्रकार बनाया जाता है।

सोडियम बाइकार्बोनेट	1·733 ग्राम
ग्लूकोज एनहाइड्रस	26·666 ग्राम
फ्रक्टोज	16·666 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	1 लिटर तक

इस घोल में से 75 मिलि॰ लेकर उसमें 25 मिलि॰ अण्डपीत मिलाकर यह तनुकारक तैयार किया जाता है। इस प्रकार तैयार किये 100 मिलि॰ घोल में 1 लाख यूनिट पैनसिलीन जी—सोडियम तथा 100 मिलि ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टो-माइसीन मिलाकर वीर्य को इच्छानुसार पतला किया जाता है। D_2 तनुकारक गाय तथा भैंस दोनों के लिए उपयोगी है।

D_5 तनुकारक

1961 में तोमर तथा देसाई ने निम्न प्रकार एक अन्य तनुकारक तैयार किया जिसे उन्होंने C_2 से भी अधिक उपयोगी पाया—

पोटेशियम बाइकार्बोनेट	0·2% घोल	10 भाग
सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट	3% घोल	30 भाग
ग्लूकोज एनहाइड्रस	5% घोल	30 भाग

फ्रक्टोज	5%	10 भाग
अण्डपीत		20 भाग

बफर घोल तैयार करने के लिए 0·25 ग्राम पोटेशियम बाइकार्बोनेट, 11·222 ग्राम सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट, 17·75 ग्राम ग्लूकोज तथा 5·125 ग्राम फ्रक्टोज तोलकर इतने डिस्टिल्ड वाटर में मिलाया जाता है कि कुल तैयार घोल 1 लिटर हो जाये। इसमें से 80 मिलि लिटर लेकर उसमें 20 मिलि लिटर अण्डपीत मिलाया जाता है। वीर्य को पतला करने से पूर्व ऐसे 100 मिलि लिटर घोल में 1 लाख यूनिट पैनिसिलीन जी सोडियम तथा 100 मिली ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टो-माइसीन मिलाना आवश्यक होता है।

दुग्ध तनुकारक (Milk Dilutor)—सन् 1956 में थेकर और ऐलमकुइस्ट ने अपने क्रियात्मक अनुभवों के बाद यह पता लगाया कि समांगीकृत दूध (Homogenized Milk) या पास्चुरीकृत सपरेटा (Pasteurized Skimmed Milk) साँड के वीर्य को पतला करने के लिये भली-भाँति प्रयोग हो सकता है।

सपरेटा को 20 से 30 मिनट तक 90 से 95 डिग्री सेन्टीग्रेड तक ऊष्मक जलपान (hot water bath) पर गर्म करते हैं। तत्पश्चात् ठण्डा करके इसे वीर्य को पतला करने के लिये मिलाते हैं।

बाद में यह ज्ञात हुआ कि दूध में 10 प्रतिशत अण्डपीत तथा 5 प्रतिशत ग्लिसरोल मिलाकर उसे और भी अच्छा तनुकारक बनाया जा सकता है। विदेशों में दुग्ध ग्लिसरोल तनुकारक का बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया।

भारतवर्ष में तोमर तथा देसाई (1961) ने भैंसा साँड के वीर्य संरक्षण हेतु मखनिया दूध प्रयुक्त किया। उन्होंने यह बताया कि यदि ऐसे दूध में अण्डपीत तथा ग्लाइसीन अथवा अण्डपीत एवं फ्रक्टोज मिला दिया जाये तो यह और भी अच्छा तनुकारक बन जाता है। उन्होंने E_2 तथा E_3 के नाम से इसे निम्न प्रकार तैयार किया।

E_2 तनुकारक

गर्म किया हुआ मखनिया दूध	50 भाग
4 प्रतिशत ग्लाइसीन घोल	25 भाग
अण्डे की जर्दी	25 भाग

E_3 तनुकारक

गर्म किया हुआ मखनिया दूध	60 भाग
5 प्रतिशत फ्रक्टोज घोल	20 भाग
अण्डे की जर्दी	20 भाग

केल ने 1963 में उबले हुए दूध में अण्डे की जर्दी तथा ग्लूकोज मिलाकर निम्न प्रकार एक तनुकारक तैयार किया—

उबला हुआ दूध	60 भाग

5 प्रतिशत ग्लूकोज घोल	30 भाग
अण्डे की जर्दी	10 भाग

इस तनुकारक को उन्होंने भैंसा साँड के वीर्य संरक्षण हेतु उपयोगी पाया।

कृत्रिम गर्भाधान के लिये वीर्य बहुधा 6 डिग्री सेन्टीग्रेड पर सुरक्षित रखा जाता है। अतः इस परिस्थिति में फास्फेट और साइट्रेट के घोलों से शुक्राणुओं पर कुप्रभाव पड़ता है। अतएव उपर्युक्त प्रयोग करके यह सिद्ध किया गया कि ग्लाइसीन एवं अण्डपीत को मिलाकर वीर्य अधिक समय तक भली-भाँति सुरक्षित रखा जा सकता है। साइट्रेट, फास्फेट, कार्बोनेट आदि लवणों का मुख्य कार्य अनुकूलतम पी-एच प्रदान करना है।

सीमेनोल घोल (Semenol Rolution)—हैवर-ग्लोवर लैबोरेटरी (Haver-Glover Laboratories) द्वारा तैयार किया हुआ यह तनुकारक 250 घ० सें० की मात्रा में बादामी रंग की शीशियों में सीलवन्द बाजार से उपलब्ध होता है। इसमें डेक्सट्रोज, सोडियम फास्फेट तथा पोटेशियम फास्फेट मिला होता है।

कृत्रिम गर्भाधान के लिये 4 भाग सीमेनोल घोल को 1 भाग वीर्य में मिलाया जाता है।

भैंसे के वीर्य को पतला करना (Dilution of the Buffalo Semen)—भैंसे का वीर्य गो-साँड के वीर्य से कुछ भिन्न होता है। भैंसे के वीर्य में कैल्शियम फास्फेट तथा फास्फेट को तोड़ने वाले एन्जाइमों की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह पदार्थ भण्डारित वीर्य में शुक्राणुओं के जीवित रहने से कठिनाई उत्पन्न करते हैं। इसी कारण भैंसे के वीर्य को पतला करके भण्डारित करना कठिन होता है। फास्फेट तथा साइट्रेट तनुकारकों से भैंसे के शुक्राणुओं पर कुप्रभाव पड़ता है। अत. इसे पतला करने के लिये निम्न तनुकारक अधिक अच्छे हैं—

(1) अण्डपीत ग्लूकोज ग्लाइसीन सोडियम साइट्रेट तनुकारक (Egg-yolk glucose glycine sodium citrate or Dilutor A_4)—सन् 1961 में पशु-पालन एवं पशु चिकित्सा विज्ञान महा-विद्यालय मथुरा में एन. एस. तोमर ने 30 भाग 5 प्रतिशत ग्लूकोज घोल, 20 भाग 4 प्रतिशत ग्लाइसीन घोल, 30 भाग 3 प्रतिशत सोडियम साइट्रेट घोल तथा 20 भाग अण्डपीत मिलाकर यह तनुकारक तैयार किया। उन्होंने इस तनुकारक को अण्डपीत साइट्रेट से अधिक अच्छा पाया। डॉ० तोमर और उनके साथिय़ों ने 1968 से A_4 तनुकारक को भैंसे के वीर्य को पतला करने के लिये प्रयुक्त किया। उन्होंने यह देखा कि 5° सें० पर लगभग 5 दिन तक ऐसे वीर्य को सुरक्षित रखा जा सकता है। गौ-साँड के लिये उन्होंने निम्न प्रकार यह तनुकारक तैयार किया—

सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट	...	...	9·375 ग्राम
ग्लाइसीन	...	...	12·500 ग्राम

ग्लूकोज एनहाइड्रस	...	...	18·750 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	...	...	1 लिटर तक

इसमें का 80 मिलि लिटर बफर घोल 20 मिलि लिटर अण्डपीत में मिलाकर यह तनुकारक तैयार किया जाता है। वीर्य में मिलाने से पूर्व ऐसे 100 मिलि लिटर घोल में एक लाख यूनिट पेनिसिलिन जी-सोडियम, 100 मिलिग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रे-प्टोमाइसीन मिलाया जाता है।

(2) आर. पी. सक्सेना ने सन् 1959 में पशु-पालन एवं पशु-चिकित्सा विज्ञान-महा-विद्यालय, मथुरा में अपने एम० वी० एस-सी० के परीक्षण काल में यह बताया कि कैम्पस्मिट द्वारा बनाये हुये सोडाबाइकार्ब तथा ग्लूकोज तनुकारक में यदि 3 मिलीग्राम सल्फाट्राएड अथवा 200 माइक्रोग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन प्रति घ० सें० डाला जाये, तो यह और भी अच्छा तनुकारक बन जाता है।

घोड़े और गधे के वीर्य को पतला करना—साँड के वीर्य में प्रयोग होने वाले अण्डपीत साइट्रेट तनुकारक में निम्न प्रकार थोड़ा सा परिवर्तन करके घोड़ों और गधों के वीर्य को पतला करके सुरक्षित रखा जा सकता है—

अ—	डाइसोडियम हाइड्रोजन फास्फेट	...	...→	2·0 ग्राम
	पोटाशियम डाइ हाइड्रोजन फास्फेट	...	...→	0·2 ग्राम
	ग्लूकोज	...	...→	10·0 ग्राम
	डिस्टिल्ड वाटर	...	...→	100 घ० सें०
ब—	अण्डपीत (egg yolk)	...	...→	बराबर भाग

इसमें एक भाग वीर्य को 1 भाग ग्लूकोज अण्डपीत तनुकारक में मिलाया जाता है। यह तनुकारक सदैव ताजा बनाना पड़ता है क्योंकि रखने पर खराब हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, घोड़े तथा सुअर का वीर्य केवल शक्कर का घोल मिलाकर भी निम्न प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है—

1—ग्लूकोज	...	...→	7·0 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	...	...→	100 घ० सें०
2—चीनी	...	...→	11·0 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	...	...→	100 घ० सें०

इनमें एक भाग वीर्य, 3 से 4 भाग शक्कर के घोल में मिलाकर 10—13 डिग्री सेंटीग्रेड पर 12 घण्टे तक सुरक्षित रखा जा सकता है। रखने पर खराब हो जाने के कारण यह तनुकारक नित्य ताजा तैयार करना पड़ता है।

(3) साइट्रिक एसिड पनीर-जल (Citric Acid Whey or CAW)—भारतीय डेरी अनुसंधान संस्थान (N. D. R. I.) करनाल में किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि साइट्रिक एसिड पनीर-जल भैंसों के वीर्य के लिये एक

अच्छा तनुकारक है। इसे मिलाकर पतला किया गया वीर्य रेफ्रिजरेटर अथवा डीप-फ्रीजिंग तापक्रम पर भण्डारित किया जा सकता है। तनुकारक की पी-एच (pH) के प्रति शुक्राणु बहुत संवेदनशील होते हैं। शुक्राणु 6·8 पी-एच पर अत्यधिक गतिशील रहते देखे गये हैं। भैंसे के वीर्य को हिमीकृत करके भण्डारित करना इसी लिये कठिन कार्य है।

(4) समांगीकृत दूध (Homogenized milk)—पाकिस्तान में किये गये प्रयोगों से यह पता चला है कि समांगीकृत दूध भी भैंस के वीर्य को पतला करने के लिये एक अच्छा तनुकारक है।

सूअर के वीर्य को पतला करना—सूअर के वीर्य को पतला करने के लिये निम्न प्रकार तनुकारक तैयार करते हैं—

शुद्ध एवं सूखा ग्लूकोज	... ...→	4·6 ग्राम
सोडियम पोटेशियम टारट्रेट	... ...→	0·56 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	... ...→	100 घ० सें०

1 भाग वीर्य को 1 से 2 भाग तनुकारक में मिलाया जाता है।

मेंढे के वीर्य को पतला करना—साँड की भाँति मेंढे के वीर्य को भी पतला किया जा सकता है। इसके वीर्य को अण्डपीत साइट्रेट, अण्डपीत फास्फेट, अण्डपीत साइट्रेट एवं ग्लाइसीन मिश्रण तथा अण्डपीत ग्लाइसीन तनुकारकों को मिलाकर सुरक्षित रखा जाता है।

मुर्गे के वीर्य को पतला करना—मुर्गे के वीर्य को पतला करने के लिये उसमें निम्न प्रकार तैयार किया हुआ तनुकारक मिलाते हैं—

सोडियम साइट्रेट	... ...→	0·68 ग्राम
पोटाशियम क्लोराइड	... ...→	0·17 ग्राम
कैल्शियम क्लोराइड	... ...→	0·064 ग्राम
मैग-सल्फ	... ...→	0·025 ग्राम
सोडा-बाइकार्ब	... ...→	0·24 ग्राम
डिस्टिल्ड वाटर	... ...→	100 घ० सें०

इसमें 1 भाग वीर्य को 9 भाग तनुकारक में मिलाकर 1 घण्टे तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

वीर्य तनुकारकों में प्रतिजैविक पदार्थों (Antibiotics) एवं सल्फा औषधियों (Sulpha Drugs) की उपयोगिता—वीर्य को जीवाणु संदूषण से बचाने के लिये उसमें निम्न प्रकार प्रतिजैविक पदार्थ मिलाये जाते हैं—

(1) पैनिसिलिन (Penicillin)—1 लाख यूनिट प्रति 100 घ० सें० वीर्य तनुकारक। इस कार्य के लिये पैनिसिलिन-जी सोडियम अधिक उपयुक्त है किन्तु प्रोकेन पैनिसिलिन भी प्रयुक्त की जा सकती है।

(2) **स्ट्रेप्टोमाइसीन** (Streptomycin)—100 मिलीग्राम प्रति 100 घ० सें० वीर्य तनुकारक। इसके लिये डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन अथवा स्ट्रेप्टोमाइसीन सल्फेट उपयोग में लाया जाता है।

(3) **सल्फानिलामाइड** (Sulphanilamide)—370 मिलीग्राम प्रति 100 घ० सें० वीर्य तनुकारक।

इस प्रकार तैयार किये हुए वीर्य की 5 से 10 प्रतिशत गर्भ धारण कराने की शक्ति अधिक बढ़ जाती है।

वीर्य को पतला करने का क्रम (Rate of Dilution)—वीर्य को कितना पतला किया जा सकता है, यह संकलित किये हुये वीर्य के गुण पर निर्भर है। वीर्य को उतना ही पतला करना चाहिये, जितने में उसकी गर्भ धारण कराने की शक्ति क्षीण न हो। अच्छा वीर्य विदेशों में 1 : 400 तक पतला किया जा चुका है, जिसमें कम से कम गर्भ धारण कराने की शक्ति रही है। बहुधा 1 : 100 का पतला किया हुआ वीर्य यूरोप तथा अमरीका के अधिकांश देशों में प्रयुक्त होता है। हमारे देश की जलवायु कुछ गर्म होने के कारण इतने अच्छे परिणामों पर हम नहीं पहुँच सके हैं। भारत में बहुधा गायों के लिये 1 : 4 से 1 : 10 तक, भैंसों के लिये 1 : 10 तथा भेड़ों के लिये 1 : 25 के घोल का वीर्य कृत्रिम गर्भाधान के लिये सफलतापूर्वक प्रयोग हो रहा है।

इसके अतिरिक्त भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान, इज्जतनगर में डॉ० एस० एन० लुक्ट्के ने 1 : 20 तक के पतले वीर्य घोल से भी भैंसों को गर्भित करने में सफलता प्राप्त की है।

तनुकारक को वीर्य में मिलाने से पूर्व यह जान लेना परम आवश्यक है कि दोनों का तापक्रम समान हो। चूँकि वीर्य का तापक्रम शारीरिक तापक्रम से लगभग समान ही होता है अतः तनुकारक को कुछ देर के लिये 35 डिग्री सेन्टीग्रेड के ऊष्मक जलपात पर रखने के उपरान्त ही वीर्य में मिलाना चाहिये। इस प्रकार एक अच्छे तथा उपयुक्त तनुकारक को परीक्षित किये हुए वीर्य में मिलाकर तथा उसका आयतन बढ़ाकर थोड़े ही वीर्य से अनेक गायों को गर्भित किया जा सकता है। इस विधि द्वारा अच्छे नस्ल के शुद्ध साँडों का वीर्य लेकर गायों को गर्भित करके तेजी से से नस्ल सुधार का काम किया जा सकता है।

परिच्छेद : 16

वीर्य संरक्षण एवं उसका परिवहन

(STORAGE & TRANSPORT OF SEMEN)

सांड से प्राप्त ताजा वीर्य शीघ्र ही खराब हो जाता है। साथ ही कृत्रिम गर्भाधान के लिये इसे दूर-दूर के केन्द्रों पर भेजना पड़ता है। अतः पतले किये हुए वीर्य को भण्डारित करने तथा केन्द्रों पर भेजने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

वीर्य को भण्डारित करना
(Storage of Semen)

शरीर के बाहर शुक्राणुओं की मृत्यु निम्नलिखित कारणों से हुआ करती है—

(1) शुक्राणुओं का स्वतः नष्ट होना।

(2) वीर्य में मौजूद पोषक तत्वों का खर्च हो जाना।

(3) उपापचयक (metabolic) पदार्थों द्वारा विष पैदा होना।

(4) शुक्राणुओं को जीवित रूप में ही भण्डारित करना होता है, अतः यह आवश्यक है कि उनको शक्तिदायक एवं उपापचयक पदार्थों को हानि-रहित बनाने वाले पोषक तत्व प्रदान किये जायें। इस प्रकाए वीर्य को भण्डारित करना निम्न बातों पर आधारित है—

(1) धीरे-धीरे वीर्य के तापक्रम को इतना गिरा देना, जिस पर कि शुक्राणुओं की गति बिल्कुल ही शिथिल पड़ जाये, किन्तु पुनः वापस आने वाली अवस्था में रहें।

(2) वीर्य में विभिन्न प्रकार की ऐसी वस्तुयें मिलाना, जो उसे पोषक तत्व प्रदान करें और किसी हद तक उपापचयक प्रतिक्रियाओं को भी नियन्त्रित करें।

अतः वीर्य को भली-भाँति भण्डारित करने में सबसे मुख्य बात यह है, कि केवल उच्चकोटि का शुद्ध वीर्य ही प्रयुक्त किया जाये। एकत्रित करते समय जितना ही अच्छा वीर्य होगा, उतने ही अधिक भण्डारित किये हुए वीर्य में शुक्राणु गतिवान रहेंगे।

उद्देश्य—चूंकि एक सांड से नित्य वीर्य नहीं लिया जाता और पतला किया हुआ कुल वीर्य एक दिन में खर्च भी नहीं हो पाता, अथवा वीर्य को एक स्थान से किसी दूसरे स्थान पर ले जाना है, इत्यादि कारणों से वीर्य को भण्डारित किया जाता है।

वीर्य को भण्डारित करने के लिये दो प्रमुख ढंग हैं। एक तो 4 डिग्री सेंटीग्रेड पर प्रशीतक (रैफ्रिजेरेटर) में रखना और दूसरे शून्य डिग्री से नीचे तापक्रम पर जमाकर सुरक्षित रखना।

4 डिग्री सेंटीग्रेड पर वीर्य को भण्डारित करना
(Preservation of Semen at 4°C)

इस विधि में वीर्य एकत्रित करने के बाद, उसे कुछ समय के लिये 20 डिग्री सेन्टीग्रेड के ऊष्मक जलपात (hot water bath) पर रखते हैं और तनुकारक (dilutor) को भी इसी तापक्रम पर लाकर उसमें मिला देते हैं। इसके बाद इस पतले किये हुये वीर्य को साफ एवं शुद्ध छोटी-छोटी काँच की शीशियों में ऊपर तक भर कर तथा रबर का कार्क लगाकर, प्रशीतक (रैफ्रिजेरेटर) में 4 से 5 डिग्री सेन्टीग्रेड पर भण्डारित करते हैं। चूँकि वीर्य को रैफ्रिजेरेटर में एकदम रखने पर शुक्राणुओं को तापक्रम बदलने से हानि हो सकती है, अतः रैफ्रिजेरेटर में रखने से पूर्व भरी शीशियों को कुछ समय के लिये ठण्डे पानी में रख लेते हैं। रैफ्रिजेरेटर के अभाव में थर्मस फ्लास्क के अन्दर वर्फ के टुकड़े डालकर यह शीशियाँ रखी जा सकती हैं वर्फ पिघल जाने पर उसे बदल देना चाहिये। **यह विधि आजकल प्रायः सभी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर वीर्य संरक्षण हेतु प्रयोग में लायी जाती है।**

शून्य डिग्री तापक्रम पर वीर्य भण्डारित करना
(Deep Freezing of Semen or Frozen Semen)

साँडों के वीर्य को जमा कर भण्डारित करने की यह विधि **'पोल्ज तथा राउसन'** ने सन् 1952 में लन्दन में खोज की थी। इस विधि में वीर्य एकत्रित करने तथा पतला करने में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस तनुकारक में मुख्य परिवर्तन यह है कि 10 प्रतिशत ग्लिसरोल और मिलाया जाता है।

इस ढंग के अन्तर्गत वीर्य एकत्रित करने के उपरान्त उसका परीक्षण करके उसे 5 डिग्री सेन्टीग्रेड पर दस प्रतिशत ग्लिसरोल युक्त अण्डपीत साइट्रेट घोल मिला कर पतला करते हैं। इस मिश्रण को अब 12 से 20 घण्टे तक रैफ्रिजेरेटर में ठण्डा होने के लिये रख देते हैं। इसके उपरान्त इसको 1 घ० सें० वाले शुद्ध काँच के ऐम्पूलों में भर कर सीलबन्द कर देते हैं। अब इन ऐम्पूलों को एक बर्तन में रखकर उसको ऐल्कोहल तथा ठोस कार्बन डाइ-ऑक्साइड के टुकड़े (ऐल्कोहल फ्रीजिंग मिश्रण) डालकर धीरे-धीरे लगभग 45 मिनट में 5 डिग्री सेन्टीग्रेड से −79 डिग्री सेन्टीग्रेड तक ठण्डा करते हैं। शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड और −15 डिग्री सेन्टीग्रेड के मध्य इसे 1 से 2 डिग्री सेन्टीग्रेड प्रति मिनट तथा −15 डिग्री सेन्टीग्रेड से नीचे 2 से 4 डिग्री सेन्टीग्रेड प्रति मिनट ठण्डा किया जाता है। इस प्रकार जमाये हुये वीर्य को ऐल्कोहल बाथ में −79 डिग्री सेन्टीग्रेड पर भण्डारित करते हैं।

जब गर्भाधान के लिये इसे प्रयोग करना होता है, तो इन ऐम्पूलों का प्रयोग करने से पूर्व 40 डिग्री सेन्टीग्रेड के ऊष्मक जलपात पर कुछ क्षणों के लिये रखकर वीर्य को पिघला लिया जाता है।

इस विधि द्वारा दो वर्ष पुराना जमा हुआ वीर्य सफलतापूर्वक गर्भाधान के प्रयोग में लाया जा चुका है। वीर्य को इस प्रकार संरक्षित रखने का यह ढंग अमेरिका

तथा कैनाडा के अधिकांश भागों में खूब प्रचलित है और इससे वहाँ हजारों की संख्या में बच्चे भी उत्पन्न हो चुके हैं। यह वीर्य सफलतापूर्वक संसार के किसी भी भाग में भेजा जा सकता है और इच्छुक पशु-प्रजनकों को किसी भी समय विशिष्ट साँडों का वीर्य मिल सकता है। **इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि युवा साँडों का वीर्य उस समय तक संरक्षित रखा जा सकता है, जब तक कि वे प्रमाणित न सिद्ध हो जायें।**

आजकल −196° सें पर वीर्य को भण्डारित करने के लिये तरल नाइट्रोजन का उपयोग अधिक हो रहा है। यह विधि ऊपर वर्णित विधि की भाँति ही है। अन्तर केवल इतना है कि ठोस कार्बन डाइ-ऑक्साइड की जगह तरल नाइट्रोजन प्रयुक्त होती है। इस गैस में वीर्य को संरक्षित करना आसान होता है और साथ ही यह गैस कार्य करने वाले मनुष्यों के लिये हानिप्रद नहीं होती।

कमरे के तापक्रम पर साँड का वीर्य भण्डारित करना

Preservation of Bovine Semen at Room Temperature)

(वैन्डेमार्क और शर्मा 1957)

जैसा कि पिछली दो विधियों से स्पष्ट है, वीर्य को आज हम तरल अथवा हिमीकृत (जमी हुई) अवस्था में भण्डारित कर सकते हैं। परन्तु यह विधियाँ अधिक मूल्यवान एवं समुचित साधनों का अभाव होने के कारण भारत जैसे देश में दैनिक वीर्य संरक्षण हेतु भली-भाँति नहीं अपनाई जा सकतीं। अतः यह परमावश्यक था कि वीर्य संरक्षण हेतु किसी ऐसी विधि की खोज हो, जिसमें धन भी कम लगे और साथ ही वीर्य कमरे के तापक्रम पर भण्डारित हो सके।

चूँकि आवश्यकता, आविष्कार का एक छुपा हुआ स्वरूप है, अतः वीर्य को पतला करके कमरे के तापक्रम पर संरक्षित करने की यह विधि इलीन्वायस विश्व-विद्यालय में खोज की गई। इसमें भारतीय वैज्ञानिक **डा० यू० डी० शर्मा**; जो आजकल हरियाणा कृषि विश्व-विद्यालय, हिसार में प्रोफेसर के पद पर सुशोभित हैं, का प्रगाढ़ परिश्रम भी सम्मिलित है। इस विधि में प्रयुक्त होने वाले तनुकारक का नाम **"इलीनी विभिन्न तापक्रम तनुकारक"** (Illini Variable Temperature Diluent or I. V. T.) रखा गया, जिसे डॉक्टर शर्मा ने प्रति लिटर निम्न प्रकार तैयार किया—

सोडियम साइट्रेट डाइहाइड्रेट	...	20·01 ग्राम
सोडियम बाइकार्बोनेट	...	2·08 ग्राम
पोटाशियम क्लोराइड	...	0·40 ग्राम
ग्लूकोज	...	3·00 ग्राम
सल्फानिलामाइड	...	3·00 ग्राम
पैनिसिलिन	...	1×10^6 अन्तर्राष्ट्रीय यूनिट
स्ट्रेप्टोमाइसिन	...	1·00 ग्राम

इन सब वस्तुओं को उन्होंने जीवाणु रहित कांच डिस्टिल्ड वाटर में घोला। तत्पश्चात् 10 मिनट के लिये उसमें विशुद्ध कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस पास करके 10 प्रतिशत सान्द्रता (concentration) पर ताजा अण्डपीत मिलाया। अब इस तनुकारक में वीर्य को मिलाकर कांच के स्वच्छ ऐम्पूलों में सीलबन्द किया गया। इस विधि द्वारा पतला किया हुआ काँच के ऐम्पूलों में सीलबन्द वीर्य, कमरे के तापक्रम पर 60 से 80 डिग्री फारेनहाइट पर 6–7 दिन तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय में इस तनुकारक में सोडियम डाई-हाइड्रोजन फॉस्फेट मिलाने से भण्डार गुणों में अधिक सुधार पाया गया। यह विधि I. V. T. अथवा ग्लाइसीन युक्त I. V. T. से अधिक अच्छी सिद्ध हुई।

भैंसा सांड के वीर्य का अध्ययन करने से यह पता चला है कि इनके शुक्राणुओं में प्रोटीन, वसा तथा अन्य अवयवों की मात्रा गौ-सांडों तथा मेंढ़ों के शुक्राणुओं से काफी भिन्न होती है। अतः कृत्रिम गर्भाधान के लिये शुक्राणुओं के परिरक्षण हेतु भिन्न तकनीकों का विकास होना परम आवश्यक है।

वीर्य परिवहन
(Transport of Semen)

वीर्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये दो विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिये। एक तो उसका तापक्रम न बदलने पाये और दूसरे उसमें धक्का आदि न लगे, अन्यथा शुक्राणु मर कर गर्भधारण कराने की शक्ति को खो बैठते हैं।

केन्द्र से बाहर भेजने वाले वीर्य को पतला करने के उपरान्त रबर की कार्क वाली छोटी-छोटी काँच की जीवाणु-रहित शीशियों में भर लेते हैं। इन पर रुई लपेट कर तथा लेबिल लगाकर, इन्हें अलग-अलग बड़ी नलिकाओं में बन्द करके चौड़े मुँह वाले थर्मस फ्लास्क में बर्फ के टुकड़ों के बीच रख देते हैं। वीर्य का यातायात अब दो विधियों द्वारा किया जा सकता है—एक तो वीर्य वाहक द्वारा और दूसरे पार्सल द्वारा। पार्सल द्वारा वीर्य का 24 घण्टे तक यातायात किया जा सकता है। यदि वीर्य थोड़ी ही दूर ले जाना हो, तो यह थर्मस फ्लास्क हाथ में पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैदल, साइकिल या बस द्वारा ले जाया जा सकता है। अधिक दूर ले जाने के लिये, इस प्रकार वीर्य रखे हुए थर्मस को बाहरी धक्कों से बचाने के लिये रबर के स्पंज में लपेट देते हैं। इसके बाद इस लपेटे हुए थर्मस को लकड़ी, कार्ड बोर्ड या धातु के बने बक्से में रखकर तथा ऊपर से लेबिल लगाकर और पता लिखकर रेल, बस या वायुयान द्वारा वीर्य का परिवहन किया जाता है। अधिक सुरक्षा के लिये लेबिल पर 'सावधानी से उठाइये' लिख देना चाहिये।

आजकल भारतवर्ष में केन्द्रित ग्राम योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले के कृत्रिम गर्भाधान-केन्द्र पर पशु-पालन विभाग की ओर से एक स्कूटर या आटोसाइकिल का वीर्य परिवहन के लिये प्रबन्ध किया गया है। इन केन्द्रों पर एक प्रशिक्षित पशु-सेवक

रहता है, जो पशु-चिकित्सा अधिकारी की आदेशानुसार चौड़े मुँह के थर्मस में रखे वीर्य को उप-केन्द्र में ले जाकर बाँटता है। कृत्रिम गर्भाधान-उपकेन्द्रों पर यह वीर्य तुरन्त ही 4 डिग्री सेंटीग्रेड पर रेफ्रीजेरेटर अथवा थर्मस में बर्फ के टुकड़ों पर रखा जाता है।

विभाग की नई प्रायोजना के अनुसार कुछ स्थानों पर **वीर्य कोषों (Semen Bank)** की स्थापना की जा रही है। ऐसा एक बैंक रामनगर, वाराणसी में भी खोला जा चुका है। यहाँ एकत्रित वीर्य कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर भेजा जाता है। इसी योजना के अन्तर्गत कुछ जर्सी नस्ल के विदेशी सांड रायबरेली में रखे गये हैं जहाँ वीर्य एकत्रित करके कृत्रिम गर्भाधान के लिये निकटवर्ती जिलों में भेजा जा रहा है। देश के अन्य प्रदेशों में भी ऐसी ही योजनायें चलाई जा रही हैं।

इस प्रकार एकत्रित किये वीर्य को पतला करने के बाद, उचित तापक्रम पर भण्डारित करके तथा सुदूर कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर भेजकर कृत्रिम गर्भाधान की सफल सेवायें जनसाधारण को उपलब्ध कराई जा सकती हैं।

आजकल तरल नाइट्रोजन सिलिण्डरों में प्लास्टिक की नलिकाओं में संरक्षित विदेशी नस्ल (जर्सी) के सांडों का वीर्य कृत्रिम गर्भाधान हेतु खूब प्रयुक्त हो रहा है। इस सिलिण्डर को आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता है। भूटान में इस विधि द्वारा घर-घर तथा गाँव-गाँव जाकर कृत्रिम गर्भाधान का कार्य किया जाता है। भारतवर्ष में भी यह विधि खूब लोकप्रिय हो रही है।

परिच्छेद : 17

मादा जननेन्द्रिय में वीर्य संचालन

(INSEMINATION OF THE FEMALE)

मादा का गर्भित होना, उसके ठीक ऋतुमती होने एवं उचित समय पर वीर्य डालने पर निर्भर होता है। यदि मादा ऋतुमंती नहीं है और उसकी जननेन्द्रिय में वीर्य डाल दिया गया, तो वह कभी भी गर्भित नहीं हो सकती। अतः उचित समय पर ही उसे गर्भित करना चाहिये। बहुधा गाँव वाले लोग गाय को गर्म होने के काफी बाद कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पर लाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें निराश लौटना पड़ता है। यह जानना कि मादा ठीक गर्म है अथवा नहीं, वीर्य डालने वाले की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। उसे चाहिये कि वह पशु-पालक से इस बारे में प्रश्न करे और साथ ही अपने क्रियात्मक अनुभव से इस बात का पूर्ण ज्ञान करे, कि मादा ठीक प्रकार ऋतुमती है अथवा नहीं, और यदि गर्म है तो किस अवस्था में। बहुधा गर्मी (heat) समाप्त होने की अन्तिम अवस्था में ही मादा की जननेन्द्रिय में वीर्य डालना उपयुक्त होता है। सामान्यतः प्रत्येक वर्ग के पशुओं के लिये अलग-अलग समय निश्चित है, जैसाकि आगे दी हुई सारणी 17·1 से विदित है।

अग्रलिखित सारणी के अनुसार उचित समय पर गाय को अड़गड़ा में खड़ा करके तथा उसकी भग एवं निकट के भाग साफ करके, निम्नलिखित किसी एक विधि द्वारा वीर्य योनि में पहुँचाया जा सकता है—

(1) रेक्टम योनि विधि (Recto Vaginal or Hand per Rectum Method)

(2) योनि हस्त विधि (Hand in Vagina Method)

(3) योनि वीक्षण यन्त्र विधि (Vaginal Speculum Method)

(1) रेक्टम-योनि विधि (Recto Vaginal Method)—इस ढंग के अन्तर्गत सर्वप्रथम दोनों हाथों को भली-भाँति साबुन से धोकर, बायें हाथ को साबुन की झाग अथवा द्रव पैरेफिन (Liquid Paraffin) से चिकना करके, चारों अंगुलियाँ एक साथ व अंगूठा उनके बीच रखकर, मादा के मलाशय में धीरे-धीरे प्रविष्ट करते हैं, यदि उपलब्ध हो तो बायें हाथ में लेटेक्स की बनी हुई दस्ताने भी पहन लेते हैं। अब मलाशय का सारा गोबर बाहर निकालकर, हाथ को अन्दर व नीचे की ओर बढ़ाकर एवं अंगुलियों से टटोलकर, गर्भाशय की ग्रीवा (cervix) वाला भाग, तर्जनी, मध्यमा तथा अंगुष्ठ की सहायता से इस प्रकार पकड़ते हैं कि मध्यमा

गर्भाशयी ग्रीवा के वायीं ओर, अंगुष्ठ दायीं ओर तथा तर्जनी गर्भाशय के दोनों शृंगों के बीच रहे। अब दाहिने हाथ में लगभग 40 सेमी० लम्बी काँच या प्लास्टिक की बनी हुई जीवाणु-रहित स्वच्छ वीर्यवाहक नली, योनि के अन्दर धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं। जब यह नली अन्दर पहुँचकर गर्भाशयी-ग्रीवा (cervix) के मुख से टकराती है, तो धीरे से बायें हाथ में पकड़े गर्भाशयी-ग्रीवा को इधर-उधर ऊपर-नीचे थोड़ा-सा हटाकर, नली का सिरा इसके मुख में प्रवेश करके लगभग 2–2½ सेंमी० तक अन्दर ले जाते हैं। अब वीर्यवाहक नली गर्भाशय-ग्रीवा के मुख में कसकर फंस जाती है और दाहिने हाथ से छोड़ देने पर भी बाहर न निकलकर अटकी हुई सी जान पड़ती है। इस समय यदि बायें हाथ में पकड़ी हुई गर्भाशयी-ग्रीवा का थोड़ा सा हिलाया जाये, तो उसमें फँसी वीर्यवाहक नली भी उसी के अनुसार आगे-पीछे चलती ज्ञात होती है। यह वीर्य डालने का सर्वश्रेष्ठ अवसर होता है। अतः छोटी एवं स्वच्छ जीवाणु-रहित पिचकारी में आवश्यकतानुसार वीर्य लेकर, दाहिने हाथ में वीर्यवाहक नली के बाह्य मुख में उसका नॉजल डालकर वीर्य छोड़ देते हैं। ऐसा करने से कुल वीर्य एक साथ गर्भाशयी-ग्रीवा में न पहुँचकर, थोड़ा सा वीर्यवाहक नली में लगा रह जाता है। अतः पिचकारी के पिस्टन को 3–4 बार खाली पम्प कर देते हैं, जिससे सारा वीर्य गर्भाशयी-ग्रीवा में पहुँच जाये। अब दाहिने हाथ से धीरे-धीरे वीर्यवाहक नली को बाहर खींचकर बायाँ हाथ भी मलाशय से बाहर निकाल लेते हैं।
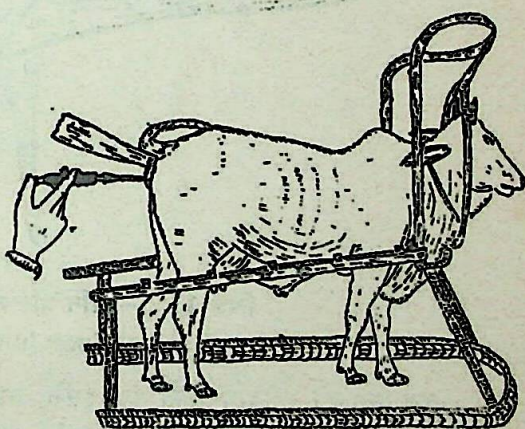
चित्र 17·1—वीर्य डालने की रेक्टम योनि विधि (Recto-Vaginal Method of Insemination)

यह विधि अधिक वैज्ञानिक एवं अन्य विधियों से अच्छी होने के कारण सर्वोत्तम मानी जाती है और आजकल सबसे अधिक प्रयुक्त हो रही है।

योनि हस्त विधि (Hand in Vagina Method)—यह विधि बड़े पशुओं के लिये पहले प्रयुक्त होती थी, परन्तु अब इसका चलन निकृष्ट होने के कारण बिल्कुल ही उठ गया है। इस विधि के अन्तर्गत, बायें हाथ को साबुन से धोकर तथा द्रव पैरेफिन से खूब चिकना करके; ऋतुमती मादा की योनि के अन्दर डालकर, गर्भाशयी-ग्रीवा के मुख को टटोलते हैं। अब दायें हाथ से स्वच्छ जीवाणु-रहित वीर्यवाहक नली को योनि में डालकर, बायें हाथ के सहारे गर्भाशयी-ग्रीवा के मुख में प्रविष्ट कर एवं उचित स्थान पर पहुँचाकर, पिचकारी द्वारा बाहर से वीर्य छोड़ देते हैं।

योनि वीक्षण यन्त्र विधि (Vaginal Speculum Method)—प्रत्येक वर्ग के पशुओं की जननेन्द्रिय की लम्बाई के अनुसार यह एक धातु का बना हुआ यन्त्र होता है। इसका अगला भाग दो लम्बी चपटी भुजाओं से मिलकर कुछ नुकीला, तथा पिछला भाग एक वृत्त के आकार का बना होता है, जिसके पीछे दो छोटे-छोटे हत्थे लगे होते हैं। इन हत्थों को दबाने से इसकी दोनों भुजायें खुलकर फैल जाती हैं।
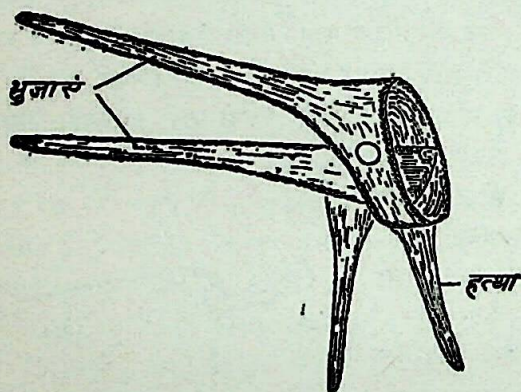
चित्र 17·2—योनि वीक्षण यन्त्र
(Vaginal Speculum)

इस यन्त्र को जीवाणु-रहित एवं इसके अग्रभाग को द्रव पैरेफिन (liquid paraffin) से चिकना करके, बायें हाथ की तर्जनी व अंगुष्ठ के सहारे भगोष्ठ खोल कर, योनि के अन्दर धीरे-धीरे बन्द अवस्था में ही, हत्थों को एक ओर करके प्रविष्ट करते हैं। जब गर्भाशय-ग्रीवा का मुख इसके अग्रभाग से छू जाय, तब पीछे लगे हुये हत्थों को नीचे की ओर घुमाकर तथा दबाकर इस यन्त्र को खोल देते हैं। ऐसा करने से योनि की दीवारों की माँसपेशियाँ खिच जाती हैं। अतः सूर्य अथवा टार्च के प्रकाश में नंगी आँख द्वारा बाहर से झाँकने पर गर्भाशय-ग्रीवा का मुख साफ दिखाई पड़ता है। अब गर्भाशयी-ग्रीवा के मुख में वीर्य-वाहक नली एवं पिचकारी की सहायता से भली प्रकार वीर्य डाल दिया जाता है। तत्पश्चात् इस यन्त्र को धीरे-धीरे बन्द करते हुए बाहर खींच लिया जाता है। योनि के अन्दर खोले हुए यन्त्र को निकालते समय बिल्कुल ही बन्द नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उसमें दबकर योनि की दीवारें खुरच अथवा कट सकती हैं, कभी-कभी इस यन्त्र को योनि में प्रविष्ट करते समय, पशु अपनी पीठ को उठा देता है, जिससे यन्त्र को अन्दर घुसेड़ने में कुछ कठिनाई होती है। अतः ऐसे समय में गाय की रीढ़ की हड्डी के पीठ के मध्य वाले भाग को हाथ से दबा देना चाहिये।

यह ढंग इस दृष्टि से काफी अच्छा है, कि इससे गर्भाशयी-ग्रीवा (cervix) का मुख अपनी आँख से देखकर उचित स्थान पर वीर्य डाला जा सकता है और इस

सारणी 17·1—मादा का ऋतुकाल, गर्भकाल, वीर्य की मात्रा एवं गर्भित करने की समय सूचक सारणी

पशु	संभोग काल	वर्ष में ऋतुमती होना	पुनः ऋतुमती होना		ऋतुकाल की अवधि	वीर्य डालने का समय	वीर्य की मात्रा	गर्भकाल
			गर्भ न ठहरने पर	ब्यांत के बाद				
गाय भैंस	वर्ष भर तथा गर्मियों में अधिक	कई बार	हर 19 से 23 दिन बाद	30 से 60 दिन में	8 से 36 घण्टे	गर्म होने के 20 घण्टे बाद और पुनः गर्मी समाप्त होने से 8 घण्टे बाद एक बार।	1 घ० सें०	280 दिन 308 दिन
घोड़ी	फरवरी से जुलाई तक	मौसम में कई बार	हर 18 से 24 दिन बाद	5 से 11 दिन में	4—7 दिन	गर्म होने के तीसरे दिन और उसके बाद रोज एक बार जब तक वह गर्म रहे।	15 से 30 घ० सें०	340 दिन
भेड़	अगस्त से जनवरी तक	मौसम में कई बार	हर 16 से 17 दिन बाद	4 से 6 माह में	24—48 घण्टे	गर्म होने के 27 घण्टे बाद	0·1 से 0·2 घ० सें०	150 दिन
बकरी	सितम्बर से फरवरी तक	मौसम में कई बार	हर 18 से 21 दिन बाद	6 से 8 माह में	48 से 72 घण्टे	गर्म होने के 36 घण्टे से 54 घण्टे बाद।	0·1 से 0·2 घ० सें०	150 दिन
सुअरी	वर्ष भर परन्तु बसंत ऋतु में अधिक	कई बार	हर 21 दिन बाद	7 से 8 माह में	2 से 3 दिन	गर्म होने के दूसरे दिन।	50 से 100 घ० सें०	112 दिन
कुतिया	बसन्त से पतझड़ तक	एक बार, कभी-कभी दो बार	180 दिन बाद	8 से 9 माह में	7 से 13 दिन	गर्म होने के दूसरे या तीसरे दिन तथा 11वें से 13वें दिन	½ से 1 घ० सें०	63 दिन

प्रकार गर्भ रहना प्रायः निश्चित सा हो जाता है। परन्तु इस यन्त्र की सफाई का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अतः एक दिन में कम पशु गर्भित हो पाते हैं और साथ ही यदि सफाई ठीक न हुई, तो एक पशु का जननेन्द्रिय रोग दूसरे को लगकर उत्तम प्रजनन के स्थान पर दूषित एवं हानिकारक प्रजनन हो जाता है।

उपर्युक्त वर्णन की हुई विधियाँ बड़े पशुओं में ही कृत्रिम वीर्य सेचन के लिये उपयुक्त हैं।

छोटे पशुओं में वीर्य संचालन (Insemination of Smaller Animals)—भेड़-बकरियों में वीर्य सेचन हेतु वीर्य-वाहक नली एवं पिचकारी के स्थान पर एक $\frac{1}{2}$ सेमी० व्यास वाली, 25 सेमी० लम्बी, 2 घ० सें० की पिपेट तथा रबर का बल्ब प्रयोग करते हैं। आवश्यकतानुसार मात्रा में वीर्य पहले ही पिपेट में भरकर उसके बाहरी सिरे पर रबड़ वाला बल्ब लगा लेते हैं। अब उपयुक्त छोटा योनि वीक्षण यन्त्र (Vaginal Speculum) मादा की योनि में प्रविष्ट करके, गर्भाशयी-ग्रीवा में पिपेट डालकर, बल्ब द्वारा वीर्य पम्प कर देते हैं। यदि योनि वीक्षण यन्त्र उपलब्ध न हो, तो इसके स्थान पर 2 सेमी० व्यास वाली 15–20 सेमी० लम्बी काँच की बनी हुई एक स्वच्छ नलिका भी प्रयुक्त की जा सकती है।

इस प्रकार सही विधि द्वारा मादा के गर्भाशय में वीर्य डालकर कृत्रिम गर्भाधान प्रणाली को सफल एवं जन-साधारण के लिये हितकारी बनाया जा सकता है।

परिच्छेद : 18

कृत्रिम गर्भाधान में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों को जीवाणु-रहित करना

(STERILIZATION OF A. I. EQUIPMENTS)

कृत्रिम गर्भाधान प्रक्रिया में काँच, धातु, रबर तथा लेटेक्स के अनेक उपकरण प्रयुक्त होते हैं। यदि इनकी भली-भाँति सफाई न की जाये तो अच्छे-भले पशु हमेशा के लिये जननेन्द्रिय रोग लगकर बर्बाद हो सकते हैं। अतः उपयोग के पहले तथा बाद, दोनों बार इनकी सफाई तथा जीवाणु-रहित करना जरूरी है।

कृत्रिम गर्भाधान के लिये आवश्यक वस्तुओं की सूची

(1) रेफ्रिजेरेटर 165 से 200 लिटर या चौड़े मुँह वाले दो थर्मस फ्लास्क, जिनमें प्रति घण्टे बाद बर्फ बदलनी पड़ती है।

(2) दोहरी दीवाल का दो खानेदार 45×45×30 सेमी० माप का एक ऊष्मवात चूल्हा (Hot Air Oven)।

(3) बिजली अथवा गैस से चलने वाला 20 लिटर समाई का एक आसवन उपकरण (Distilling Apparatus)।

(4) स्टोव तथा मिट्टी का तेल अथवा इंधन गैस उपकरण,

(5) सूक्ष्मदर्शी (Microscope),

(6) काँच के स्लाइड (Glass Slide),

(7) कवर ग्लास (Cover Glass),

(8) योनि में वीर्य डालने वाला कैथीटर,

(9) पिचकारियाँ (Syringes),

(10) योनिवीक्षण यन्त्र (Vaginal Speculum),

(11) कैथीटर और पिपेट इत्यादि रखने के लिये एक धातु का पात्र,

(12) परखनली एवं परखनली रैक (Test Tube and Tube Stand),

(13) चपटी तली वाला पाइरेक्स का 500 घ० से० का फ्लास्क,

(14) डिस्टिल्ड वाटर तथा उसको रखने के लिये 5 लिटर समाई का एक काँच का पात्र।

(15) द्रव पैरेफिन (Liquid Paraffin)
(16) साबुन
(17) तौलिया
(18) डिटोल
(19) साबुन का घोल
(20) सोड बाई कार्ब
(21) पोटाश परमैंगनेट
(22) स्वच्छ रुई
(23) कृत्रिम योनि
(24) थर्मामीटर
(25) बीकर
(26) रबड़ के दस्ताने
(27) ऐप्रन कोट
(28) गम बूट जूते
(29) छिड़कने वाला पाउडर
(30) बाल्टियाँ
(31) ब्रुश
(32) इनेमेल्ड तश्तरियाँ
(33) रंगीन पेंसिल
(34) ऐल्कोहॉल
(35) दियासलाई
(36) स्वच्छ पानी
(37) अड़गड़ा
(38) वीर्य
(39) विभिन्न अभिरंजक (Stains)
(40) वाच ग्लास (Watch Glass)
(41) केशिका नलिकायें (Capillary Tubes)
(42) वीर्य तनुकारक (Semen Dilutor)
(43) ताजा अण्डा
(44) फिल्टर पेपर
(45) साफ चिमटी
(46) नाइट्राजीन पेपर
(47) वीर्यवाहक एवं वीर्य एकत्रित करने वाली परखनलिकायें ।
(48) प्रतिजीवी पदार्थ तथा सल्फा औषधियाँ

यन्त्रों की सफाई (Sterilization of A. I. Equipments)

कृत्रिम गर्भाधान में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों की सफाई तथा जीवाणु-रहित करना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि उनके दूषित या गन्दे होने से पशु को जननेन्द्रिय रोग लग जाते हैं, जो कभी-कभी बड़े भयंानक सिद्ध होते हैं योनि में वीर्य डालने के बाद काम में आये हुए प्रत्येक यन्त्र को भली प्रकार तुरन्त स्वच्छ ताजे अथवा गुनगुने पानी से खूब धो डालना चाहिये, ताकि वीर्य उसमें न जम सके । तत्पश्चात् इन्हें साबुन के गर्म घोल से धोकर, पानी से साफ करके डिस्टिल्ड वाटर से धो डालना चाहिये ।

काँच के बने यन्त्रों को जीवाणु-रहित करने के लिए, उन्हें पानी से साफ करके सुखाकर या तो 200 से 300 डिग्री फारेनहाइट पर ऊष्मवात चूल्हा (Hot Air Oven) में आधे घण्टे के लिए रख देते हैं, अथवा 10 मिनट तक पानी में उबाल लेते हैं । बाहर निकालने से कुछ पूर्व ऊष्मवात चूल्हे का तापक्रम कम कर देते हैं, अन्यथा चूल्हे का द्वार खोलने पर बाहर की ठण्डी वायु एकदम प्रवेश पाकर काँच के बने पदार्थों को तोड़ देती है ।

रबर एवं लैटेक्स के बने पदार्थों को 3 से 5 मिनट तक खौलते हुए पानी में

डुबोकर जीवाणु-रहित किया जाता है। लैटेक्स के बने हुए पदार्थों को प्रयोग में लाने से पूर्व 70% ऐल्कोहॉल में डुबोकर सुखा लेना अधिक अच्छा होता है।

वीर्यवाहक नली (Inseminating Pipette) तथा पिचकारी को पहले स्वच्छ ताजे पानी से धोकर तथा ब्रुश करके, फिर गर्म पानी से धोते हैं। बाद में काँच के टपकाये हुए पानी (Glass Distilled Water) से धोकर, शुद्ध मलमल के कपड़े में लपेटकर ऊष्मवात चूल्हे (Hot Air Oven) में एक घण्टे के लिये 160 डिग्री सेंटीग्रेड पर रखकर जीवाणु-रहित करते हैं। यदि धोखे से वीर्यवाहक नली में कभी वीर्य जमकर सूख न जाये, तो उसे 24 या 48 घण्टे के लिये क्रोमिक अम्ल घोल (6% पोटाश डाइकोमेट तथा गन्धक का अम्ल) में रखकर साफ किया जा सकता है।

धातु के बने पदार्थ आधे से एक घण्टे तक खौलते हुए पानी में उबालकर जीवाणु रहित किये जाते हैं।

इस प्रकार जीवाणु-रहित किये गए यन्त्रों को उपयोग में लाने से कृत्रिम वीर्य सेंचन की क्रिया को सफल बनाकर शीघ्र ही नस्ल सुधार किया जा सकता है।

मूल मेण्डलवाद
(FUNDAMENTAL MENDELISM)

परिच्छेद : 19

मेण्डल के वंशागति नियम
(MENDAL'S LAWS OF INHERITANCE)

ग्रीगर जोहन मेण्डल (1822–1884) आस्ट्रिया के एक पादरी थे जिन्होंने सर्वप्रथम पौधों के प्रजनन पर आशातीत प्रयोग करके वंशागति (Inheritance) के कुछ नियम बनाये। इस प्रकार उन्होंने आनुवंशिकी तथा प्रजनन (Genetics and Breeding) विज्ञान की नींव डाली, जिसकी आज हम जीवजगत में उतनी उन्नति देख रहे हैं। अतः वंशागति के नियम जो जीन परिवर्तन पर आधारित हैं, मेण्डेलिज्म, मेण्डलवाद या मेण्डल के सिद्धान्त कहलाये और इस प्रकार मेण्डल आनुवंशिकी तथा प्रजनन जगत के पिता (Father of Genetics) माने गये। यद्यपि मेण्डल के पूर्व भी कुछ वैज्ञानिकों ने इस विषय पर थोड़े बहुत प्रयोग किये, परन्तु वे किसी वास्तविक लक्ष्य पर न पहुँच सके। मेण्डल ने 1857 से 1865 तक लगातार अपने बगीचे में उगाई हुई मटर पर प्रजनन प्रयोग करके अपने इस प्रगाढ़ अध्ययन के उपरान्त, आनुवंशिकता के गुणों (Hereditary Characters) के कुछ मूल सिद्धान्त निकाले, जो सन् 1866 में प्रकाशित हुए। सन् 1900 तक इन पर कोई भी आशातीत दृष्टिपात न हो सका। परन्तु इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी में मेण्डल के इस अन्वेषण कार्य को काफी महत्ता मिली और इसी को लक्ष्य मानकर आगे प्रजनन विज्ञान की प्रगति हुई।

अतः 'मेण्डेलिज्म' जीवविज्ञान का वह भाग है, जिसमें आनुवंशिकता एवं विभिन्नता (Heredity and Variation) के उन मूल सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है, जो सन् 1857 से 1865 तक खोज किये गये और सन् 1900 एवं उसके बाद वैज्ञानिक जगत में लाये गये।

"Mendalism in brief, is that division of the biological science which deals with the phenomena of heredity and variation along with the laws of inheritance which were discovered by Mendal between 1857—1865 and brought to scientific world in 1900 onward."

मेण्डल ने अपने वगीचे में 34 प्रकार की मटर उगाईं जिनमें 22 जातियाँ छाँटकर क्रियात्मक रूप से आठ वर्ष तक उनका प्रगाढ़ अध्ययन किया, जिसके फल-स्वरूप उन्होंने उनमें निम्नलिखित गुण देखे—

(1) वीच के वाह्य आवरण का रंग	**बैंगनी** या सफेद
(2) वीच की आकृति	**चिकनी** या झुर्रियोंदार
(3) वीज की दालों का रंग	**पीला** या हरा
(4) तने की लम्बाई	**लम्बी** या छोटी
(5) फूल की स्थिति	**अक्षरेखीय** या टर्मिनल
(6) फली की आकृति	**सख्त** या नर्म
(7) फली का रंग	**हरा** या पीला

जो शब्द काले छपे हैं वे गुण अपने विपरीत गुणों पर प्रभावी (Dominant) हैं। मेण्डल ने इन पौधों का परस्पर प्रजनन कराया और इस प्रकार जो नया पौधा वना, उसको **प्रथम पीढ़ी** (F_1 generation) कहा। अब प्रथम पीढ़ी के पौधों को आपस में मिलाकर या स्वयं-सेचन कराके गर्भाधान किया और उसके फलस्वरूप जो नये पौधे बने, उन्हें **दूसरी पीढ़ी** (F_2 generation) कहके सम्वोधित किया। इस प्रकार उन्होंने देखा कि कुछ गुण ऐसे हैं, जो माता-पिता से संतति में पहुँचते हैं। अतः इन गुणों के यातायात को मेण्डल ने **वंशानुक्रमण** (Inheritance) कहा उन्होंने यह भी देखा कि कुछ पौधे ऐसे निकलते हैं, जो किन्हीं गुणों में अपने माता-पिता या सम्वन्धियों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। ऐसे गुणों का नाम मेण्डल ने **पैतृकगुण** (Hereditary Character) रखा। साथ ही उन्होंने यह भी अध्ययन किया कि जीवधारी किसी मुख्य गुण में अपने ही प्रकार के अन्य साथियों से भिन्न होते हैं, इसी कारण प्रकृति में कोई भी दो जीव एक समान नहीं होते। इसे उन्होंने **विभिन्नता** (Variation) की संज्ञा दी।

अतः इस प्रकार वह इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवधारियों में गुणों का आदान-प्रदान कुछ विशेष नियमों के अनुसार होता है और वह नियम उनके नाम पर **मेण्डल के वंशागति नियम** (Mendal's laws of Inheritance) कहलाये जो निम्नलिखित हैं—

1. **विसयोजन का नियम** (Law of Segregation)
2. **स्वतन्त्र संव्यूहन का नियम** (Law of Independent Assortment)
3. **प्रबलता का नियम** (Law of Dominance)
4. **युग्मत इकाइयों का नियम** (Law of Paired Units)

यह नियम पशुओं में भी उसी प्रकार लागू है जैसे कि पौधों में, परन्तु इनकी उपयोगिता पशुधन में पौधों की अपेक्षा कुछ कम है।

विसयोजन का नियम (Law of Segregation)—यह मेण्डल का वनाया हुआ प्रथम वंशागति नियम है, जिसके अनुसार शारीरिक कोषाणुओं में उपस्थित

क्रोमोसोम के जोड़े गैमीट बनते समय पृथक होकर संतति में विभाजित होकर पहुँचते हैं, जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

इसमें सींगरहित साँड का सींगयुक्त मादा से अर्थात् दो विभिन्न पैतृक गुणों वाले पशुओं का प्रजनन कराया गया है। सींगररहित अवस्था (Polled Condition) सींगयुक्त अवस्था (Horned Condition) पर प्रभावी है। अत: प्रथम पीढ़ी में सभी संतति सींगरहित उत्पन्न हुई। इन सन्तानों का जब परस्पर संभोग कराया गया
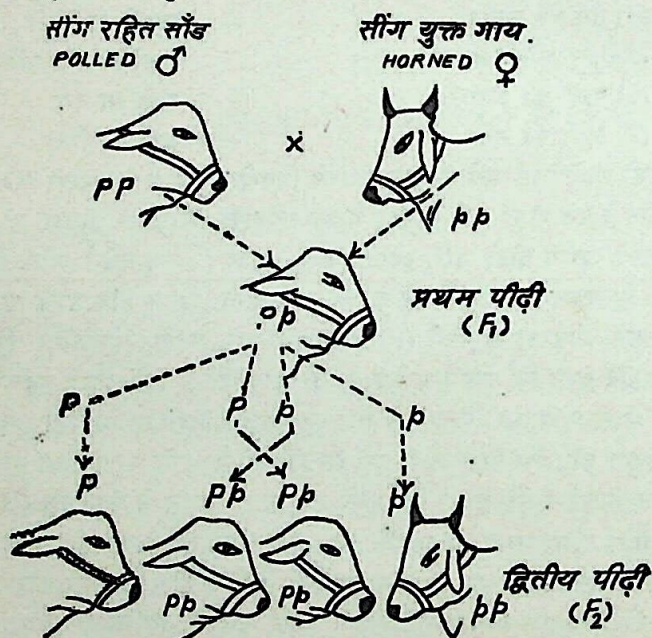
चित्र 19·1—विसयोजन का नियम (Law of Segregation)

तो दूसरी पीढ़ी में 3 : 1 के अनुपात में सींग-रहित एवं सींगयुक्त पशु मिले। ऐसा 3 : 1 का अनुपात जो एक ही गुण विभिन्न होने पर मिलता है, **मोनोहाइब्रिड अनुपात** कहलाता है।

इस प्रकार नंगी आँख से देखने पर हमें 3 पशु मुँड़े तथा 1 पशु सींगदार दिखाई देगा। इसे **फीनोटाइपिक अनुपात** (Phenotypic ratio) कहते हैं जो यहाँ 3 : 1 है। परन्तु यदि इनकी जीन के अनुसार आन्तरिक रचना देखी जाये तो वास्तव में हमें तीन प्रकार के जीनयुग्म (Gene Pairs) मिलेंगे, जैसा कि

चित्र 19·2—मोनोहाइब्रिड अनुपात (Monohybrid Ratio)

यहाँ दी हुई आकृति से विदित है, PP : Pp : pp। ऐसा अनुपात जीनोटाइपिक

अनुपात (Genotypic Ratio) कहलाता है, जो यहाँ 1 : 2 : 1 है। इस प्रकार विसयोजन नियम के अनुसार हमने देखा कि दो विभिन्न गुण प्रथम पीढ़ी की संतति में एक हो गये और जो गुण अधिक प्रभावी था, उसने दूसरे गुण को छिपा दिया। परन्तु दूसरी पीढ़ी में यह गुण एक दूसरे से पृथक होकर, एक निश्चित अनुपात में विभिन्न सन्तानों में बंट गये।

अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रजनन दृष्टि से प्रत्येक पशु दोहरी आकृति का बना है, क्योंकि आधे पैतृक गुण इसको माँ से तथा शेष आधे अपने पिता से मिलते हैं।

स्वतन्त्र संव्यूहन का नियम (Law of Independent Assortment)—मेण्डल के इस नियम के अनुसार एक दम्पत्ति की संतति में विभिन्न गुण एक दूसरे के आश्रित न रहकर, स्वतन्त्र रूप से विभाजित होकर उपस्थित रहते हैं। इसके अन्तर्गत एक ही समय में दो विभिन्न गुण वाले पशुओं में प्रजनन होता है। ऐसा क्रास जिसमें कि दो गुण वाले पशु भाग लेते हैं, **द्विसंकरण** (Dihybrid Cross) कहलाता है, जैसा कि अगले पृष्ठ पर दिये गये चित्र सं० 19·4 से स्पष्ट है।

इस उदाहरण में काला रंग, लाल पर तथा मुँडापन, सींगपन के ऊपर अपना प्रभुत्व रखता है। अतः दो विभिन्न गुण, **काला शरीर व मुंडे सिर वाला नर,** जब लाल शरीर और सींगयुक्त मादा से मिलाया जाता है, तो प्रथम पीढ़ी में सभी संतति काले शरीर तथा मुंडे सिर वाली (Black and polled), उत्पन्न होती हैं। परन्तु द्वितीय पीढ़ी में उनके परस्पर क्रास के फलस्वरूप हमें 9 मुंडे तथा काले (Black & polled), 3 मुंडे तथा लाल (Red and polled), 3 सींगयुक्त तथा काले (Black & horned) और एक सींगयुक्त तथा लाल (Red & horned) पशु मिलते हैं (चित्र 19·4)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दो या दो से अधिक विभिन्न गुणों को जन्म देने वाले जीन जो विभिन्न क्रोमोसोमों पर निवास करते हैं, प्रजनन के बाद स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार का संयोजन कर सकते हैं। अतः स्वतन्त्र संव्यूहन सदैव अलग-अलग क्रोमोसोमों पर उपस्थित जीनों (Genes) में ही होता है और एक ही क्रोमोसोम पर स्थित जीनों में नहीं हो सकता।

चित्र—19·3

प्रबलता का नियम (Law of Dominance)—मेंडल के अनुसार एक गुण अधिक प्रभावी होने के कारण दूसरे गुण को छिपाकर स्वयं दुगुना प्रभाव दिखाता है। इसमें जो गुण अधिक प्रभावी होता है, उसे **प्रबल गुण** (Dominant Character) कहते हैं तथा दूसरा जो छिपा रहता है **अप्रबल गुण** (Recessive Character) कहलाता है। प्रबल सदैव
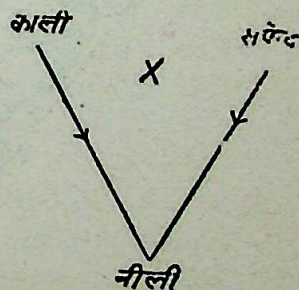
बड़े अक्षरों तथा अप्रबल छोटे से सम्बोधित किया जाता है। परन्तु यह नियम सब पशुओं में लागू नहीं होता, अतः ऐसी अवस्था में इसे प्रबलता की कमी (Lack of
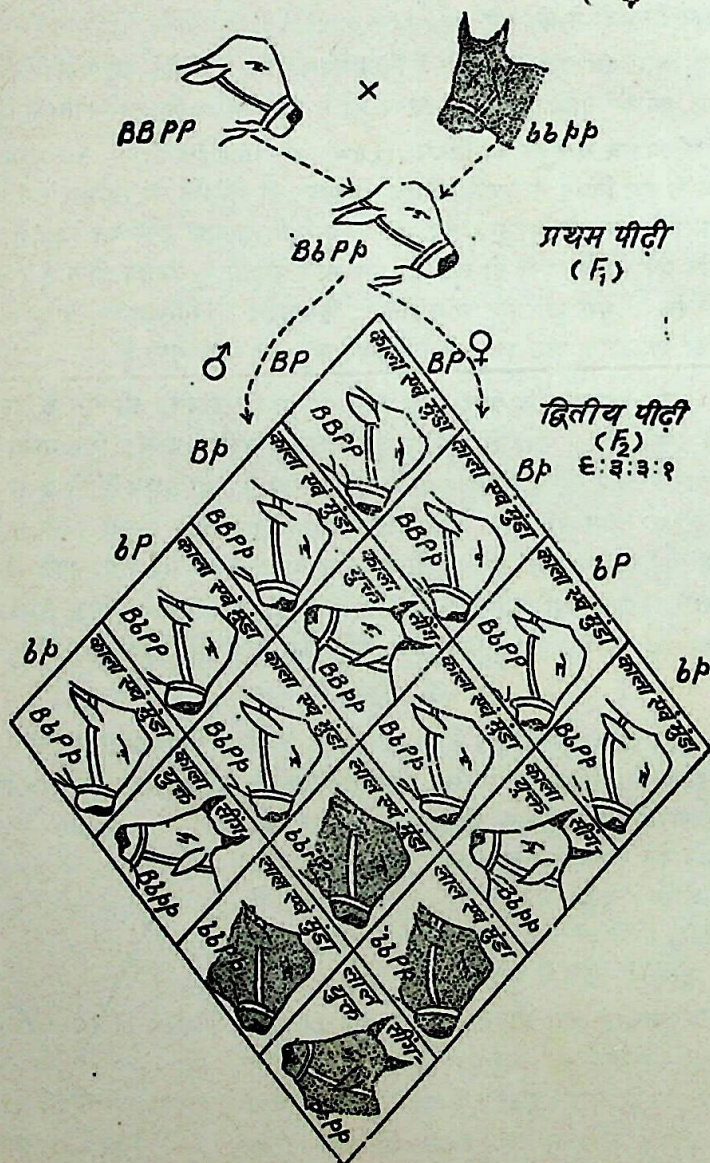
चित्र 19·4—स्वतन्त्र संव्यूहन का नियम
(Law of Independent Assortment)

Dominance) कहते हैं; जैसे ऐन्ड्रोलूशियन (चित्र 19·3)।

प्रबलता का नियम निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि लम्बाई का प्रभावी गुण, छोटाई के अप्रभावी गुण को किस प्रकार छुपा लेता है। किसी गुण की प्रबलता पूर्ण या अपूर्ण रूप से हो सकती है। जब यह अपूर्ण रूप में होती हैं तब इसे **अपूर्ण प्रबलता** (Incomplete Dominance) कहते हैं। इसका उदाहरण छोटे सींग वाले ढोरों का क्रास हैं, जैसा कि निम्न प्रकार विदित है—
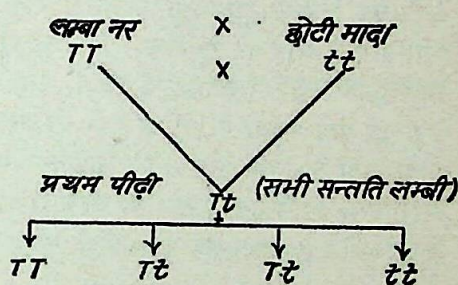
चित्र—19·5

लाल छोटे सींग वाला नर × सफेद सींग वाली मादा
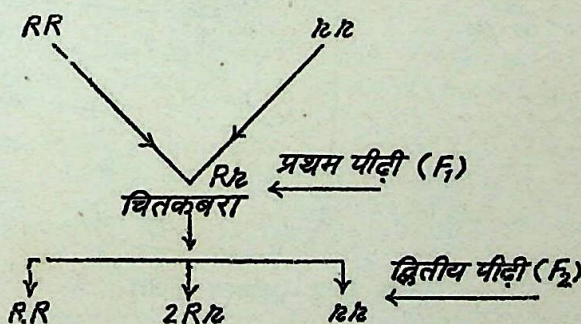
चित्र—19·6

इस प्रकार के क्रास से जो बच्चा पैदा हुआ वह लाल रंग का न होकर चितकबरे (सफेद व लाल) रंग का निकला। अतः प्रबलता अपूर्ण रही। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रबलता कोई विशेष नियम न होकर एक साधारण क्रिया है, जिसमें द्वितीय पीढ़ी F_2 में 1 : 2 : 1 का अनुपात रहता है, साथ ही इससे पैतृक गुणों की **समयुग्मता** (Homozygosity) का ज्ञान हो जाता है।

युग्मित इकाइयों का नियम (Law of Paired Units)—प्रत्येक जीवधारी कोषाणुओं (Cells) का बना होता है। इन कोषाणुओं में छोटा सा न्यूक्लियस होता है। इस न्यूक्लियस में छोटे-छोटे सूक्ष्मदर्शी तत्व जिन्हें **क्रोमोसोम** कहते हैं, स्थिर रहते हैं। शारीरिक कोषाणुओं में इन क्रोमोसोमों की संख्या जोड़े के रूप में विभिन्न पशुओं में भिन्न-भिन्न होती है, जैसे मनुष्यों में 24 जोड़े, भेड़ में 37, गौ-पशु में 30, भैंसों में 24, सूअर में 19, घोड़े में 30 तथा ड्रोसोफिला में 4 जोड़े। यह क्रोमोसोम

न्यूक्लियस की क्रोमैटिन जालिका (Chromatin Net-Work) से बनते हैं। क्रोमोसोम बहुधा जोड़े के रूप में विद्यमान रहते हैं। शरीर कोशिका के दो क्रोमोसोमों में से, एक पिता के शुक्राणु तथा दूसरा माता के अण्डाणु (Ovum) से आता है। क्रोमोसोम के जोड़े पर रेखाक्रम (Linear Order) में कुछ तत्व इस प्रकार स्थित रहते है, जैसे डोरे में लगाई हुई गांठें। इनकी संख्या निश्चित न होकर असंख्य होती है। यही तत्व पशुओं में विभिन्न गुणों को जन्म देते हैं, जिन्हें हम बाहर से देखते हैं। माता पिता से संतति में गुणों का आदान-प्रदान पूर्णतया इन्हीं पर निर्भर करता है। इन्हीं तत्वों को मेण्डल ने **तत्व या घटक** (Factor) कहकर सम्बोधित किया और बाद में यही **जीन** (Gene) कहलाये। पैतृक गुण इन्हीं जीनों (Genes) के द्वारा माता-

चित्र 19·7—कोषाणु (Cell)
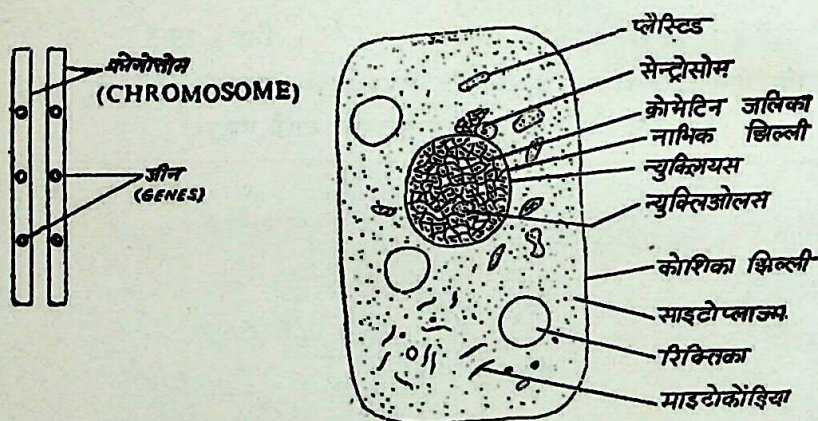
पिता से संतति में आकर विद्यमान होते हैं और यही जीन के जोड़े वास्तव में आनुवंशिकता (Heredity) की नींव हैं। सम्पूर्ण आनुवंशिकता इन्हीं पर आश्रित रहती है। अतः यह जीन ही जीवन की आधारशिला है।

कोशिका विभाजन के समय सभी सूचनाएँ मालीक्युलों की कुण्डलाकार लड़ों में सुरक्षित रहती हैं। यही लड़ें डी० एन० ए० कहलाती हैं। प्रत्येक कोशिका के केन्द्र में न्यूक्लियस होता है जिसमें गुण-सूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं। इन्हीं गुण-सूत्रों का रासायनिक नाम डी० एन० ए० है।

परिच्छेद : 20

सहलग्नता, क्रॉसिंग ओवर और घातक-कारक

(LINKAGE, CROSSING OVER AND LETHAL FACTORS)

सहलग्नता (Linkage)—पैतृकता की वह आकृति, जिसमें पितृों में एक साथ रहने वाले जीन पृथक् न होकर, संतति में उसी प्रकार आकर विद्यमान हो जाते हैं, सहलग्नता कहलाती है।

"The features of heredity in which characters tend to stay together is known as 'linkage."
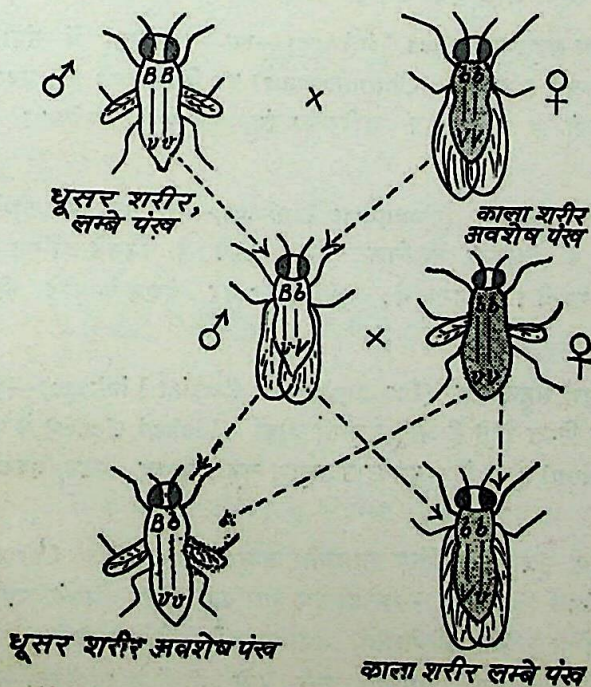
चित्र 20·1—ड्रोसोफिला में सहलग्नता (Linkage in Drosophila)

विभिन्न गुणों के लिये उत्तरदायी, यदि दो अथवा दो से अधिक जीन, एक ही क्रोमोसोम पर स्थित हों, तो वे सहलग्नता नियम के अनुसार ही एक साथ सन्तति में पहुँच कर रहेंगे। 'मोरगेन' के अनुसार एक ही क्रोमोसोम पर रहने वाले जीनों के द्वारा सहलग्नता होती है। इसका उदाहरण ड्रॉसोफिला मक्खी का चित्र 20·1 में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पैतृक गुण जिस प्रकार माता-पिता में थे, उसी रूप से सन्तति में आ गये। अतः जैनेटिक कारकों का वह संयोग जो विसयोजन (Segregation) और संव्यूहन (Assortment) के परिणामस्वरूप होने वाले सामान्य अनुपातों को घटा-बढ़ा देता है, सहलग्नता कहलाता है। एक ही क्रोमोसोम पर स्थित जीनों के समूह को **सहलग्नता समूह** (Linkage Group) कहते हैं।

सहलग्नता के प्रकार
(Kinds of Linkage)

(1) ऑटोसोमल सहलग्नता (Autosomal Linkage)—इस सहलग्नता में भाग लेने वाले जीन ऑटोसोम पर स्थित रहते हैं। उदाहरण : ड्रॉसोफिला के शरीर का रंग एवं उनके पंखों की लम्बाई, मनुष्यों में बहरापन तथा दोषमुक्त दाँतों की वृद्धि, बिल्ली में नीली आँखें तथा वर्ण-हीनता।

(2) लिंग सहलग्नता (Sex Linkage)—इस सहलग्नता में संयोजित होने वाले जीन, लिंग-गुण सूत्र (Sex Chromosome) पर स्थित रहते हैं। उदाहरणार्थ; ड्रॉसोफिला मक्खी में आँख एवं शरीर का रंग, मनुष्य में वर्णान्धता (Colour Blindness)।

(3) पूर्ण सहलग्नता (Complete Linkage)—इस दशा में क्रोमोसोम पर जीन एक-दूसरे के बिल्कुल ही निकट स्थित रहते हैं, जिससे क्रॉसिंग ओवर की सम्भावना नहीं रहती। उदाहरणार्थ; ड्रॉसोफिला नर, रेशम के कीड़े की मोथ की मादा, ज्वार।

(4) अपूर्ण सहलग्नता (Incomplete or Partial Linkage)—इसमें जीन एक-दूसरे से दूर स्थित रहते हैं और सहवर्ती जीनों (Linked Genes) में पुनः संयोग (Recombination) होता है। इसका उदाहरण चूहा, मनुष्य, मटर, मक्का आदि में मिलता है।

लिंग गुण सूत्र तथा लिंग-सहलग्नी आनुवंशिकता (Sex Chromosome and Sex Linked Heredity)—क्रोमोसोम का वह जोड़ा जिससे प्राणीमात्र का लिंग निर्धारण होता है, **लिंग क्रोमोसोम**, तथा अन्य शेष जोड़े **आटोसोम** कहलाते हैं। लिंग क्रोमोसोम पर, लिंग निर्धारण करने वाले जीनों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीन भी स्थित रहते हैं।

लिंग-सहलग्नी लक्षण (Sex Linked Characters)—वे लक्षण जिनको प्रकट करने वाले जीन लिंग क्रोमोसोम पर स्थित रहते हैं, लिंग सहलग्नी लक्षण कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, ड्रॉसोफिला मक्खी में आँख का रंग (चित्र 20·2)।

यहाँ दी हुई आकृति में एक सफेद आँख वाले नर का, लाल आँख वाली मादा से संकरण (Cross) कराया गया है। इस प्रकार प्रथम पीढ़ी की सभी सन्तति लाल आँख वाली होंगी, परन्तु द्वितीय पीढ़ी (F_2) में लाल तथा सफेद आँखों में 3 : 1 का अनुपात होगा। इसमें सभी मादायें लाल आँखों वाली तथा आधे नर लाल आँख के व शेष आधे सफेद आँखों वाले उत्पन्न होंगे।
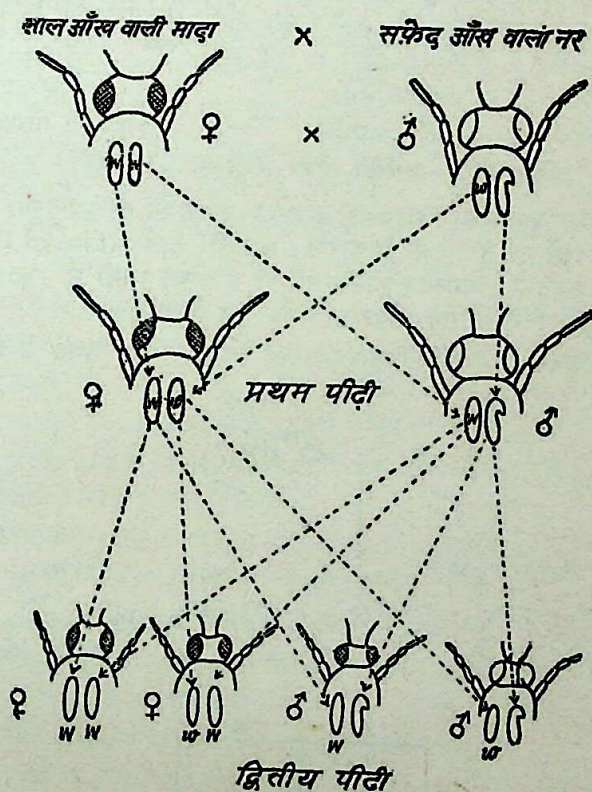
चित्र 20·2—ड्रॉसोफिला में लिंग सहलग्नी लक्षण
(Sex Linked Character in Drosophila)

इसके विपरीत, जब सफेद आँख वाली मादा का लाल आँख वाले नर से संकरण होता है, तो इस क्रॉस से पैदा हुये सभी नर बच्चे सफेद आँख वाले तथा सब मादा बच्चे लाल आँख वाले होते हैं। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है, जबकि यह मान लिया जाये कि उक्त लक्षण निर्धारण करने वाले जीन X-क्रोमोसोम पर ही स्थित

हैं और y पर नहीं। प्रथम पीढ़ी की संतति का आपस में संकरण करना से आधे सफेद तथा आधे लाल आँख वाले वच्चे उत्पन्न होंगे।

क्रॉसिंग ओवर (Crossing Over)—दो विभिन्न समजात क्रोमेटिड (Chromatids) के जीनों का आपस में बराबर-बराबर अदल-बदल जाना, क्रॉसिंग ओवर कहलाता है। "An equal interchange of chromation material (genes) between two non-sister homologous chromatids is known as crossing over."
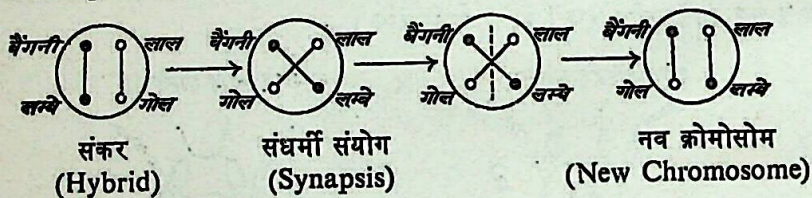
चित्र 20·3—क्रॉसिंग ओवर (Crossing Over)

उक्त क्रिया अर्धसूत्रणा (Meosis) के प्रथम विभाजन की पूर्वावस्था (Prophase) पर होती देखी गई है। इसी के कारण सहवर्ती जीनों (Linked Genes) में नये संयोग होते रहते हैं। समजात क्रोमोसोमों पर उपस्थित जीनों में जितना फासला बढ़ता है उतना ही उनमें क्रॉसिंग ओवर की संख्या वढ़ जाती है।

घातक-कारक (Lethal Factors)—वे कारक, जो पशुओं में दोष उत्पन्न
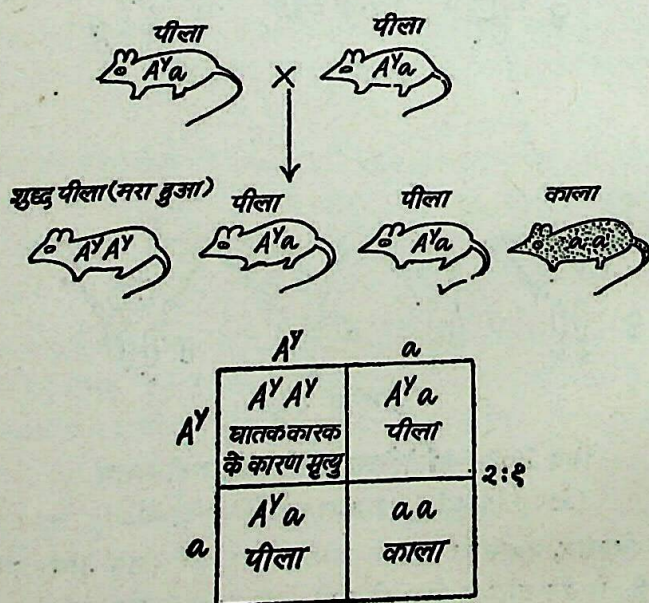
चित्र 20·4—गृह मूषिका में घातक-कारक
(Lethal Factors in House mice)

करके उनको मार डालते हैं अथवा उनमें विशेष प्रकार के अवगुण पैदा करके उन्हें बिल्कुल बेकार कर देते हैं, घातक कारक कहलाते हैं। अतः ये वे गुण हैं, जो कुछ दोष उत्पन्न करके जीवधारी की भ्रूण अवस्था या जन्म के समय में मृत्यु का कारण बनते हैं। वैसे तो यह कारक प्रत्येक प्रकार के पशु में **विषम जननांशी** (Heterozygous) दशा में पाये जाते हैं, परन्तु इनका समजननाँशी (Homozygous) दशा में होना, उन पर विशेष प्रभाव डालता है। इनमें कुछ विशेष प्रकार के जीन एक साथ आ जाते हैं, जिससे आँत उतरना, एक अथवा दोनों अण्डकोषों का नीचे न लटककर उदर-गुहा में ही रह जाना (Rig condition), इत्यादि दोष आकर जीवधारी का आगे विकास होना रुक जाता है। इस प्रकार जीन की इस हानि पहुँचाने वाली प्रवृत्ति को **घातक क्रिया** (Lethal Action) कहते हैं। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार जो कारक पशु को जन्म के बाद मारने में सहायक होते हैं, उन्हें **आँशिक अथवा उप-घातक कारक** (Semi or Sub-lethal Factors) कहते हैं। उदाहरणार्थ पीली किस्म की गृह मूपिका (House Mice Yellow Variety)। यहाँ पर "A" पीलेपन के लिये प्रधान जीन है तथा 'a' बे-पीलेपन के लिये उसकी **अप्रबल युग्म विकल्पी** (Recessive Allele) है। उक्त क्रॉस के परिणामस्वरूप $\frac{2}{3}$ संतति पीले रंग की तथा $\frac{1}{3}$ काले रंग की उत्पन्न होती है। इसमें शुद्ध पीले रंग वाला बच्चा समजननाँशी अवस्था (Homozygous Condition) में घातक जीन उपस्थित होने के कारण भ्रूण अवस्था में ही मर जाता है तथा विषय जननाँशी पीले (Yellow) और बे-पीले (Non-yellow) चूहे पैदा होने के लिये जीवित रहते हैं। अतः पीले रंग की चुहिया को जीवित रहने के लिये यह आवश्यक है, कि उसमें बे-पीलेपन के लिये अप्रबल युग्म विकल्पी (Allele) कारक भी उपस्थित हो।

घातक-कारक, बहुधा अप्रबल (recessive) ही होते हैं। परन्तु यह प्रबल अथवा अपूर्ण प्रबल (Dominant or Incompletely Dominant) भी हो सकते हैं।

घातक कारकों के होने वाले दोष

1. **एकाँड्रोप्लेसिया** (Achondroplasia)—एक बछड़ा जिसके छोटे पैर, मोटा तथा छोटा सिर, चपटी नाक, नीचे का जबड़ा बड़ा तथा जीभ बाहर निकली हुई हो। ऐसे जीव का चौथे माह में गर्भपात हो जाता है।

2. **मुर्गियों में क्रीपर** (Creeper in Poultry)—मुर्गियाँ जिनके बहुत छोटे पैर व पंख हों।

3. **ढोरों में बौनापन** (Dwarfism in Cattle)—पशु का छोटा होना, जैसे डेक्सटर नस्ल में बुलडाग बछड़े (Bull Dog Calves in Dexter Breed)।

4. **बगैर बालों के बछड़े** (Hairless Calves)—वह बछड़े, जिनके शरीर पर जन्म के समय बाल ही न हों।

5. **अंगच्छेदित बछड़े** (Amputated Calves)—मरे हुए बछड़े, जिनके पैर तथा निचला जबड़ा गायब हो।

6. छोटा मेरुदण्ड (Short Spined)—रीढ़ की हड्डी छोटी व सटी हुई होना।

7. घोड़ों में अंतड़ी का बन्द हो जाना।

8. ढोरों में प्रमस्तिष्कीय (Cerebral) हानियाँ।

9. नर में अछिद्रिल गुदा (Imperforate anus) मादा में अछिद्रिल योनि (Imperforate vagina)।

10. ढोरों में लगभग आठवें माह में भ्रूण का सड़ जाना।

11. भेड़ तथा ढोरों में संधियों (joints) का सूत्रण रोग (fibrosis) और मांसल अपक्षय (muscular atrophy), इत्यादि।

परिच्छेद : 21

विभिन्नता
(VARIATION)

पशुओं एवं समस्त जीवधारियों का वह स्वभाव जिसमें कुछ गुणों की विभिन्नता के कारण, वे एक-दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं, विभिन्नता कहलाता है। इस नियम के अनुसार ही संसार के समस्त जीवधारी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। पशु अपनी जाति, कद, रंग-रूप, दुग्धोत्पादन, मक्खन की प्रतिशत, ऊन की किस्म तथा मात्रा, चाल, बढ़ोत्तरी, आयु, रोगों के प्रति सहनशक्ति, आदि गुणों में एक-दूसरे से विभिन्नता रखते हैं। जो पशु जितने ही अधिक एक-दूसरे से भिन्न होंगे, उतना ही अच्छा उनका चयन सम्भव होगा। इस प्रकार विभिन्नता होना पशुओं की उन्नति के लिये बहुत ही आवश्यक है। विभिन्नता के कारण पशुओं में कभी-कभी बड़े लाभदायक गुण देखने को मिल जाते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसे गुण भी प्रकट हो जाते हैं, जो बिल्कुल ही बेकार होकर पशु-पालक को भारी क्षति पहुँचाते हैं। विभिन्नता के नियम के अनुसार संतति अपने माता-पिता से कुछ गुणों में अधिक अच्छी मिल सकती है। इसके विरूद्ध, यदि पशुओं में काफी उन्नति हो चुकी हो, तो फिर विभिन्नता द्वारा नये आये दुर्गुणों के अनुसार, उनकी अवनति भी हो सकती है। इस प्रकार विभिन्नता द्वारा प्राणी मात्र में नवीन प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं और आनुवंशिकता (heredity) उन्हें संरक्षित रखती है।

विभिन्नता के प्रकार (Kinds of variation)—मुख्य तौर पर विभिन्नता दो प्रकार की हो सकती है—

(1) आनुवंशिक, बीजाणुगत, स्वजात या आन्तरिक विभिन्नता (Genetic, Germinal, Autogenous or Internal Variation)।

(2) अजैनेटिक, दैहिक या बाह्य विभिन्नता (Nongenetic, Somatic or External Variation)।

इसके अतिरिक्त, विभिन्नता का वर्गीकरण अगले पृष्ठ के अनुसार भी किया जा सकता है।

जैनेटिक विभिन्नता (Genetic Variation)

यह विभिन्नता बीज के कोषाणुओं में परिवर्तन होने के कारण होती है। प्राकृतिक रूप से आनुवंशिकता के परिणामस्वरूप, जीन में परिवर्तन एवं वृद्धि होने के कारण अथवा एक साथ जीन समूह या सम्पूर्ण क्रोमोसोम में परिवर्तन होने से इस

प्रकार की विभिन्नता जीवधारियों में हो जाती है। आनुवंशिक विभिन्नता के कारण जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचते हैं। अतः

विभिन्नता का वर्गीकरण
(Classification of Variation)
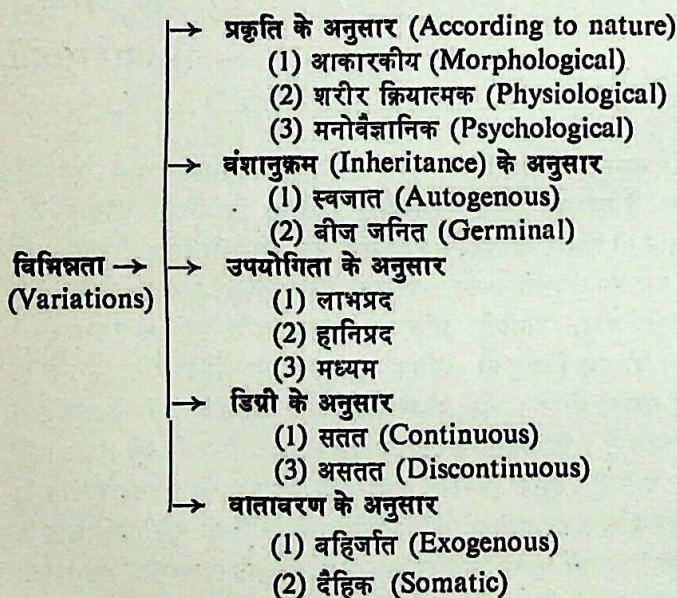
विभिन्नता के कारण
(Causes of Variations)
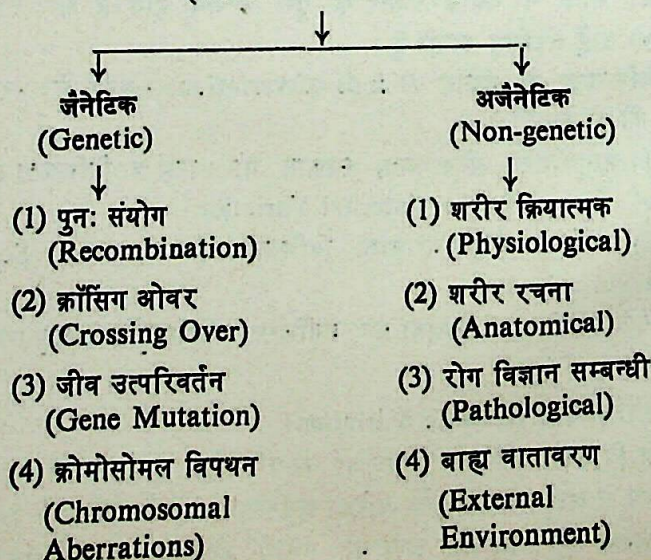
जैनेटिक विभिन्नता जीन की विभिन्नता से सम्बन्धित है; जो निम्न प्रकार से हो सकती है—

(1) पुनः संयोग (Recombination) से विभिन्नता

इसके अन्तर्गत गैमीट बनते समय जब क्रोमोसोम एक-दूसरे के साथ आते हैं, तो उनके अप्रबल जीन (recessive genes) जो अभी तक छुपे होने के कारण अपने गुण प्रकट नहीं कर सकते थे, अब पुनः संयोजित होकर दोहरी मात्रा में आकर अपने गुण प्रकट कर देते हैं। यह गुण देखने में नये प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में यह नये नहीं हैं, वरन् छुपे हुए अब प्रकट हो गये हैं। उदाहरण के लिये निम्न चित्र देखिये—
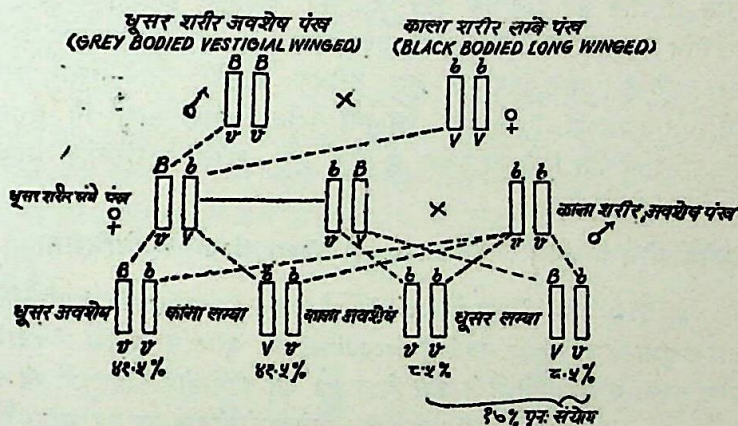
चित्र 21·1—ड्रॉसोफिला में पुनः संयोग से विभिन्नता
(Variations due to recombination in Drosophila)

(2) क्रासिंग ओवर से विभिन्नता

इसके अन्तर्गत दो विभिन्न प्रकार के समजात क्रोमोसोम साथ आने पर, उनमें उपस्थित कुछ जीन आपस में अपना स्थान परिवर्तित करके, जीवधारियों में विभिन्नता ला देते हैं। उदाहरणार्थ निम्न आकृति देखिये—(Chromosome) (Four Chromatids) (Synapsis) (New Chromosome)
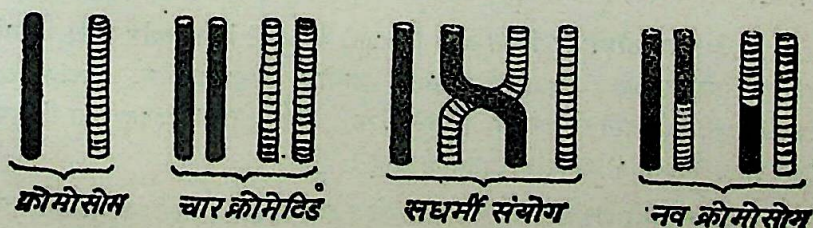
चित्र 21·2—क्रासिंग ओवर से विभिन्नता
(Variation due to Crossing Over)

(3) जीन उत्परिवर्तन (Gene Mutation) से विभिन्नता

एकाएक जीवधारी में कोई ऐसा गुण प्रकट हो जाये, जो पहले कभी देखा न गया हो; **जीन उत्परिवर्तन** (Gene Mutation) कहलाता है। ऐसा जीन में एकाएक व्यक्तिगत परिवर्तन के कारण होता है। तत्पश्चात् माता-पिता से यह परिवर्तन संतति में पहुँचता है। इसके द्वारा लाखों पशुओं में एक साथ विभिन्नता आ सकती है। ऐसे उत्परिवर्तन यदा-कदा हुआ करते हैं। पशुओं में वर्णहीन चूहा (albino rat), ऐनकोन जाति की भेड़ के छोटे पैर, तथा सींगरहित ढोर इसके उदाहरण हैं। यह परिवर्तन लाभदायक अथवा हानिकारक, दोनों प्रकार के हो सकते हैं। ऐसे परिवर्तन जब प्राकृतिक रूप से स्वयं एकाएक होते हैं, तो उन्हें **स्वतः उत्परिवर्तन या स्वतः भेद** (spontaneous mutations or spontaneous variations) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ उत्तेजक वस्तुओं; जैसे—एक्सरे, परावैंगनी किरणें (ultra-violet rays) तथा रसायनों (chemicals) द्वारा भी कृत्रिम रूप से ऐसे परिवर्तन पैदा किये जा सकते हैं और इन्हें प्रेरित उत्परिवर्तन (induced mutation) कहते हैं।

(4) क्रोमोसोम विपथन (Chromosomal Aberrations) से विभिन्नता

यह विभिन्नता कोषाणुओं (cells) के केन्द्र रूप (caryotype) में परिवर्तन होने के कारण हुआ करती है। संवर्धन (breeding) की दृष्टि से प्रत्येक जीवधारी एक निश्चित संख्या के क्रोमोसोमों से बना होता है। यह क्रोमोसोम कोषाणुओं की नाभिक जालिका (nuclear network) बनाते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम पर एक माला में दानों की भाँति जीन स्थित रहते हैं। जीन की संख्या शरीर में क्रोमोसोमों की संख्या से कई गुनी अधिक होती है। क्रोमोसोमों की संख्या एवं उन पर जीनों की रचनात्मक स्थिति जीवधारी का केन्द्र रूप (caryotype) कहलाती है। अतः क्रोमोसोम में परिवर्तन निम्न प्रकार सम्भव है—

(1) क्रोमोसोमों पर नार्मल संख्या में परिवर्तन होना—इसके अन्तर्गत मूलसंख्यता (haploidy), बहुगुणितता (polyploidy) तथा विषम गुणनता (heteroploidy) आदि प्रकार के परिवर्तन आते हैं।

(2) क्रोमोसोमों पर स्थित जीन (genes) के भागों में परिवर्तन होना—इसके अन्तर्गत स्थानान्तरण (translocation), अन्योन्य स्थानान्तरण (reciprocal translocation), प्रतिलोमीकरण (inversion), न्यूनता (deficiency) या द्वि-रूपकरण (duplication) आदि परिवर्तन आते हैं।

मूल-संख्यता (Haploidy)—यह वह अवस्था है, जिसमें क्रोमोसोमों का केवल एक ही कुलन (set) रहता है और यह उस जाति के पशुओं में मिलती है, जिनमें अमैथुन प्रजनन (parthenogenesis) होता है। उदाहरणार्थ; मधुमक्खी।

बहुगुणितता (Polyploidy)—यह वह अवस्था है, जिसमें जीवधारी में क्रोमोसोम की संख्या नार्मल न होकर हैप्लॉयड संख्या का गुणक होती है। हैप्लॉयड संख्या 'n' कहलाती है। अतः पोलिप्लॉयड में '3n' या '4n' हुई। उदाहरणार्थ—सुअर।

विषम गुणनता (Heteroploidy)—यह वह अवस्था है, जिसमें कि जीवधारी में क्रोमोसोमों की संख्या न तो नॉर्मल और न हैप्लॉयड संख्या का गुणक हो। इस प्रकार क्रोमोसोमों की संख्या नार्मल से कम जैसे (2n – 1) या अधिक (2n + 1) हो सकती है। ऐसा जीव **हैटेरोप्लॉयड** कहलाता है।

स्थानान्तरण (Translocation)—यह क्रोमोसोमों का नया सहलग्नता सम्बन्ध है, जिसमें एक क्रोमोसोम का कोई भाग टूटकर, किसी अन्य असधर्मी (nonhomologous) क्रोमोसोमों पर जुड़ जाता है।

अन्योन्य स्थानान्तरण (Reciprocal Translocation)—इसको खण्ड विनिमय (segmental inter-change) भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत एक क्रोमोसोम का कोई भाग टूटकर, किसी अन्य असधर्मी (nonhomologous) क्रोमोसोम पर जुड़ता है और साथ ही असधर्मी क्रोमोसोम का उतना ही टुकड़ा टूटकर, पहले वाले क्रोमोसोम के टूटे स्थान पर जुड़ जाता है। इस अदल-बदल को **अन्योन्य स्थानान्तरण** कहते हैं।
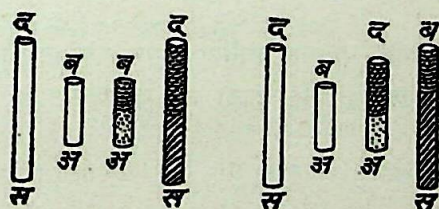
चित्र 21·3—अन्योन्य स्थानान्तरण
(Reciprocal Translocation)

प्रतिलोमीकरण (Inversion)—इस अवस्था के अन्तर्गत क्रोमोसोम का कुछ भाग अपने ही ऊपर उलटकर, उस पर स्थित जीवों का क्रम बदल देता है, जैसा कि निम्न आकृति से विदित है—
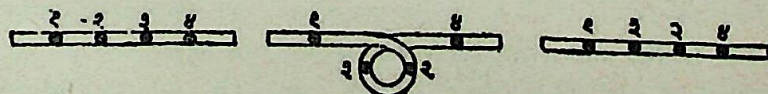
चित्र 21·4—प्रतिलोमीकरण (Inversion)

न्यूनता (Deficiency)—इस अवस्था के अन्तर्गत क्रोमोसोम का थोड़ा भाग अलग होकर खो जाता या निष्क्रिय हो जाता है। उदाहरणार्थ—ड्रॉसोफिला मक्खी का दांतेदार पंख।

द्विरूपकरण (Duplication)—इसके अन्तर्गत दो समजात क्रोमोसोमों में असमान क्रॉसिंग ओवर होता है, जिसके परिणामस्वरूप एक क्रोमोसोम का कुछ भाग टूटकर दूसरे साथी क्रोमोसोम पर जुड़कर, उसमें कुछ जीनों की संख्या दोहरी कर देता है। इस प्रकार पहले क्रोमोसोम में कमी आ सकती है, जैसा कि निम्न चित्र से विदित है—

निम्न प्रकार जीन अथवा क्रोमोसोमों में परिवर्तन होने से जीवधारियों में विभिन्नता आ जाती है। अतः जैनेटिक विभिन्नता जीवधारी के जीन के रूप में परिवर्तन होने से उत्पन्न होती हैं।
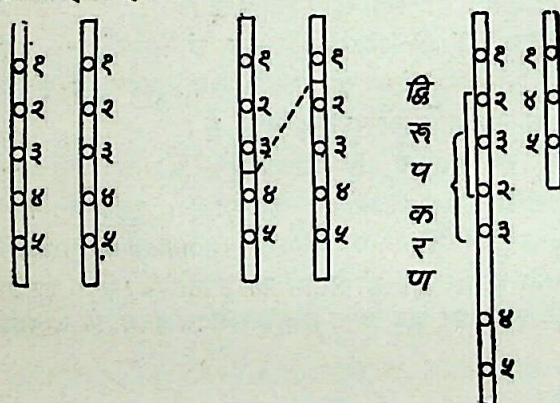
समान क्रोमोसोम, असमान क्रासिंग ओवर, असमान क्रोमोसोम

चित्र 21·5—न्यूनता तथा द्विरूपकरण
(Deficiency and Duplication)

अजैनेटिक विभिन्नता (Nongenetic Variation)—यह दो प्रकार की हो सकती है।

1. **दैहिक विभिन्नता** (Somatic Variation)—यह विभिन्नता जीवधारी के शारीरिक कोषाणुओं में परिवर्तन होने के कारण हुआ करती है। इसका स्वरूप माता-पिता से सन्तति में नहीं जा सकता। ऐसे परिवर्तन, भ्रूण बनते समय या बनने के बाद, शारीरिक कोषाओं (body cells) में परिवर्तन आदि के कारणों से हो जाते हैं तथा बीजकोष पर भी अपना प्रभाव डालते हैं।

2. **वातावरणीय विभिन्नता** (Environmental Variation)—यह विभिन्नता बाहरी उत्तेजक पदार्थों; जैसे—प्रकाश, तापक्रम, भोजन, रहन-सहन, जलवायु इत्यादि कारणों द्वारा जीवधारियों में आ जाती है। क्योंकि यह जीवधारियों में बाहरी वातावरण में परिवर्तन होने से उत्पन्न होती है, अतः इसे **बहिर्जात विभिन्नता** (Exogenous Variation) भी कहते हैं। प्रत्येक गुण पर वातावरण का, जिसमें कि जीव रहता है, थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है परन्तु वातावरण के कारण उत्पन्न हुए लक्षण माता-पिता से सन्तति में नहीं पहुँचते। जब पूर्णरूप से समान जीनोटाइप वाले जीवों को एक सा वातावरण नहीं मिलता, तो उनके दृश्य रूप में भी

अन्तर हो जाता है। अतः किसी भी जीवधारी का दृश्य रूप, उनके वातावरण तथा जीन रूप के सम्मिश्रण से बना है और विभिन्न वातावरण मिलने पर बदलता रहता है। यह विभिन्नता तीन प्रकार से हो सकती है।

(1) पैतृक गुणों की वृद्धि होकर—जैसे पशु को अच्छा भोजन खिलाने से उसमें पहले से उपस्थित विशेष गुणों की वृद्धि होती है। इसी पशु को खराब भोजन मिलने पर उसकी वृद्धि रुक जाती है।

(2) उन गुणों के उत्पन्न होने की अनुकूल अवस्थायें मिलना, जिनके जीन पहले से ही बीजकोषाणुओं (germ cells) में विद्यमान हों, जैसे—पौधों के विकास के लिये प्रकाश की आवश्यकता।

(3) बीजकोषाणुओं में ही विभिन्नता पैदा हो जाना, जिसके फलस्वरूप जीवधारी में जन्म के बाद नये गुण दृष्टिगोचर हों।

इस प्रकार बाह्य वातावरण द्वारा पशुओं में अन्य प्रकार के परिवर्तन आ जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वे हमें एक-दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण एक ही माता-पिता के सब बच्चे समान न होकर, उनमें भी विभिन्नता होती है।

पशुधन विकास के लिये विभिन्नता, पशु-प्रजनक (animal breeder) के हाथ में कच्चा माल (raw material) है। जिस प्रकार कच्चे माल से एक कारीगर विभिन्न यन्त्रों की सहायता से अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकार की वस्तुयें बनाता है, ठीक उसी प्रकार पशु-प्रजनन रूपी कारीगर विभिन्नता रूपी कच्चे माल से प्रजनन विधियाँ एवं वरण (Breeding System and Selection) रूपी यन्त्रों की सहायता से मनवांछित गुणों की नई-नई पशु-जातियाँ उत्पन्न कर सकता है।

परिच्छेद : 22

पशुओं के विकास के लिये मेण्डल के अधिनियम की उपयोगिता

(THE MENDALIAN RULE AS APPLIED TO CATTLE IMPROVEMENT)

इतिहास के अनुसार जैनेटिक्स को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो जैनेटिक का **अवैज्ञानिक युग** और दूसरा **वैज्ञानिक युग**।

जैनेटिक्स के वैज्ञानिक विकास के पूर्व सन् 1900 तक लोगों का इस सम्बन्ध में ऐसा विचार था कि माता-पिता के रक्त के मिलने से सन्तान की उत्पत्ति होती है तथा रक्त के द्वारा ही माता-पिता के सभी गुण सन्तति में पहुँचते हैं।

सूक्ष्मदर्शी (microscope), शुक्राणु (sperm) तथा अण्डाणु (ovum) की खोज के उपरान्त जब संसेचन (fertilization) का ज्ञान हुआ, उसके बाद ही उन्नीसवीं शताब्दी में जैनेटिक्स का वैज्ञानिक युग प्रारम्भ हुआ। शुक्राणु सर्वप्रथम लीवेनहाक के एक विद्यार्थी **'हेम'** (Ham) ने सन् 1677 में देखा तथा अण्डाणु की खोज **'बेयर'** (Bayer) ने अट्ठारहवीं शताब्दी में की।

संवर्धन विज्ञान की प्रगति का वास्तविक श्रेय **ग्रीगर जोन मेण्डल** (Gregor John Mendal) को ही है, जिन्होंने अपूर्व परिश्रम के बाद, अपने अनुभवपूर्ण मटर के संवर्धन के क्रियात्मक कार्य को प्रकाशित करके, संसार के समक्ष वास्तविक रूप में रखा। उन्होंने जीन को आनुवंशिकता (heredity) का भौतिक आधार बताकर, रक्तवाद (Blood Theory) का खण्डन किया। इस प्रकार, यह स्पष्ट हो गया कि माता-पिता के रक्त का, संसेचन तथा आनुवंशिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। मेण्डल के अनुसार, प्रत्येक जीवधारी के जनन-कोषाणुओं (reproductive cells) में छोटी-छोटी इकाइयाँ होती हैं, जिन्हें जीन कहते हैं। यही इकाइयाँ माता-पिता से संतति में पैतृक गुणों को ले जाकर, उसका **जीन रूप** (genotype) बनाती हैं। इस प्रकार आनुवंशिकता से रक्त का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मेण्डल ने अपने इस प्रगाढ़ अध्ययन से वंशानुक्रमण (inheritance) के कुछ नियम बनाये, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् सन् 1900 में वैज्ञानिक जगत में लाये गये और बाद में अनेक वैज्ञानिकों ने इस पर कार्य करके, उनका विकास किया। इसके फलस्वरूप इनकी समुचित उपयोगिता द्वारा वनस्पति एवं पशुधन की अधिक उन्नति हो सकी और आज भी

इन नियमों की इन क्षेत्रों में विशेष उपयोगिता है। **इस प्रकार मेण्डल ने आनुवंशिकी की नींव डाली और वे संवर्धन के पिता (Father of Genetics) कहलाये।**

मेण्डल के बनाये हुये विसंयोजन (Segregation) तथा स्वतन्त्र संव्यूहन (Independent Assortment) के प्रमुख नियम प्रायः सभी जीवधारियों में लागू होते हैं। जीवों के स्वतन्त्र संव्यूहन से नये-नये गुणों वाले पशु उत्पन्न होते हैं। अतः पशु-प्रजनन इन नियमों की उपयोगिता द्वारा विभिन्न जातियों में बिखरे हुये इच्छित गुणों को किसी विशेष जाति में सफलतापूर्वक संग्रह करके, मनवांछित फल पा सकता है। इन नियमों की उपयोगिता से ही पशुओं की नयी-नयी जातियाँ उत्पन्न की जा सकी हैं। इस प्रकार मेण्डेलियन अधिनियम (Mendalian Rule) की पशु-प्रजनन में काफी महत्ता है।

प्रत्येक पशु-पालक का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है, जिसकी प्राप्ति के लिये वह निरन्तर प्रयास करता है। पशु-प्रजनक (animal breeder) का मुख्य उद्देश्य गुण-संश्लेषण (character synthesis) है, जबकि मेण्डेलिज्म द्वारा गुण-विश्लेषण (character analysis) होता है। अतः संश्लेषण प्रारम्भ करने से पूर्व पूर्ण विश्लेषण करना नितान्त आवश्यक है।

वैसे तो बड़े पशुओं में मेण्डेलियन अधिनियम की उपयोगिता उस प्रकार नहीं मिलती, जैसे कि पौधों में। इसका एकमेव कारण पशुओं में अधिक संख्या में क्रोमोसोमों का होना तथा कम बच्चे पैदा करना है। फिर भी, निम्न बातों का समुचित ज्ञान प्राप्त करके, मेण्डेलियन अधिनियम की उपयोगिता द्वारा पशु-धन की विशेष उन्नति की जा सकती है।

1. पशु-प्रजनक को उन जीनों के चुनाव करने का ज्ञान होना चाहिये, जो कि उसके पशुओं के गुणों पर प्रभाव डालते हैं। उसे यह जानना चाहिये कि किस प्रकार यह जीन संतति में विभाजित होकर पहुँचते हैं।

2. उसे प्रजनन की विधियों का उनसे लाभ-हानि सहित पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

इन दो बातों को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार से मेण्डेलियन रूप की उपयोगिता द्वारा पशुओं की उन्नति सम्भव है—

1. अन्तः प्रजनन द्वारा (By In-Breeding)—पाँच पीढ़ी तक के सम्बन्धित पशुओं को परस्पर सम्भोग कराने पर प्रगुणता (prepotency) बढ़ती है और इस प्रकार समान गुणों के पशु पैदा होते हैं। इस विधि द्वारा पशुओं में छुपे हुए घातक कारकों (lethal factors) का पता लगाकर, उन्हें नष्ट किया जा सकता है और मनवांछित गुणों के पशु पैदा किये जा सकते हैं।

2. संकरण द्वारा (By Cross Breeding)—इस विधि से असम्बन्धित नर मादाओं में प्रजनन कराके उत्तेजक तथा अच्छे प्रकार के पशु पैदा किये जाते हैं

जिनमें कम खुराक, शीघ्र बढ़ोत्तरी, अधिक कार्य करने की क्षमता, रोग प्रतिरक्षा (immunity) आदि विशेष गुण होते हैं।

3. प्रसंकरण द्वारा (By Hybridization)—इसके अन्तर्गत दो विभिन्न जाति (species), प्रजाति (genera) के नर मादाओं का परस्पर मिलन होकर, एक नयी जाति का निर्माण होता है। इस विधि द्वारा संतति में इच्छित गुण लाकर नयी-नयी जातियाँ निकाली जा सकती हैं, जैसे—खच्चर (mule)। इस प्रकार के पशु और भी अधिक सुदृढ़ होते हैं।

4. भिन्न संकरण द्वारा (By Out Crossing)—इसके अनुसार किसी शुद्ध जाति के साँड का, उसी नस्ल की असम्बन्धित मादा से प्रजनन कराके उसके रक्त को बनाये रखते हैं, जिससे कि उक्त साँड के अनुसार अच्छे-अच्छे गुणों वाले पशु हमें मिलते रहें।

5. क्रमोन्नति द्वारा (By Grading Up)—इसके द्वारा कुछ चुने हुए साँडों से प्रजनन कराके, विल्कुल ही देशी एवं अउन्नत नस्ल की 6-7 पीढ़ी बाद लगभग शत-प्रतिशत शुद्ध व अच्छी नस्ल में बदलकर पशुओं का विकास किया जा सकता है।

6. चुनींदा प्रजनन द्वारा (By Selective Breeding)—इच्छित गुणों वाले चुने हुए नर-मादाओं का प्रजनन कराके मनवाँछित पशु पैदा किये जा सकते हैं।

7. उत्परिवर्तन द्वारा (By Mutations)—इसके अनुसार एकाएक किसी विशेष गुण का विकास होकर बहुत ही अच्छी नस्ल के पशु पैदा हो सकते हैं। अतः उत्परिवर्तन पशुधन विकाश का मुख्य स्रोत है, क्योंकि यह उनकी उन्नति के लिए कच्चा माल प्रदान करता है। उत्परिवर्तन द्वारा पशुओं में विभिन्न प्रकार के बाह्य, आन्तरिक, व्यापारिक तथा आकारिक लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकार पशु-प्रजनन में उत्परिवर्तन का वड़ा महत्व है। स्वयं उत्पादित उत्परिवर्तन स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से पशु-प्रजनकों द्वारा पशुधन विकास हेतु समय-समय पर प्रयुक्त होते रहते हैं। उत्परिवर्तन के फलस्वरूप ही सींगरहित (polled) पशु उत्पन्न हुए और इनसे फिर सींगरहित जातियाँ निकाली गई।

8. विभिन्नता द्वारा (By Variations)—पशु-प्रजनक अपने पशुओं की उन्नति के लिये नये-नये संयोजन करते हैं। इससे नवीन प्रकार के संयोजन (recombination) बनकर अच्छे आर्थिक महत्व वाले गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विभिन्नता आकर पशुओं के चयन में भी सहायता मिलती है। विभिन्नता पशु-प्रजनक की आशा तथा निराशा है। आशा इसलिये, कि इसके द्वारा माता-पिता से भी अच्छी-अच्छी संतति प्राप्त हो सकती है। निराशा इस कारण कि इसके द्वारा माता-पिता की अपेक्षा खराव गुणों वाली संतति पैदा होकर, पशु-प्रजनक को कभी-कभी भारी क्षति पहुँचा सकती है।

जिस प्रकार एक वर्णमाला (alphabet) के विभिन्न अक्षर मिलकर नये-नये शब्द बनाते हैं, उसी प्रकार, पशु के शरीर में जीनों का विभिन्न संयोजन

होकर नई जातियाँ बनती हैं। उदाहरणार्थ—'रा' और 'ही' अक्षरों को मिलाकर 'राही' शब्द बना, जिसका क्रम बदलने से 'हीरा' बन गया, जो राही से बिल्कुल ही भिन्न एवं महत्वपूर्ण पदार्थ है। ठीक इसी प्रकार चयन तथा प्रजनन की विभिन्न विधियों द्वारा जीन को उचित क्रम में लगाकर, पशुधन का विकास किया जा सकता है। जैनेटिक्स के विकास के साथ ही पशु प्रजनक उक्त विधियों को पशु उत्थान हेतु प्रयोग करता आया है और आज भी कर रहा है। इसी के फलस्वरूप हम संसार में विभिन्न जाति के आधुनिक पशु देख रहे हैं।

साधारणतया मेण्डेलिज्म वास्तव में उन्हीं गुणों के दाय प्राप्त (inherit) करने में सहायता करती है, जो केवल एक युग्म विकल्पी जीन के जोड़े (single pair of allelic genes) द्वारा शासित होते हैं। प्रत्येक जीन का जोड़ा जो विभिन्न गुणों को नियन्त्रित करता है, भिन्न क्रोमोसोम के जोड़ों पर स्थित रहकर पूर्ण प्रबलता तथा अप्रबलता (complete dominance and recessiveness) के साधारण नियम का अनुसरण करता है।

इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे गुण होते हैं, जो विभिन्न क्रोमोसोमों पर स्थित न रहकर एक से अधिक युग्म विकल्पी (allelic) जीन के जोड़ों अथवा अपूर्ण प्रबलता (incomplete dominance) एवं प्रबलता की कमी (lack of dominance) द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ऐसे कारक (factors) मेण्डल के स्वर्गवास होने के बाद अध्ययन किये गये और यह मेण्डल के रूपान्तरित नियम (modified laws) कहलाये। अन्त में एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'राइस' ने इन सब नियमों का एक शीर्षक मेण्डेलिज्म के अन्तर्गत समावेश किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पशुओं के गुणों के दाय प्राप्त (inherit) करने में मेण्डेलिज्म बहुत सहायक है और पशु-प्रजनक द्वारा इसकी समुचित उपयोगिता, पशुओं की शीघ्र एवं मनोवांछित उन्नति की कुन्जी है।

जीवित कोशिका में 'जीन' का सफल प्रतिरोपण

वैज्ञानिकों ने आनुवंशिकी के मुख्य तत्व 'जीन' के कृत्रिम रूप से निर्माण कर लेने तथा जीवित कोशिका में इसके प्रतिरोपण का दावा किया है। 'जीन' वह मुख्य तत्व है जिसका जीवाणु कोष युग्मयुक्त होता है और जो एक-एक मूल से प्राप्त होता है।

मैसाच्यूट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी से सम्बद्ध जीव वैज्ञानिकों की इस खोज को आनुवंशिकी के अध्ययन में एक युगान्तरकारी उपलब्धि माना गया है जो मूल जीवन प्रक्रिया को अच्छी तरह समझने में सहायक सिद्ध होगी।

आनुवंशिकता की सूक्ष्मतम जीवनदायी प्रक्रियों से सम्बन्धित यह विशिष्ट खोज भारत में जन्मे नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक डाक्टर हरगोविन्द खुराना के अनेक वर्षों के अनवरत अनुसंधान कार्य की चरम उपलब्धि है।

यह वस्तुतः पहला अवसर है जब रसायनों के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को

एकत्रित करके वैज्ञानिकों ने जीवाणुओं के जीन की अनुकृति के सृजन में सफलता पाई है तथा इसका प्रतिरोपण कर जीवाणु की जीवन्त प्रक्रियाओं के संचालन में इसके काम का अध्ययन किया है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि अब वे आन्तरिक रासायनिक प्रक्रियों में परिवर्तन कर यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि जीवन के विकास में जीन क्यों किन्हीं विशिष्ट पलों में ही अपना कार्य करता है।

यह नयी उपलब्धि मूल जीवन प्रक्रियाओं को समझने में एक चरण होने के साथ कालान्तर में मानव कल्याण के लिये जीन के उपयोग में सहायक सिद्ध हो सकती है। उदाहरणार्थ; आनुवंशिक विकारों का उपचार, विकृत जीवन के स्थान पर कृत्रिम जीन के प्रतिरोपण द्वारा किया जा सकता है।

डाक्टर खुराना ने जिन्हें 1968 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया प्रथम जीन का सृजन 1970 में किया था लेकिन यह जीन अपूर्ण था तथा इसका प्रतिरोपण सम्भव नहीं था।

इसलिये उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर जीवाणुओं के एक जीन की सही अनुकृति बनाने का दायित्व लिया। उनकी नवीनतम रचना अपने आप में पूर्ण है।

प्रजनन पद्धति तथा वरण
(BREEDING SYSTEM AND SELECTION)

परिच्छेद : 23

पशु प्रजनक के उद्देश्य
(AIMS OF THE ANIMAL BREEDER)

जीवधारी में प्रजनन की कला बहुत प्राचीन है। संसार की उत्पत्ति ही नर-मादा के पारस्परिक मिलन से प्रारम्भ होती है। अतः नर-मादा का संतानोत्पत्ति के लिये पारस्परिक सहवास ही प्रजनन कहलाता है। इस प्रकार, जैनेटिक्स (genetics) एवं जनन क्रिया विज्ञान (Physiology of reproduction) की पशु उन्नति के लिये सामूहिक उपयोगिता ही, पशु-प्रजनन (animal breeding) है।

पशु-प्रजनक के पास, उसके पशुओं को उत्तरोत्तर उन्नति एवं विकास के लिये **पर्यावरण** (environment), जिसमें उनका रहन-सहन, खान-पान तथा स्वास्थ्य व सुप्रवन्ध आता है; **प्रजनन के ढंग** (methods of breeding) तथा **वरण** (selection), तीन प्रमुख यन्त्र होते हैं। इनके साथ ही उसके कुछ उद्देश्य भी होते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिये वह उपर्युक्त यन्त्रों का प्रयोग करता है।

प्रत्येक पशु-प्रजनक का मुख्य उद्देश्य यही होता है कि वह अच्छे से अच्छे पशु रखे, जिससे कि उनके गुण एवं संख्या की निरन्तर वृद्धि होकर, उसे बाजार में अधिक से अधिक धन प्राप्त हो सके। पशु-प्रजनक के पशु जितने ही अच्छे एवं उत्पादक होंगे उतनी ही अच्छी उसे पशुओं से आय होगी। इन उद्देश्यों की पूर्ति वह अच्छे प्रजनन के ढंगों, वरण तथा अच्छे पर्यावरण में पशुओं को रखकर कर सकता है। परन्तु किसी प्रकार की उन्नति का ढंग अपनाने के पूर्व प्रत्येक पशु-प्रजनक को यह जान लेना नितांत आवश्यक है कि किस प्रयोजन से, कैसे पशुओं की उन्नति वह चाहता है। जैसे—

अ—ढोर-प्रजनक (cattle breeder) निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :

(1) उसके पशु शीघ्र बड़े हों।
(2) उनमें रोग से बचाव की शक्ति हो।
(3) वे ठीक समय पर बच्चे दें।
(4) उनकी लम्बी आयु हो।
(5) वे अधिक उत्पादक हों।

(6) उनके दूध में मक्खन की प्रतिशत अधिक हो।

(7) भार वाहन हेतु उनकी चाल, शक्ति तथा सहनशीलता अच्छी हो।

व—अश्व-प्रजनक (horse breeder) **निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :**

(1) अश्व तीव्रगामी हो।

(2) वह अधिक शक्तिशाली हो।

(3) उसमें बीमारी रोकने की शक्ति हो।

(4) वह देखने में अच्छा तथा शुद्ध नस्ल का हो।

स—कुक्कुट-प्रजनक (Poultry breeder) **निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :**

(1) उसे अच्छे तथा बड़े अण्डे मिलें।

(2) अधिक मात्रा में अण्डे पैदा हों।

(3) उसे अच्छे प्रकार का माँस मिले।

(4) उसके कुक्कुटों में बीमारी रोकने की शक्ति हो।

द—सुअर प्रजनक (Pig breeder) **निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :**

(1) उनकी अधिक शीघ्र बढ़ोतरी हो।

(2) उनसे अधिक मात्रा में माँस मिले।

(3) उनसे अधिक बच्चे पैदा हों।

(4) उनमें रोग रोकने की शक्ति हो।

(5) उनसे अच्छे प्रकार के बाल मिलें।

य—श्वान-प्रजनक (Dog breeder) **निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :**

(1) कुत्ता अधिक तेज हो।

(2) वह देखने में अच्छा हो।

(3) उसमें अच्छी रखवाली करने का गुण हो।

र—भेड़-प्रजनक (Sheep breeder) **निम्न लाभ की आशा से प्रजनन कराता है :**

(1) बड़ी-बड़ी तथा अच्छी भेड़ें हों।

(2) उनसे ऊन का उत्पादन अधिक हो।

(3) ऊन की किस्म अच्छी हो।

(4) उनसे अधिक माँस प्राप्त हो।

(5) उनमें बीमारी रोकने की शक्ति हो।

इन उद्देश्यों की पूर्ति विशेषकर दो बातों पर निर्भर है। एक तो पशु-प्रजनक की योग्यता और दूसरे अग्रलिखित बातों पर विचार—

(1) जिस क्षेत्र में वह पशु पालना चाहता है, वहाँ के लोगों की रुचि उन पशुओं के लिये कैसी है ?

(2) बाजार के साधन कैसे हैं, जिससे वह अपने उत्पादन का क्रय-विक्रय कर सके ।

(3) वहाँ का वातावरण, उन पशुओं के लिये अनुकूल है अथवा नहीं ।

(4) वह कितना धन इस कार्य पर खर्च कर सकता है ?

(5) उसकी स्वयं ऐसे पशु पालने की रुचि क्या है ?

(6) किस प्रयोजन से, कैसे पशु पैदा करना चाहता है ?

(7) जो साधन वह इस कार्य में जुटाना चाहता है, उनकी उपलब्धता उस क्षेत्र में कैसी है ?

(8) उस क्षेत्र के लोगों का सहयोग व योगदान उस कार्य में कैसा है ?

(9) चिकित्सा के समुचित्र साधन पर्याप्त हैं अथवा नहीं ।

(10) भूमि की उर्वरा शक्ति तथा स्थान की उपलब्धता कैसी है ?

किस प्रकार पशु-प्रजनन व्यवसाय को सफल बनाया जाये

(1) प्रजनन के लिये ऐसे द्विप्रयोजनीय (dual purpose) पशुओं को चुना जाये जो उस क्षेत्र की जलवायु में भली-भाँति पनपने की क्षमता रखते हों । भारतीय परिस्थितियों में हरियाणा तथा थारपारकर नस्ल के पशु इस कार्य हेतु अधिक उपयुक्त हैं ।

(2) प्रजनन के लिये चुनींदा तथा परीक्षित उत्तम साँडों का प्रयोग किया जाये । इसमें जो खराब किस्म के बच्चे पैदा हों छाँटकर यूथ से अलग कर दिया जाये ।

(3) उत्तम साँडों की कमी के लिये कृत्रिम गर्भाधान विधि का प्रयोग किया जाये ।

(4) बहुत ही निकट के सम्बन्धी पशु, जैसे—सगे भाई बहन, मात्र-पुत्र, पित्रा-पुत्री का परस्पर सहवास न कराया जाये क्योंकि इस प्रकार कमजोर तथा खराब सन्तान पैदा होती है ।

(5) देशी साँडों को बधिया किया जाये जिससे वे देहात में गायों को गाभिन करके नस्ल को खराब न कर सकें ।

(6) जननेन्द्रिय रोग की तनिक भी आशंका होने पर निकट के पशु डाक्टर को मवेशी दिखाया जाये ।

(7) नर-मादा बच्चों को अलग-अलग बाँधा जाये, जिससे वे कच्ची उम्र में प्रजनन न कर सकें ।

(8) फार्म पर पशुओं की वंशावली (pedigree), सन्तति (progeny) तथा अन्य अभिलेख रखे जायें ।

(9) प्रजनन के लिये ऐसे पशु चुने जायें तो अपनी सन्तति में निज गुणों की छाप छोड़ने की क्षमता रखते हों ।

(10) पशुओं को प्रकाशयुक्त, हवादार तथा साफ-सुथरे स्वास्थ्यप्रद घरों में रखा जाये।

(11) उनके खान-पान तथा रोग-नियन्त्रण पर विशेष ध्यान दिया जाये तथा उत्पन्न हुई वछियों को बड़े होने पर उन्नत साँडों से ही गाभिन कराया जाये।

इस प्रकार पशुओं के खान-पान, सुप्रबन्ध, सुप्रजनन तथा रोग नियन्त्रण के अच्छे साधन जुटाकर पशु-प्रजनन व्यवसाय को सफल बनाया जा सकता है।

एक अच्छे पशु-प्रजनक के गुण

एक अच्छे पशु-प्रजनक में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं—

(1) वह पशु-पालन में विशेष रुचि रखता हो।

(2) अच्छे पशुओं के चुनाव तथा खराब की छँटनी करने की उसमें अधिकाधिक क्षमता हो।

(3) प्रजनन के ढंगों की लाभ-हानि सहित उसे पूर्ण जानकारी हो।

(4) वह बहुत ही कार्य-कुशल तथा धैर्यवान हो।

(5) वह बहुत ही दूरदर्शी तथा पशुओं से प्रेम करने वाला हो।

(6) उसमें अपने काम के प्रति सच्ची लगन हो।

(7) वह एक कुशल प्रवन्धक तथा अवसरवादी हो।

(8) उसे पशुओं के रख-रखाव तथा खान-पान के बारे में भी पूरी जानकारी हो।

(9) पशु-पालन सम्बन्धी अनेक समस्याओं के निराकरण की उसमें क्षमता हो।

(10) वह अपने विचारों में दृढ़ तथा शीघ्र निर्णय लेने वाला हो।

पशु-प्रजनक अपने उद्देश्य के अनुसार दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो वे, जो बाजार के लिये पशु-उत्पादन बढ़ाते हैं और दूसरे वे, जो केवल वीज के लिये ही अच्छे साँडों का उत्पादन करते हैं। हमारे देश में पशु-प्रजनकों के उद्देश्य देश की आवश्यकतानुसार निम्न प्रकार हैं—

(1) अधिक दूध देने वाली नस्ल तैयार करना।

(2) कृषि कार्य के लिये हल खींचने वाली बैलों की नस्ल तैयार करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसे ऐसे द्विप्रयोजनीय पशुओं को चुनकर परस्पर प्रजनन कराना चाहिये, जिनके बच्चे अपने माता-पिता से अधिक अच्छे एवं उत्पादक हों। अतः उनकी प्राप्ति के लिये पशु-प्रजनक को एक अच्छा मैनेजर तथा कुशल प्रबन्धक होना चाहिये, जिससे वह अपने पशुओं को स्वस्थ रखकर उन्हें चोट तथा अन्य वीमारियों से बचा सके। इसके अतिरिक्त उसे लाभ-हानि सहित प्रजनन के सभी ढंगों एवं अच्छे-बुरे गुणों के चुनाव का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

इस प्रकार एक अच्छा प्रजनक अपने पशुओं में उत्तम एवं आधुनिक ढंग से प्रजनन द्वारा उनकी बहुमुखी उन्नति करके, मनवांछित फल पा सकता है।

परिच्छेद : 24

प्रजनन पद्धति

(BREEDING SYSTEM)

पशु-प्रजनक का मुख्य उद्देश्य अपने पशुओं की उन्नति करके आदर्श झुण्ड वनाना है, जो मनुष्य जाति के लिये अधिक लाभदायक सिद्ध हो। जैसा कि पहले लिख चुके हैं, **प्रजनन की विधियाँ** (method of breeding) तथा **वरण या चयन** (selection) ही पशुधन सुधार हेतु पशु-प्रजनक के पास दो प्रमुख उपलब्ध अनुपम यन्त्र हैं। इनमें से प्रजनन की विधियों का उल्लेख इस पाठ में किया जा रहा है।

मुख्य तौर पर प्रजनन की दो विभिन्न विधियाँ हैं—

(1) **अन्तः प्रजनन** (In-Breeding)

(2) **वहिः प्रजनन** (Out Breeding)

इनको निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—
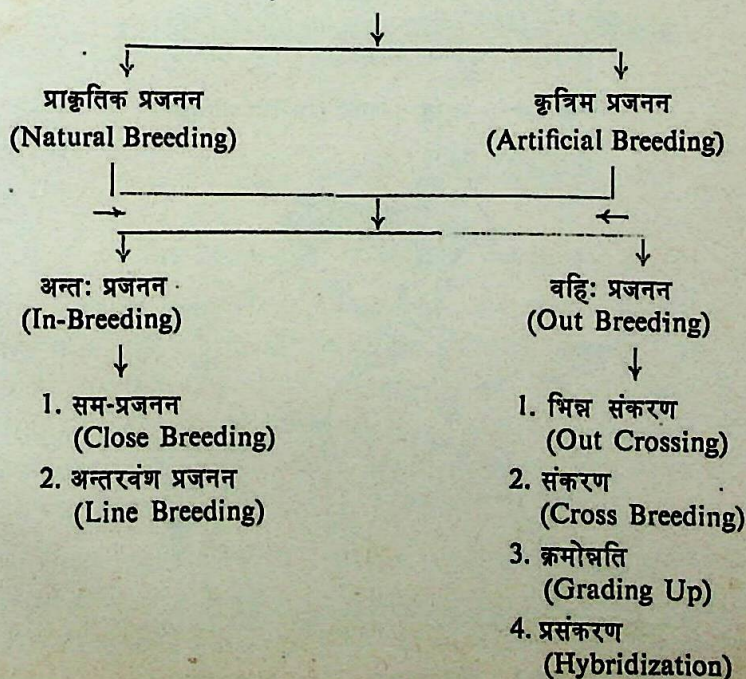
अन्तः प्रजनन
(In-Breeding)

परिभाषा—प्रजनन की वह विधि, जिसमें 4–5 पीढ़ी तक के सम्बन्धित नर-मादाओं में परस्पर सम्भोग होता है, अन्तः प्रजनन कहलाती है।

"Mating of related males and females of the same breed within 4–5 generations is known as in-breeding."

इसको निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—
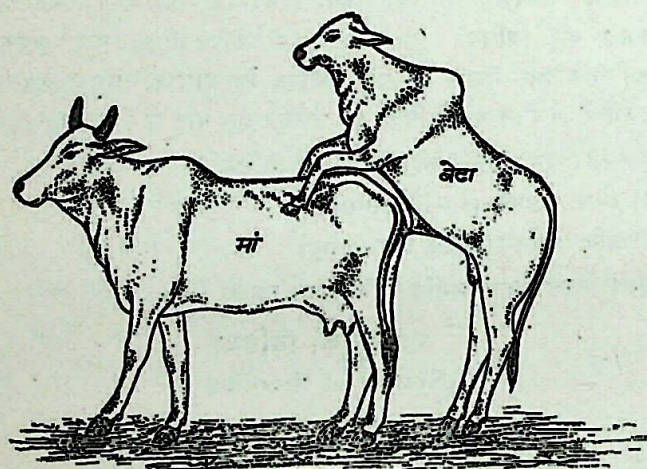
चित्र 24·1—अन्तः प्रजनन (In-Breeding)
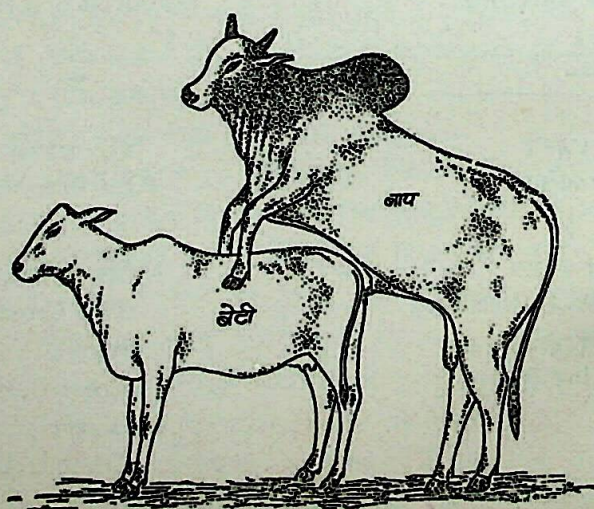
चित्र 24·2—सम प्रजनन (Close Breeding)
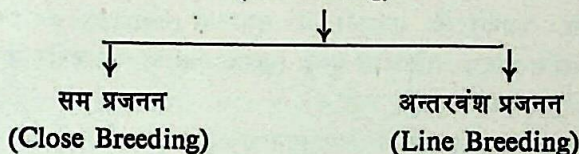
सम प्रजनन (Close Breeding)—यह बिल्कुल ही निकट के सम्वन्धी नर-मादा पशुओं का पारस्परिक सहवास (Mating) है, जैसे—सगे बाई-बहिन, माँ-बेटे तथा पिता-पुत्री में सहवास होना।

चचेरे भाई-बहिन में परस्पर सहवास
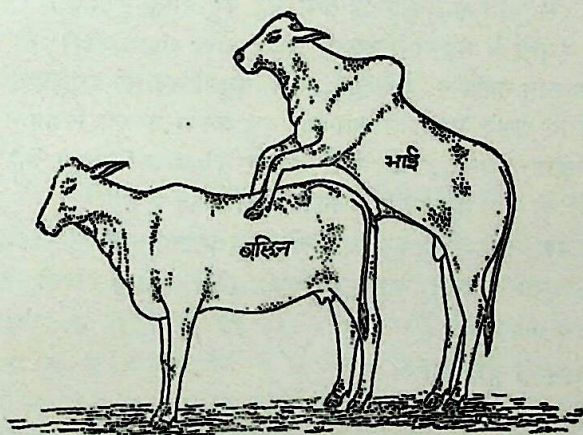
चित्र 24·3—अन्तरवंश प्रजनन (Line Breeding)

अन्तरवंश प्रजनन (Line Breeding)—सम प्रजनन के अतिरिक्त जो भी प्रजनन 4–5 पीढ़ी के सम्बन्धित नर मादाओं में होता है, अन्तरवंश प्रजनन कहलाता है। अतः इस विधि में सम-प्रजनन की अपेक्षा दूर के सम्बन्धित पशुओं में सम्भोग होता है। उदाहरणार्थ, चचेरे भाई-बहिन, बाबा-पोती तथा पोता-दादी में परस्पर सहवास होना। इस विधि का प्रयोग बहुधा किसी अच्छे साँड के गुणों को यूथ में बनाये रखने के निमित्त होता है।

अन्तः प्रजनन का उद्देश्य (Object of In-Breeding)—अन्तः प्रजनन का मुख्य उद्देश्य पशुओं में मनवांछित गुणों को स्थिर करना है। बुनियादी पशुओं में पहले से ही उपस्थित अच्छे गुणों को स्थिर करने का अन्तः प्रजनन एक प्रमुख यन्त्र है।

अन्तः प्रजनन से लाभ
(Advantage of In-Breeding)

(1) अन्तः प्रजनन से सन्तानों में समानता (homozygosity) बढ़ती है, क्योंकि इसके द्वारा समानता वाले जीन युग्मों (gene pairs) की शरीर में वृद्धि होती है तथा असमान जीन युग्म कम हो जाते हैं।

(2) अन्तः प्रजनन से पशुओं के चयन के सहायता मिलती है। इस प्रकार पैदा हुए पशु, जो मनवांछित गुण नहीं दर्शाते, उन्हें आसानी से छाँटकर अलग किया जा सकता है।

(3) इस विधि द्वारा साँडों की अपनी सन्तति पर अपने गुणों की छाप छोड़ने की क्षमता (Prepotency) अधिक बढ़ती है, जिससे अच्छे-अच्छे गुण सन्तति में पहुँच सकते हैं।

(4) इस विधि में हमें अच्छे तथा शुद्ध पशु प्राप्त होते हैं।

(5) पशुओं में **अप्रभावी लक्षणों** (recessive character) को प्रकट करने के लिये अन्तः प्रजनन सर्वश्रेष्ठ विधि है। इससे पशु-पालक को इस बात का शीघ्र पता लग जाता है कि उसके पशुओं में क्या-क्या गुण अथवा अवगुण विद्यमान हैं।

(6) अन्तः प्रजनन द्वारा घातक-कारक (lethal-factor) भी प्रकट हो जाते हैं, जो पशुओं को नष्ट करके यूथ से निकाले जा सकते हैं।

(7) यह विधि बीज के लिए अच्छे साँड प्रदान करती है।

(8) अन्तः प्रजनन से आनुवंशिकी (Heredity) बढ़ती तथा विभिन्नता (variations) कम होती हैं।

अन्तः प्रजनन से हानियाँ
(Disadvantages of In-Breeding)

(1) लगातार अन्तः प्रजनन करने से पशुओं की बढ़ोत्तरी कम होने लगती है।

(2) उनकी उत्पादन शक्ति में कमी आ जाती है।

(3) पशुओं के दूध में चिकनाई की प्रतिशत भी कम हो जाती है।

(4) उनकी मृत्यु दर बढ़ जाती है।

(5) पशुओं की उत्तेजना कम हो जाती है।

(6) ऐच्छिक गुणों को स्थिर करते समय कभी-कभी अनैच्छिक गुण भी स्थिर हो जाते हैं।

अन्तः प्रजनन की उपयोगिता
(Utility of In-Breeding)

अन्तः प्रजनन उसी यूथ में करना चाहिये, जो औसत दर्जे से अच्छा तथा काफी बड़ा हो। इसके अतिरिक्त, पशु-प्रजनक को इस विधि के लाभ-हानि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

औसत दर्जे से नीचे, व्यावसायिक एवं थोड़े पशुओं के यूथ में तथा पशु-प्रजनक के अनभिज्ञ होने पर इस ढंग की उपयोगिता सर्वथा वर्जित है।

सम्बन्ध (Relationship)

वैसे तो सभी पशु लगभग एक दूसरे से थोड़ा बहुत सम्बन्धित हैं, परन्तु 4 से 6 पीढ़ियों तक का पारस्परिक पैतृक सम्बन्ध ही विशेष माना जाता है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है—एक तो **प्रत्यक्ष सम्बन्ध** (direct relationship) और दूसरा **सांपार्श्विक सम्बन्ध** (collateral relationship)।

प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Relationship)—सन्तति में आधे पैतृक गुण पिता से तथा शेप आधे माता से आते हैं, अतः प्रत्येक सन्तान पचास-पचास प्रतिशत अपने माता-पिता से सम्बन्धित होती है, जैसे पिता से पुत्र का सम्बन्ध। अधिक स्पष्टता के लिये निम्न आकृति देखिये।

```
                {ब (बाबा)                              {ब (बाबा)
      {स (पिता)                              {य (पिता)
 अ (बेटा)                              द (बेटी)
```
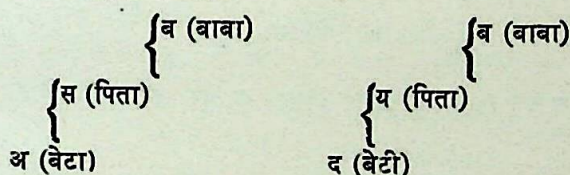
चित्र 24·4—एक बाबा से सम्बन्धित पीढ़ी

यहाँ 'अ', 'स' का पुत्र तथा 'स', 'ब' का पुत्र है। उसी प्रकार 'द', 'य' की पुत्री तथा 'य', 'ब' का पुत्र है। अतः 'ब', 'अ' तथा 'द' का बाबा हुआ। पैतृकता के नियम के अनुसार 'स' से 50 प्रतिशत गुण 'अ' में और 'य' से 50 प्रतिशत गुण 'द' में आये हैं। अतः 'अ', 'स' से तथा 'द', 'य' से 50 प्रतिशत सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार बाबा से पिता में 50 प्रतिशत गुण आये थे जो पोते में और भी आधे होकर 25 प्रतिशत रह गये। अतः बाबा 'ब' अपने दोनों पोतों से अलग-अलग 25 प्रतिशत सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध की गणना निम्न प्रकार भी की जा सकती है—

$$\text{सम्बन्ध} = \Sigma \left[\left(\frac{1}{2}\right)^{\text{न} + \text{न}^1} \right]$$

इसमें $\frac{1}{2}$ तो वंशानुक्रम (inheritance) के नियम के अनुसार लिखा गया है, क्योंकि एक सन्तान में आधे गुण पिता से तथा शेष आधे माता से आते हैं। 'न' से प्रयोजन है कि बाबा 'ब' तथा 'अ' के बीच कितनी पीढ़ियाँ और 'न^1' से प्रयोजन है कि बाबा 'ब' तथा 'द' के बीच कितनी पीढ़ियाँ हैं।

$$\text{'अ' से 'स' का सम्बन्ध} = \Sigma \left[\left(\frac{1}{2}\right)^{\text{न} + \text{न}^1} \right]$$

अथवा $$= \left(\frac{1}{2}\right)^{1+0} = \frac{1}{2} = 50 \text{ प्रतिशत}$$

$$\text{'अ' से 'ब' का सम्बन्ध} = \left(\frac{1}{2}\right)^{1+1} = \left(\frac{1}{2}\right)^2$$

$$= \frac{1}{4} \text{ या 25 प्रतिशत,}$$

सांपार्श्विक सम्बन्ध (Collateral Relationship)—यह प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर कुछ दूर का होता है, जैसे चचेरे भाइयों में सम्बन्ध। पिछले चित्र में 'स' और 'य' दो सगे भाई हैं, 'अ' और 'द' चचेरे भाई हुये।

$$\text{'अ' और 'द' में सम्बन्ध } \Sigma = \left[\left(\frac{1}{2}\right)^{\text{न}+\text{न}^1}\right]$$

$$= \left(\frac{1}{2}\right)^{2+2} = \left(\frac{1}{4}\right)^4$$

अथवा $\frac{1}{16} = 6{\cdot}25$ प्रतिशत

इस प्रकार एक पशु दूसरे से कितना निकट या दूर का सम्बन्धी है, ज्ञात किया जाता है।

वहिः प्रजनन
(Out Breeding)

परिभाषा—6 पीढ़ी के ऊपर तथा अन्य असम्वन्धित अथवा दूसरे शब्दों में अधिकतर दूर के सम्बन्धी पशुओं के नर-मादाओं में पारस्परिक सहवास (mating) **वहिः प्रजनन** कहलाता है।

"Mating of **unrelated** (over 5—6 generations) males and females is known as out-breeding."

उद्देश्य—वहिः प्रजनन इस उद्देश्य से किया जाता है कि अच्छे-अच्छे असम्वन्धित पशुओं, विशेषकर साँडों के गुण सन्तति में लिये जा सकें, जिससे नवीन गुणों तथा नई-नई नस्ल के पशु बनकर पशुधन की उत्तरोत्तर उन्नति हो सके।
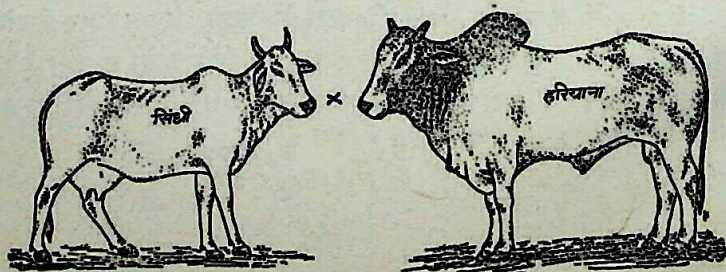
चित्र 24·5—वहिः प्रजनन (Out breeding)

वहिः प्रजनन की विधियाँ (System of Out breeding)

वहिः प्रजनन की विधियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

भिन्न संकरण
(Out Crossing)
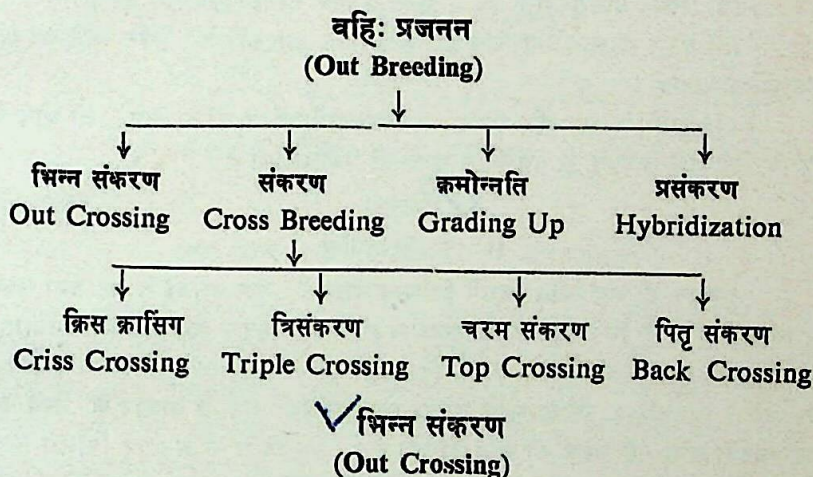
इस विधि के अन्तर्गत एक ही शुद्ध नस्ल के असम्बन्धित पशुओं के नर-मादाओं में पारस्परिक सहवास होता है।

"Mating of unrelated males and females with in the same pure breed is called out crossing."

अच्छे परिणाम लेने के लिये इस विधि के अनुसार पशु-प्रजनक शुद्ध नस्ल के अच्छे गुणों वाले साँडों का चयन करके, उनको उसी नस्ल की असम्बन्धित मादाओं से सहवास करवाते हैं। अतः इस प्रकार वरण (Selection) करके सहवास कराने की विधि को समूह वरण (Mass Selection) भी कहते हैं। इस विधि से प्रजनन एवं वरण करके, पशुओं की वहुत ही शीघ्र उन्नति की जा सकती है। गिरी हुई नस्ल को सुधारने के लिए यह ढंग सर्वोत्तम है।

हम पहले लिख चुके हैं कि पशु का प्रत्येक गुण जीन के द्वारा नियन्त्रित होता है और जीनोटाइप तथा फीनोटाइप एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। अतः ऐसी दशा में यह वरण कभी-कभी गलत सिद्ध होता है, क्योंकि ऐसे चुने हुए पशुओं के प्रजनन कराने पर खराब गुण संतति में आने लगते हैं। अतएव इस विधि के प्रयोग से यदि कभी ऐसी परिस्थिति आ जाये, जबकि पशुओं की आगे उन्नति कठिन दीख पड़े तब पशु-प्रजनक को ऐसे पशुओं में अन्तः प्रजनन (In Breeding) करना चाहिये। ऐसा कराने से छिपे गुण भी संतति में प्रकट हो जाते हैं, जिनको छांटकर अलग किया जा सकता है और इच्छित गुणों वाले पशु आगे प्रजनन के लिये रखे जा सकते हैं।

भिन्न संकरण के लाभ (Advantages of out crossing)

(1) इस विधि द्वारा पशुओं में उत्तेजना, उत्पादन क्षमता तथा जीवन शक्ति की वृद्धि होती है।

(2) औसत दर्जे से नीचे यूथ के लिये प्रजनन का ढंग सर्वोत्तम है।

(3) वरण के साथ संयोजित होकर जैनटिक कारकों को स्थिर करने का यह एक अच्छा ढंग है।

(4) दुग्धोत्पादन, वृद्धि की दर जैसे उच्च पैतृक गुणों के लिये, जो जीन के विशेष नियन्त्रण में रहते हैं, यह विधि बहुत ही प्रभावशाली है।

संकरण
(Cross Breeding)

प्रजनन की वह विधि जिसमें विभिन्न नस्ल के शुद्ध पशुओं के नर तथा मादा में सन्तानोत्पत्ति के लिये पारस्परिक सहवास होता है, संकरण कहलाती है। Mating between unrelated males and females of different breeds is known as cross breeding, इसका मुख्य उद्देश्य व्यावसायिक रूप से बाजार के लिये पशु पैदा करना तथा नई नस्ल की नींव डालना है। इस विधि के अनुसार विभिन्न नस्ल के चुने हुए अच्छे गुणों वाले नर और मादाओं का संभोग कराया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनकी संतति में दोनों से मिलाकर और भी अधिक अच्छे पैतृक गुण आ जाते हैं। इस प्रकार इस विधि से पशुओं की निरन्तर उन्नति होती चली जाती है। विदेशों में यह विधि सुअरों तथा भेड़ों में अधिक प्रयोग होती है। संकरण निम्नलिखित चार प्रकार से हो सकता है—

(1) क्रिस क्रासिंग (Criss Crossing),
(2) त्रिसंकरण (Triple Crossing),
(3) चरम संकरण (Top Crossing),
(4) पितृ संकरण (Back Crossing),

क्रिस क्रासिंग (Criss Crossing)—इस ढंग में दो विभिन्न नस्लों के नर मादाओं में एकान्तर (alternate) रूप में सहवास कराते हैं। इसके फलस्वरूप पैदा हुए मादा बच्चे में लगभग दो तिहाई रक्त अपने तात्कालिक पिता से, तथा शेष एक तिहाई दूसरी प्रयोग हुई नस्ल से आता है।

उदाहरण—अगला चित्र 24 6 देखिये—

इसमें दो विभिन्न नस्ल के पशु मादा 'अ' तथा नर 'व' को संभोग कराया गया है और इस प्रकार जो मादा बच्चा पैदा हुआ उसको 'अ' नस्ल के साँड से सहवास कराया। इसके बाद इनसे जो मादा बच्चा पैदा हुआ उसको 'व' नस्ल के साँड से सहवास कराया। इस क्रास में जो मादा बच्चा मिला उसे 'अ' नस्ल के साँड से सहवास कराया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्त में जो सन्तान हुई उसमें दो

तिहाई रक्त अपने तात्कालिक पिता 'अ' का तथा शेप एक तिहाई रक्त दूसरी नस्ल के साँड 'ब' का है।
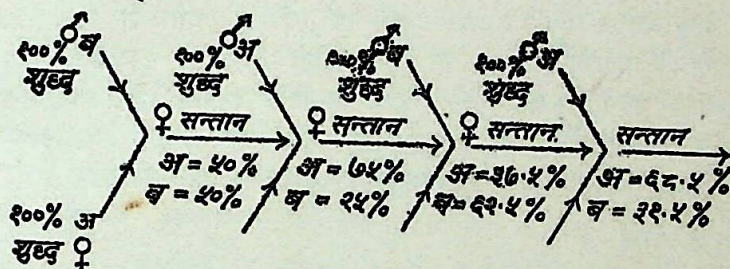
चित्र 24·6—क्रिस क्रॉसिंग (Criss Crossing)

त्रिसंकरण (Rotaional or Triple Crossing)—वहिः प्रजनन की इस विधि में एक साथ तीन या इससे अधिक विभिन्न नस्लों के पशु भाग लेते हैं। इसके फलस्वरूप जो सन्तान होती है, उसमें लगभग $\frac{4}{7}$ भाग रक्त अपने तात्कालिक पिता का, $\frac{2}{7}$ भाग नाना तथा शेष $\frac{1}{7}$ भाग रक्त तीसरी प्रयोग की हुई नस्ल का होता है। स्पष्टता के लिये निम्न चित्र 24·7 देखिये—

इसमें 'ब' नस्ल के एक शुद्ध साँड का 'अ' नस्ल की मादा से क्रास कराया गया है और इस प्रकार जो मादा बच्चा पैदा हुआ उसे तीसरे नस्ल के 'स' साँड से मिलाया गया। इनसे जो मादा बच्चा पैदा हुआ उसे तीसरी नस्ल के साँड से तथा इनसे उत्पन्न मादा का 'ब' नस्ल साँड से क्रास कराया गया। अन्त में इस क्रास से प्राप्त मादा सन्तान को 'स' नस्ल के साँड से सहवास कराया गया। इस प्रकार हम
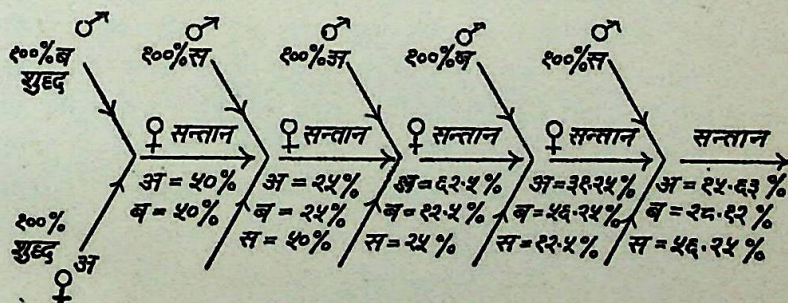
चित्र—24·7 त्रिसंकरण (Triple Crossing)

देखते हैं कि अन्त में जो सन्तान हुई उसमें लगभग $\frac{4}{7}$ रक्त अपने तात्कालिक पिता 'स' का, $\frac{2}{7}$ रक्त नाना 'ब' का तथा $\frac{1}{7}$ रक्त अन्य नस्ल 'अ' का है, जो इस प्रजनन में प्रयोग हुई है।

चरम संकरण (Top Crossing)—इस प्रकार के प्रजनन में मादा अपनी वंशावली के अन्तिम साँड से मिलाई जाती है। यह विधि ग्रेडिंग अप (Grading up)

के अनुसार ही होती है। अन्तर केवल इतना है कि इस प्रकार का प्रजनन बहुधा विभिन्न कटुम्बों में ही लागू होता है।

पितृ संकरण (Back Crossing)—इस विधि के अनुसार दो विभिन्न नस्लों के नर-मादा के सहवास से जो सन्तान उत्पन्न होती हैं, उनका पुनः अपने पितृों से संभोग कराया जाता है। ऐसा प्रथम पीढ़ी में युग्मकीय अनुपात (genetic proportion) देखने अथवा कोई महत्वपूर्ण गुण स्थानांतरित करने के लिये किया जाता है। **वैज्ञानिक नाइट** (1759–1838) ने सर्वप्रथम इस विधि का प्रयोग किया था।

संकरण के लाभ
(Advantages of Cross Breeding)

इस विधि से उत्पन्न संतति बहुत तेज, फुर्तीली तथा शक्तिशाली होती है। कुछ गुणों में यह अपने माता-पिता से भी अच्छी होती है। **किसी नई किस्म में मन-चाहे गुण उत्पन्न करने के लिये यह सर्वश्रेष्ठ विधि है।** इसके द्वारा नई-नई नस्लों के पशु पैदा किये जा सकते हैं। ऐसी सन्तान थोड़ा खाकर ही शीघ्र बढ़ोतरी करने वाली एवं उत्पादक होती है। इसमें दूध देने की अधिकाधिक क्षमता आ जाती है।

संकरण से हानियाँ
(Disadvantages of Cross Breeding)

इस विधि को अपनाने के लिये पशु-प्रजनक को विभिन्न नस्लों के नर मादा पशु रखने पड़ते हैं, जिसके लिये पालन-पोषण के उपयुक्त साधन जुटाने में काफी कठिनाई पड़ती है, साथ ही यह कार्य काफी मूल्यवान भी पड़ता है। विभिन्न नस्ल के पशुओं में असमानता के गुण अधिक होने के कारण, उनकी प्रजनन-वृद्धि (breeding behaviour) में कमी आ जाती है। इस प्रकार पैदा हुई संतति प्रजनन के योग्य नहीं रहती क्योंकि इनके वच्चे और भी अधिक विभिन्न होकर प्रंजनन की दृष्टि से वेकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यह विधि काफी खर्चीली एवं समय लेने वाली होती हैं। कभी-कभी इस कार्य के फलस्वरूप ऐसे अनैक्षिक पशु पैदा हो जाते हैं जिनका वाजार में कोई भी मूल्य न मिल सकने के कारण पशु-प्रजनक को भारी क्षति पहुँचती है।

क्रमोन्नति
(Grading Up)

प्रजनन की इस विधि के अन्तर्गत कुछ नस्ल के कुछ चुने हुये साँडों को, देशी एवं अशुद्ध किस्म की मादाओं से मिलाया जाता है। इस प्रकार इनसे जो मादा बच्चे पैदा होते हैं, उनका पुनः पीढ़ी दर पीढ़ी तक इन्हीं शुद्ध नस्ल के साँडों (pure breed sires) से प्रजनन कराया जाता है। इसके फलस्वरूप 6—7 पीढ़ियों में ही अशुद्ध पशुओं का यूथ विल्कुल शुद्ध जैसा हो जाता है। अतः **क्रमोन्नति** (grading up)

प्रजनन की वह विधि है, जिसके द्वारा कुछ चुने हुए शुद्ध नस्ल के साँड एक अशुद्ध नस्ल की पशु संख्या की शीघ्र ही शुद्ध यूथ में बदल लेते हैं।

"Grading up is that method of out breeding in which the selected pure breed bulls of one breed are mated witn impure or desi females and their female calves generation after generation."
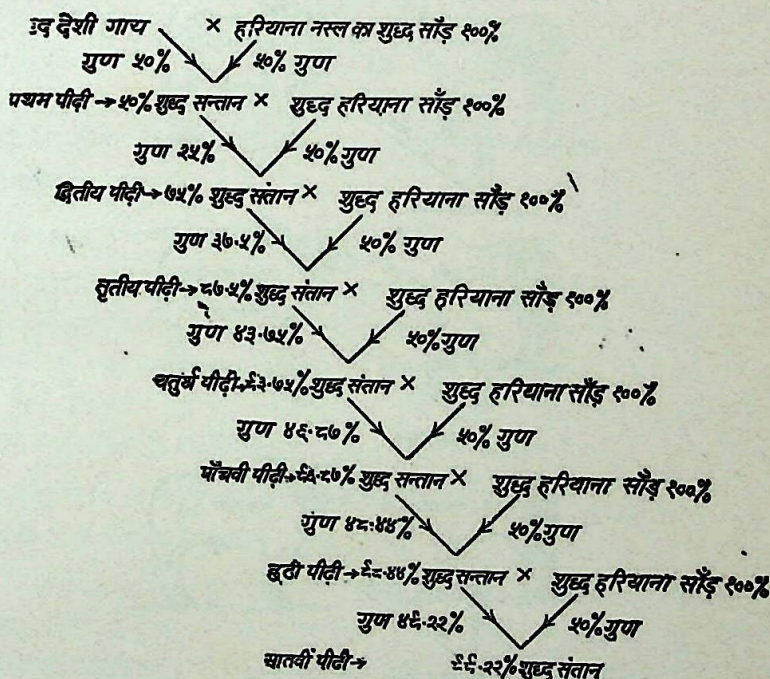
चित्र 24·8—क्रमोन्नति (Grading up)

ऐसे सहवास से उत्पन्न प्रथम पीढ़ी की संतति में 50 प्रतिशत शुद्धता के गुण अपने पिता से आते हैं तथा दूसरी पीढ़ी में वे 75 प्रतिशत शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार 6—7 पीढ़ियों में वे बिल्कुल ही शुद्ध नस्ल से मिलते-जुलते हो जाते हैं।

संक्षेप में इसका ब्यौरा निम्न प्रकार किया जा सकता है।

शुद्ध नस्ल का साँस × देशी गाय	
प्रथम पीढ़ी	$\frac{1}{2}$ शुद्ध
दूसरी पीढ़ी	$\frac{3}{4}$ शुद्ध
तीसरी पीढ़ी	$\frac{7}{8}$ शुद्ध
चौथी पीढ़ी	$\frac{15}{16}$ शुद्ध

प्रजनन की यह विधि केवल उन्हीं नस्लों के पशुओं में लागू करना उपयुक्त है, जो स्थानीय वातावरण में, जिनमें कि उनके बच्चों को पनपना है, भली-भाँति घुल-मिल गये हों।
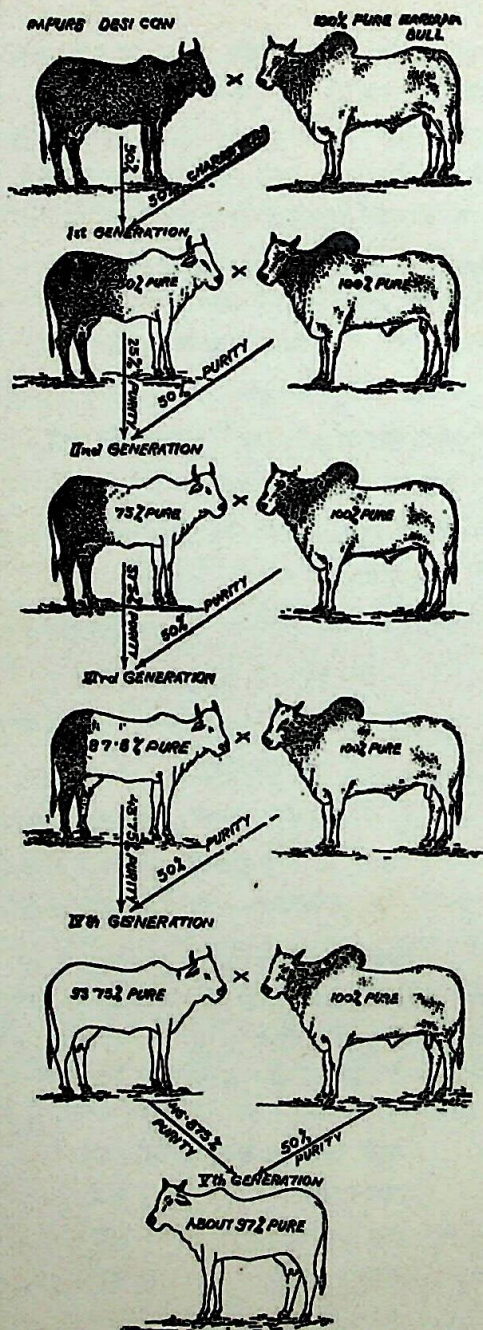
चित्र 24·9—क्रमोन्नति का आरेखीय निरूपण
(Diagrammatic Representation of Grading up)

क्रमोन्नति से लाभ
(Advantages of Grading up)

इस विधि को अपनाकर अउन्नत पशुओं का धीरे-धीरे सुधार सम्भव है। सन्तान में समानता आकर उत्पादन शक्ति की वृद्धि होती है। यह पशुओं की उन्नति का सरल एवं सस्ता उपाय है, क्योंकि थोड़ा धन लगाकर ही कार्य प्रारम्भ हो सकता है और परिणाम भी शीघ्र मिल जाता है। इस विधि में प्रयोग होने वाले साँडों का मूल्य अधिक बढ़ जाता है। बाजार के लिये पशु पैदा करने का यह एक अच्छा ढंग है। भारत जैसे देश में जहाँ कि अधिकतम पशु संख्या अशुद्ध है, पशुधन की उन्नति के लिये यह सर्वोत्तम विधि है।

क्रमोन्नति से हानियाँ
(Disadvantages of Grading up)

इस विधि से पैदा हुए नर बच्चे प्रजनन की दृष्टि से बिल्कुल ही बेकार होते हैं, क्योंकि उनमें अनैच्छिक एवं खराब जीन भी अप्रबल (recessive) अवस्था में छिपे रह सकते हैं, जो प्रजनन करने पर संतति में पहुँच सकते हैं। देशी मादाओं पर शुद्ध नस्ल के साँड सदैव सुधार नहीं दिखाते। इस रीति से जो बच्चे पैदा होते हैं, वे स्थान-स्थान के वातावरण के अनुसार एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

क्रमोन्नति कार्य में कठिनाइयाँ
(Hurdles in Grading up)

कभी-कभी जब चुने हुए अच्छे नस्ल के पशु किसी स्थान के वातावरण के अनुकूल अपने को रखने में असमर्थ होते हैं, तो इस प्रकार के प्रजनन से सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकलते। इसके अतिरिक्त, लोगों की स्वेच्छा एवं आवश्यकता भी इस मार्ग में रोड़ा अटका सकती है।

सिन्धी नस्ल की गायें दूध उत्पादन हेतु भारत में सर्वश्रेष्ठ हैं। विभिन्न प्रकार की स्थानीय जलवायु में भी यह भली प्रकार जीवित रह सकती हैं। परन्तु सिन्धी बैल धीमी प्रकृति के होने के कारण कृषि कार्यों के लिये भारत के कृषकों द्वारा पसन्द नहीं किये जाते। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि यदि सिन्धी नस्ल के सांड क्रमोन्नति के लिये प्रयुक्त किये जायें, तो दूध उत्पादन तो देश में अवश्य पढ़ेगा परन्तु साथ ही बैलों की कार्य-क्षमता कम हो जायेगी।

विदेशों में अपनाये गये उपयोगी ढंग, जैसे—दूध के लिये अच्छे पशु शहरों में रखना, अच्छा कार्य करने वाले बैल गाँव में रखना तथा अनैच्छिक पशुओं को नष्ट करना इत्यादि, हम अपने देश में पैसे की न्यूनता एवं धार्मिक कठिनाइयों के कारण नहीं अपना सकते।

अतः कोई भी द्वि-प्रयोजनी नस्ल (Dual purpose Breed) जो दूध तथा

कृषि कार्य दोनों ही समस्याओं का हल कर सके, जैसे—हरियाणा अथवा थारपारकर हमारी वर्तमान भारतीय परिस्थितियों के अनुसार क्रमोन्नति (Grading up) कार्य के लिये काफी उपयुक्त है। इसी कारण हरियाणा नस्ल के साँड भारत में और विशेषकर उत्तर प्रदेश में इस कार्य के लिये प्रयुक्त किये जा रहे हैं।

निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर क्रमोन्नति अथवा क्रासिंग-विधि द्वारा हमारे देशी पशुओं का उत्थान सम्भव है—

(1) पशु सुधार केवल उत्तम प्रजनन विधियों द्वारा ही नहीं हो सकता, अतः पशुओं की देख-रेख, खान-पान के अच्छे ढंग तथा बीमारी रोकने के लिये भी अच्छे साधन जुटाने चाहियें।

(2) जो पशु, प्रजनन कार्य के लिये चुने जायें, उनमें स्थानीय जलवायु में रहने एवं प्रजनन करने की उचित क्षमता होनी चाहिये।

(3) वहाँ रहने वालों की उस नस्ल के बारे में पसन्द अच्छी हो।

(4) भूमि की उर्वरा शक्ति अच्छी हो जिसे थोड़ी भूमि से ही पशुओं को अधिक चारा मिल सके।

(5) जो नस्ल बनानी हो, उससे वहाँ रहने वालों की आवश्यकता की पूर्ति पूर्णतया होती हो, जैसे—बैल अच्छे हल खींचने वाले तथा गाय अधिक दुधारू हों।

क्रमोन्नति (Grading up) करते समय यदि एक ही साँड से पीढ़ी दर पीढ़ी तक बछियों का प्रजनन कराने पर अन्तः प्रजनन (In-breeding) की सम्भावना हो तो उस साँड का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

हमारे देश में हरियाणा (Haryana) जैसे दोहरे गुणों वाले साँड क्रमोन्नति के लिये प्रयुक्त होकर पशुओं का शीघ्र सुधार कर सकते हैं। इस प्रकार देशी पशुओं में चुनींदा प्रजनन (Selective Breeding) तथा क्रमोन्नति (Grading up) करके उनको अधिक उत्पादक बनाया जा सकता है।

इसलिये उत्तर प्रदेश में इस समय पशुओं की उत्तरोत्तर उन्नति के लिये क्रमोन्नति के साथ अन्तर वंश प्रजनन (Grading up followed by Line Breeding) का प्रोग्राम हरियाणा साँडों द्वारा कार्यान्वित है और इससे आशातीत परिणाम भी निकल रहे हैं।

प्रसंकरण
(Hybridization)

पशु-प्रजनन का वह ढंग, जिसके अन्तर्गत विभिन्न जाति (species) अथवा प्रजाति (genera) के नर-मादाओं में पारस्परिक सहवास होकर सन्तानोत्पत्ति होती है, प्रसंकरण (hybridization) कहलाती है, जैसे—घोड़ी और गधे से संभोग होकर

खच्चर (mule) पैदा होना, जो अपने माता-पिता से बिल्कुल ही भिन्न होकर एक नया जीव होता है। इस प्रकार उत्पन्न सन्तान प्रसंकर (hybrid) कहलाती है। (Hybridization may be defined as the highest possible cross of out breeding in which males and females of different species or genera are mated together.) घोड़ी से यह शक्ति, चाल, आकार तथा गधे से
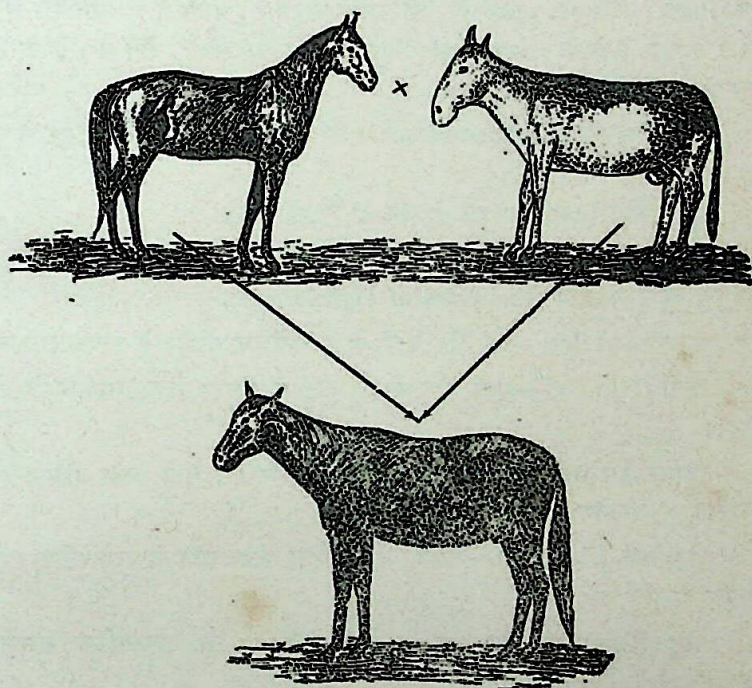
चित्र 24·10—प्रसंकरण का आरेखीय निरूपण
(Diagrammatic Representation of Hybridization)

सुदृढ़ता, न चौंकने की शक्ति, पैरों की स्थिरता, कष्ट सहनशीलता, थोड़ा खाकर जीवित रहना और भारवाही गुण आदि ग्रहण करता है। इन्हीं गुणों के कारण खच्चर, विभिन्न पहाड़ी तथा मैदानी प्रदेशों में सवारी खींचने एवं बोझा ढोने के लिये प्रयोग किया जाता है। वास्तव में यह उच्च कोटि का बहिः प्रजनन (Out Breeding) है, जिससे नई-नई जातियाँ निकाली जा सकती हैं।

इस प्रकार हैटेरोसिस (heterosis) या संकरओज (hybrid vigour) असम्बन्धित नर-मादा पशुओं का प्रजनन है, जिसके फलस्वरूप अधिक अच्छी वं

शक्तिशाली सन्तान की उत्पत्ति होती है। ऐसी सन्तान में सुदृढ़ता, थोड़ा खाकर अधिक कार्य की क्षमता, बीमारियों के प्रति प्रतिरक्षा, अधिक परिश्रमी तथा अति-शीघ्र बढ़ोत्तरी, आदि विशेष गुण होते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसका अभी तक पशु प्रजनन विज्ञान से सम्बन्धित कोई विशेष कारण नहीं ज्ञात हो सका है; परन्तु ऐसा कहा जाता है कि प्रभावी जीन (Dominant Genes) अधिक होने के कारण अप्रभावी लक्षणों (Recessive characters) को दाब देते हैं। इसके अतिरिक्त विषमयुग्मिता (heterozygosity) भी इसमें सहायक होती हैं। प्रसंकरण से पैदा हुए पशु बहुधा नपुंसक (impotent) अथवा वांझ (sterile) होते हैं। इसके निम्न कारण हैं—

(1) क्रोमोसोमों (chromosomes) का असामान्यता से एक दूसरे से पृथक् होना।

(2) गैमीट (gamete) या तो बने ही न हों, अथवा

(3) गैमीट; संसेचन (fertilization) के अयोग्य हों।

प्रसंकरण के उदाहरण (Examples of Hybridization)

खच्चर (Mule)—गधे और घोड़ी के पारस्परिक संभोग से उत्पन्न सन्तान।

हिनी (Hinney)—गधी और घोड़ा साँड के पारस्परिक सम्भोग से उत्पन्न सन्तान।

हिसार डेल भेड़ (Hissardale Sheep)—मेरीनो मेढ़ा तथा बीकानेरी भेड़ के पारस्परिक सम्भोग से उत्पन्न सन्तान।

जेबरोयड (Zebroid)—मादा जेबरा तथा घोड़ा साँड के पारस्परिक सम्भोग से उत्पन्न सन्तान।

पीनु (Piennu)—ढोर तथा सुरागाय (Yak) के पारस्परिक सम्भोग से उत्पन्न सन्तान।

कटैलो (Cattalo)—अमेरिकन गाय तथा अमेरिकन भैंसे के पारस्परिक सम्भोग से उत्पन्न सन्तान।

खच्चर द्वारा बच्चा देने का एक अद्भुत संयोग

चैम्पियन, नेब्रास्का, यू० एस० ए० के निकट एक फार्म पर 6 जुलाई सन् 1984 को एक खच्चर ने माँ बनकर विश्व में एक नया रिकार्ड कायम किया है। पृथ्वी पर पहला खच्चर कब पैदा हुआ इसकी भी किसी को सही जानकारी अब तक नहीं है। घोड़ी तथा गधे के बीच प्रजनन का इतिहास लगभग 3000 वर्ष पुराना है।

सैनडीगो अजायबघर में कार्यरत आनुवंशिकीविद् डा० ओलीवर राइडर के अनुसार माँ तथा बच्चे में जाँच करने पर क्रोमोसोम की संख्या 63

पाई गई जो कि इनमें होनी चाहिए। घोड़े में यह संख्या 64 तथा गधे में 62 होती है।

अच्छे तथा मानित प्रजनन के लाभ

यदि सही ढंग से मूल्यांकन किया जाए तो यह पता चलता है कि पशु सुधार की प्रक्रिया में कोई खर्च न होकर कभी-कभी बचत होती प्रतीत होती है। इससे जो भी परिणाम प्राप्त होते हैं वे स्थायी होते हैं। यद्यपि कि परिणाम धीरे-धीरे तथा कठिनता से दिखाई देने वाले होते हैं, फिर भी, प्रजनन द्वारा 5% सुधार पशु पालक को होने वाली आय में 30 से 20% बढ़ोत्तरी प्रदान करता है। क्रास-ब्रीडिंग (संकरण) द्वारा माँस के लिए पैदा किए जाने वाले पशुओं में 20–25 प्रतिशत माँस अधिक प्राप्त होता है। चुनींदा प्रजनन तथा पौष्टिक आहार द्वारा डेरी पशुओं का दुग्ध उत्पादन दो गुना बढ़ाया जा सकता है।

परिच्छेद : 25

चयन या वरण
(SELECTION)

विषय परिचय—वैसे तो **'वरण'** शब्द बहुत ही प्राचीन है और वास्तव में इसका बहुत बड़ा महत्व है। संसार की उत्पत्ति के साथ ही वरण प्रारम्भ होता है और आज इसका हर क्षेत्र में बराबर प्रभुत्व है। वरण (selection) शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का चुनना अथवा वस्तुओं को अस्वीकार (reject) करना। सभी जीवधारियों में संसार की उत्पत्ति के साथ ही प्रकृति की ओर से वरण प्रारम्भ हुआ और इस होड़ में जो शक्तिशाली थे, वे जीवित रहकर अपना कुटुम्ब बढ़ा सके तथा जो निर्बल थे, उन्हें इस जीवन-संग्राम से हार खाकर निराश होना पड़ा। अतः प्रकृति का यह नियम **'नैसर्गिक वरण'** (Natural Selection) कहलाया। मनुष्य का जब सर्वप्रथम धारा पर पदार्पण हुआ, तभी से उसने अपने को वातावरण के अनुकूल बनाया और समस्त जीवधारियों में सबसे अधिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा। इसका कारण उनका शक्तिशाली, बुद्धिमान एवं कार्यकुशल होना है। मनुष्य के विकास के साथ ही उसकी आवश्यकताओं के अनुसार **'कृत्रिम वरण'** (Artificial Selection) का शुभारम्भ हुआ और इसी के फलस्वरूप आज स्थान-स्थान पर प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग वरण होता है। उदाहरणार्थ; जब हम एक फल वाले की दुकान पर जाते हैं तो उसकी इच्छानुसार फल न खरीदकर, स्वयं टोकरी में से अच्छे फल छाँटकर उनकी खरीद करते हैं। पढ़ने वाला विद्यार्थी जब एक लेखनी (Pen) खरीदने जाता है, तो अनेक कलमों पर उसकी दृष्टि जाती है और जिसे वह अपने कार्य के अनुसार उत्तम समझता है, उसी को खरीद लेता है। कन्या-विवाह हेतु उसके पिता या संरक्षक भाँति-भाँति के वर (Bridegroom) उसके लिए देखता है और जो उसके अनुकूल उसे सर्वश्रेष्ठ लगता है, उसी के साथ वह अपनी सुकुमारी का विवाह करता है। एक किसान जब अपने कृषि कार्य के लिए बैल खरीदने पशु बाजार जाता है तो खूब देखभाल कर अच्छे से अच्छा पशु खरीद लाता है। बोने के लिये बीजों का चयन भी इसी प्रकार होता है।

वरण की महत्ता (Importance of Selection)

पशुधन के सुधार के लिए उनमें चयन (selection) होना नितान्त आवश्यक है। पशु प्रजनन के पदोन्नति मार्ग में यह सर्वश्रेष्ठ यन्त्र है। प्रजनन के दृष्टिकोण से वरण शब्द का अर्थ, दूसरी पीढ़ी के लिए अच्छे माता-पिता का चयन है। यूँ तो संवर्धन-विज्ञान की अनुपस्थिति में केवल 'वरण' ही पशुओं के सुधार की कुन्जी रहा

है, परन्तु अब इस विज्ञान के विकास के बाद, 'वरण' इसका ही एक आवश्यक अंग बन गया है, जिससे वंशागति नियमों (Laws of Inheritance) के अनुसार प्रजनन में इसके सहयोग से और भी अधिक शीघ्र पशुधन का उत्थान सम्भव है। पशुओं में वरण (Selection) सदैव से ही प्रजनन कला की आधार-शिला रहा है। **केवल चयन अथवा प्रजनन ढंगों से ही पशुओं का सुधार नहीं हो सकता वरन् इन दोनों कलाओं की सामूहिक उपयोगिता ही पशुधन के शीघ्र उत्थान की सर्वोत्तम विधि है।** अतः चयन एवं प्रजनन की विधियाँ एक दूसरे का पूरक हैं और कभी भी एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं।

वरण का क्षेत्र (Scope of Selection)

ऐच्छिक गुणों (desired characters) के पशु पैदा करने के लिये चयन आवश्यक है। पशुओं की उन्नति का 35 से 50 प्रतिशत उत्तरदायित्व वरण पर ही निर्भर है। वर्तमान पशुधन के सुधार के लिये, पशु-प्रजनक को ऐच्छिक गुणों के नर-मादाओं का सहवास कराने, अच्छे गुणों वाले पशुओं को चुनने तथा अनैच्छिक पशुओं की छटनी करके अलग करने का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। पशु-प्रजनन में जो पशु अधिक से अधिक बच्चे पैदा करते हैं, उन्हीं का वरण अधिक सम्भव है। वरण का क्षेत्र पशुओं में उपस्थित विभिन्नता पर निर्भर होता है। पशु जितने ही अधिक एक दूसरे से भिन्न होंगे, उतना ही अधिक उनके चयन का क्षेत्र विस्तीर्ण होगा।

वरण का उद्देश्य (Object of Selection)

वरण का उद्देश्य पशुधन का शीघ्र सुधार करना है, जिससे वे अधिक उत्पादक होकर मानव जाति के लिये एक वरदान सिद्ध हों।

वरण अथवा प्रजनन के ढंग नये जीन पैदा नहीं करते वरन् पुराने जीन जो पशु के शरीर में पहले से ही बेतरतीब विद्यमान थे, उनको ऐसे उचित क्रम में लगा देते हैं, जिनसे वे अधिक से अधिक लाभकारी गुण पशुओं में पैदा कर देते हैं। इस प्रकार, वरण पशु-प्रजनक का नितान्त आवश्यक यन्त्र है और इसके बिना पशुओं का उत्थान नहीं हो सकता।

वरण की विधियाँ (Methods of Selection)

पशुओं का वरण निम्न ढंगों पर आधारित है—

(1) वैयक्तिक वरण (Individual Selection)

(2) वंशावली वरण (Pedigree Selection)

(3) संतति परीक्षण (Progeny Test)

(4) पैतृकता एवं पर्यावरण के आधार पर चयन (Selection on the basis of heredity and environment)

(5) प्रदर्शनवृत्त वरण (Show-ring Selection)

(6) उत्पादन के आधार पर चयन (Selection on the basis of production)।

(7) पशु की जनन क्षमता तथा स्वास्थ्य के आधार पर चयन (Selection on the basis of fertility and health)।

वैयक्तिक वरण
(Individual Selection)

इसको **समूह वरण** (Mass Selection) अथवा **फीनोटाइपिक चयन** (Phenotypic Selection) भी कहते हैं। इस विधि के अन्तर्गत पशु के बाह्य गुण तथा उसका रंग रूप देखकर चयन किया जाता है, क्योंकि बाह्य गुण अधिकतर पशुओं में उनके आन्तरिक जीन तथा पर्यावरण (environment) के सम्मिश्रण से बनते हैं। नर तथा मादा दोनों में उपस्थित गुणों के वरण के लिये यह विधि बहुत ही महत्वपूर्ण है। वरण की यह विधि एक साथ बहुत से पशुओं को चुनने में लागू हो सकती है, क्योंकि इससे पशुओं के बारे में आवश्यक सूचना अधिक शीघ्र मिल जाती है। इस विधि के अनुसार हमें अमुक पशु के भविष्य के बारे में अनुमान होता है कि वह आगे चलकर क्या होगा ? वरण की इस विधि को गुणांकन-पत्र (Score card) विधि भी कहते हैं। आजकल यह विधि बहुत प्रचलित है।

वैयक्तिक वरण के लाभ (Merits of Individual Selection)

(1) नर-मादा दोनों में उपस्थित गुणों के चयन के लिये ढंग सर्वोत्तम है।

(2) एक ही समय में काफी बड़ी संख्या के चयन में यह लागू हो सकता है।

(3) कार्य पर आधारित होकर पशुओं का शीघ्र ही मूल्यांकन किया जा सकता है।

वैयक्तिक वरण में त्रुटियाँ (Demerits of Indvidual Selection)

(1) इस विधि में चूँकि हम बाह्य गुण देखकर ही पशु का वरण करते हैं, अतः पशु के वास्तविक रूप का हमें ठीक पता नहीं लग पाता कि उसकी आन्तरिक रचना कैसी है।

(2) कुछ गुण, जैसे गायों में दूध उत्पादन, मुर्गियों में अण्डा उत्पादन केवल मादाओं द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं, अतः प्रजनक साँडों में इसकी उपयोगिता नहीं हो पाती।

(3) पशु के गुणों का अभिलेख (record) उनके परिपक्व हो जाने के बाद ही मिल पाता है, अतः तब तक काफी वरण हो चुका होता है।

(4) इस विधि के अनुसार उस पशु की प्रजनन क्षमता (breeding value) कम अंकित होती है, जिसमें पैतृक गुण (hereditary characters) कम आये हों।

वंशावली वरण
(Pedigree Selection)

इसको पारिवारिक वरण (Family Selection) भी कहते हैं। इस विधि में पशुओं के पूर्वजों का वंशावली अभिलेख देखकर, उनका वरण किया जाता है।

पशु का वरण इस प्रकार उनके पूर्वजों तथा भाई-बहन जैसे निकटतम सम्बन्धियों पर निर्भर होता है। वंशावली देखते समय उनके तीन पीढ़ियों के निकट सम्बन्धी पूर्वजों; जैसे—माता-पिता, दादी-बाबा, परदादी-परबाबा आदि के गुण भी देखे जा सकते हैं।
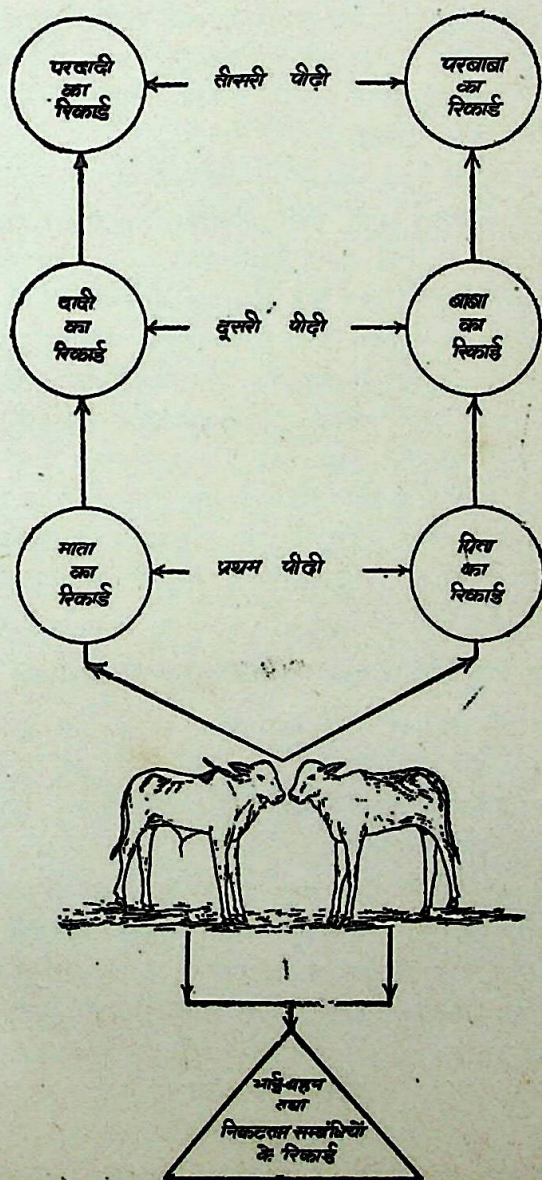
चित्र 25·1—पशुओं की वंशावली
(Pedigree of Animals)

चूँकि पूर्वजों से ही पैतृक गुण सन्तति में आते हैं, अतः इसी तथ्य पर यह विधि निर्भर है। इस प्रकार इस विधि से पशु कैसा होना चाहिए, हमें इस बात का अनुमान हो जाता है। **वंशावली के अनुसार वरण की यह विधि कम उम्र वाले पशुओं तथा विशेषकर उन गुणों के चुनाव के लिये अधिक उपयोगी है, जो बहुधा पितृों से सन्तति में आते हैं।** उन पशुओं के लिये, जहाँ ऐच्छिक गुण जिनके लिये वरण करना है, केवल एक ही प्रकार के पशु नर या मादा के प्रदर्शित होते हैं, जैसे—दूध तथा अण्डा उत्पादन; यह विधि काफी उपयुक्त है।

वंशावली देखते समय पशु के तीन पीढ़ियों के निकटतम सम्बन्धियों के अभिलेख ही देखने चाहियें। पहली पीढ़ी (माँ-बाप) से सन्तति में आधे अर्थात् 50–50 प्रतिशत गुण आते हैं। इसी प्रकार, दूसरी पीढ़ी यानि बाबा-दादी से 1/4 (एक चौथाई) तथा तीसरी पीढ़ी से केवल 1/8 पैतृक गुण ही सन्तान में आ पाते हैं। इसी कारण तीसरी पीढ़ी से ऊपर के पूर्वजों पर विचार करना लगभग बेकार सा ही है क्योंकि उनके गुणों का आभास सन्तान पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी कम होता चला जाता है या यूँ कहिये कि लगभग नहीं के बराबर होता है। वंशावली अभिलेख तभी सच्चे हो सकते हैं जबकि उन्हें भली-भाँति रखा गया हो। इसी कारण कभी-कभी वंशावली अभिलेख भी सच्चे पथ-प्रदर्शक नहीं होते हैं। अतः वंशावली के आधार पर पशु का चयन करते समय उसके प्रकार, उत्पादन तथा वातावरण जिसमें कि पशु रहता है, उस पर ध्यान देना जरूरी है। ऐसा करने से पशु की वास्तविकता का पता लग जाता है।

वंशावली वरण में त्रुटियाँ (Demerits of Pedigree Selection)

(1) इस विधि में पूर्वजों पर अनावश्यक दवाव पड़ता है और इस प्रकार अच्छे पूर्वज की सन्तति के प्रति पक्षपात होकर पहले से ही एक अच्छी धारणा बन जाती है, चाहे वह वास्तव में उतनी अच्छी न हो। अतः ऐसे पशु के वरण करने पर कभी-कभी उल्टे परिणाम निकलते हैं।

(2) यदि गुण जिसके लिये वरण करना है, उसका वंशागतित्व (heretability) कम है तो सम्बन्धियों के अभिलेख सच्चे पथ-प्रदर्शक नहीं होते।

(3) एक यूथ में अधिकतर अन्तः प्रजनन (Inbreeding) करने से पशुओं की वंशावली लगभग एक-सी हो जाती है, अतः इसमें वंशावली वरण नहीं किया जा सकता।

सन्तति परीक्षण
(Progeny Test)

इसको जीनोटाइपिक चयन (Genotypic Selection) भी कहते हैं। यह विधि अधिकतर साँडों के चयन में ही प्रयुक्त होती है, जो उनमें पैदा हुई बछियों के औसत लेखा पर निर्भर है। इस विधि के अन्तर्गत एक साँड को विभिन्न गायों से

मिलाया जाता है और इस प्रकार पैदा हुई बछियों के बड़े होने पर उनका उत्पादन देखकर, साँड की प्रजनन-क्षमता का मूल्यांकन किया जाता है। जिस साँड की बछियों का उत्पादन अधिक होता है, उसे ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

उदाहरणार्थ : यदि हमें 'अ', 'ब' और 'स' तीन साँडों में उत्तम साँड का चयन करना है, तो हम निम्न प्रकार करेंगे—

साँड 'अ' से :	औसत दुग्ध उत्पादन	औसत मक्खन	उत्पादन में अन्तर
गर्भित 8 गायें	2000 लिटर	4·0	–500 लिटर दूध
पैदा 6 बछियाँ	1500 लिटर	4·0	
साँड 'ब' से :			
गर्भित 8 गायें	1600 लिटर	4·8	+800 लिटर दूध
पैदा 6 बछियाँ	2400 लिटर	5·0	+0·2 मक्खन
साँड 'स' से :			
गर्भित 8 गायें	1800 लिटर	4·6	
पैदा 6 बछियाँ	2300 लिटर	4·6	+500 लिटर दूध

इस प्रकार हम देखते हैं कि साँड 'ब' इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसने अपनी बछियों का औसत उत्पादन सबसे अधिक बढ़ाया है तथा साँड 'अ' सबसे खराब है, क्योंकि इसने अपनी बछियों का औसत उत्पादन उनकी माँ से भी कम कर दिया है। चूँकि नर तथा मादा दोनों ही अपनी सन्तति में दूध एवं मक्खन पैदा करने वाले गुणों के लिये उत्तरदायी हैं और माँ की उत्पादन क्षमता हमें विदित है, अतः इनकी सन्तति के उत्पादन में जो घटा-बढ़ी होगी, वह साँड के कारण होगी। इस प्रकार चयन के इस ढंग से हमें पशु के आन्तरिक गुणों एवं उसकी वास्तविकता का पता लग जाता है। इसी कारण वरण की यह विधि श्रेष्ठ मानी जाती है। इसके द्वारा हमें पशु की वास्तविक प्रजनन क्षमता का बोध होता है। पशुधन के उचित विकास के लिये सन्तति परीक्षण सर्वोत्तम विधि है ?

सन्तति परीक्षण (Progeny Test) के आधार पर चयन करना उन्हीं पशुओं में अधिक लाभदायक है जो अपने जीवन काल में बहुत से बच्चे पैदा करते हों। इसी कारण यह ढंग मुर्गियों तथा सुअरों के चयन में अधिक लागू होता है क्योंकि इनके बच्चे भी अधिक होते हैं और वे शीघ्र ही बड़े होकर अपनी उत्पादन क्षमता प्रकट कर देते हैं। ढोरों में चयन की यह विधि केवल साँडों के लिये ही उपयुक्त है। गायों में यह विधि इसलिये लागू नहीं हो पाती कि वे अपने जीवन काल में 5–6 बच्चे से अधिक नहीं दे पातीं और उनमें से भी कुछ बछड़े होंगे तथा कुछ बछियाँ। साथ ही सभी बछियाँ अपना उत्पादन भी प्रदर्शित नहीं कर सकतीं क्योंकि इनमें से कुछ की मृत्यु भी सम्भव है। इस कारण आप एक गाय से उसकी पूरी उम्र भर में 2-3 बछियों से अधिक नहीं प्राप्त कर सकते, जबकि सन्तति परीक्षण के लिये कम से कम 5-6 बछियाँ आवश्यक हैं।

सन्तति-परीक्षण द्वारा साँडों का चयन करने के लिये पहले 4–5 साँड छाँटकर उनके वीर्य से कृत्रिम विधि (A. I.) द्वारा 800–900 गायों को गाभिन करना
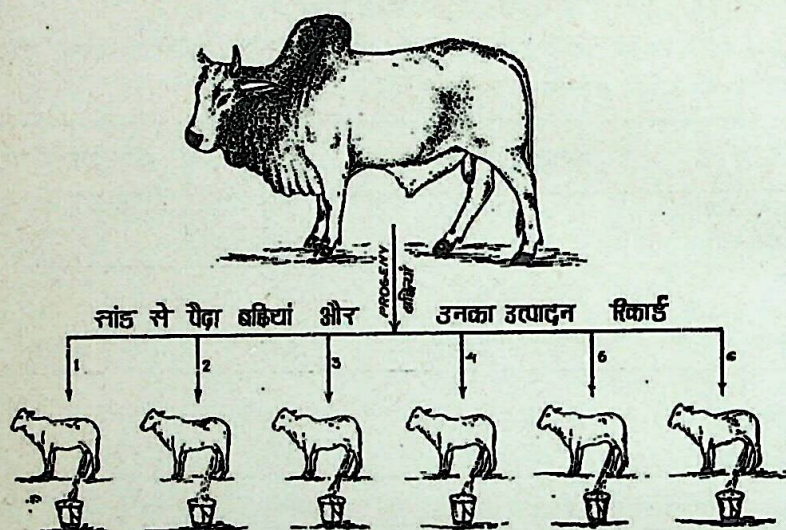
चित्र 25·2—सन्तति परीक्षण (Progeny Test)

चाहिये। इनमें 9–10 माह बाद अनेक बछड़े-बछियाँ उत्पन्न हो जायेंगे। लगभग 2½–3 वर्ष बाद बछियाँ गाभिन होकर तथा ब्याकर दूध देने के योग्य हो जायेंगी। इनमें से प्रत्येक साँड की 5 या 6 बछियों को अलग चुनकर उनके दूध उत्पादन पर ही साँड का मूल्यांकन करना चाहिये। इस प्रकार मूल्यांकन करने से जो साँड सबसे अच्छा निकले उसे ही आगे प्रजनन के लिये गो-समूह में प्रयोग करना चाहिये। इस प्रयोग में भी जब तक साँड अच्छा अथवा बुरा सिद्ध होता है उसकी उम्र 5–6 साल की हो जाती है।

सन्तति परीक्षण में त्रुटियाँ (Demerits of Progeny Selection)

(1) इस विधि में हमें एक साथ कम से कम पाँच बछियों की आवश्यकता पड़ती है, अतः परीक्षण काफी खर्चीला पड़ता है।

(2) बछियाँ 3–4 वर्ष की आयु में परिपक्व होकर ही उत्पादन करने के योग्य हो पाती हैं, अतः समय इतना अधिक लग जाता है कि साँड के परीक्षित होने से पूर्व ही, प्रजनन दृष्टि से उसका मूल्यवान जीवन काफी व्यतीत हो चुका होता है।

(3) जितनी बछियाँ पैदा होती हैं उनमें से उत्पादन की आयु तक लगभग आधी या और अधिक बीमारी, बाँझपन, अथवा अन्य किन्हीं कारणों से प्रजनन के योग्य नहीं रहतीं। अतः इस प्रकार कभी भी एक तिहाई से अधिक साँड इस ढंग द्वारा परीक्षित नहीं हो सकते।

उपर्युक्त त्रुटियों के कारण पशुओं के वरण में सन्तति परीक्षण (Progeny Test) तथा वंशावली (Pedigree) सदैव पूरक के रूप में ही प्रयोग करना चाहिये और प्रमुख रूप से वैयक्तिक वरण (Individual Selection) की विधि ही अपनानी चाहिये।

प्रजनक साँड सूचक (Sire Index)

प्रजनक साँड सूचक का वास्तविक अर्थ एक ही अंक में साँड का सन्तति-परीक्षण अंकित करना है। इसके द्वारा साँड अपनी सन्तति में कितने गुण पहुँचाने की क्षमता रखता है, जाना जा सकता है। यह ढंग केवल साँडों के लिये ही प्रयुक्त होता है और इसके अनुसार साँड में वे गुण, जो वह स्वयं अपने में प्रदर्शित नहीं कर सकता, जाने जा सकते हैं। इस प्रकार परीक्षित साँड **सिद्ध साँड** (Proven Sires) कहलाते हैं। निम्नलिखित प्रजनन साँड सूचक समय-समय पर प्रयुक्त होते रहते हैं—

1. सम संरक्षक सूचक (Equal parent index)
2. रीग्रेशन सूचक (Regression index)
3. बछियों का औसत सूचक (The daughter's average index)
4. अमेरिकन सूचक (American index)

(1) सम संरक्षक सूचक (Equal parent index)—यह सूचक इस बात पर आधारित है कि बछियों का उत्पादन माता-पिता के उत्पादन का मध्य होता है। इसकी गणना निम्न प्रकार की जाती है—

सम संरक्षक सूचक (E.P.I.) = बछियों का औसत + (बछियों का औसत —माँ का औसत)

(2) रीग्रेशन सूचक (Regression index)—यह सम संरक्षक सूचक तथा नस्ल के औसत उत्पादन के योग को 2 से भाग देकर निकाला जाता है।

$$\text{रीग्रेशन सूचक (R.I.)} = \frac{\text{सम संरक्षक सूचक} + \text{नस्ल का औसत उत्पादन}}{2}$$

वैज्ञानिक राइस (Rice) के अनुसार, जब कुछ गायों का औसत उत्पादन उस नस्ल के औसत उत्पादन की अपेक्षा घटता या बढ़ता है, तो उनसे पैदा हुई बछियों का औसत उत्पादन अपनी माँ के उत्पादन से उस नस्ल के औसत उत्पादन की अपेक्षा आधा ही घटता या बढ़ता है।

(3) बछियों का औसत सूचक (Daughter's average index)—इस विधि के अन्तर्गत एक साँड से पैदा हुई बछियों का औसत उत्पादन लेकर उसका मूल्यांकन किया जाता है।

(4) अमेरिकन सूचक (American index)—इस विधि में माँ तथा बछिया दोनों का औसत उत्पादन लेकर, साँड का मूल्यांकन किया जाता है। इसकी गणना अग्र प्रकार की जाती है—

प्रजनक साँड सूचक (S. I.) $= \overline{2\text{म}} - \overline{\text{ब}}$

यहाँ, $\overline{\text{ब}}$ = बछियों का औसत उत्पादन

$\overline{\text{म}}$ = माँ का औसत उत्पादन

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (I. C. A. R.), नई दिल्ली द्वारा एक नवीन प्रजनक साँड सूचक की खोज की गई जिसका नाम* "ठीक किया हुआ बछियों का औसत सूचक" (Corrected Daughter's Average Index) रखा गया। इसकी गणना निम्न प्रकार की जाती है—

$$S = \overline{D} - b(\overline{M} - A)$$

यहाँ 'S' = ठीक किया हुआ बछियों का औसत सूचक

$\overline{D}$ = साँड की बछियों का औसत

$\overline{M}$ = माँ का औसत

b = बछियों के प्रदर्शन का उसकी माँ पर अन्तः साँड रीग्रैसन (Intra-Sire Regression of Daughter's Performance on that of its Dam)

A = यूथ का औसत (Herd Average)

यह सूचक अधिक उपयुक्त होने के कारण अन्य सूचकों से अच्छा माना जाता है।

(5) रिग्रेस्ड लीस्ट स्क्वायर्स (Regressed Least Squares or R.L.S.)—सूचक साँडों के मूल्यांकन की यह नई विधि कुछ दिन पूर्व क्वींसलैण्ड में विकसित की गई है इस विधि में 100 को आधार मानकर R L S प्रूफ परिणाम एक सूची के रूप में छपे उपलब्ध होते हैं। किसी साँड का इस विधि से यदि सूचकांक 115 है तो वह 15 प्रतिशत औसत से अधिक अच्छा है और इससे नस्ल सुधार सम्भव है। इसके विपरीत यदि उसका सूचकांक 93 है तो वह 7 प्रतिशत औसत दर्जे से भी कम है और इसे प्रजनन के लिये उपयोग में नहीं लाया जा सकता। इस विधि में केवल एक कठिनाई यह है कि एक साथ 12 साँडों अथवा उनकी बछियों का एक से अधिक ब्याँत के परिणामों का विश्लेषण करने के लिये एक बड़े कम्प्यूटर की आवश्यकता पड़ती है।

पैतृक एवं पर्यावरण के आधार पर वरण
(Selection on the basis of Heredity & Environment)

पैतृकता एवं वातावरण, दोनों मिलकर पशु की आन्तरिक रचना तथा बाह्य गुणों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। केवल पितृों से आये हुए अच्छे गुणों पर ही

*K. S. Krishnan, Indian Journal of Vety. Sc. & A.H. 1956 Vol. XXVI, part 4 page 149–170.

पशु का अच्छा बनना निर्भर नहीं होता। बाह्य वातावरण (External Environment), जिनमें पैदा होने के बाद पशु को रहना है, उसके अच्छे-बुरे होने के लिये उतना ही आवश्यक है; क्योंकि पशु का दृश्य रूप (Phenotype) उसके पर्यावरण (Environment) एवं जीन रूप (Genotype) के सम्मिश्रण से प्रकट होता है। यदि पशु में अपने माता-पिता से अच्छे गुण आये हैं, परन्तु वहाँ का वातावरण, जैसे—जलवायु, खाने-पीने का प्रबन्ध, इत्यादि खराब है, तो उन गुणों का विकास न होकर, पशु का विनाश हो जाता है। इसके विपरीत यदि पर्यावरण अच्छा है, तो वे गुण और अधिक विकसित होकर अपना दुगुना प्रभाव दिखाते हैं। इस प्रकार वरण करते समय यदि हमको खराब पर्यावरण में अच्छा पशु मिल जाये तो वह पशु अच्छे पर्यावरण में जाकर और भी अच्छा एवं उत्पादक सिद्ध होता है। अतः पशु-वरण में पैतृकता एवं पर्यावरण दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं और इनको एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

प्रदर्शन वृत्त वरण
(Show-ring Selection)

यह विधि गोपाष्टमी आदि पशु मेलों एवं पशु-प्रदर्शनियों के विजेता पशुओं के चयन के लिये प्रयुक्त होती है इसके अन्तर्गत पशुओं का उनके रूप तथा प्रकार के आधार पर वरण होता है। पशु के प्रकार और उत्पादन क्षमता में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विधि में पृथ्वी पर लकड़ी या लोहे के लगभग 2–2½ मीटर लम्बे डण्डे दूर-दूर वृत्ताकार आकृति में गाड़कर उनको एक दूसरे से रस्सी द्वारा सम्बन्धित करके, एक दोहरा-प्रदर्शन वृत्त बनाया जाता है, जिसमें एक ओर खुला हुआ प्रवेश द्वार रहता है। भीतरी वृत्त में चयन कर्त्ता खड़े होते हैं और इसके चारों ओर चयन में सम्मिलित होने वाले पशु, चयनकर्त्ता के संकेतानुसार, पशु पालकों द्वारा धीरे-धीरे घुमाये जाते हैं। अब निर्णायक (Judges) उनके प्रकार तथा रूप के आधार पर वरण करके उनके सिर में विजय चिन्ह बाँध देते हैं।

प्रदर्शन वरण से लाभ (Advantages of show-ring Selection)

(1) इसके द्वारा अमुक नस्ल, पशु प्रजनक तथा पशुपालन व्यवसाय का खूब अच्छा प्रचार होता है।

(2) इस अवसर पर विभिन्न स्थानों से आये हुए पशुओं का क्रय-विक्रय होता है।

(3) पारस्परिक सम्पर्क से विभिन्न पशु प्रजनक विचार विनिमय करके इस व्यवसाय में पूर्णतया लाभान्वित होते हैं।

(4) साधारण वर्ग के पशुपालकों को पशुओं के पालन पोषण-सम्बन्धित अच्छी-अच्छी सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं।

(5) विजेता पशुपालकों को पुरस्कार इत्यादि मिलने के कारण उनमें पशु विकास की भावना अधिक जाग्रत हो जाती है, जिसका उनके पड़ौसियों पर भी प्रभाव पड़ता है।

प्रदर्शन वृत्त वरण से हानियाँ (Disadvantages)

(1) पशु प्रदर्शनी में भाग लेने वाले पशुओं में यदि कोई दोष है तो उनका मालिक उसे छुपाने का प्रयत्न करता है, जिससे कभी-कभी दोषपूर्ण वरण हो जाता है, जैसे यदि किसी पशु का सींग टूटा है तो वह उस पर सींग का खाली ख़ोल चढ़ाकर, उसे सरेस, मोम आदि से चिपकाकर काले रंग से रंग देता है, जिससे चयन कर्त्ता को उस क्षण टूटे भाग का पता नहीं लग पाता।

(2) कुछ पशु-पालक जो अधिक चतुर होते हैं, वे दाँतों को रेती से रेतकर ऐसा बना देते हैं, जिससे कि बूढ़ा पशु भी यदि अच्छा खाया पिया है, तो जवान दिखाई देता है।

(3) प्रदर्शिनी के विजेता पशु की उत्पादन जीवन से बहुत कम समानता होती है।

(4) प्रदर्शनी के समय से एक-दो दिन पूर्व ही पशु-पालक, दुधारू पशुओं का दूध निकालना बन्द कर देते हैं, अतः वे प्रदर्शन के समय अधिक दूध देकर अपनी अधिक अच्छी उत्पादन क्षमता प्रदर्शित करते हैं।

(5) प्रदर्शनी के लिये कृत्रिम रूप से तैयार किया हुआ पशु का भावुक स्वरूप, उसकी वास्तविकता को छुपा देता है।

(6) पशु की प्रजनन क्षमता जानने का अवसर ही नहीं मिलता।

(7) विजेता पशुओं की संतति के प्रति पहले से ही आवश्यक पक्षपात होने लगता है।

उत्पादन के आधार पर चयन
(Selection on the basis of Production)

यहाँ पर उत्पादन का अर्थ यह है कि पशु जिस प्रयोजन के लिये रखा गया है, उसकी उस कार्य के लिये क्षमता क्या है ? जैसे—डेरी पशुओं में दूध तथा मक्खन उत्पादन की क्षमता, भेड़ों में माँस तथा ऊन उत्पादन की क्षमता, सुअरों में वृद्धि तथा बच्चे उत्पादन की क्षमता, मुर्गियों में माँस तथा अण्डे उत्पादन की क्षमता इत्यादि। इस प्रकार विभिन्न वर्ग के पशुओं में प्रयोजन हेतु उनकी उत्पादन-क्षमता देखकर, उनका वर्णन किया जाता है।

पशु की जनन क्षमता तथा स्वास्थ्य के आधार पर चयन
(Selection on the Basis of the Fertility and Health)

पशु का वरण करते समय, उसकी जनन क्षमता तथा स्वास्थ्य पर पूर्ण ध्यान देना चाहिये, क्योंकि ऐसा न करने से कभी-कभी पशु-पालक को बहुत नीचा देखना

पड़ता है। जब एक पशु-प्रजनक किसी पशु का चयन करने जाये, तो उसके मालिक से उसकी प्रजनन-क्षमता तथा स्वास्थ्य के बारे में निम्न प्रकार प्रश्न पूछना चाहिये—

(1) क्या आपके अमुक पशु, उसके माता पिता को छूतदार बीमारी कभी हुई थी ?

(2) अमुक पशु कितने दिन के बाद ब्याता है तथा इसकी माँ के कितने बच्चे थे।

(3) अमुक पशु ने कितने बच्चे दिये, वे सब जीवित हैं या कोई मरा भी और यदि मरा तो किस रोग से ?

(4) अमुक पशु यदि साँड है तो उसने पिछले वर्षों में कितनी मादाओं को गर्भित किया और उनमें से कितनों के बच्चे हुए ?

(5) अमुक पशु के पूर्वजों का अभिलेख कैसा है ? इत्यादि।

उक्त प्रकार प्रश्न पूछने पर यदि कुछ संदेहयुक्त अथवा प्रश्नवाचक उत्तर मिले तो कभी भी ऐसे पशु का वरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि कभी-कभी ऐसे पशुओं में कुछ रोगों; जैसे—बाँझपन, तपेदिक, संक्रामक-गर्भपात इत्यादि; के पैतृक गुण विद्यमान रहते हैं, जो आगे चलकर इन रोगों के लक्षण प्रकट करके सम्पूर्ण यूथ का सर्वनाश कर देते हैं।

प्रजनक साँड का वरण
(Selection of a Breeding Bull)

गोधन का विकास अच्छे साँडों के उपयोग द्वारा ही सम्भव है। चुने हुए शुद्ध वंशीय साँड अपने जीवन काल में सहस्रों उन्नतिशील संतति मामूली गायों से पैदा कर सकते हैं। अतः देश की समृद्धि, गोधन के सुधार तथा कृषि के उत्कर्ष के लिये अधिक से अधिक उत्तम साँडों का होना परम आवश्यक है। साँड आधा पशु
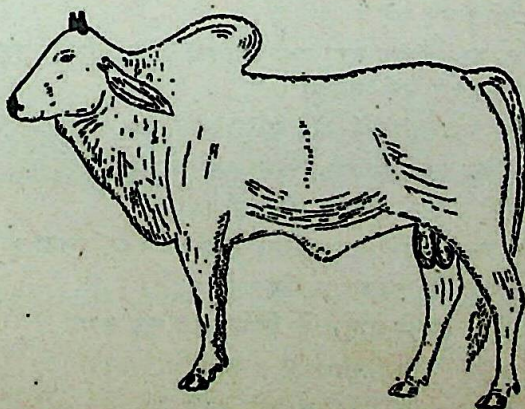
चित्र 25·3—उत्तम हरियाणा सांड (Pure Haryana Bull)

समूह होता है, क्योंकि वंश परम्परा के गुण तो साँड द्वारा ही संतति में आते हैं। प्रजनन के लिये सदैव प्रमाणित नस्ल एवं क्षेत्र का साँड ही चुना जाना चाहिये। अच्छा तो यह होगा कि प्रजनन कार्य हेतु केवल वे ही साँड चुने जायें जिनकी वंश परम्परा की परीक्षा हो चुकी हो तथा वे रोगोन्मुक्त एवं स्वस्थ्य हों। इससे पूर्व कि साँड को गायों को गर्भित करने के लिये गो-समूह में छोड़ा जाये उसकी भली-भाँति परीक्षा करनी चाहिये। किसी प्रकार से यदि उसमें खराब गुण विद्यमान हैं, तो सारे यूथ का सर्वनाश हो सकता है। साँड की प्रजनन क्षमता का अनुमान संतति परीक्षण (Progeny Test) तथा साँड सूचक (Bull Index) से लगना चाहिये। अच्छे साँड को 'गवेन्द्र' कहा गया है, अतः उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहियें—

(1) साँड अपनी नस्ल के अनुसार शुद्ध हो।

(2) उसका बाह्य आकार देखने में सुडौल एवं आकर्षक हो।

(3) साँड के अण्डकोश फूले एवं कठोर न होकर बराबर हों।

(4) उसका मुतान (sheath) चुस्त हो।

(5) साँड निरोग हो।

(6) उसकी कमर सीधी, कन्धा ऊँचा, पूंछ लम्बी और मोटी, टाँगें सुदृढ़ तथा दोनों सींग समान हों।

(7) साँड की आँखें चमकीली तथा चुस्त हों।

(8) उसकी वंशावली प्रभावित करने वाली हो।

(9) साँड पशु-पालक की इच्छानुसार अपनी संतति में अपने गुणों की छाप छोड़ने की क्षमता रखता हो।

(10) उसका सीना चौड़ा तथा अगला धड़ भारी हो।

(11) साँड की आयु 3—4 वर्ष से अधिक न हो, ताकि वह लम्बी अवधि तक गायों को गर्भित करने के लिये प्रयुक्त किया जा सके।

(12) उसके विशेषतः पिछले पैर और खुर मजबूत हों, जिससे वह सुगमता पूर्वक गायों को गर्भित कर सके।

(13) साँड का शुक्राशय बड़ा तथा सामान्य हो। इसकी उसके गुदामार्ग में में हाथ डालकर जाँच कर लेनी चाहिये।

(14) साँड के जननांगों में कोई शरीर रचनात्मक खराबी न हो।

(15) साँड का ककुद (hump) उठा हुआ और सीधा हो।

(16) उसकी पीठ सीधी तथा चौड़ी हो।

(17) वह चलते समय सिर उठाकर तथा अकड़कर चलता हो।

(18) वह गाय को देखकर उत्तेजित होता हो।

दुग्धोत्पादन के लिये गाय का वरण
(Selection of a Dairy Cow)

दुधारू पशु प्रायः तीन प्रकार के हुआ करते हैं—

1. अपनी संतति में अपने गुणों की छाप छोड़ने वाले अच्छे प्रजनक पशु।

2. उत्पादन के लिये अच्छे किन्तु प्रजनन के लिये सामान्य ।
3. उत्पादन तथा प्रजनन दोनों ही दृष्टिकोणों से निम्न ।

चयन करते समय पहले प्रकार के पशुओं को सर्वप्रथम चुनकर अच्छे साँडों से गर्भित कराना चाहिये । इसके बाद दूसरे के पशुओं को चुनकर उनको केवल दूध तथा माँस उत्पादन हेतु ही रखना चाहिये । इनको भी अच्छे साँडों से गर्भित कराके उत्पन्न हुई अच्छी बछियों को आगे प्रजनन के लिए चुना जा सकता है । तीसरे प्रकार के पशुओं को भूलकर भी नहीं चुनना चाहिये । ऐसे पशु यदि आपके यूथ में मौजूद हों तो उन्हें शीघ्रातिशीघ्र अलग कर देना चाहिये ।

पशुओं के उत्पादन में लगभग 10% विभिन्नता, वातावरण और प्रबन्ध के कारण हुआ करती है । वातावरण का पशु के विकास व उत्पादन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । अतः पशुओं का चयन करते समय यूथ में अधिकतम उत्पादन करने वाले पशु अथवा उसकी सन्तति को ही चुनना चाहिये ।

चित्र—25·4

काशी हिन्दु विश्वविद्यालय की गोशाला में उत्तम नस्ल की दुधारू गायें

दुधारू गाय के लक्षण :

(1) शरीर आगे से पतला और पीछे से भारी होना चाहिये ।
(2) अयन (Udder) अच्छा और बड़ा होना चाहिये ।

(3) उसका स्वभाव सरल और सीधा होना चाहिये।

(4) मुँह सुन्दर और पतला होना चाहिये।

(5) थन अच्छे और बराबर तथा दुग्ध शिरायें (milk veins) उभरी हुई होनी चाहियें।

(6) शरीर लम्बा तथा सुगठित होना चाहिये।

(7) चमड़ी चमकीली तथा मुलायम होनी चाहिये।

(8) एक ब्यांत में उसे 9 माह दूध देना चाहिये।

(9) ब्याने का समय नियमित होना चाहिये।

(10) गाय का अयन दोनों जांघों के मध्य ऊपर और पीछे तक फैला हुआ सुविकसित होना चाहिये।

(11) वह अधिक मात्रा में दूध देती हो और उसमें चिकनाई की प्रतिशत भी अधिक हो।

(12) गाय शीघ्र दूध देने वाली तथा रोग रहित हो।

दुधारू गाय का चयन करते समय नस्ल के अनुसार उसके बाह्य आकार, वंशावली, दूध देने की क्षमता तथा प्रगुणता, पर अधिक जोर देना चाहिये। डेरी गाय की सामान्य दिखावट में रंग-ढंग, स्त्रीत्व और ओजस्विता का समन्वय होना चाहिये। सुन्दर सिर, विशाल ललाट, चमकदार आँखें, खुले नथुने, औसत लम्बाई के सींग, सीधी पीठ, सुदृढ़ जवड़ा तथा लम्बी पूँछ आदि गुण डेरी गाय में वांछनीय हैं। जो भी गाय चुनी जाये, उसकी रोगरहित होने की परीक्षा भली-भाँति कर लेनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो पहले अथवा दूसरे ब्यांत की गाय ही चुननी चाहिये, क्योंकि इसमें दुग्धोत्पादन की क्षमता अधिक होती है।

कार्य हेतु वैलों का वरण
(Selection of Working Bullocks)

वैल, भारतीय कृषकों की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार हैं। कार्य करने के अनुसार वैलों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो भारी कार्य करने वाले (heavy workers) और दूसरे हल्के कार्य करने वाले (light workers)। भारी कार्यों में रहट, हल, बोझ भरी गाड़ी, कोल्हू तथा पुरवट खींचना आदि कार्य आते हैं। इसके विपरीत, सवारी के लिये वैल-गाड़ी खींचना, पीठ पर बोझा ढोना, खेत में सरावन खींचना आदि हल्के कार्य हैं। साधारणतया वैल अपने शरीर का 1/12 से 1/15 तक वजन उठा सकता है। अतः कार्य के अनुसार ही वैल का चयन किया जाता है। एक अच्छी वैल की जोड़ी में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं—

(1) जोड़ी के दोनों वैल लगभग एक ही ऊँचाई के होकर समरूप हों।

(2) वलों का मस्तक और मुँह चौड़ा हो।

(3) उनके नथुने बड़े तथा आँखें चमकीली हो।

(4) ग्रीवा औसत लम्बाई की तथा अगले पुट्ठे मजबूत हों।
(5) ककुद (hump) अधिक ऊँचा न होकर औसत दर्जे का हो।
(6) उनका शरीर सुगठित हो।
(7) पैर लम्बवत् तथा खुर सीधे, सुदृढ़ एवं एक समान हों।
(8) उनका सीना आगे से चौड़ा हो।
(9) बैल मारने वाले न होकर बहुत ही सीधे हों।
(10) उनका रूप आकर्षक हो।
(11) बैलों के सींग गुट्ठल एवं एक समान हों।
(12) पूँछ लम्बी, औसत दर्जे की मोटाई वाली तथा गुच्छेदार हो।
(13) उनके पिछले पुट्ठे तथा जाँघें सुदृढ़ एवं सुविकसित हों।
(14) जोड़ी के दोनों बैलों का रंग भी लगभग एक समान हो।
(15) बैल रोग रहित होकर पूर्णतया एक समान हों।
(16) उनकी त्वचा लचीली एवं आकर्षक हो।

उक्त गुणों को ध्यान में रखकर अपनी आवश्यकता एवं इच्छानुसार पशु का चयन करके पशु-पालक मनवांछित फल पा सकता है।

परिच्छेद : 26

भारत में पशु प्रजनन समस्यायें एवं इस दिशा में अब तक किया गया कार्य

(CATTLE BREEDING PROBLEMS IN INDIA AND THE WORK SO FAR DONE IN THIS DIRECTION)

आदि काल से ही भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है। यहाँ की लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहकर खेती करके अपना जीवन निर्वाह करती है। अतः उन्हें पशुओं के सहारे ही रहना पड़ता है और आये दिन निम्नलिखित प्रजनन सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है—

(1) हमारे देश में अच्छे साँडों की कमी होने के कारण देशी नस्ल के घटिया साँडों से ही गायें गर्भित कराई जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उनसे पैदा हुए बच्चे बहुत ही अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। इससे न तो हमारा कृषि कार्य ही भली-भाँति चल पाता है और न दूध की समस्या ही हल हो सकती है। बड़ी कठिनाई से हमें प्रति वर्ष एक अच्छा साँड मिलता है, जबकि 250 की आवश्यकता है। इस समस्या का समाधान कृत्रिम गर्भाधान ही होगा।

(2) पशुओं की भली-भाँति देखभाल न हो सकने एवं संतुलित आहार के अभाव के कारण, उनका जो वास्तविक विकास होना चाहिये, वह भी नहीं हो पाता। अतः वे समुचित रूप से प्रजनन के योग्य ही नहीं हो पाते।

(3) पशुओं में तरह-तरह के जननेन्द्रिय रोग जैसे—संक्रामक-गर्भपात, बाँझपन इत्यादि प्रजनन कार्य में और भी विषमता ला देते हैं। इनका कोई भी सुचारू रूप से न तो निदान हो पाता है और न चिकित्सा, जिसके फलस्वरूप संभोग काल में ऐसे रोग एक पशु से दूसरे पशु में फैलकर एक बड़ी समस्या बन जाते हैं।

(4) पहली बार जब गाय ब्याती है, तो उस समय उसको बहुत कष्ट होता है और कभी-कभी बच्चा उलझ जाने के कारण उसकी मृत्यु तक हो जाती है।

(5) ब्याने के बाद यदि ठीक प्रकार पशु की देखभाल न हुई तो उसको अयन के रोग जैसे थनैला (mastitis), गर्भाशय-शोथ (metritis), गर्भाशय-पूयता (pyometra), इत्यादि हो जाते हैं। इनकी यदि भली-भाँति चिकित्सा न हो पाई, तो पशु बिल्कुल ही बेकार हो जाते हैं।

(6) कभी-कभी गाय व्याने के लगभग एक डेढ़ माह वाद, पुनः गर्भित हो जाती है। इससे वह बहुत ही निर्बल हो जाती है और उसे तरह-तरह के रोग घेर लेते हैं। व्याने के वाद गर्भाशय को अपनी पूर्ण अवस्था ग्रहण करने में लगभग 2 या 2½ माह का समय लगता है, अतः इस वीच में भूलकर भी उसे गाभिन नहीं करना चाहिये।

(7) कुछ गायों में ऋतुकाल (heat period) वहुत कम होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पशु ऐसे होते हैं, जिनमें गर्म होने के लक्षण भली-भाँति प्रकट ही नहीं होते। अतः ऐसे पशुओं में उचित समय प्रजनन हो ही नहीं पाता।

(8) बहुत सी मादायें हर समय गर्म रहती हैं, परन्तु वे गर्भ धारण नहीं कर पातीं। इसका कारण ओवरी में सिस्ट (cyst) का होना है, जिसका निदान एवं उपचार विना पशु-चिकित्सक के नहीं हो सकता।

(9) जनता में निरक्षरता के कारण प्रजनन सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक ढंगों के प्रति अश्रद्धा एवं अविश्वास।

(10) वैज्ञानिक ढंग से प्रजनन कार्य चलाने के लिये देश में प्रशिक्षित एवं कर्त्तव्य-परायण व्यक्तियों की कमी।

(11) प्रजनन अभिलेख (breeding records) का न रखा जाना।

(12) छोटी देशी गाय को वड़े साँड से गर्भित कराना। ऐसा करने से बड़ा बच्चा बनकर व्याने के समय गर्भाशय में उलझ जाता है।

इस प्रकार अच्छे साँडों की कमी, दोषपूर्ण प्रजनन तथा विभिन्न जननेन्द्रिय रोग ही प्रजनन सम्बन्धी मुख्य समस्यायें हैं।

प्रजनन सम्वन्धी उपर्युक्त समस्याओं के कारण हमारे देश के पशुओं की हालत आये दिन गिरती देखकर, पशुपालन विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और पशुओं को अच्छा एवं उत्पादक वनाने के उन्होंने निम्नलिखित चार मूल-मन्त्र वताये—

(1) सन्तुलित एवं नियमित आहार (Balanced and Regular Feeding)

(2) अच्छे एवं आधुनिक प्रजनन के ढंगों को अपनाना (Improved Breeding)

(3) सुप्रबन्ध (Better Management)

(4) रोगों की रोकथाम (Disease Control)

प्रजनन के अतिरिक्त अन्य बताये गये तीन मन्त्रों से पशुधन का सुधार तो अवश्य सम्भव है, परन्तु इसमें बहुत ही अधिक समय लगेगा तथा सुधार भी मन-वांछित नहीं होगा। जैसे कि हम पिछले पाठों में लिख चुके हैं, पशु के शरीर में उपस्थित जीन ही उसके अच्छे-बुरे गुणों के लिये उत्तरदायी होते हैं। अतः इन जीनों

को ऐसे क्रम से लगाना, जिससे पशु अधिक अच्छे गुणों वाले हो सकें। यही पशुपालन की वास्तविक एवं शीघ्र उन्नति है और यह केवल प्रजनन की विधियों तथा वरण द्वारा ही सम्भव है। अतएव जब हम पशु की आन्तरिक रचना को इस प्रकार सम्भाल लें, उसके बाद ही अन्य बताये गये तीन मन्त्रों को अपनाने से हमारा लाभ है अन्यथा नहीं। **इस प्रकार पशुधन की वास्तविक उन्नति के लिये उनमें आधुनिक ढंगों से प्रजनन कराना नितान्त आवश्यक है।**

कुछ वर्षों से हमारी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उसने पशुपालन विभाग के अन्तर्गत उक्त समस्याओं को रखकर पशु सुधार का बीड़ा उठाया, जिसके फलस्वरूप इस विषय से सम्बन्धित निम्न प्रकार कार्य हुआ—

भारत में संकरण कार्य (Cross Breeding Work in India)

भारत में अनेक निजी और राजकीय, सैनिक एवं कालेजों के फार्मों पर संकरण के प्रयोग हुए हैं। **फोरमैन** (Forman) के अनुसार सन् 1927 में सैनिक डेरी फार्म, लखनऊ में दो विभिन्न नस्लों के साँड **यारशायर** (Ayrshire) तथा **होल्सटिन फ्रीजियन** (Holstein Friesian) से, **हरियाणा** और **शाहीवाल** नस्ल की गायों में यह प्रजनन कार्य प्रारम्भ हुआ। यारशायर से प्रजनन सफल सिद्ध न हो सका, परन्तु फ्रीजियन साँड से जो बच्चे हुए उनमें 7/8 फ्रिजियन हरियाणा तथा 7/8 फ्रिजियन शाहीवाल दुग्धोत्पादन एवं अपनी शारीरिक रचना में काफी अच्छे निकले।

सन् 1920 में **हैन्डरसन** (Handerson) के अनुसार 'पूसा' में **शाहीवाल गायों को, यारशायर** (Ayrshire) नस्ल के साँडों से गर्भित कराया गया। इनसे जो बछियाँ हुई वे बहुत ही दुधारू निकलीं, परन्तु वे खुरपका तथा मुँहपका रोग से बहुत शीघ्र पीड़ित हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त, इस विधि से पैदा हुई सन्तति के परस्पर संभोग से जो परिणाम निकले, वे उत्साहवर्धक न थे। अतः यह कार्य बहुत दिनों तक न चल सका।

सन् 1933 से **लिटिलवुड** (Littlewood) ने अपने क्रियात्मक अनुभवों के परिणामस्वरूप यह बताया कि कुछ **पूर्व संकर** (Back Cross) गायें उतना ही दूध दे सकती हैं, जितना कि **दोगली** (Cross Breed) गायें।

कृषि विज्ञान संस्थान, प्रयाग में भी सिंधी नस्ल की गायों को जर्सी नस्ल के साँडों से गर्भित कराके संकरण (Cross Breeding) कार्य के प्रयोग किये गये।

नीलगिरी के पहाड़ी क्षेत्रों में यारशायर, जर्सी तथा होल्सटिन नस्ल के साँडों से वहाँ की गायों को गर्भित कराके अच्छे परिणाम निकाले गये। बंगलौर क्षेत्र में भी संकरण कार्य के लिये यारशायर साँड प्रयुक्त किये गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संकरण कार्य भारत में कई स्थानों पर विदेशी साँडों से प्रारम्भ किया गया, परन्तु इसमें आशातीत सफलता न मिली। इस कार्य की असफलता के मुख्य कारण अग्रलिखित थे—

(1) विशुद्ध नस्ल के विदेशी साँडों के प्रवेश की योजना उचित न होकर दोषयुक्त थी।

(2) देश के पास पर्याप्त धन का अभाव।

(3) विदेशी साँड चूँकि सस्ते खरीदे गये थे, अतः वे पूर्णतया शुद्ध नस्ल के न थे।

(4) उनके खान-पान, रख-रखाव तथा रोग नियन्त्रण के सम्बन्ध में समुचित जानकारी का अभाव।

अब पुनः हमारी सरकार ने विदेशी नस्ल के साँडों से संकरण कार्य प्रारम्भ किया है और पहाड़ी क्षेत्र के लिये एक ऐसी योजना भी कार्यान्वित है। जर्सी नस्ल के साँडों के संकरण द्वारा पहाड़ी क्षेत्र के पशुओं में शीघ्र दुग्धोत्पादन बढ़ाने के कुछ प्रयोग अच्छे सिद्ध हुए। अतः देश में यह कार्य करने के लिये विभिन्न स्थानों पर अनेक केन्द्र खोले गये। इस प्रकार इस क्रास से पैदा हुई बछियाँ अधिक दुधारू एवं शीघ्र बढ़ोत्तरी करने वाली होती हैं।

भेंट के रूप में अमेरिका से हमारे यहाँ कई बार कुछ संख्या में इस कार्य के लिये विदेशी पशु आ चुके हैं।

इस कार्य को और भी अधिक वृहत रूप देने के लिये टेक्नीकल कोआपरेटिव मिशन (T. C. M.) योजना के अन्तर्गत अमेरिका से विदेशी साँडों का जमाया हुआ भंडारित वीर्य (Frozen semen) मंगाकर हमारे पशुओं को गर्भित किया जा रहा है। इस कार्य में हमें आशातीत सफलता भी मिल रही है।

भारत में क्रमोन्नति (Grading up) कार्य

यह कार्य एक तो कृत्रिम गर्भाधान द्वारा होता है तथा इसकी दूसरी विधि प्राकृतिक प्रजनन भी है। प्राकृतिक रूप से क्रमोन्नति करने के लिये ग्राम पंचायतों को सरकार की ओर से वहुत ही कम मूल्य पर शुद्ध नस्ल का साँड तथा हरियाणा बछिया दी जाती है। उत्तर प्रदेश में इस कार्य हेतु हरियाणा तथा मुर्रा नस्ल के सांड वितरित किये जाते हैं। साँड, पड़ौस के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से घूमकर, देशी गाय-भैंसों को गर्भित करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राजकीय पशु चिकित्सालयों तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा में राष्ट्रीय साँड विकास केन्द्र (National Bull Extension Centres) भी खोले जा चुके हैं। गाय भैंसों को गर्भित करने हेतु इन केन्द्रों पर शुद्ध नस्ल के हरियाणा तथा मुर्रा साँड रहते हैं। उत्तर-प्रदेश में यह योजना पशुपालन विभाग की ओर से चलाई गई है।

हमारे देश विकास में पशु सुधार हेतु जो प्रजनन इस समय चल रहा है, इसे चुनींदा प्रजनन (Selective Breeding) कहते हैं। शुद्ध तथा प्रमाणित साँडों को राजकीय गो-पशु प्रजनन फार्मों पर पाला जाता है और स्थानीय पशु सुधार हेतु इनको ग्रामों, गोशालाओं तथा केन्द्रित ग्राम केन्द्रों (Key Village Centres) में छोड़ दिया

जाता है। इस पद्धति द्वारा विकास बहुत धीरे-धीरे होता है। कृषि योग्य पशुओं की उन्नति के लिये, अधिक दूध उत्पादन करने की क्षमता वाले साँड का, अधिक भारवाही गुण से मेल कराया जाता है। इस प्रकार गायों से अधिक दूध तथा कृषि-कार्य के लिये स्वस्थ बैल प्राप्त होते हैं।

भारत में कृत्रिम गर्भाधान कार्य (A. I. Work in India)

भारत में अच्छी नस्ल के सांडों की कमी है और प्रत्येक पशुपालक अच्छा साँड रख भी नहीं सकता। अतः इस समस्या को हल करने के लिये भारत में प्रथम बार कृत्रिम गर्भाधान की योजना सन् 1939 में पैलेस डेरी फार्म मैसूर में **डा० सम्पत कुमारन** के सफल प्रयोगों के बाद, सन् 1942 से डा० पी० भट्टाचार्य के कुशल निर्देशन में **भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान** (I. V. R. I.) इज्जतनगर (बरेली) में प्रारम्भ हुई। इसके अन्तर्गत 1944–46 में कलकत्ता, नागपुर, बंगलौर तथा हिसार में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोले गये, जिनको बाद में काफी सहायता मिली। इस सफल प्रयोग के फलस्वरूप सन् 1954 में केन्द्रित ग्राम योजना (Key Village Scheme) के अन्तर्गत देश के विभिन्न प्रदेशों में अनेक गर्भाधान केन्द्र एवं उपकेन्द्र खुले जिनकी देखभाल पशु-पालन विभाग द्वारा होती है। इस योजना के अन्तर्गत बड़े-बड़े पशु चिकित्सालयों में नस्ल सुधार हेतु स्थानीय जनता की माँग एवं जलवायु के अनुसार चुनींदा नस्ल के अच्छे-अच्छे साँड रखे जाते हैं। इससे वीर्य एकत्रित करके कृत्रिम रूप से पशुओं को गर्भित करने कार्य बड़ी तेजी से किया जा रहा है, जिसमें हमें आशातीत सफलता भी मिली है। उदाहरणार्थ; उत्तर प्रदेश में ऐसे द्वि-प्रयोजनीय पशुओं की आवश्यकता थी, जो दूध भी दें तथा कृषि कार्य के लिये भी अच्छे हों। चूँकि हरियाणा तथा मुर्रा नस्ल के पशु इसके लिये काफी उपयुक्त हैं और प्रादेशिक जलवायु में भली-भाँति पनप भी सकते हैं, अतः कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर इन्हीं नस्लों के साँड रखे जाते हैं। इनसे वीर्य एकत्रित करके वहाँ तथा उपकेन्द्रों पर भेजकर कृत्रिम गर्भाधान का कार्य संचालित किया जाता है। साथ ही विदेशी नस्ल के परीक्षित साँडों का हिमीकृत भण्डारित वीर्य मंगाकर भी यह कार्य किया जा रहा है।

क्षेत्रीय आधार पर वीर्य-कोषों (Semen Banks) की स्थापना

रक्त-कोष (Blood Bank) की भाँति हमारी सरकार उत्तम साँडों की कमी को पूरा करने के लिये वीर्य-कोष (Semen Bank) भी खोल रही है। ऐसा करने से कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोलने के अधिक खर्चे को बचाया जा सकेगा और साथ ही उपकेन्द्रों पर सुचारू रूप से वीर्य भेजा जा सकेगा। राजनगर, वाराणसी में ऐसे एक वीर्य कोष की स्थापना हो चुकी है। इसमें हरियाणा, शाहीवाल, जर्सी तथा मुर्रा नस्ल के साँड रखे गये हैं। इनका वीर्य एकत्रित करके क्षेत्र के उपकेन्द्रों पर भेजा जाता है।

प्रजनन कार्य में पशु-चिकित्सालयों का योगदान

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व हमारे देश में बहुत ही कम पशु-चिकित्सालय थे। इनमें केवल चिकित्सा का ही कार्य प्रमुख रूप से हुआ करता था। परन्तु अब अनेक पशु-चिकित्सालय विकास खण्डों के साथ-साथ खोले जा चुके हैं। सरकार की योजना के अनुसार, हर पाँच मील पर एक पशु-चिकित्सालय होना है और इस लक्ष्य की प्रगति के लिये वह निरन्तर प्रयास कर रही है। अब इनमें चिकित्सा के अतिरिक्त, पशुओं के जननेन्द्रिय रोगों का निदान तथा कृत्रिम गर्भाधान कार्य भी होता है। इसके अतिरिक्त, पशु-पालन पोषण सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारी के लिये पशु चिकत्सक से विचार विमर्श करने की जनता को पूरी- पूरी छूट होती है। पशु-पालन विभाग की ओर से कैसे, कब और कहाँ प्रजनन करायें, इस विधि से लाभ तथा हानि इत्यादि पर निःशुल्क साहित्य जनता को वितरित किया जाता है। विभाग की ओर से गाँव-गाँव में प्रसार सेवा खण्डों एवं पशु-चिकित्सालयों के अधिकारियों द्वारा पशुप्रदर्शनी का आयोजन करके, अच्छे पशु पालकों को पुरस्कार दिया जाता है, जिससे उनका तथा उनको देखकर उनके पड़ौसियों का विशेष उत्साह बढ़े। इस अवसर पर सुयोग्य सरकारी उच्च अधिकारियों द्वारा वार्ता कराके, जनता को पशु प्रजनन के वारे में ज्ञान की वृद्धि कराई जाती है। इसके अतिरिक्त देशी निकम्मे साँड, जो नस्ल खराब करते हैं, उनको बधिया करने की योजना भी इन्हीं चिकित्सालयों द्वारा कार्यान्वित होती है।

देश के इन चिकित्सालयों के अन्तर्गत कुछ बाँझपन निरोधक केन्द्र भी खोले गये हैं जहाँ कुशल चिकित्सकों द्वारा पशुओं का इलाज किया जाता है। जिला पशुधन अधिकारी तथा जिले का कृत्रिम गर्भाधान अधिकारी भी समय-समय पर इन केन्द्रों पर आकर अपना सुझाव देता है।

प्रजनन कार्य में अनुसंधान संस्थाओं का योगदान

देश में अग्रांकित अनुसंधान संस्थाओं में बहुत पहले से ही इस विषय पर अन्वेषण होते आये हैं और जब कोई भी सफल प्रयोग वहाँ होता है, तो उसके परिणाम तुरन्त ही प्रचार-पत्रों में छपकर जनता के हित के लिये प्रादेशिक कार्यकर्त्ताओं पर पहुँच जाते हैं, जो उनके अनुसार कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

1. भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I.V.R.I.) इज्जतनगर

सन् 1890 में पशु सुधार का लक्ष्य रखकर, इस संस्थान का श्री गणेश हुआ, जिसकी देख-रेख केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है। इस संस्था के अन्तर्गत विभिन्न विभाग कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक विभाग में एक विभाग-प्रमुख होता है। पूरी संस्था का अध्यक्ष निदेशक (Director) होता है। जैनेटिक्स विभाग के अन्तर्गत प्रजनन सम्बन्धी समस्त प्रयोग किये जाते हैं, जो सफल होने पर प्रादेशिक कार्यकर्त्ताओं तक पहुँचाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—कृत्रिम गर्भाधान का प्रयोग 1942 में अपने देश में यहीं सफलतापूर्वक किया गया, जिसके फलस्वरूप आज हम उसका इतना विकास देख

रहे हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ देश के प्रायः सभी प्रदेशों से चुने हुये विभागीय अधिकारी वर्ष भर प्रशिक्षण हेतु आया करते हैं। अगस्त सन् 1958 से यहाँ पोस्ट ग्रेजुएट कक्षायें भी चालू की गई हैं, जिनमें देश के कोने-कोने से चुने हुए श्रेष्ठ विद्यार्थी प्रजनन तथा अन्य विषयों पर उच्चकोटि की शिक्षा पाकर एम॰ वी॰ एस-सी॰ (M. V. Sc.) और पी-एच॰ डी॰ (Ph. D.) की उपाधि प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रजनन सम्बन्धी समस्त समस्याओं का निदान एवं निराकरण यहाँ होता है। अब इस संस्थान को विश्वविद्यालय का दर्जा दे दिया गया है।

2. भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, पूसा (I. A. R. I.) नई दिल्ली

सन् 1904 में इस संस्था के एग्रोनामी विभाग के आधीन, भारत में दूध की प्राप्ति की समुचित व्यवस्था न देखकर, देश की सर्वोत्तम दुधारू नस्ल शाहीवाल की स्थापना हुई। यह नस्ल आजकल देश की सबसे अच्छी नस्ल मानी जाती है। इससे मनुष्यों की दूध की समस्या का किसी हद तक समाधान हुआ। पशुओं को वैज्ञानिक ढंग से खिलाकर एक अन्तरवंश प्रजनन (Line Breeding) करके, उनसे अधिक उत्पादन लेने के सफल प्रयोग भी यहाँ किये गये। इस संस्थान के द्वारा, प्रजनन कार्य की सफलता एवं पशुधन विकास के लिये, काफी मात्रा में थारपारकर तथा शाहीवाल नस्ल के उत्तम साँड विभिन्न प्रान्तों के भिन्न भागों में वितरित किये गये।

3. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान (N. D. R. I.) करनाल

यह संस्थान भी प्रजनन कार्य में अपने अनुभूत प्रयोगों से समय-समय पर समुचित योगदान देता रहा है।

4. पशु चिकित्सा विज्ञान तथा कृषि महा-विद्यालय (Veterinary and Agriculture Colleges)

देश में खोले गये कृषि विश्वविद्यालयों के तत्वाधान में अनेक पशु चिकित्सा विज्ञान एवं कृषि महाविद्यालयों के अन्तर्गत इस कार्य में आशातीत उन्नति हो रही है। इसमें शिक्षा पाने वाले छात्र प्रजनन के आधुनिक ढंगों, उनकों कठिनाइयों एवं निदान का पूर्ण अध्ययन करते हैं। अभी तक पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालयों में केवल ग्रेजुएट बनने तक की शिक्षा ही मिलती थी। परन्तु कुछ दिनों से उनमें पोस्ट ग्रेजुएट कक्षायें भी खुल रही हैं, जिसके फलस्वरूप इन समस्याओं का और भी अधिक आधुनिक ढंगों से प्रगाढ़ अध्ययन हो सकेगा। इन संस्थानों से संलग्न फार्मों पर प्रजनन सम्बन्धी प्रयोगात्मक कार्य किये जाते हैं और इनमें सफलता मिलने पर यही अनुभव देश के विभिन्न क्षेत्रों में पशुधन सुधार हेतु प्रयोग होने लगते हैं।

प्रजनन कार्य में गोशालाओं तथा गो सदनों का योगदान

पशुओं की गिरी हुई दशा को देखकर हमारी सरकार ने स्वतन्त्रता पाने के बाद सन् 1949 में एक केन्द्रीय गोशाला विकास बोर्ड की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत देश में अनेक गोशाला एवं पिंजरापूल समितियाँ बनाई गईं। इनमें प्रशिक्षित

कर्मचारियों की कमी होने के कारण, उनके प्रशिक्षण हेतु दिसम्बर सन् 1945 में राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया। इसमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों को मासिक छात्रवृत्ति मिलने का भी आयोजन किया गया। इस प्रकार गोशाला के पशुओं का विकास करके, उनसे वीज रूप बच्चे लेने का प्रवन्ध किया गया। जो गोशालायें शुद्ध नस्ल की गायें रखती हैं, उसको उनसे पैदा हुए नस्ल के बछड़ों को पालने के लिये, प्रादेशिक सरकार के पशुपालन विज्ञान की ओर से 10 रुपये प्रति माह प्रति बछड़ा तकावी दी जाती है। यह तकावी बछड़ों को 6 माह की आयु से लेकर 2½ वर्ष तक दी जाती है। तत्पश्चात् यही बछड़े प्रजनन कार्यों के लिये साँड के रूप में पशु-पालन विभाग द्वारा नकद मूल्य देकर खरीद लिये जाते हैं। इस प्रकार हमें इन गोशालाओं से देश में जो प्रजनन कार्य करने वाले शुद्ध नस्ल के साँडों की कमी है, उनकी पूर्ति करने में काफी सहयोग प्राप्त है।

मुख्य तौर पर गोशालाओं ने अपने को दो श्रेणियों में विभक्त कर लिया है—

(1) दुग्धालय विभाग—इसमें दुधारू, उत्पादक तथा उत्तम नस्ल के पशु रहते हैं, जिनमें प्रजनक साँड भी सम्मिलित हैं।

(2) गोसदन विभाग—प्रायः इनकी स्थापना जंगलों में की गई है। इनमें अपाहिज, अनुत्पादक एवं बेकार पशु रहते हैं तथा इस यूथ में साँड नहीं रहते। इस प्रकार जंगल की घास खाकर यह अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ऐसा करने से अच्छे पशुओं के लिये चारा दाना काफी मात्रा में बचा रहता है।

प्रजनन कार्य में गोपाष्टमी सप्ताह तथा पशु-प्रदर्शनी का योगदान

यह सप्ताह सम्पूर्ण देश में दिवाली के परम पर्व के निकट मनाया जाता है। इसमें पशु-पालन की विभिन्न समस्याओं पर विचार-विनिमय करके उनके निराकरण का मार्ग ढूंढा जाता है तथा पशु-पालन सम्बन्धी नवीन प्रणालियों का प्रदर्शन किया जाता है। इससे पशु-प्रजनन की गति का जनहित के लिये प्रचार होता है।

हमारे देश में गाँव, जिला, राज्य, प्रदेश तथा अखिल भारतीय स्तर पर पशु-पालन एवं नियोजन विभागों द्वारा पशु प्रदर्शनियों तथा दुग्ध-उत्पादन प्रतियोगिताओं का आयोजन क्रिया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर इस कार्य हेतु भारत में एक **'राष्ट्रीय पशु कमेटी'** की नियुक्ति की गई है। सन् 1955 से इस कमेटी के अन्तर्गत प्रादेशिक तथा अखिल भारतीय पशु प्रदर्शनियाँ संगठित की जा रही हैं। इन प्रदर्शनियों के विजेता पशु जनता में जनन विज्ञान की उन्नति का प्रदर्शन करके पशु-प्रजनकों का उत्साह-वर्धन करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु पारस्परिक वार्ता से प्रजनन सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान करके पशु-प्रजनक उत्तम प्रजनन की प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं।

प्रजनन नीति एवं नस्लों का बंटवारा
(Breeding Policy and Distribution of Breeds)

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (I. C. A. R.) की पशु प्रजनन कमेटी

एवं पशुधन कमेटी के पारस्परिक सहयोग से भारत के समस्त गो तथा भैंस जाति के पशुओं के लिये प्रजनन पॉलिसी का निर्माण हुआ। यह पॉलिसी केन्द्रीय तथा सभी प्रादेशिक सरकारों द्वारा स्वीकृत होकर, सम्पूर्ण देश में लागू की गई। इस पालिसी के अनुसार प्रत्येक प्रदेश को विभिन्न खण्डों में बाँटकर, उनमें उपयुक्त नस्लों के पशु पालने का बँटवारा किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य स्थानीय नस्लों का चुनींदा प्रजनन (Selective Breeding) द्वारा एवं देशी पशुओं का क्रमोन्नति (Upgrading) करके समुचित विकास करना है।

वास्तव में हमारे यहाँ कोई ठोस प्रजनन पॉलिसी नहीं है जो सभी प्रदेशों में एक समान लागू हो सके। थोड़े वहुत सुधार के साथ हमारे पशु पालक निम्न में से किसी एक नीति का अनुसरण कर सकते हैं—

1. अधिक उत्पादन क्षमता के आधार पर चयन करके ऐसे देशी पशुओं को उपयोग में लाना जो स्थानीय वातावरण में घुल-मिल चुके हों।

2. हमारे यहाँ के वातावरण में पनपने वाले अधिक उत्पादन क्षमता के पशुओं का विदेशों से भारत में मँगाना।

3. उपर्युक्त गुणों वाले पशुओं को वाहर से मँगाने के साथ ही उनका रख-रखाव भी वहीं (विदेश) के अनुसार करना।

4. देशी तथा चुनींदा गायों के गर्भित करने के लिये विदेशी नस्ल के साँडों अथवा हिमीकृत वीर्य का आयात करना।

पहाड़ी एवं अधिक वर्षा वाले क्षेत्र इसमें सम्मिलित नहीं हैं और इन क्षेत्रों में विदेशी नस्ल के साँडों द्वारा संकरण (Cross breeding) की विधि अपनाई जा रही है। संकरण का कार्य वहीं अधिक सफल हो सकता है जहाँ पशुओं के आहार तथा रख-रखाव के अच्छे साधन उपलब्ध हों।

भारत में केन्द्रित ग्राम योजना (Key Village Scheme)

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के क्रियात्मक अनुभवों के पश्चात् सन् 1952 में केन्द्रित ग्राम योजना प्रारम्भ की गई। इसका मुख्य उद्देश्य चारे, प्रजनन ढंगों, सुप्रबन्ध तथा रोग नियन्त्रण के अच्छे साधन उपलब्ध करके पशुओं की बहुमुखी उन्नति करना है। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक प्रदेश में पशुधन की उन्नति के लिये केन्द्रित ग्राम केन्द्र (Key Village Centre) बनाये गये और इसका कार्य प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथों में सौंपा गया। प्रदेश के पशु-पालन विभाग का निदेशक (Director) ही इसका मुख्य अधिकारी बनाया गया तथा उसकी अध्यक्षता में एक उपनिदेशक, केन्द्रित ग्राम योजना (Deputy Director, Key Village Scheme) की नियुक्ति हुई। यही उपनिदेशक एक प्रदेश के समस्त केन्द्रित ग्राम केन्द्रों का कार्य देखता है।

इन केन्द्रों की स्थापना के लिए निम्नलिखित आवश्यकतायें निर्धारित हुई—

(1) जहाँ केन्द्र खुलना हो वहाँ दुधारू पशुओं की संख्या 500 से 2000 हो।

(2) वहाँ के मनुष्य पशु प्रजनन में विशेष रुचि रखते हों।

(3) उत्तम चारा उगाने के लिये काफी भूमि उपलब्ध हो।

(4) वहाँ यातायात के लिये सड़कें अच्छी हों।

योजना के मुख्य उद्देश्य

(1) उत्तम साँडों से प्रजनन कराना।

(2) सरकारी एवं गैर-सरकारी भागों में रखे गये पशु-यूथ की उन्नति करना।

(3) देशी साँडों से प्रजनन रोकने के लिये उनको वधिया करना।

(4) चुनी हुई गायों को रखना।

(5) गायों के दूध का अभिलेख रखना।

(6) चुनींदा प्रजनन तथा क्रमोन्नति करना।

(7) चारे की उत्पत्ति के साधनों का विकास तथा सहकारिता के आधार पर पशुओं से प्राप्त पदार्थों का वितरण करना।

(8) कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों द्वारा प्रजनन करना।

(9) पशु रोग नियन्त्रण साधनों का जुटाव करना।

एक केन्द्रित ग्राम केन्द्र के अन्तर्गत कई गाँव होते हैं, जिसमें लगभग 2000 गायें उत्पादन योग्य होती हैं। प्रत्येक केन्द्रित-ग्राम खण्ड; केन्द्रित ग्राम इकाइयों में बँटा होता है। इन केन्द्रों में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र की स्थापना होती है, जिसमें एक पशु-चिकित्सा अधिकारी तथा दो पशु-सेवक (Stockman) रहते हैं। केन्द्रित-ग्राम इकाइयों में, जहाँ कृत्रिम गर्भाधान उप-केन्द्र होता है, केवल एक पशु-सेवक ही रहता है। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देश में 250 साँड पालन केन्द्रों, 150 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों एवं इनसे सम्बन्धित 600 केन्द्रित-ग्राम-केन्द्रों की स्थापना हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 1258 केन्द्रित-ग्राम केन्द्र, 300 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र तथा 254 केन्द्रित ग्राम प्रसार केन्द्र खोले गये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 342 केन्द्रित-ग्राम-क्षेत्र (Key Village Blocks) तथा लगभग 2000 केन्द्रित ग्राम इकाइयों की स्थापना की गई। अगली पंचवर्षीय योजनाओं में भी ऐसे अनेक केन्द्रों की स्थापना हुई।

पशु चिकित्सा अधिकारी की अध्यक्षता में प्रत्येक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पर वहाँ की पशु संख्या के अनुसार दो या तीन गो साँड तथा एक या दो भैंसा साँड और उनकी देख-रेख के लिये दो परिचारक होते हैं। पशु चिकित्सा अधिकारी इन साँडों से वीर्य एकत्रित करके केन्द्र पर आई हुई गाय, भैंसों को कृत्रिम रूप से गर्भित करके, उनका अभिलेख एक रजिस्टर में रखता है। दो माह बाद उस पशु का निरीक्षण किया जाता है, कि उसने गर्भ धारण किया अथवा नहीं। इसके बाद ऐसे पशुओं से पैदा हुए बच्चों का पूर्ण ब्यौरा एक रजिस्टर में अंकित किया जाता है। यदि पशु गर्भ धारण

नहीं करता, तो इसका कारण भी इसी रजिस्टर में लिखा जाता है। साँड रजिस्टर में साँड का नम्बर, नस्ल, वीर्य किस दिन लाया गया तथा किस गाय में डाला गया, आदि बातों का विवरण रहता है। साँडों की खुराक के रजिस्टर में उनको वर्ष भर दिये गये चारे, दाने का अभिलेख रखा जाता है।

राष्ट्रीय प्रसार सेवा क्षेत्र खुलने के उपरान्त इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक प्रदेश में केन्द्रित-ग्राम-खण्ड (Key Village Blocks) वन गये हैं। इन खण्डों में पशु सुधार के लिये निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं—

समुचित आहार (Proper Feeding)—पशुओं को सन्तुलित एवं नियमित आहार मिलने के हेतु पशु-पालकों को समय-समय पर उपदेश दिये जाते हैं, जिससे वे अच्छा चारा उगा कर इस समस्या का समाधान कर सकें। इसके अतिरिक्त, पशु-चिकित्सा अधिकारी एवं क्षेत्र विकास अधिकारी कुछ हरे चारे जैसे लूसर्न तथा बरसीम घास के प्रदर्शन क्षेत्र भी तैयार कराते हैं, जिनसे अच्छे पशु खाद्यों का समुचित प्रचार होता है। बरसीम का बीज भी इनके माध्यम से वितरित किया जाता है।

(2) उचित प्रजनन (Better Breeding)—पशु चिकित्सा अधिकारी अपने क्षेत्र में दौरा करके कृत्रिम गर्भाधान की विधि को प्रोत्साहित करता है तथा प्राकृतिक प्रजनन (Natural Breeding) का विरोध करता है। इसके अतिरिक्त, वह पशु प्रजनकों से प्रजनन सम्बन्धी समस्याओं पर वार्तालाप करके, उनको उचित सुझाव भी देता है।

(3) रोग नियन्त्रण (Disease Control)—चूंकि रोग के एक ही प्रकोप से वर्षों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है, अतः प्रजनन द्वारा सुधार कार्य को स्थायी रूप देने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि प्रमुख छूतदार रोगों के प्रति बचाव के टीके पशुओं को उचित समय पर ही लगा दिये जायें। अपने क्षेत्र में संक्रामक रोगों की रोक-थाम का पूर्ण उत्तरदायित्व पशु-चिकित्सा अधिकारी पर होता है। वह हर मौसम में प्रकोप करने वाले रोगों से बचाव के टीकों का पशु-पालन विभाग की ओर से प्रबन्ध करके, अपने क्षेत्र में लगभग सभी पशुओं को टीका लगवाता है, जिससे कि उनमें बीमारी न फैलने पाये। यदि किसी प्रकार फिर भी बीमारी फैल जाती है, तो वह तुरन्त ही उस स्थान पर जाकर उसकी रोकथाम के उपचार करता है। इसके अतिरिक्त, केन्द्रित-ग्राम-खण्ड में पशुओं के इलाज के लिये एक छोटी सी डिस्पेंसरी भी होती है, जिसे पशु-सेवक चलाता है।

(4) देशी साँडों को बधिया करना (Castration of Scrub Bulls)—खराब नस्ल के देशी साँड, जो देहातों में नस्ल खराब करते हैं, उनको बधिया करके छोड़ दिया जाता है, जिससे वे प्रजनन के योग्य न रहें।

(5) दूध का अभिलेख (Milk Recording)—केन्द्रित-ग्राम-खण्ड में रहने वाला पशु-सेवक उस क्षेत्र के दुधारू पशुओं का एक रजिस्टर में अभिलेख रखता है।

यह कुछ पशुओं को चुनकर अपने सामने उनका दूध निकलवाता है। पशु-सेवक इस प्रकार तैयार किये हुये अभिलेख को प्रतिमाह पशु-चिकित्सा अधिकारी को दिखाता है।

(6) प्रचार (Advertisement)—पशु-धन की उत्तरोत्तर उन्नति के लिये पशु चिकित्सा अधिकारी अपने क्षेत्र के गाँवों में जाकर पशु-पालकों को पशु-पालन सम्बन्धी अच्छी-अच्छी बातें, जैसे—उनकी नस्ल, अच्छे पशु रखने के लाभ, खराब पशुओं को यूथ से निकालना, उनके खानपान तथा बीमारियों के बारे में बताकर, पशु-पालन की ओर उनका अधिक ध्यान आकर्षित करता है। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर उन्हें हर मामलों में हर प्रकार सहयोग भी देता है।

(7) पशुओं का क्रय-विक्रय (Marketing Animals)—पशु-चिकित्सा अधिकारी अपने क्षेत्र के इस प्रकार विकसित पशुओं एवं उनसे प्राप्त पदार्थों को सहकारिता के आधार पर क्रय-विक्रय करने में भी पशु-पालकों को योगदान देता है। उनको पशु-पालन हेतु तकावी दिलवाता है तथा अच्छे-अच्छे बछड़ों को साँड के रूप में पशु-पालन विभाग को खरीदवा देता है।

(8) तकावी ऋण (Taqavi Loan)—उत्साहित पशु-पालकों को अच्छे पशु रखने के हेतु पशु-पालन विभाग की ओर से तकावी ऋण भी दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, नाम-मात्र के मूल्य पर उन्हें हरियाणा, केनकथा, मुर्रा और थारपार नस्ल की ओसर तथा सिन्धी व शाहीवाल बछियाँ भी दी जाती हैं। इनसे पैदा एक अच्छा बछड़ा, साँड के लिये सरकार ले लेती है। इन कार्यों को अधिक प्रोत्साहन देने के लिये समय-समय पर सरकार की ओर से अच्छे पशु-पालकों को अनुदान भी दिया जाता है।

(9) निरीक्षण (Periodical Inspection)—इस प्रकार किये गये समस्त कार्यों के लिये लेखे का पूर्ण विवरण पशु-चिकित्सा अधिकारी मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक रूप में उपनिदेशक, केन्द्रित ग्राम योजना की सेवा में प्रस्तुत करता है, जो समयानुकूल उनकी सफलता एवं असफलता पर सुझाव देता रहता है। समय-समय पर वह इनका स्वयं जाकर निरीक्षण भी करता है।

(10) सेमिनार (Seminar)—वर्ष में एक दो बार प्रत्येक प्रदेश में निदेशक (Director), पशु-पालन विभाग की संरक्षता में अच्छी-अच्छी विचार गोष्ठी होती हैं, जिनमें प्रदेश के सभी पशु चिकित्सा अधिकारी एवं उच्च कोटि के पशु-पालन विशेषज्ञ भाग लेकर, पशु-धन सुधार हेतु, विचार-विमर्श करके अपने मतों का आदान-प्रदान करते हैं।

संक्षेपतः पशु-धन विकास के समस्त कार्यक्रम जिनकी विशेष क्षेत्र में आवश्यकता है, केन्द्रित ग्राम योजना के अन्तर्गत आते हैं। अतः इस योजना का मुख्य उद्देश्य मजबूत बैल और दुधारू गाय अर्थात् द्वि-प्रयोजनीय (Dual Purpose) पशु नस्ल का विकास करना है। देश के लगभग सभी प्रदेशों ने थोड़े बहुत विरोध के बाद इस

योजना को स्वीकार कर लिया है। कुछ प्रदेशों में इसको कार्यान्वित करते के लिये अधिनियम भी बना दिये गये हैं।

केन्द्रित ग्राम योजना पर इस समय और भी ध्यान दिया गया है, जिसके निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये हैं—

(1) सामूहिक टीकों की भाँति सामूहिक वधिया करने का कार्यक्रम देश में चलाया जाये।

(2) अच्छे साँडों की प्राप्ति के लिये मौजूदा राजकीय पशु-प्रजनन फार्मों के अतिरिक्त, कुछ और फार्म खोले जायें।

(3) घटिया किस्म के पशु हटाये जायें।

(4) मौजूदा गोसदनों के अतिरिक्त, कुछ गोसदन और स्थापित किये जायें।

इस प्रकार केन्द्रित ग्राम योजना के अन्तर्गत अच्छे प्रजनन ढंग अपनाकर, पशुओं के चारे की समस्या हल करके, उनका सुप्रबन्ध तथा बीमारी की रोक-थाम करके, हमारी सरकार निरन्तर ही देश में पशु-धन की बहुमुखी उन्नति करने में संलग्न है।

परिच्छेद : 27

देश में पशुधन विकास की नई परियोजनायें

(NEW PROJECTS FOR THE DEVELOPMENT OF LIVESTOCK IN INDIA)

प्रादेशिक कोऑपरेटिव डेरी फैडरेशन (P. C. D. F.)

श्वेत क्रान्ति लाने के उद्देश्य से देश में राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (National Dairy Development Board) का गठन किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य आनन्द, गुजरात की अमूल डेरी की भाँति देश में 18 ऐसे ही केन्द्रों की स्थापना करके पशुओं की नस्ल सुधारना और दूध का उत्पादन बढ़ाना है।

'प्रादेशिक कोऑपरेटिव डेरी फेडरेशन' (P. C. D. F.) के नाम पर देश के विभिन्न प्रान्तों में ऐसे 18 केन्द्रों की स्थापना की व्यवस्था की गई जो निम्न प्रकार हैं—

1. आन्ध्र प्रदेश—संगमजगरलामुड़ी।
2. बिहार—पटना।
3. गुजरात—आनन्द, मेहसाना साबरकंटा, बनसकंटा।
4. हरियाणा—रोहतक।
5. पंजाब—लुधियाना, भटिंडा।
6. राजस्थान—बीकानेर, अलवर।
7. तमिलनाडु—मदूराई, इराडे।
8. महाराष्ट्र—जलगांव तथा एक अन्य जिसके लिये स्थान निर्धारित होना है।
9. पश्चिमी बंगाल—मतिगारी, बीडंगा।
10. उत्तर प्रदेश—मेरठ, वाराणसी।

विश्व खाद्य संगठन (F. A. O.) के तत्वाधान में यह लगभग 100 करोड़ की योजना है। इसमें बटर ऑयल (Butter Oil) तथा दुग्ध चूर्ण के रूप में 100 करोड़ का विदेशी अनुदान हमें प्राप्त होना है। इनकी बिक्री से अब तक लगभग 30

करोड़ रुपया एकत्रित किया जा चुका है जो उक्त केन्द्रों की स्थापना पर खर्च हो रहा है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत वाराणसी में ऐसा केन्द्र एक विशाल फैक्टरी के रूप में रामनगर में खोला गया है। राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड का मुख्य कार्य प्रादेशिक सरकारों की सहायता करना तथा निर्देश देना है जिससे कि इन चुनींदा क्षेत्रों में शीघ्रातिशीघ्र 'आनन्द' की 'अमूल डेरी' की भाँति "क्यारा डिस्ट्रिक्ट कोऑपरेटिव मिल्क यूनियन" जैसे संगठन खड़े हो सकें। 'पराग डेरी' के नाम पर इनका विकास किया जा रहा है।

इन केन्द्रों का स्थानीय अध्यक्ष एनीमल हस्वेन्ड्री एवं मिल्क प्रोक्योरमेंट मैनेजर होता है। इसके अन्तर्गत सहायक मैनेजर (पशु-पालन); सहायक मैनेजर (दुग्ध एकत्रीकरण) तथा फैक्टरी मैनेजर (पशु आहार) कार्य करते हैं। इस योजना का मुख्य उद्देश्य पशुओं की नस्ल सुधार करके तथा उन्हें सस्ता एवं सन्तुलित आहार उपलब्ध कराकर देश में दुग्ध उत्पादन बढ़ाना है। नस्ल सुधार हेतु इस परियोजना में जर्सी नस्ल के विदेशी पशु मंगाये गये हैं। साँडों का वीर्य एकत्रित करके निकटवर्ती वीर्य कोष में भण्डारित किया जाता है जहाँ से परियोजना क्षेत्र के कृत्रिम गर्भाधान उपकेन्द्रों में इसे गायों को गर्भित करने के लिये वितरित किया जाता है।

परियोजना केन्द्र के निकटवर्ती गाँवों में दुग्ध उत्पादन सरकारी समितियों का गठन किया जाता है। ऐसी एक समिति में कम से कम 30 उत्पादक पशु होने चाहियें और यह लगभग 500 लिटर दूध नित्य उत्पादित करती हो। इससे वहाँ के केन्द्रों पर 4·5% चिकनाई तथा 9% वसा-विहीन ठोस पदार्थ वाला जाँच किया हुआ दूध इकट्ठा किया जाता है। दूध एकत्रित करने के लिये इस समिति में एक सेक्रेटरी, एक दुग्ध संग्रहक (Milk Collector) तथा एक दुग्ध परीक्षक (Milk Tester) रहता है। दूध इकट्ठा करने के बाद फैक्ट्री में लाया जाता है जहाँ इसका पास्चुरी-करण करके वितरण एवं बिक्री हेतु बड़े शहरों में भेजा जाता है।

गाँवों में पशुओं के स्वास्थ्य की देखभाल के लिये इस परियोजना में सचल पशु-चिकित्सालयों की भी व्यवस्था है।

दुग्ध उत्पादकों से प्राप्त दूध के लिये उनको सप्ताह में एक बार पैसे का भुगतान किया जाता है।

पशुपालन विभाग उ० प्र० एवं प्रादेशिक कोऑपरेटिव डेरी फेडरेशन उ० प्र० द्वारा पशुधन-उत्थान हेतु दी जाने वाली सुविधायें

पशु विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत गायों एवं भैंसों की नस्ल सुधार कर उनमें दुग्ध उत्पादन क्षमता का विकास करना एवं ऐसे नर पशुओं का उत्पादन करना जो

कि कृषि कार्यों के लिये उत्तम हों। उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाये जा रहे हैं—

(1) कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों, उप-केन्द्रों एवं दुग्ध सहकारी समितियों पर उत्तम सांडों के वीर्य द्वारा गायों एवं भैंसों का कृत्रिम गर्भाधान किया जाता है।

(2) जनपदों में दुग्ध समितियों के माध्यम से कृत्रिम गर्भाधान की निःशुल्क सेवा दुग्ध उत्पादकों को उपलब्ध कराई जाती है। इसके साथ ही जहाँ पर दुग्ध समितियाँ नहीं हैं वहाँ पशु-पालन विभाग सेवा प्रदान करता है।

(3) पशु-पालन विभाग ग्राम सभाओं को अंशदान पर नैसर्गिक प्रजनन हेतु उत्तम नस्ल के साँडों के वितरण की भी व्यवस्था करता है।

(4) प्रत्येक जनपद के दुग्ध संघ एवं पशु-पालन विभाग अपने ग्रामों में बाँझपन उपचार व जाँच की सुविधा निःशुल्क उपलब्ध कराते हैं।

(5) गायों में संकर नस्ल उत्पादन के लिये होल्सटिन फ्रीजियन एवं जर्सी नस्लों के विदेशी साँडों का जमा हुआ वीर्य उपलब्ध कराया जाता है तथा भैंसों में उत्तम नस्ल के मुर्रा साँडों का जमा हुआ वीर्य उपलब्ध कराया जाता है। इस प्रकार दुग्ध उत्पादकों के लिये ग्राम स्तर पर गर्भाधान की व्यवस्था हर समय उपलब्ध तथा सुनिश्चित रहती है।

भारतवर्ष में वर्ण संकर कार्यक्रम

देश के विभिन्न भागों में होल्सटीन फ्रीजियन, ब्राउन सुइस तथा जर्सी नस्ल के विदेशों साँडों द्वारा संकर प्रजनन कार्य प्रगति पर है। इस योजना के परिणाम-स्वरूप संकर नस्ल की हजारों बछियां प्राप्त हो चुकी हैं। विदेशी नस्ल के साँडों के जमे हुए वीर्य से गायों को गर्भित कराया गया जिनमें पैदा हुई गायों से प्रति ब्याँत अधिक दूध प्राप्त हुआ।

केरल में चल रही इन्डो-स्विस परियोजना के अन्तर्गत संकरण प्रजनन कार्यक्रम के आर्थिक दृष्टिकोण के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि ऊँचे स्थलों में स्थित प्राकृतिक चरागाहों में बछड़े-बछियों का पालन-पोषण अपेक्षाकृत कम खर्चीला पड़ता है। देशी नस्ल के पशुओं की तुलना में संकर नस्ल पर कम खर्च आता है और इनसे उत्पादन भी अधिक प्राप्त होता है।

शत प्रतिशत विशुद्ध नस्ल के विदेशी पशुओं द्वारा संकरण करने से गर्भपात, जननेन्द्रिय रोग, थनैली तथा संक्रामक रोग अधिक प्रकोप करते हैं। अतः भारतीय परिस्थितियों में अर्ध-प्रजनित (half-bred) ढोरों का प्रयोग उन क्षेत्रों के लिये अधिक अच्छा है जहाँ प्रबन्ध तो अच्छा है, किन्तु बीमारियों का प्रकोप होता रहता है। जिन क्षेत्रों में सुप्रबन्ध के साथ पशुपोषण एवं रोग नियन्त्रण के साधन उपलब्ध हैं वहाँ

3/4 से 7/8 तक विदेशी नस्ल के रक्त का क्रास-ब्रीडिंग में प्रयोग किया जा सकता है। बड़े स्तर पर क्रास-ब्रीडिंग करने के लिये सर्वोत्तम प्रकार के विदेशी साँडों अथवा उनसे प्राप्त वीर्य का पशुओं के क्रमोन्नति में इस्तेमाल करना चाहिये। भारतवर्ष में इस कार्य हेतु जर्सी तथा होल्सटिन नस्ल के साँडों का प्रयोग करने की राय दी जाती है।

उत्तर प्रदेशों में वर्णसंकर कार्यक्रम

इस समय प्रदेश के 35 जिलों में ब्राउन स्वीस, जर्सी तथा होल्सटीन फ्रीजियन नस्ल के अनेक साँड संकरण कार्य कर रहे हैं। इस विधि द्वारा प्राप्त पहली पीढ़ी में 200 प्रतिशत दूध की बढ़ोतरी हुई। चालू पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को और अधिक महत्व दिया जा रहा है। विदेशी साँड उत्पन्न करने के दृष्टिकोण से चमोली जिले के भरारी सैरम नामक स्थान पर एक विदेशी पशु प्रजनन प्रक्षेत्र स्थापित किया गया है जिससे भविष्य में ऐसे साँड प्राप्त हो सकें।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की दुग्धशाला में इस पुस्तक के लेखक ने दास, पटनायक तथा विजय शंकर के सहयोग से साहीवाल नस्ल की गायों को होल्स्टीन फ्रीजियन साँड से गर्भित कराके यह पता लगाया कि ऐसे प्रजनन से प्राप्त संकर गायें साहीवाल की अपेक्षाकृत $1\frac{1}{2}$ से गुना अधिक दूध देती हैं तथा उनके दूध में चिकनाई की मात्रा भी 4·5 से 5% तक होती है। ऐसी बछियाँ कम उम्र में गाभिन होकर अधिक दूध देती हैं, चारा कम खाती हैं तथा इनमें रोगों से बचने की क्षमता भी अधिक होती है।

पशुओं की बीमा योजना

पशुओं का बीमा करने का कार्य अभी हाल में ही चलाया गया है। अपने पशुधन की सुरक्षा हेतु आप ऐसी बीमा कम्पनियों के एजेन्ट से सम्पर्क करके अपने पशुओं का बीमा करा सकते हैं। यह एक लाभकारी योजना है जो पशुधन उत्थान में सहायक है।

गिर नस्ल की गायों की प्रजनन परियोजना

महर्षि कृषि विश्व-विद्यालयन, अहमदाबाद, गुजरात के तत्वाधान में 54 लाख रुपये की लागत से स्थानीय गिर नस्ल के सुधार हेतु एक शोध एवं विकास योजना चलाने का निश्चय किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत 100 गो-प्रक्षेत्र स्थापित करने तथा इस जिले की 5000 गायों को सुप्रजनन, सुव्यवस्थित देख-भाल, सुपोषण एवं रोग नियन्त्रण की तकनीकी सहायता प्रदान करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस प्रोग्राम में औसत दर्जे से ऊपर की गिर गायों को गिर नस्ल के सिद्ध साँडों (Proven Sires) तथा औसत दर्जे से नीचे वाली गिर गायों एवं स्थानीय देशी गायों को विदेशी नस्ल के शुद्ध साँडों से गाभिन कराने की व्यवस्था है।

भ्रूण स्थानान्तरण
(Embryo Transplantation)

विगत पंचवर्षीय योजनाओं में देशी गायों तथा भैंसों का दूध उत्पादन बढ़ाने के लिये चयनात्मक प्रजनन एवं सुधार नीति अपनाई गई। किन्तु इस विधि से मनवांछित प्रगति न हो पाने के कारण बाद में संकर प्रजनन का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। देशी गाय का विदेशी नस्ल के उन्नत साँड के साथ संकरण करके भारत की विभिन्न जलवायुओं एवं विभिन्न क्षेत्रों के लिये उपयुक्त नस्लें विकसित की जा रही हैं। संकर जाति के पशु अब कृषकों एवं पशुपालकों में काफी लोकप्रिय हो रहे हैं। हार्मोन चिकित्सा द्वारा गायों के मदकाल को नियन्त्रित करके वर्ष भर दूध का उत्पादन एक जैसा बनाये रखने के भी वैज्ञानिक प्रयास चल रहे हैं। गोपशुओं की नस्ल सुधार में सबसे बड़ा अवरोध यह रहा है कि उनमें बहुत कम बच्चे प्राप्त हो पाते हैं। अब यह सम्भव हो गया है कि एक से अधिक डिम्बों के निषेचन, मदकाल के समायोजन तथा शल्य क्रिया द्वारा भ्रूण को एक गाय से निकालकर दूसरों गाय में संरोपित करके अधिक बच्चे पैदा किये जा सकते हैं। इस कार्य हेतु उत्तम नस्ल की गायों को हार्मोन का टीका देकर अधिक डिम्बक्षरण करवाकर किसी प्रमाणित उत्तम एवं सिद्ध साँड के वीर्य से कृत्रिम गर्भाधान कराया जाता है। ऐंसी गायों में 5–6 दिन की आयु के अनेक भ्रूण शल्य क्रिया द्वारा निकालकर कम अच्छी नस्ल की ऐसी गायों के गर्भाशय में प्रविष्ट कर दिये जाते हैं जिनका मदकाल समान कर दिया गया हो। आशा है कि निकट भविष्य में ऐसे निषेचित भ्रूण अधिक संख्या में प्राप्त होने लगेंगे। इन्हें हिमीकृत करके दूरवर्ती क्षेत्रों में भेजना भी सम्भव हो सकेगा। पशु प्रजनन एवं पशुधन विकास की दिशा में यह एक अति महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी। सामान्य परिस्थितियों में एक गाय अपने उत्पादक जीवनकाल में 6–8 बच्चे दे सकती है किन्तु भ्रूण स्थानान्तरण की विधि अपनाकर ऐसी गाय से मनचाहे 12–18 बच्चे प्रतिवर्ष लिये जा सकते हैं। नेशनल डेरी रिसर्च इन्सटीट्यूट (N. D. R. I.), करनॉल में डॉ० एम० एल मदान तथा डॉ० नागरशंकर के कुशल निर्देशन में यह कार्य सुगमतापूर्वक किया जा रहा है, और इस विधि द्वारा कई बच्चे पैदा किये जा चुके हैं।

पशु पालन विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा संचालित पशुधन विकास कार्यक्रम

प्रदेश में पशुओं की नस्ल सुधार हेतु क्रमोन्नति (grading up), संकर प्रजनन तथा कृत्रिम गर्भाधान कार्यक्रम युद्ध स्तर पर चलाया जा रहा है। श्वेत क्रान्ति के लक्ष्य को पूरा करने में इस कार्यक्रम का विशेष महत्व है। प्रथम चरण में नस्ल सुधार हेतु देश की दुधारू नस्लें जैसे साहीवाल, सिंधी, हरियाणा तथा थारपर नस्ल के साँडों का उपयोग किया गया जिन क्षेत्रों में यातायात की कठिनाई है वहाँ प्राकृतिक

अभिजनन केन्द्र खोले गये। इस समय प्रदेश में ऐसे 35 केन्द्र मैदानी क्षेत्र में तथा 405 केन्द्र पहाड़ी इलाकों में कार्य कर रहे हैं यहाँ गाय-भैंसों का इन साँडों से प्राकृतिक ढंग (Natural service) से प्रजनन कराया जाता है। नस्ल सुधार कार्य-क्रम में तेजी लाने के लिये कृत्रिम गर्भाधान विधि भी अपनाई जा रही है। वर्ष 1986-87 के अन्त तक इस कार्य के लिये 34 वीर्य संग्रह केन्द्र, 746 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र तथा 1915 कृत्रिम गर्भाधान उपकेन्द्र कार्यरत रहे।

देशी अच्छे नस्ल के प्रगतिशील साँडों का कृत्रिम गर्भाधान विधि द्वारा उपयोग करने पर दूध का उत्पादन तो अवश्य बढ़ा किन्तु बढ़ी हुई जनसंख्या के अनुरूप यह बढ़ोत्तरी न हो सकी। अतः अधिक बढ़ावा देने के लिये विदेशी नस्ल के परीक्षित साँडों का उपयोग करके संकर प्रजनन प्रारम्भ किया गया। इस समय प्रदेश में जर्सी तथा होल्स्टीन फ्रीजियन नस्ल के विदेशी एवं वर्ण संकर साँडों का उपयोग किया जा रहा है। वर्ष 1986–87 में अति हिमीकृत एवं तरल वीर्य द्वारा 9·38 लाख गायों को कृत्रिम गर्भाधान विधि से गर्भित किया गया तथा सितम्बर 87 तक 4·55 लाख गायों को विदेशी नस्ल के साँडों से प्राप्त तरल एवं हिमीकृत वीर्य द्वारा गर्भित किया गया। इसके अतिरिक्त इस अवधि में 2·04 लाख भैंसों को भी इस विधि द्वारा गर्भित कराया गया।

पशु पालन विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा इस समय लगभग 1200 इकाइयों पर प्रजनन के लिए हिमीकृत वीर्य की सुविधा उपलब्ध है। भारत सरकार की सहायता से इस कार्यक्रम को और अधिक बढ़ावा देने के लिये एक वृहद योजना बनाई गयी है। इसके अन्तर्गत बरेली तथा पीलीभीत जनपदों में हिमीकृत वीर्य बैंक और लखीमपुर खीरी जिले में अति हिमीकृत वीर्य उत्पादन केन्द्र खोलने का प्राविधान है। इस योजना का कार्य क्षेत्र बरेली, पीलीभीत, शाहजहाँपुर, रामपुर, बदायूँ तथा खीरी-लखीमपुर जनपदों तक सीमित रहेगा। अति हिमीकृत वीर्य कार्यक्रम को और अधिक प्रभावी बनाने के लिये राय बरेली तथा सुल्तानपुर जिलों में 100 इकाइयों पर उपकरण आदि की व्यवस्था की जा रही हैं। साथ ही एक तरल नत्रजन उत्पादन केन्द्र की स्थापना का कार्य भी चल रहा है। बाबूगढ़ (गाजियाबाद) तथा निबलेट पशुधन प्रक्षेत्र (बाराबंकी) पर एक-एक 60 साँड वाले अतिहिमीकृत वीर्य उत्पादन केन्द्र की स्थापना प्रस्तावित है। चमोली जिले में विदेशी नस्ल के साँड रखने का एक प्रजनन फार्म खोला गया है। लखनऊ में चक गजरिया फार्म तथा अल्मोड़ा में वीर्य को हिमीकृत करने का कार्य चल रहा है। एक ऐसा ही हिमीकृत वीर्य उत्पादन केन्द्र पशुलोक (देहरादून) तथा गोरखपुर में चल रहा है। इस कार्य हेतु तरल नत्रजन उपलब्ध कराने के लिये एक संयन्त्र लालकुआँ, हल्द्वानी (नैनीताल) में स्थापित किया गया। ऐसा ही एक-एक तरल नत्रजन संयन्त्र श्रीनगर (पौढ़ी) जालौन तथा आजमगढ़ में लगाया गया है।

प्रजनन कार्य के लिये उच्च कोटि के संकर बछड़े तथा भैंसा सांड प्राप्त करने के लिये राजकीय पशुधन प्रक्षेत्र, नीलगाँव (सीतापुर) तथा देवरिया जनपद में एक साँड पालन-पोषण इकाई की स्थापना की गई है। भारतीय एग्रो इण्डस्ट्रियल फाउन्डेशन (BAIF) द्वारा बुन्देलखण्ड एवं पूर्वांचल में बांदा, जालौन, इलाहाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, फैजाबाद, गोरखपुर, बस्ती, गोंडा तथा देवरिया में चुने हुए 62 केन्द्रों पर संकर प्रजनन कार्य सफलता पूर्वक चलाया जा रहा है।

बड़े शहरों में दूध की आपूर्ति ठीक बनाए रखने के लिये तथा यहाँ स्थापित दुग्ध संयन्त्रों को पर्याप्त मात्रा में दूध उपलब्ध कराने के लिये इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, मेरठ, मुरादाबाद, हल्द्वानी तथा अलीगढ़ में सघन पशु विकास परियोजना चलाई जा रही है। एक सघन पशु विकास परियोजना फैजाबाद में विभागीय बजट से उत्तर प्रदेश कोआपरेटिव फेडरेशन के अधीन स्थापित की जा चुकी है। इस परियोजना के अन्तर्गत दुधारु पशुओं के विकास के लिए सभी सुविधाएँ भरपूर उपलब्ध कराई जा रही हैं।

प्रदेश में भूमिहीन मजदूरों तथा लघु सीमान्त कृषकों के आर्थिक विकास एवं अतिरिक्त रोजगार के साधन जुटाने हेतु (1) एकीकृत ग्राम्य विकास योजना, (2) विशेष पशुधन उत्पादन कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

एकीकृत ग्राम्य विकास योजना के अन्तर्गत प्रदेश के सभी जिलों में एजेन्सियाँ स्थापित की गई हैं। इन एजेन्सियों के माध्यम से दुधारु पशु क्रय करने के लिये संस्थागत वित्तीय ऋण के रूप में तथा लघु कृषकों की यूनिट मूल्य का 25% तथा सीमान्त कृषकों एवं भूमिहीन मजदूरों के लिए $33\frac{1}{3}$% अनुदान देने की व्यवस्था है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लाभार्थियों को इस पर 50% अनुदान दिया जाता है।

दूध, मांस तथा अण्डा उत्पादन को बढ़ावा देने तथा रोजगार के अतिरिक्त साधन जुटाने के लिये प्रदेश के 17 जिलों में भारत सरकार द्वारा विशेष पशुधन उत्पादन कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये हैं। इसके अन्तर्गत लघु/सीमान्त कृषकों तथा भूमिहीन मजदूरों को वर्ण संकर बछिया के 4 से 32 मास तक पालन हेतु राशन पर लघु सीमान्त कृषकों को 50% तथा कृषक मजदूरों को $66\frac{2}{3}$% अनुदान देने का प्राविधान है। इसके अतिरिक्त प्रदेश में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों में उत्थान के लिये "स्पेशल कम्पोनेन्ट प्लान एवं ट्रायबल सब प्लान" के अन्तर्गत ऐसे परिवारों के पशुओं की चिकित्सा, छूतदार बीमारियों से बचाव के टीके, बछड़ों को बधिया करना, उन्नत नस्ल को प्रजनन सुविधा तथा उन्नत चारा बीजों के वितरण की व्यवस्था लाभार्थी को निर्धारित लक्ष्य के अनुसार सुलभ कराई जाती है।

उत्तर प्रदेश में गौशाला विकास कार्यक्रम

प्रदेश में इस समय कुल 142 गौशालायें, निबन्धक गौशाला, उत्तर प्रदेश द्वारा पंजीकृत हैं। इनमें से 131 मैदानी क्षेत्र तथा शेष 11 गौशालायें पर्वतीय क्षेत्रों में चल रही हैं। प्रदेश में इस समय 4 राजकीय गोसदन, 7 जिला गोसदन तथा 3 निजी गोसदन कार्यरत हैं जिनमें प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों से बूढ़े, छुट्टा गोजातीय पशुओं को उनकी प्राकृतिक मृत्यु तक जीवन निर्वाह करने हेतु देख भाल की जाती है।

उत्तर प्रदेश में चारा उत्पादन कार्यक्रम

प्रदेश में चारा उत्पादन को बढ़ावा देने के लिये कृषकों तथा पशु पालकों को लूसर्न, बरसीम, जई, लोविया, एम० पी० चरी, मक्का तथा ज्वार के उन्नत किस्म के बीज बिना लाभ-हानि के सिद्धान्त पर प्रादेशिक पशुपालन विभाग द्वारा उपलब्ध कराने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार के कृषि एवं सहकारिता मन्त्रालय के सहयोग से पौष्टिक तथा अधिक उपज देने वाली चारे की फसलों के प्रदर्शन कृपकों के खेतों पर कराये जाते हैं। इस कार्य के लिये भारत सरकार की ओर से कृषकों को निःशुल्क चारा बीजों के मिनी किट्स भी देने का प्राविधान है। वर्ष 1987–88 की खरीफ की फसल में 1400 मिनीकिट चारा प्रदर्शनों का किसानों के खेतों पर आयोजन किया गया।

सारणी 27·1—उत्तर प्रदेश में विभिन्न पशुओं की संख्या

क्र० सं०	प्रकार	संख्या (लाख)
1.	गो जातीय पशु	261·51
2.	भैंस वंशज पशु	157·85
3.	भेड़ वर्ग	23·07
4.	बकरी वर्ग	96·85
5.	सूअर वर्ग	22·81
6.	अश्व वर्ग	2·12
7.	खच्चर वर्ग	0·54
8.	गधा वर्ग	2·19
9.	ऊंट वर्ग	0·40
10.	कुक्कुट वर्ग	68·58

सारणी 27·2—उत्तर प्रदेश में औसत एवं कुल दुग्ध उत्पादन (वर्ष 1986–87)

औसत दैनिक उत्पादन (किलो ग्राम)	वर्ष भर का कुल दुग्ध उत्पादन (लाख मी० टन)
प्रति गाय 1·91 प्रति भैंस 3·25	गायों से प्राप्त 23·39 भैंसों से प्राप्त 55·97
कुल योग 5·16	कुल योग 79·36

सारणी 27·3—उत्तर प्रदेश में पशु चिकित्सा संस्थाएँ (वर्ष 1986–87)

1.	पशु चिकित्सालय	1530
2.	डी-क्लास औषधालय	216
3.	पशुपालन केन्द्र	2557

सारणी 27·4—उत्तर प्रदेश में कृत्रिम गर्भाधान संस्थाएँ (वर्ष 1986–87)

1.	कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र	746
2.	कृत्रिम गर्भाधान उपकेन्द्र	1915
3.	तरल वीर्य संग्रह केन्द्र	34
4.	अति हिमीकृत वीर्य उत्पादन केन्द्र	4

सारणी 27·5—विभिन्न जातीय पशुओं हेतु उत्तर प्रदेश में सघन पशु विकास खण्ड (वर्ष 1986–87)

1.	सघन पशु विकास खण्ड	8
2.	ग्राम समूह खण्ड	76
3.	सघन भेड़ विकास खण्ड	2
4.	सघन सूकर विकास खण्ड	36
5.	सघन कुक्कुट विकास खण्ड	10

सारणी 27·6—उत्तर प्रदेश में पशु चिकित्सा, बधियाकरण तथा कृत्रिम गर्भाधान सम्बन्धी आँकड़े (वर्ष 1986–87)

चिकित्सा किये गए पशु	136·03 लाख
बधिया किए गए पशु	7·30 लाख
कृत्रिम गर्भाधान से गर्भित गायें	13·17 लाख
कृत्रिम गर्भाधान से गर्भित भैंसें	9·67 लाख
गायों में संकर प्रजनन हेतु किया गया कृत्रिम गर्भाधान	
तरल वीर्य से गर्भित गायें	4·79 लाख
अतिहिमीकृत वीर्य से गर्भित गायें	4·59 लाख
प्रति गो सांड कृत्रिम गर्भाधान की संख्या	2376
प्रति भैंसा साँड कृत्रिम गर्भाधान की संख्या	1950

डेरीफार्मव्यवस्था

DAIRYFARM MANAGEMENT

परिच्छेद : 28

विभिन्न डेरी फार्म भवनों का स्थान निर्धारण तथा समूहन

(LOCATION AND GROUPING OF DIFFERENT DAIRY FARM BUILDINGS)

डेरी भवनों की आवश्यकता

मनुष्यों द्वारा पाले जाने के पूर्व, पशु जंगलों में घूमकर पेड़ों की छाया में, अपना जीवन व्यतीत करते थे। पशुओं को पालतू करने के बाद मनुष्य का ध्यान, उनको जाड़े, गर्मी, धूप, वर्षा आदि से बचाने तथा उनसे अधिकतम उत्पादन लेने के लिये उनके रहन-सहन और निवास की ओर आकर्षित हुआ। इसके फलस्वरूप उनको तरह-तरह के भवनों में रखा गया। पशुओं के विकास एवं उनसे अधिकतम उत्पादन लेने के लिये उनको अच्छे प्रकार के आवास तथा सुप्रबन्ध उतना ही आवश्यक है जितना कि पशु-प्रजनन और पशु-पोषण। अतः प्रत्येक पशु-पालक को पशुओं के लिये आवास तथा उनके सुप्रबन्ध पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

हमारे देश में, पशु धन के मन्द विकास के साथ, उनके आवास तथा सुप्रबन्ध पर, विशेषकर आम जनता द्वारा अच्छा ध्यान नहीं दिया गया। वर्षों से हमारे देश के पशु-पालक, पशुओं को खुले बाड़ों तथा छप्पर इत्यादि के कच्चे घरों से रखते आये हैं। वैज्ञानिक ढंग से पशुओं के घरों का निर्माण केवल राजकीय तथा कुछ निजी डेरी फार्मों पर ही किया जाता है। इनसे हमें निम्नलिखित लाभ हैं—

(1) पशुओं से अधिकतम उत्पादन
(2) मृत्यु दर की कमी
(3) उच्च कोटि का माल
(4) श्रमिकों की बचत
(5) रोग नियन्त्रण
(6) सुव्यवस्थित देखभाल
(7) नियमित आहार

एक आदर्श डेरी फार्म पर निम्न भवनों की आवश्यकता होती है—

(1) डेरी कार्यालय तथा दुग्धशाला, (2) पशु-घर, (3) कर्मचारियों के लिये क्वार्टर।

डेरी फार्म भवनों का स्थान-निर्धारण
(Location of Dairy-farm buildings)

उद्योग तथा व्यक्तिगत दृष्टि से डेरी भवनों का प्रवन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रोचक स्थान पर डेरी भवनों की स्थापना करने से फार्म इकाई की कार्य-क्षमता वढ़ती है। डेरी फार्म भवनों के निर्माण की योजना बनाते समय उनकी बनावट तथा निर्माण में प्रयोग होने वाली वस्तुओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि इनका प्रभाव पशु के स्वास्थ्य, उनके उत्पादन, परिचारकों (attendents) को आराम, मजदूरों की आर्थिकता तथा भवन के मूल्य पर पड़ता है। जहाँ तक हो सके डेरी भवन वहुत ही साधारण बनाने चाहियें। विशेष ध्यान देने वाली वातें निम्न प्रकार हैं—

(1) निर्माण के लिये उचित स्थान।

(2) वायु-संचार के लिये काफी स्थान।

(3) फर्श स्थान (floor space) एवं घन जगह (cubic space) में समुचित अनुपात।

(4) रोशनी एवं रोशनदानों का उचित प्रवन्ध।

(5) पशुओं का पशु-गृहों में उचित प्रबन्ध।

(6) उचित बनावट जिससे पशुओं को खिलाने-पिलाने एवं फर्श आदि की सफाई में समुचित सुगमता हो।

(7) जो भी भवन बने, उसमें न्यूनतम असुविधा के साथ अधिकतम आकर्षण हो।

(8) समुचित अर्थ-व्यवस्था।

अभिन्यास प्रारम्भ करने से पूर्व भूमि का सामान्य आपरीक्षण (survey) करके वहाँ की मिट्टी, विभिन्न भागों के तलरूप (topography) तथा जल निकास की नाली इत्यादि के वारे में पूर्ण ज्ञान करना नितान्त आवश्यक है।

भवन बनाने के लिये मिट्टी के प्रकार—जिस भूमि पर डेरी भवन बनाने हों वह काफी ठोस, नमी रहित, समतल तथा कुछ ऊँचे स्थल पर होनी चाहिये, जिससे वह काफी समय तक स्थायी रह सके और साथ ही बरसात के दिनों में भवनों के आस-पास पानी न भर सके। पशुओं के चारे दाने की व्यवस्था के लिये कुछ कृषि योग्य भूमि भी डेरी फार्म से संलग्न होनी चाहिये।

डेरी भवनों तक पहुँच—डेरी भवन जनपथ (main road) से लगभग 100 मीटर की दूरी पर स्थित होने चाहियें, जिससे आने-जाने की पूर्ण सुगमता हो।

नालियों की व्यवस्था—डेरी भवन जहाँ बनाये जायें, वह स्थान पड़ोस के अन्य स्थानों की अपेक्षा कुछ ऊँचा तथा ढालू होना चाहिये, जिससे वहाँ बनाई हुई नालियों में मलमूत्र तथा पानी सुगमता से बाहर निकाला जा सके। यदि समतल भूमि भवन बनाने के पूर्व ही चुनी गई हो, तो ऐसे स्थान में नालियाँ बनाने में खर्च भी कम होगा।

धूप और वायु का आवागमन—डेरी भवन की स्थापना करते समय, इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि उसमें उत्तर की ओर से अधिकाधिक धूप आ सके और साथ ही गर्मियों में लू तथा जाड़ों में ठण्डे थपेड़े देने वाली हवा से पूर्ण बचाव हो सके। जहाँ तक सम्भव हो, भवनों का मुख्य द्वार पूरब की ओर रखना चाहिये। ऐसा करने में धूप सारे दिन अन्दर जा सकती है। गर्मियों में नैसर्गिक छाया प्राप्त करने तथा लू के गर्म झोकों से बचाने के लिये डेरी भवनों के चारों ओर दूर-दूर पेड़ लगवाने के लिये भूमि की समुचित व्यवस्था भी होनी चाहिये।

सामान्य दृश्य—डेरी भवनों के सामने वाला भाग बहुत ही मनोरम बना होना चाहिये। मुख्य भवन (main building) से सामने घास के मैदान, फूलों एवं लता-दार वेलों से सुसज्जित होने चाहियें।

पानी की व्यवस्था—डेरी भवन जहाँ बनाये जायें वहाँ स्वच्छ ताजे पानी की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे पानी और भवनों की सफाई आदि के लिये स्वेच्छा-नुसार पानी उपलब्ध हो सके।

प्रकाश की व्यवस्था—आधुनिक डेरी फार्मों में प्रकाश तथा बिजली के यन्त्रों को चलाने के लिये काफी मात्रा में सस्ती बिजली उपलब्ध होनी चाहिये। बड़े-बड़े फार्मों पर जहाँ बिजली की सार्वजनिक व्यवस्था अच्छी नहीं होती, यह कार्य निजी जनरेटर रखकर स्वेच्छानुसार किया जा सकता है। इसमें पैसे की भी बचत होती है क्योंकि अधिकतर काम मशीनों द्वारा चल जाता है और डेरी में काम करने वाले लोग रात को चोरी इत्यादि भी नहीं कर सकते, क्योंकि उन पर भली-भाँति देखभाल की जा सकती है।

पशु स्वास्थ्य तथा स्वच्छ दुग्ध उत्पादन हेतु पशु-शालाओं में प्रकाश का होना बहुत ही अनिवार्य है। अतः नैसर्गिक प्रकाश के लिये डेरी भवनों में रोशनदान और खिड़कियों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। फर्श स्थान के 1/10वें भाग के बराबर स्थान खिड़कियों के लिये तथा 4 घन फुट स्थान प्रति पशु गोशाला में प्रकाश और वायु के आगमन के लिये पर्याप्त होता है।

डेरी भवनों की परिस्थिति—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से डेरी भवनों के चारों ओर का स्थान स्वच्छ होना चाहिये, जिससे वहाँ के रहने वाले पशु और मनुष्य शुद्ध जलवायु में रहकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकें। डेरी भवनों के निकट के क्षेत्र पर-जीवी कीड़ों (Parasites), जंगली पशुओं और डकैतों आदि से मुक्त होने चाहियें।

श्रमिकों की व्यवस्था—डेरी फार्म के लाभदायक सिद्ध होने के लिये यह बात बहुत ही महत्व की है कि वहाँ सस्ते, परिश्रमी तथा ईमानदार मजदूर पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हों।

हाट व्यवस्था—डेरी भवन वहीं बनाने चाहियें, जहाँ कि डेरी में बनाई हुई वस्तुओं के लिए अच्छा व लाभदायक बाजार मिल सके और साथ ही फार्म की

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सस्ते मूल्य पर इन बाजारों में समय पर वस्तुयें उपलब्ध हो सकें।

डेरी फार्म भवनों का समूहन
(Grouping of Dairy Farm Building)
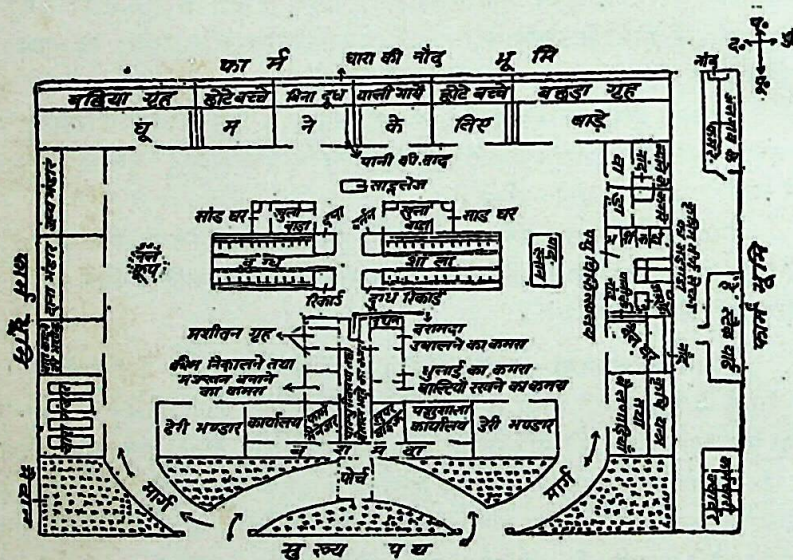
चित्र 28·1—एक आदर्श डेरी फार्म का भू-नियोजन
(Ground plan of an ideal dairy farm)

एक डेरी फार्म पर बहुधा निम्नलिखित भवनों की आवश्यकता होती है—

(1) डेरी कार्यालय तथा दुग्धालय (Dairy and Office)
(2) पशुशाला या दुग्धशाला (Cattle Shed or Milking Shed)
(3) दूध के रिकार्ड का कमरा (Milk Recording Room)
(4) दाने का कमरा (Ration Room)
(5) सूखी गायों के लिए बाड़े (Sheds for Dry Cows)
(6) बछिया गृह (Sheds for Heifers)
(7) बछड़ा गृह (Calf House)
(8) ब्याने के कमरे (Calving Boxes)
(9) अलगाव के कमरे (Isolation Boxes)
(10) साँड गृह (Bull House)
(11) यन्त्रालय (Implement Shed)
(12) गोदाम (Godown)

(13) कुट्टी काटने का कमरा (Chaff cutting room)

(14) पशु चिकित्सालय (Vety Dispensary)

(15) श्रमिकों के क्वार्टर (Quarters for Labourers)

(16) पशु-चिकित्सक का निवास स्थान (Doctor's Residence)

(17) सहायक क्षेत्राध्यक्ष का आवास-गृह (Asst. Farm Manager's Residence)

(18) क्षेत्राध्यक्ष का बंगला (Farm Manager's Bungalow)

इन भवनों का क्रम ऐसा होना चाहिये, जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान के आवागमन में सरलता तथा समय की बचत हो। क्रम ठीक होने से क्षेत्र कम घिरता, सुरक्षा अच्छी होती तथा व्यय कम होता है। योजनाबद्ध भवनों द्वारा कार्य-क्षमता एवं उत्पादन क्षमता बढ़ती है। समूह बनाते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये—

(1) समूह ऐसे बनाने चाहियें, जिससे सरलतापूर्वक थोड़े समय एवं कम खर्चे में अधिक कार्य सम्पन्न हो सके। ऐसे भवन जिनमें लगभग एक ही से, अथवा मिलते-जुलते कार्य होते हों एक साथ बनाने चाहियें। उदाहरणार्थ—दाना भण्डार, सूखी घास का शेड, दुग्धशाला, रिकार्ड का कमरा इत्यादि।

(2) क्षेत्राध्यक्ष का कार्यालय ऐसे स्थान पर बनाना चाहिये जहाँ से वह फार्म की अधिकतम क्रियायें देख सके। बहुधा मुख्य भवन के बाह्य द्वार के निकट ही यह कार्यालय बनाया जाता है। यहाँ से वह सुगमतापूर्वक फार्म की कार्य प्रणाली पर भी नजर रख सकता है और साथ ही बाहर से आने वाले लोग क्षेत्राध्यक्ष से आसानी से मिल सकते हैं।

(3) पशुओं तथा कर्मचारियों के निवास स्थान, खाद के गड्ढों एवं शोषण गर्तों (Soak pit) से काफी दूर होने चाहियें। साथ ही उनकी स्थिति वहाँ पर चलने वाली हवाओं से विपरीत होनी चाहिये, जिससे गन्दी हवायें वहाँ तक न पहुँच सकें। कार्यकर्त्ताओं के निवास स्थान पशुओं के आवास से कम से कम 30 मीटर दूर होने चाहियें।

(4) भवन या तो अग्नि रक्षक (Fire proof) बनाये जायें और यदि ऐसा सम्भव न हो, तो भवनों के मध्य इतना स्थान छोड़ा जाये कि आकस्मिक अग्निभय होने से पड़ौस वाला भवन बच सके। इस सावधानी के लिये प्रत्येक भवनों के बीच 25–30 मीटर की दूरी पर्याप्त है।

(5) क्रीम, मक्खन, घी इत्यादि बनाने के कमरे पशुशाला से कम से कम 15 मीटर की दूरी पर स्थित होने चाहियें जिससे उन वस्तुओं के निर्माण के समय वहाँ का वायु-मण्डल शुद्ध रहे।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए डेरी फार्म के कार्य के अनुसार, डेरी भवनों का समूहन करना चाहिये। बहुधा ऐसे भवनों के दो मुख्य समूह होते हैं। प्रथम समूह के अन्तर्गत अग्रलिखित भवन एक साथ बनते हैं—

(अ) बछड़ों एवं बछियों के लिये बाड़े, दुग्धशाला के रिकार्ड का कमरा, ब्याने के लिये बाड़े, सूखे पशुओं (dry herd) के लिये बाड़े, साँड गृह, भण्डार, यन्त्रालय, गैरेज, चारा रखने एवं कुट्टी काटने के कमरे और अलगाव करने वाले बाड़े इत्यादि।

(ब) क्षेत्राध्यक्ष, सहायक क्षेत्राध्यक्ष, पशु-चिकित्सक तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं के निवास स्थान तथा पशु-चिकित्सालय।

द्वितीय समूह के अन्तर्गत निम्नलिखित भवन एक साथ बनते हैं—

(ब) दूध लेने तथा तौलने का प्लेटफार्म, सफाई का कमरा, मक्खन बनाने का कमरा, घी बनाने का कमरा, प्रशीतनगृह (Cold storage), पास्चुरीकरण (Pasteurization) तथा बोतल भरने का कमरा, दूध उबालने का कमरा, प्रेरक (Despatcher) का कमरा तथा डेरी मैनेजर का कार्यालय।

(ब) क्षेत्राध्यक्ष का कार्यालय भी बहुधा इन्हीं भवनों के साथ बनाया जाता है। कार्यालय से सम्बन्धित लगभग 6 मीटर की दूरी पर कार्यकर्त्ताओं के लिये शौचालय तथा मूत्रालय का निर्माण भी इसी स्थान पर किया जाता है।

संक्षेपतः भवनों का समूहन ऐसा करना चाहिये, जिससे कि प्रत्येक कार्य करने में सरलता एवं मितव्ययिता हो।

पशु-गृहों की स्थिति में पिछले कुछ दशकों की अपेक्षा आजकल काफी सुधार हुआ है। अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि भैंसों को यदि दिन में अन्दर बाँधकर रखा जाये, पर्याप्त मात्रा में ठण्डा पानी पीने को दिया जाये तथा रात को चराया जाये तो ग्रीष्म ऋतु में भी उनका प्रजनन कराया जा सकता है।

परिच्छेद : 29

डेरी फार्म भवनों का निर्माण

(CONSTRUCTION OF DAIRY FARM BUILDINGS)

फार्म पर भिन्न वर्ग के पशुओं को निम्नलिखित गृहों की आवश्यकता पड़ती है—

1. गो गृह या पशुशाला (Cow shed or Cattle shed)
2. अलगाव और ब्याने के कमरे (Isolation and Calving Boxes)
3. बछड़ा गृह (Calf House)
4. साँड गृह (Bull House)
5. बछिया गृह (Heifer Shed)
6. अन्य (Others)

अधिक उन्नतिशील देशों में गायों को बाँधने के लिये निम्नलिखित तीन विधियाँ अपनाई जाती हैं—

(1) दुग्धशाला विधि (Milking Shed System)

(2) खुली हवा या बेल विधि (Open Air or Bail System)

(3) पशुशाला विधि (Cattle Shed System)

दुग्धशाला विधि—इस विधि के अन्तर्गत गायें पशुशाला में बाँधी जाती हैं, परन्तु उनका दूध तक विशेष कमरे में निकाला जाता है।

खुली हवा या बेल विधि—इस विधि में गायों को बाड़ों में न रखकर खुले मैदानों में सचल बाड़ों के अन्दर रखा जाता है और यहीं उनका दूध भी निकाला जाता है। इस प्रकार, इस विधि द्वारा स्वयं खेतों में खाद लग जाती है और साथ ही आर्थिक दृष्टिकोण से यह बहुत सस्ती एवं स्वास्थ्यप्रद विधि है। किसी हद तक यह विधि उत्तर-प्रदेश में पंवार तथा खेरीगढ़ नस्ल के पशु-पालकों द्वारा अपनाई जाती है।

पशुशाला विधि—इस विधि के अन्तर्गत गायें पशुशाला में ही बाँधी जाती हैं और यहीं उनका दूध भी निकाला जाता है। इस भवनों में प्रत्येक पशु के लिये विभाजन द्वारा अलग-अलग स्थान नियत होता है।

वर्तमान दृष्टिकोण से भारत जैसे देश में पहली विधि अधिक मूल्यवान तथा दूसरी विधि चरागारों की कमी होने के कारण भली-भाँति नहीं अपनाई जा सकती। अतः हमारे देश में गायों को बाँधने के लिये पशुशाला विधि ही अधिक उपयुक्त है। इस विधि में गायों को अलग-अलग समूहों में विभाजित करके, सूखी तथा दूध देने वाली गायें पशुशाला में तथा गर्भित एवं रोग-ग्रसित पशु अलग-अलग असंगठित कमरों (Loose Boxes) में रखे जाते हैं।

पशुशाला का निर्माण (Construction of Cattle Shed)

पशु-संख्या एवं स्थान की उपलब्धता के अनुसार पशुशाला को बहुधा दो प्रकार से बनाया जाता है। एक तो इकहरा बाड़ा (Single Byre) जिसमें 16 पशु तक बाँधे जा सकते हैं और दूसरा दोहरा बाड़ा (Double Byre) जिसमें कि दो पंक्तियों में 80 से 100 तक पशु बाँधे जा सकते हैं। दोहरा बाड़ा दो प्रकार से बनाया जाता है।

(अ) मुँह से मुँह वाला ढंग (Face to Face System)—इसमें पशु इस प्रकार खड़े होते हैं कि उनका मुख एक-दूसरे के सम्मुख रहता है।

(ब) पूँछ से पूँछ वाला ढंग (Tail to Tail System)—इस ढंग के अन्तर्गत पशु एक दूसरे से विपरीत दिशा में खड़े होते हैं।

मुँह से मुंह वाले ढंग के लाभ (Advantages of Face to Face System)

(1) एक ही मनुष्य थोड़े समय में कई पशुओं को चारा खिला सकता है, अतः धन एवं समय दोनों की ही बचत होती है।

(2) बाहर से आने वाले अतिथियों के लिये अच्छा दिखाई पड़ता है और इसमें पशुओं की भली-भाँति पारस्परिक तुलना भी की जा सकती है।

(3) तंग बाड़ों के लिये यह अच्छा ढंग है क्योंकि इसे बनाने में कम स्थान की आवश्यकता पड़ती है।

हानियाँ (Disadvantages)—मुँह दर मुँह पशु बाँधने से यदि किसी पशु को श्वाँस नली का रोग है, तो उसका स्वस्थ पशुओं में भी प्रसार सम्भव है।

पूँछ से पूँछ वाले ढंग के लाभ (Advantages of Tail to Tail System)

(1) बाड़ा आसानी से थोड़े ही समय में साफ हो जाता है।

(2) पशु के पिछले धड़ में कोई भी लगी हुई चोट तुरन्त दिखाई पड़ जाती है।

(3) एक पशु से दूसरे पशु को रोग लगने का भय कम रहता है।

(4) एक ही समय में अधिक ग्वालों पर देख-भाल की जा सकती है।

(5) प्रत्येक पशु को काफी मात्रा में स्वच्छ वायु मिल जाती है।

(6) बीचों-बीच में स्थित दूध मार्ग, गायों के दुहने एवं उनकी सफाई करने में काफी सहायक होता है।
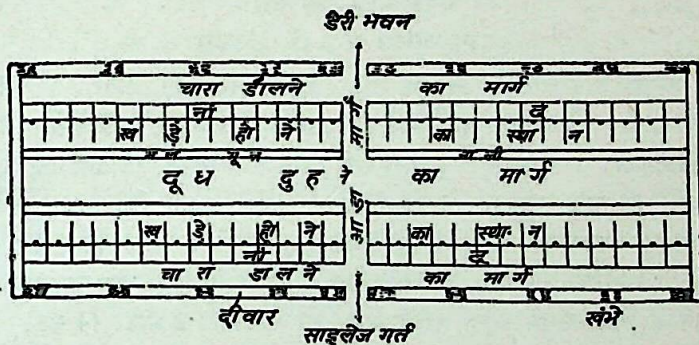
चित्र 29·1—दोहरे बाड़े का भू-नियोजन
(Ground Plan of a Double Byre)

उपर्युक्त लाभों के कारण पशुओं को बाँधने का आजकल पूँछ से पूँछ वाला ढंग ही अधिक प्रचलित है। इस प्रकार के एक दोहरे बाड़े का भू-नियोजन (Ground
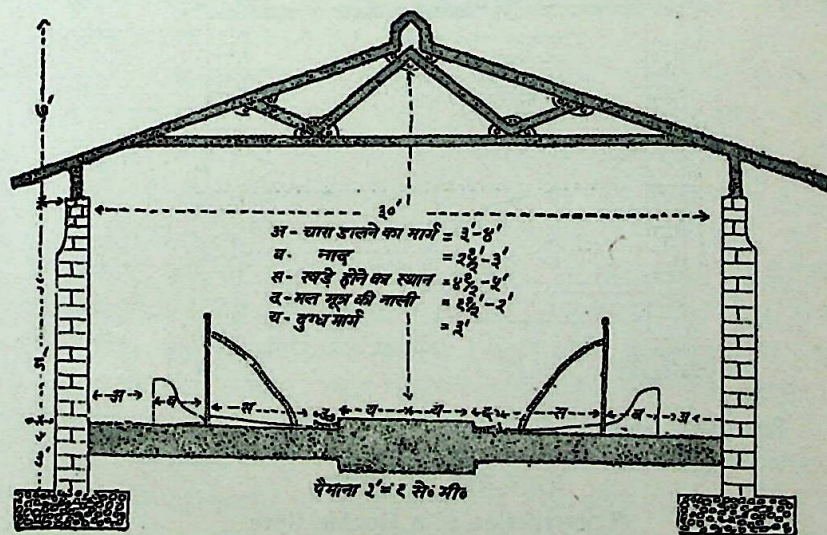
चित्र 29·2—दोहरे बाड़े की आड़ी काट
(Cross Section of a Double Byre)

Plan) तथा आड़ी काट (Cross Section) यहाँ दी जा रही है। साथ ही एकहरे बाड़े की आड़ी काट भी दी हुई है, जिसकी चौड़ाई 5·5 मीटर है।

एकहरे बाड़े की बनावट
(Construction of a Single Byre)

एकहरे बाड़े की पूरी चौड़ाई 5½ मीटर (18 फुट) होती है। इसमें 1·2 मीटर (4 फुट) चारा डालने का मार्ग (Feeding Passage), 75 सेमी० (2½ फुट) नांद (Manger), 1·6 मीटर (5½ फुट) खड़े होने का स्थान (Standing Space), 60 सेमी० (2 फुट) मलमूत्र नाली (Urine and dung Channel) तथा 1·2 मीटर (4 फुट) दुग्ध मार्ग (Milking Passage) के लिये स्थान होता है। प्रत्येक गाय को 1·2 मीटर (4 फुट) चौड़ा स्थान दिया जाता है। अतः बाड़े की लम्बाई निकालने के लिये उसमें रहने वाली पशु संख्या को 1·2 मीटर (4 फुट) से गुणा करना पड़ता है।
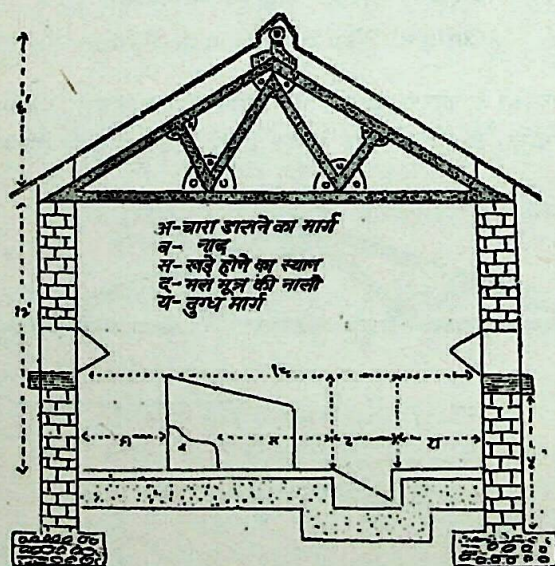
चित्र 29·3—एकहरे बाड़े की आड़ी काट (C. S. of a Single Byre)

दोहरे बाड़े की बनावट
(Construction of a Double Byre)

इसकी बनावट भी एक हरे बाड़े के आधार पर होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें दो कतारों से अधिक पशु बाँधे जा सकते हैं। दोहरे बाड़े की चौड़ाई 9 मीटर (30 फुट) होनी चाहिये। इसमें प्रत्येक ओर के पशुओं के लिये 1 मीटर (3 से 4 फुट) चारा डालने का मार्ग, 80–90 सेमी० (2½ से 3 फुट) नांद, 1¼ से 1½ मीटर (4½ से 5 फुट) खड़े होने का स्थान, 50 से 60 सेमी० (1½ से 2 फुट) मलमूत्र नाली और 90 सेमी० (3 फुट) दुग्ध मार्ग के लिये स्थान होता है।

प्रत्येक गाय को 105 से 115 सेमी० (3 फुट 6 इंच से 3 फुट 10 इंच) तक तथा भैंस को 120 सेमी० (4 फुट) चौड़ाई में स्थान दिया जाता है। बाड़े की कुल ऊँचाई बीचों-बीच में 4·5 से 5·4 मीटर (15 से 18 फुट) होनी चाहिये, जिसमें कि 1·8 से 2 मीटर (6 से 7 फुट) की ऊँचाई का शेड (Shed) होता है।

बहुधा मैदानी पशुओं के लिये 1 से 1·2 मीटर (3½ से 4 फुट) ऊँची, छोटी दीवारों के खुले बाड़े, भारतीय परिस्थितियों में रहने वाले पशुओं के लिये काफी उपयुक्त हैं। इनकी छत टीन अथवा ऐस्बेस्टास चादर की बनी हुई, लोहे, लकड़ी अथवा ईंटों के बने खम्भों पर रखी जाती है। पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले पशुओं के लिये बन्द बाड़े बनाये जाते हैं। इनमें प्रति पशु 6·5 वर्ग मीटर (70 वर्ग फुट) फर्श स्थान तथा लगभग 25 घन मीटर (900 घन फुट) घन स्थान (Cubic Space) वायु के यातायात के लिये दिया जाता है।

पशु गृह की नींव—पशुशाला की नींव कड़ी रोड़ी, कंकड़, बजरी आदि वस्तुओं से बनानी चाहिये। नींव सदैव कड़ी, सूखी, सुदृढ़ तथा पर्याप्त चौड़ाई की होनी चाहिये। बहुधा नींव की चौड़ाई उस पर बनने वाली दीवार की चौड़ाई की तीन गुनी रखी जाती है। 1 मीटर चौड़ी नींव काफी सुदृढ़ होती है। छोटे-छोटे पत्थर, सीमेंट या चूना और साफ रेत के मिश्रण से बनी हुई कंक्रीट, नींव तथा फर्श बनाने के लिये अति उत्तम है।

दीवारें—पत्थर, ईंट, लकड़ी तथा कंक्रीट इत्यादि किसी भी वस्तु से दीवार बनाई जा सकती है। अधिकतर कंक्रीट से बनी हुई दीवार ही मजबूती एवं सफाई के दृष्टिकोण से अच्छी मानी जाती है। पक्की दीवारें बहुधा ईंटों की बनी होती हैं। दीवार की चौड़ाई 23 या 35 सेमी० (9 इंच या 14 इंच) रखनी चाहिये। पशुशाला की दीवारों के किनारे गोल एवं चिकने बनाने चाहियें, जिससे वे धूल तथा नमी से रिक्त रहें और साथ ही उनकी सफाई आदि में पूर्ण सुविधा हो। अच्छे पशुगृह की दीवारें छत के पास पृथ्वी के धरातल से 2·4 से 2·7 मीटर (8–9 फुट) ऊँची होनी चाहियें। बनी हुई दीवार पर लगभग 1 मीटर (3–4 फुट) ऊँचाई तक अन्दर की ओर सीमेंट का प्लास्टर रखना चाहिये। इनमें प्रयोग होने वाला प्लास्टर 1 भाग सीमेंट तथा 4 भाग रेत मिलाकर बनाया जाता है।

छत—पशु-गृहों के लिये टीन अथवा ऐस्बेस्टास चाटर की छत बनाना उपयुक्त है। कहीं-कहीं खपरैल भी छत बनाने के लिये प्रयोग होता है। टीन की बनी हुई छत गर्मियों में गर्म तथा सर्दियों में ठण्डी रहती हैं। ऊपर से हवा निकलने के लिये दोनों ओर की टीन के बीच लगभग 30 से 50 सेमी० (1 फुट से 1 फुट 8 इंच) तक चौड़ा छत की पूर्ण लम्बाई में स्थान उपलब्ध होना चाहिये। यह खुला स्थान ऊपर से थोड़ी ऊँचाई पर एक टीन या ऐस्बेस्टास के बने हुए पतनाले से ढका रहना चाहिये, जिससे वर्षा का पानी अन्दर न आ सके। किनारों पर छत की ऊँचाई फर्श से 2·5 मीटर (8 फुट) तथा मध्य में 4·5 मीटर (15 फुट), पशुओं को आवश्यक वायु स्थान के लिये पर्याप्त होगी।

दरवाजे—एकहरे बाड़े के दरवाजे 2 मीटर (7 फुट) ऊँचे 1·5 मीटर, (5 फुट) चौड़े और दोहरे वाड़े के दरवाजे 2·5 से 2·7 मीटर (8-9 फुट) चौड़े होने चाहियें। सभी दरवाजे खोलने पर बाड़े की बाहरी दीवार से चिपके रहने चाहियें।

नांद—नांदें बहुधा दो प्रकार की बनाई जाती हैं, एक तो सामने से ऊँची और दूसरी सामने से नीची। सामने से ऊँची वाली नांद की ऊँचाई 40 सेंमी० (1 फुट 4 इंच) तथा सामने से नीची वाली 15 से 23 सेंमी० (6 से 9 इंच) तक ऊँची होनी चाहिये। पशुओं के लिये सामने से नीची वाली नांदें अधिक सुखप्रद होती हैं, परन्तु सामने से ऊँची वाली नांदों से चारा कम नष्ट होता है। नांद, कंक्रीट व सीमेंट की बनानी चाहियें। नांदें एक दूसरे से मिली हुई अथवा अलग-अलग बनाई जा सकती हैं। प्रत्येक पशु के लिये अलग-अलग नांद बनाना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इससे पशुओं को उनकी आवश्यकतानुसार चारा दिया जा सकता है और साथ ही एक पशु से दूसरे पशु में संक्रामक रोग लगने का भय कम रहता है। यदि सम्भव हो तो प्रत्येक नांद में अलग से पानी मिलने का प्रवन्ध होना चाहिये। बाल्टियों से नांद में पानी भरना स्वास्थ्य विज्ञान के दृष्टिकोण से अच्छा नहीं है। अतः यदि पानी की सुव्यवस्था न हो, तो पशुओं को वाड़े से बाहर ले जाकर पानी पिलाना चाहिये। एक औसत नांद की माप निम्न प्रकार है—

लम्बाई	=115 सेंमी०	(3′—10″)
चौड़ाई	= 75 सेंमी०	(2′— 6″)
नांद की दीवारों की चौड़ाई या मोटाई	= 13 सेंमी०	(5″)
नांद की बाहरी दीवार की वाह्य ऊँचाई	= 65 सेंमी०	(2′—2″)
नांद की भीतरी दीवार की अन्दर वाली ऊँचाई	= 40 सेंमी०	(1′—4″)
नांद की भीतरी दीवार की बाह्य ऊँचाई	= 45 सेंमी०	(1′ — 6″)
नांद की भीतरी दीवार की ऊँचाई	= 25 सेंमी०	(10″)

सफाई के दृष्टिकोण से नांद के सब कोने गोल बनाने चाहियें। नाँद की भीतरी दीवार पर बाहर की ओर से बीचों-बीच, पशु को बाँधने के लिये जंजीर का कुण्डा या कुलावा लगाना चाहिये।

मलमूत्र नाली—यह नाली वाड़े की सम्पूर्ण लम्बाई में खुली हुई बनवानी चाहिये। यदि नाली छिछली बनानी हो, तो उसकी चौड़ाई 60 सेंमी० (2 फुट) और यदि गहरी बनानी हो तो 45 सेंमी० (1½ फुट) रखनी चाहिये। नाली की अधिकतम गहराई 15 से 18 सेंमी० (6-7 इंच) रखी जाती है। यह सीमेंट, कंक्रीट से बनी होनी चाहिये और इसके किनारे गोल नहीं करवाने चाहियें अन्यथा पशुओं के पिछले पैर फिसलने का भय अधिक रहेगा। अन्त में यह नाली, वाड़े की दीवार के नीचे से होकर बाहर निकलनी चाहिये। नाली की प्रति 3 मीटर (10 फुट) लम्बाई में निकास

की ओर 2·5 सेंमी० (1 इंच) का ढाल होना अनिवार्य है जिससे उसमें तरल पदार्थ सरलता से बह सके ।

ढाल (Slope)—बहुधा नांद से मलमूत्र नाली तक 5 सेंमी० (2 इंच) का ढाल काफी अच्छा रहता है, परन्तु कुछ लोगों के मतानुसार 7 सेंमी० (3 इंच) तक का ढाल दिया जा सकता है । सम्पूर्ण फर्श के प्रति 1·5 मीटर (60 इंच) के लिये 2·6 सेंमी० (1 इंच) नाली की ओर ढाल दिया जाना चाहिये जिससे सफाई का पानी तथा मूत्र आदि सब नाली की ओर स्वत: बह सकें ।

स्थान विभाजन (Stall Division)—नांद के पास से पशु के खड़े होने के स्थान में पीछे तक प्रत्येक पशु के स्थान को लोहे के पतले पाइपों से विभाजित करके रखना चाहिये, जिससे पशुशाला में प्रत्येक पशु अपना-अपना स्थान ही ग्रहण करे । वैसे तो यह विभाजन ईंट या लकड़ी की पतली दीवार बनाकर भी किया जा सकता है, परन्तु स्वच्छता की सुगमता के दृष्टिकोण से लोहे की मोटी छड़ों अथवा पाइपों का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त है । इन्हें बनाने के लिये लोहे की एक मोटी छड़ अथवा ऐंगिल आयरन को 1 से 1·5 मीटर की लम्बाई में दोनों सिरों को लम्बवत् इस प्रकार मोड़ना चाहिये कि उनके मध्य पशु की वास्तविक खड़े होने की लम्बाई से 20 से 30 सेंमी० (8–12 इंच) स्थान कम रहे । इस प्रकार तैयार की हुई इस छड़ की भुजायें 15 सेंमी० (6 इंच) की गहराई तक फर्श में इस प्रकार गाड़ दी जाती हैं कि इनका एक सिरा नांद की दीवार के पास तथा दूसरा सिरा मलमूत्र नाली की ओर रहे । गाय को बैठी अवस्था में इस विभाजन के अन्दर पहुँचने से रोकने के लिये इस छड़ की दोनों भुजाओं में पृथ्वी से लगभग 30 सेंमी० (एक फुट) की ऊँचाई पर लोहे की छड़ का लगभग 1 मीटर (3½ फुट) लम्बा टुकड़ा लम्बवत् लगा दिया जाता है ।

शोषण गर्त (Soak Pit)—पशुशाला के बाहर लगभग 2·5 मीटर (8 फुट) की दूरी पर एक पक्का शोषण गर्त से बनाना चाहिये । इसकी लम्बाई 120 सेंमी० (4 फुट) और गहराई 60 सेंमी० (2 फुट) होनी चाहिये । पशुशाला की समस्त नालियों का सम्बन्ध इसी गर्त से होना चाहिये । यह गर्त एक पक्की नाली द्वारा फॉर्म की भूमि से मिला होना चाहिये, जिससे समय-समय पर इसमें एकत्रित मलमूत्र लिफ्ट पम्प (Lift Pump) से उठाकर फार्म की भूमि के लिये खाद के रूप में प्रयोग हो सके ।

फर्श स्थान (Floor Space)

(1) आवास गृह (Residence) तथा कार्यालय—20 हेक्टेयर (50 एकड़) के एक फार्म पर इनके लिये 18 मीटर × 9 मीटर (60′ × 30′) यानि 162 वर्ग मीटर (1800 वर्ग फुट) स्थान चाहिये ।

(2) श्रमिकों के आवास गृह—प्रति श्रमिक 3·6 × 3 मीटर (12′ × 10) यानि 10·8 वर्ग मीटर (120 वर्ग फुट) अधिकतम स्थान चाहिये ।

(3) **पशुशाला**—प्रत्येक पशु को कुल मिलाकर 5·4 से 6·3 वर्ग मीटर (50 से 70 वर्ग फुट) फर्श स्थान की आवश्यकता होती है।

(4) **यन्त्रालय तथा गोदाम**—एक 20 हेक्टेयर (50 एकड़) के फार्म पर यन्त्रालय तथा गोदाम के लिये 9×9 मीटर (30′×30′) यानि 81 वर्ग मीटर (900 वर्ग फुट) स्थान चाहिये।

फर्श की बनावट—फर्श बनाते समय इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि बनने के बाद वह काफी सुदृढ़, सुखदायक, न फिसलने वाला, सुगमता से साफ होने वाला तथा नमी रहित हो।

फर्श ऐसा होना चाहिये, जिससे पशुओं को उस पर चलने-फिरने में कोई परेशानी न हो।

फर्श बनाने के लिये, बहुधा ईंट, सीमेंट, लकड़ी के तख्ते तथा कंकरीट आदि वस्तुयें प्रयोग की जाती हैं। इन सब में सीमेंट अथवा कंकरीट का बना हुआ फर्श सबसे अच्छा माना जाता है। अच्छा फर्श बनाने के लिये पहले भूमि को खोदकर टूटे हुए पत्थर या बजरी 15 से 30 सेंमी० (6 इंच से 1 फुट) तक मोटी तह बिछाकर, खूब कूटकर, जमा देनी चाहिये। अब इसके ऊपर फर्श बनाने का मसाला डालकर अच्छी प्रकार गीला करके जमा देना चाहिये। फर्श बनाने का मसाला निम्न प्रकार तैयार किया जाता है—

बजरी	6 भाग
स्वच्छ रेत	2 भाग
सीमेंट	1 भाग
पानी	आवश्यकतानुसार

फर्श पर सीमेंट करते समय उस पर लहरियादार या चौखन्टी लकीरें काट देनी चाहियें, जिससे वह फिसलने वाला न रहे। ऐसा बनाया हुआ फर्श बहुत ही सुदृढ़, सुगमता से साफ होने वाला तथा नमी रहित होता है। फर्श की सतह में नांद से मल-मूत्र की नाली तक 2·5 से 3·5 सेमी (1 से 1½ इंच) का ढाल देना चाहिये। गोशाला की फर्श के लिए आजकल मोटी रबर की चटाई भी बाजार में उपलब्ध है। विदेशों में इसका खूब प्रयोग होने लगा है।

सीमेंट के फर्श जाड़ों में बहुत ठण्डे हो जाते हैं, अतः इनको बनाते समय, सीमेंट की सतह के नीचे 15 से 22 सेमी (6 से 9 इंच) गहरी राख की तह लगाकर इस कमी को दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन पर पुआल भी डाला जा सकता है।

फर्श के प्रति वर्ग फुट (0·093 वर्ग मीटर) का मूल्य—प्रति वर्ग फुट फर्श का मूल्य निम्न बातों पर निर्भर होता है—

(1) बाजार की सहूलियतों की उपलब्धता।

(2) क्षेत्र की स्थानीय परिस्थिति।

(3) फर्श में प्रयोग होने वाली सामग्री।

इस प्रकार बहुधा फर्श के प्रति वर्ग फुट (0·093 वर्ग मीटर) का मूल्य औसतन लगभग 20 से 25 रुपये आता है एवं अच्छे बने हुए पशु-गृह का लगभग 1000–1200 रु० प्रति गाय खर्चा पड़ता है।

अलगाव के कमरे
(Isolation Boxes)

यह कमरे संदेहयुक्त रोगी पशुओं को, स्वस्थ पशुओं से अलगरखने के लिये;
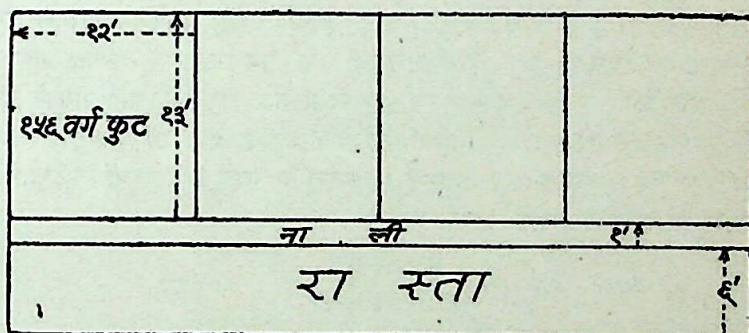
चित्र 29·4—अलगाव के कमरे का भू-नियोजन
(Ground Plan of Isolation Box)
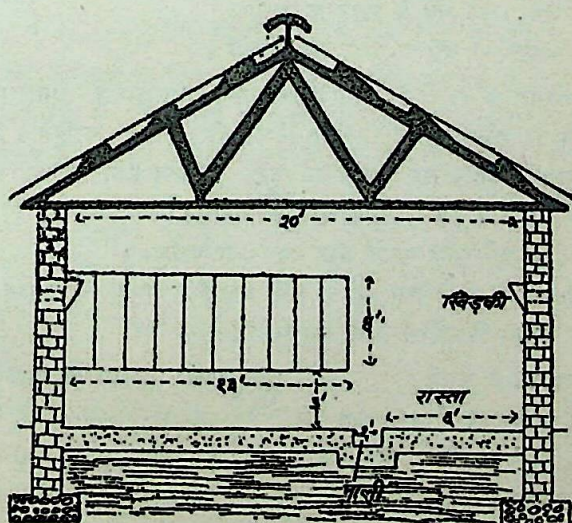
चित्र 29·5—अलगाव कमरे की आड़ी काट
(C.S. of Isolation Box)

अन्य रहने वाले स्थानों से कुछ दूर बनाये जाते हैं। प्रत्येक कमरे का क्षेत्रफल 13·5 से 14 वर्ग मीटर (150 से 156 वर्ग फुट) होना चाहिये। इस कमरे की नाली का मलमूत्र वितरक प्रणाली (Drainage System) से सीधा सम्पर्क होना चाहिये। वायु के यातायात के लिये इसमें रोशनदान होना भी परम आवश्यक है।

ब्याने के कमरे
(Calving Boxes)

ऐसे कमरे गर्भित गाय को ब्याने के लिये बनाये जाते हैं। इनका क्षेत्रफल 9 से 13·5 वर्ग मीटर (100 से 150 वर्ग फुट) तक होना चाहिये। इनमें पूआल आदि का मुलायम फर्श बिछाया जाता है, जिससे ब्यांत के समय गर्भिणी अथवा नवजात बच्चे को चोट आदि न लगने पावे। इन कमरों में शुद्ध वायु के यातायात के लिये खिड़की तथा छत में रोशनदान भी होना चाहिये। बहुधा प्रति 10 गायों की संख्या पर ब्याने का एक कमरा बनाया जाता है। कमरों के साथ ही पशुओं के टहलने के लिये छोटा-सा खुला बाड़ा भी बनाना चाहिये।

बछड़ा-गृह
(Calf House)

बछड़ों के सुप्रबन्ध के लिये उनको निम्न प्रकार के तीन समूह में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम समूह—1 वर्ष तक के छोटे बच्चे।
द्वितीय समूह—1 वर्ष से ऊपर के बछड़े।
तृतीय समूह—1 वर्ष से ऊपर की बछियाँ।

प्रत्येक समूह के बच्चों के लिये अलग-अलग बछड़ा-गृह होना आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो, यह गृह पशुशाला के निकट ही बनाना चाहिये। 20 बच्चों के एक समूह के लिये 9 वर्ग मीटर (100 वर्ग फुट) क्षेत्रफल प्रति बच्चा पर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त यदि इस समूह में और बच्चे सम्मिलित करने हों, तो प्रति बच्चा 4·5 वर्ग मीटर (50 वर्ग फुट) स्थान और बढ़ा देना चाहिये।

अधिक लाभ के लिये एक वर्ष के छोटे बच्चों के समूह को निम्न प्रकार पुनः विभाजित करके स्थान निर्धारित किया जा सकता है—

बच्चों के समूह	प्रति बच्चा क्षेत्रफल की आवश्यकता
3 माह से कम के बच्चे	1·8 से 2·25 वर्ग मीटर (20—25 वर्ग फुट)
3 से 6 माह तक के बच्चे	2·25 से 2·7 वर्ग मीटर (25—30 वर्ग फुट)
6 से 12 माह तक के बच्चे	2·7 से 3·6 वर्ग मीटर (30—40 वर्ग फुट)
1 वर्ष से ऊपर के बच्चे	3·5 से 4·5 वर्ग मीटर (40—50 वर्ग फुट)

अपने देश की जलवायु के अनुसार 11 से 13 घन मीटर (400—500 घन फुट) वायु स्थान प्रति बच्चा पर्याप्त होता है। बछड़ा-गृह के अन्दर दोनों ओर

चित्र 29·6—बछड़ा-गृह की आड़ी काट (C. S. of Calf House)

बछड़ों के खड़े होने के स्थान एवं 1·2 मीटर (4 फुट) चौड़े बीच वाले मार्ग की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। बीच वाले मार्ग के दोनों ओर बछड़ा-गृह की पूरी लम्बाई में छिछली नालियाँ होनी चाहिये। चारा देने के लिये 25 सेमी० (10 इंच) लम्बी, 20 सेमी० (8 इंच) चौड़ी तथा 5 सेमी० (6 इंच) गहरी नाँद फर्श से 50 सेमी० (20 इंच) की ऊँचाई पर इसी गृह में बनी होनी चाहिये। यह कार्य इसी नाप के एक लकड़ी के बक्से से भी लिया जा सकता है। फर्श में 50 सेमी० (20 इंच) की ऊँचाई पर 60 सेमी० (2 फुट) के फासले पर यह बक्से रखने चाहियें।

इन गृहों में बछड़े बांधकर अथवा खुले रखे जा सकते हैं। बाँधने के लिये रस्सी या जंजीरें तथा लकड़ी के खूँटे का प्रयोग करना चाहिये। विशेष तौर पर चारा खाने के समय बछड़ों को इस प्रकार बाँधना लाभदायक एवं वाँछनीय है। बछड़ों को

चित्र 29·7—बछड़ा-गृह का भू-नियोजन
(Ground Plan of a Calf House)

घूमने-फिरने के लिये इन गृहों के साथ खुले बाड़े की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। घूमने-फिरने के लिये प्रति बछड़े को कम से कम 3 वर्ग मीटर स्थान की आवश्यकता होती है। बछड़ों को पीने हेतु सदैव शुद्ध एवं ताजा जल इन गृहों में उपलब्ध होना चाहिये।

लगभग 8 सप्ताह की आयु तक बछड़ों को व्यक्तिगत बाड़ों (Individual Pans) में रखना अधिक लाभप्रद होता है। ऐसा करने से उनको एक तो नियमित एवं निर्धारित आहार मिलता है और साथ ही एक दूसरे को चाटने आदि की बुरी आदत नहीं पड़ती। इस प्रकार बच्चों की देख-रेख भी अच्छी हो जाती है तथा उनमें रोग फैलने का भय कम रहता है। व्यक्तिगत-बाड़े का माप 1×1·5 मी० (3½×5′) से लेकर 1·2×1·8 मी० (4′×6′) तक रखा जा सकता है।

साँड गृह (Bull House)

साँड-गृह ऐसे स्थान पर बनाना चाहिये जहाँ से साँड अपनी जाति के अन्य पशुओं को भी देख सके। प्रत्येक साँड को 3·5 से 4·5 मी० (12 से 15 फीट) लम्बा तथा 3 से 3·5 मी० (10 से 12 फीट) चौड़ा रहने के लिये स्थान मिलना चाहिये। इसमें रोशनी और वायु के यातायात के लिये खिड़की तथा रोशनदान की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। साँड-गृह में 2 मी० (7 फीट) ऊँचा, 1·2 मी० (4 फीट) चौड़ा दरवाजा लगाना चाहिये। इस गृह का फर्श सीमेंट का बना होना चाहिये। इसमें चारे की नाँद तथा पानी पीने के लिये चरही (Water Trough) होना परमावश्यक है।

जहाँ तक सम्भव हो साँड को घूमने-फिरने के लिये, साँड-गृह से संलग्न दक्षिण की ओर 4×7 से 9 मी० (14×24 से 30 फीट) का एक खुला बाड़ा भी बनाना चाहिये। इसका फर्श कच्चा ही छोड़ देना चाहिये; जिससे कि घूमने-फिरने से साँड के खुर न कटने पावें। इस बाड़े की दीवारें 1·5 मीटर (5 फीट) ऊँची बनानी चाहियें और सामने वाली दीवार में बीचों-बीच या एक किनारे पर एक प्रवेश द्वार बनाकर,
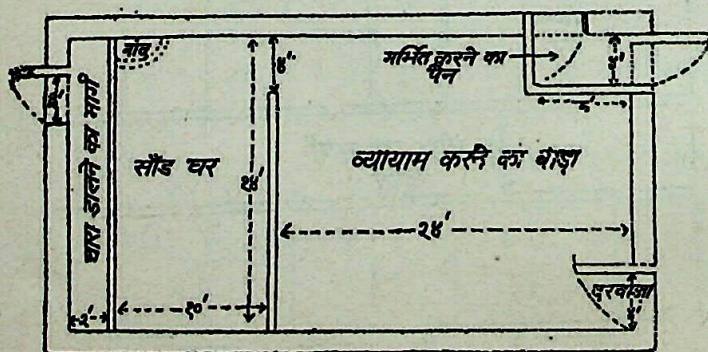
चित्र 29·8—सांड गृह का भू-नियोजन
(Ground Plan of Bull House)

फाटक से बन्द करना चाहिये। कहीं-कहीं फाटक का काम दो तीन मोटी बल्लियों से भी लिया जाता है, जो प्रवेश द्वार के दोनों ओर के खम्भों में बनाये हुए सूराखों में घुसेड़ दी जाती हैं। आधुनिक साँड-गृहों में इसी खुले बाड़े के एक कोने में गायों को गर्भित करने के स्थान (Service Pan) की भी समुचित व्यवस्था होती है।

बछिया-गृह (Heifer Shed)

प्रत्येक बछिया को 3·6 से 4·5 वर्गमीटर (40—50 वर्ग फीट) स्थान की आवश्यकता होती है। बछिया-गृह बहुधा दुग्धशाला तथा साँड-घर के निकट ही बनाया जाता है। इसमें पीने के लिये पानी तथा चारे के लिये नाँद की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये।

सूखी गायों के लिये बाड़े
(Sheds for Dry Cows)

ऐसे बाड़े प्रायः उन्हीं फार्मों पर बनाये जाते हैं, जहाँ दुधारू तथा सूखी गायें एकदूसरे से अलग बाँधी जाती हैं। प्रत्येक सूखी गाय को 5·5 सें 6·5 वर्ग मीटर (60—70 वर्ग फीट) स्थान की आवश्यकता होती है। इसकी स्थापना ब्याने वाले कमरों के निकट ही करनी चाहिये।

दुग्धालय (Dairy)

यह भवन फार्म के सबसे ऊँचे एवं आकर्षक स्थान पर बनाना चाहिये। इसके अन्तर्गत कार्यालय, भण्डार, पास्चुरीकृत कमरा (Pasteurising Room), उबालने का कमरा, इंधन का कमरा, प्रशीतक-गृह, (Cold storage), मक्खन तथा क्रीम निकालने का कमरा, घृत निर्माण-गृह, धुलाई का कमरा तथा प्रयोगशाला आदि आते हैं। इन भवनों के निर्माण के समय बहुधा पास्चुरीकृत कमरा बीचों-बीच में ही बनाया जाता है।

दुग्ध अभिलेखन कक्ष
(Milk-recording Room)

यह कमरा पशुशाला से लगा हुआ ही बनाना चाहिये जिससे ग्वालों को दूध ले जाने में अधिक दूरी न तय करनी पड़े। इनका दरवाजा पशुशाला की ओर न होकर उसके विपरीत दिशा में होना चाहिये जिससे कि दूध गन्दा न होने पावे। दूध डालने के लिये पशुशाला की ओर वाली दीवार में एक नलिका द्वारा इसका सम्बन्ध पशुशाला से होना चाहिये। इस कार्य के लिये 3 × 3·5 मीटर (10′ × 12′) का कमरा काफी उपयुक्त है। कमरे के दरवाजे, खिड़की तथा रोशनदान, लोहे की पतली जाली से बन्द रहने चाहियें जिससे उसमें धूल इत्यादि न आ सके।

गोदाम (Godown)

फार्म पर रखे गये पशु एवं चारे के अनुसार ही गोदामों की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक गाय को उसकी वर्ष भर की चारे की आवश्यकता के लिये औसतन 9 वर्ग मीटर (100 वर्ग फुट) स्थान पर्याप्त होता है। इनकी स्थापना पशुशाला के निकट ही करनी चाहिये।

कुट्टी काटने का बाड़ा
(Chaff-cutting Yard)

गोदाम के निकट ही कुट्टी काटने का बाड़ा बनाया जाता है। इसमें एक छोटा सा कमरा वनाया जाता है, जिससे कि कटी हुई कुट्टी कुछ समय के लिये वहाँ भण्डारित रह सके।

यन्त्रालय (Implement Shed)

वैल घर के पास ही इसकी स्थापना होती है। यन्त्रों की मरम्मत के लिये एक छोटी सी वर्कशाप भी इसमें वनाना आवश्यक है।

बैल घर (Bullock Shed)

एक जोड़ी बैलों के लिये 3 × 1·5 मीटर (10′ × 5′) 2 यानि 9 वर्ग मीटर (100 वर्ग फुट) फर्श का स्थान चाहिये। इसमें पानी तथा चारे की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। इनकी स्थापना यन्त्रालय के साथ ही की जाती है।

पशु चिकित्सालय
(Veterinary Hospital)

ब्याने के कमरों के पास ही एक छोटा सा पशु-चिकित्सालय होना चाहिये, जिससे प्रसूतियों की समुचित प्राथमिक चिकित्सा तथा रोगियों की भली-भाँति देख-भाल हो सके। इस अस्पताल में भर्ती कक्ष तथा कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

इस प्रकार नियोजित ढंग से बनाये गये डेरी फार्म भवनों से प्रवन्धक, कार्य कर्त्ता तथा पशुओं को सहूलियत तो रहती ही है साथ ही फार्म व्यवसाय को भी विना घाटे के सुचारू रूप से चलाया जा सकता है।

परिच्छेद : 30

डेरी फार्म की चारे की आवश्यकता और सस्यक्रम योजना

(FODDER REQUIREMENT OF DAIRY AND CROPPING SCHEME)

डेरी फार्म की चारे की आवश्यकता
(Fodder Requirement of a Dairy Farm)

किसी भी डेरी फार्म की चारे की आवश्यकता, वहाँ पर रहने वाली पशु संख्या पर निर्भर होती है। डेरी फार्मिंग (Dairy Farming) लाभदायक सिद्ध होने के लिये यह परम आवश्यक है कि पशुओं को खिलाने के लिये अधिकतम चारे फार्म पर ही उगाये जायें और जहाँ तक सम्भव हो उनको खरीदा न जाये। हरे चारे तथा घासें वर्ष भर पशुओं के बहुत प्रिय आहार हैं, अतः किसी भी सस्यक्रम योजना में इन्हीं की आपूर्ति पर अधिक जोर देना चाहिये।

सस्यक्रम योजना तथा पशुओं के लिये वर्ष भर आवश्यक रसदार चारे (Succulent Fodder) की मात्रा निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है—

(1) पशु की नस्ल।

(2) फार्म पर रखे गये प्रौढ़ पशुओं की संख्या।

(3) पशुओं का औसत शरीर भार तथा उनके लिये आवश्यक शुष्क पदार्थ की मात्रा।

(4) उनको दिये जाने वाले पौष्टिक मिश्रण (concentrate mixture) की मात्रा।

(5) चारे की किस्म तथा प्रकार।

(6) भूमि तथा जलवायु का प्रकार।

उदाहरणार्थ—100 पशुओं (50 प्रौढ़ तथा शेष उनके अनुचरों) के लिये वर्ष भर हरा तथा रसीला चारा उपलब्ध करने के लिये भूमि की आवश्यकता ज्ञात करना—

इस समस्या का निदान करने से पूर्व सर्वप्रथम पशुओं के यूथ को निम्न प्रकार विभाजित करना चाहिये।

पशु वर्ग	संख्या	प्रत्येक पशु का औसत भार (कि० ग्रा०)
दुधारु गायें	36	400
दूध न देने वाली सूखी गायें	12	400
2 से 3 वर्ष की बछियाँ	10	250
1 से 2 वर्ष तक की आयु की बछियाँ	12	175
1 वर्ष तक की आयु के बछड़े तथा बछियाँ	32	50
बैल	2	450
साँड	1	500

उपर्युक्त उदाहरण में, एक वर्ष से ऊपर की उम्र के बछड़ों को इस विभाजन में इस कारण नहीं दिखाया गया है कि अच्छे डेरी फार्म पर बछड़ों को अधिक समय तक यूथ में न रखकर शीघ्रातिशीघ्र नीलाम कर दिया जाता है अन्यथा फार्म व्यवसाय में घाटा आने की सम्भावना रहती है। यूथ का विभाजन करते समय दुधारू तथा सूखे पशुओं में 3 : 1 का अनुपात होना चाहिये। 2–3 वर्ष वाले बच्चों की संख्या यूथ से कुल प्रौढ़ पशुओं की संख्या का $\frac{1}{4}$ तथा 1–2 वर्ष वालों की $\frac{1}{4}$ होनी चाहिये। दूध पीने वाले बच्चे उतने ही होने चाहियें जितनी की दुधारू गायें, किन्तु इनमें से 10–12% मर जाते हैं, अतः इस संख्या को इतना कम कर देना चाहिये। इस प्रकार किसी भी डेरी फार्म की प्रौढ़ पशुओं की संख्या ज्ञात होने पर आप उनके अनुचरों की संख्या स्वयं ज्ञात कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—यदि प्रश्न में 100 गायें दी गई हैं और अनुचर पूछे गये हैं तो इनका विभाजन निम्न प्रकार हो—दुधारू गायें 70, सूखी 30, 2–3 वर्ष की बछियाँ 20, 1–2 वर्ष की बछियाँ 25, दूध पीने वाले बच्चे (10 से 12% मृत्यु दर घटाकर) 62।

यदि केवल प्रौढ़ पशुओं के लिये ही चारे की आवश्यकता ज्ञात करनी हो तो फिर इस प्रकार विभाजन करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त प्रकार वर्गीकृत यूथ में 50 गायें बड़ी आयु की हैं। इनमें से लगभग 10 गायें काफी बूढ़ी होंगी और 5–6 व्याँत का दूध भी दे चुकी होंगी। अतः इनको छाँटकर यूथ से निकाल देना चाहिये। इनके स्थान की पूर्ति के लिये हमारे पास 10 बछियाँ इसी यूथ में से और तैयार हो चुकी होंगी। इस प्रकार फार्म का यूथ वर्षों तक लगभग एक-सा ही रहेगा।

अब हरे चारे की आवश्यकता दो दृष्टिकोणों से विचाराधीन है—

(1) पशुओं की सम्पूर्ण आवश्यकता हरे चारे या साइलेज से पूरी की जाये।

(2) पशुओं की आवश्यकता की कम से कम मात्रा हरे चारे से पूरी की जाये और शेष के लिये, उन्हें अन्य सूखे चारे खिलाये जायें।

पहले दृष्टिकोण से हरा चारा ऐसा होना चाहिये जो पशु की निर्वाह आवश्यकता की पूर्ति कर सके तथा साथ ही उत्पादक पशुओं में 3 से 5 लिटर दूध के लिये काफी हो। अतः दुधारू पशुओं को लगभग 40 किलो तथा सूखे पशुओं को 25 किग्रा० हरा चारा प्रति पशु नित्य देना होगा। इसी प्रकार, 2 से 3 वर्ष वाले बछड़े, बछियों की आवश्यकता लगभग 15 किग्रा०, 1 से 2 वर्ष वालों की 8 किग्रा० तथा इससे छोटे बच्चों की, जो 5 माह से ऊपर हैं, लगभग 4 किग्रा० प्रति पशु प्रतिदिन हरा चारा होती है। अतः वर्ष भर की पूर्ण आवश्यकता की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है—

पशु संख्या		चारा (किग्रा० में)		वर्ष के दिन	=	कुल आवश्यकता (क्विंटल में)
36	×	40	×	365	=	5256
12	×	25	×	365	=	1095
10	×	15	×	365	=	548
10	×	8	×	365	=	352
पाँच माह से ऊपर बच्चे ——→					=	400
2	×	35	×	365	=	255
1	×	40	×	365	=	146
वर्ष की पूर्ण आवश्यकता					=	8052 क्विंटल

लूसर्न, बरसीम जैसे उच्च कोटि के हरे चारे बोकर, खरीफ में लगभग 100 से 116 क्विंटल तथा रबी में लगभग 150 क्विंटल हरा चारा प्रति 0·4 हैक्टेयर (एकड़) भूमि से प्रतिवर्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार एक वर्ष में प्रति 0·4 हेक्टेयर (एकड़) भूमि में लगभग 260 क्विंटल हरा चारा उपलब्ध होता है। चारे को संरक्षित रखने के लिये, इससे कुछ साइलेज भी बनानी होगी और साथ ही कुछ हरा चारा नष्ट भी होगा। अतः प्रति 0·4 हेक्टेयर (एकड़) का औसत उत्पादन हमें 240 क्विंटल मानना चाहिये। अब लगभग 8000 क्विंटल चारा उगाने के लिये इस प्रकार हमें 14 हेक्टेयर (34 एकड़) भूमि की आवश्यकता होगी। इसको 16 हेक्टेयर (40 एकड़) मानना होगा। रबी की फसल के अन्त में हमें शीघ्र खरीफ की फसल का हरा चारा बोना होगा और साथ ही रबी की फसल में कुछ बिना फलीदार चारे भी बोने होंगे, क्योंकि बरसीम अकेली नहीं खिलानी चाहिये।

दूसरे दृष्टिकोण से, जब हरे चारे की मात्रा न्यूनतम देनी हो, तो हमें 9 से 10 किग्रा० हरा चारा प्रतिदिन प्रति प्रौढ़ पशु तथा 4 किग्रा० प्रति छोटे पशु को देना होगा। इस प्रकार वर्ष भर के लिये लगभग 2400 क्विंटल हरे चारे की आवश्यकता होगी, जिसको उगाने के लिये 4 हेक्टेयर (10 एकड़) भूमि पर्याप्त होगी। इस प्रकार

प्राप्त हरे चारे से पशु की कैरोटीन की आवश्यकता तो पूरी हो जायेगी, किन्तु दूध का औसत उतना अच्छा नहीं होगा, जितना पहले प्रकार में। इसके अतिरिक्त, हमें अपने पशुओं के लिये भूसा तथा करबी आदि भी खरीदनी होगी।

पशुओं के लिये वर्ष भर का चारा ज्ञात करने का और भी सही तरीका निम्न प्रकार है। यूथ का उपरोक्त प्रकार वर्गीकरण करने के उपरान्त उनका औसत शरीर भार मान लीजिये। कुल पशुओं का औसत शरीर भार निम्न प्रकार निकालकर जोड़ लीजिये :

पशु संख्या		प्रत्येक पशु का औसत शरीर भार (किग्रा०)		योग (किग्रा०)
36	×	400	=	14400
12	×	400	=	4800
10	×	250	=	2500
12	×	175	=	2100
32	×	50	=	1600
2	×	450	=	900
1	×	500	=	500
			कुल योग =	26800 किग्रा०

अब इसके आधार पर ही आपको चारे की आवश्यकता ज्ञात करनी होगी। इस उदाहरण में पशुओं का कुल शरीर भार 26800 किग्रा० है। प्रत्येक पशु को अपने शरीर भार का 2 से $2\frac{1}{2}$% शुष्क पदार्थ देना चाहिये। अतः कुल मिलाकर 536–670 किग्रा० शुष्क पदार्थ की दैनिक आवश्यकता हुई। इसमें से एक चौथाई (168 किग्रा०) तो दाने से पूरी होगी तथा शेष के लिये $\frac{1}{3}$: $\frac{2}{3}$ के अनुपात में हरा व सूखा चारा देना होगा। यह चारे की दैनिक आवश्यकता है, अतः इसे 365 से गुणा करने पर जो अंक प्राप्त होगा वह वर्ष भर की आवश्यकता होगी। इस प्रकार वर्ष भर के लिये हरे चारे तथा सूखे चारे की अलग-अलग आवश्यकता ज्ञात हो जायेगी।

सस्यक्रम योजना (Cropping Scheme)

जैसा कि ऊपर बता चुके हैं, पशुओं को वर्ष भर हरा या रसदार चारा मिलना परमावश्यक है। हर ऋतु में हरा चारा उपलब्ध करने के लिये पशुपालक को अनेक हेर-फेर करने पड़ते हैं, जिनमें से एक क्रम निम्न प्रकार है—

1	2	3
गिनी घास, फिर बरसीम	ज्वार (प्रथम वर्ष) लूसर्न घास	बरसीम-ज्वार प्रतिवर्ष

इस विधि में चारे की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, खेत का सर्वप्रथम चुनाव किया जाता है और साथ ही इस बात का भी विशेष ध्यान रखा जाता है कि

सिंचाई का साधन भली-भाँति उपलब्ध हो। इस प्रकार चुने हुए खेत को उपर्युक्त प्रकार से तीन भागों में विभक्त कर लिया जाता है। अब इन भागों की खूब जुताई करके प्रथम भाग में 75 से 90 सेमी० (2½ से 3 फुट) की दूरी पर खरीफ में पैरा अथवा गिनी घास कतारों में बोई जाती है। तत्पश्चात् इसी भाग में रबी की फसल में बरसीम बोकर चारा लिया जाता है।

खेत के द्वितीय भाग में, खरीफ की फसल में ज्वार की चरी उगाते हैं तथा रबी में लूसर्न घास बोकर दो तीन वर्ष तक चारा उपलब्ध करते हैं।

खेत के तृतीय भाग में रबी में बरसीम तथा खरीफ में ज्वार प्रति वर्ष बोकर चारा लिया जाता है।

चित्र 30·1—पशुओं को वर्ष भर हरा चारा मिलने का फसल चक्र
(An scheme for availability of green fodder throughout the year)
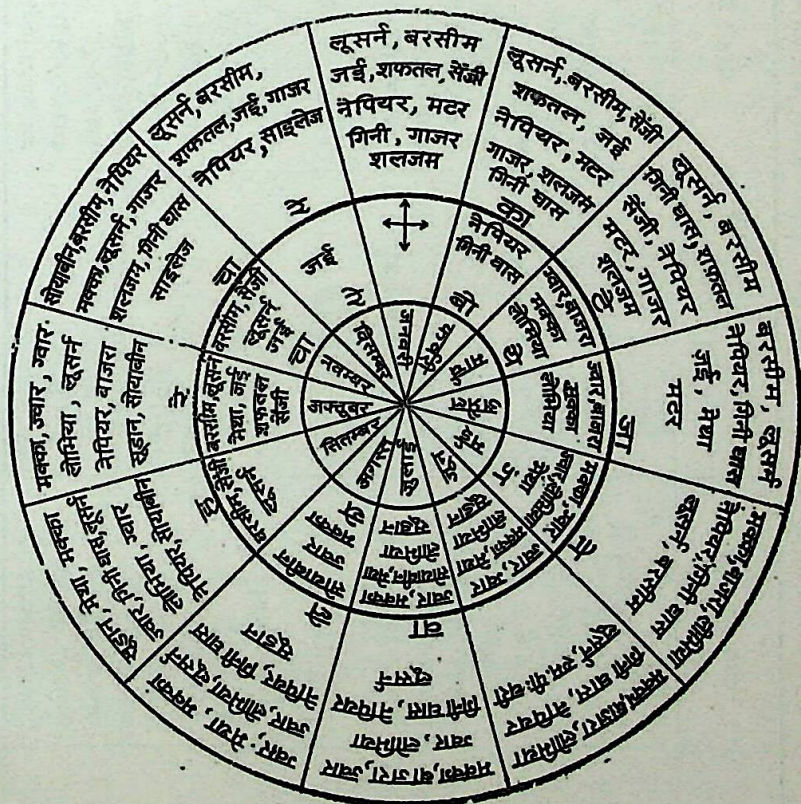
सारणी 30·1—वर्ष भर बोये जाने वाले हरे तथा रसीले चारे की फसलों का विवरण

नाम	बोने का समय	बीज प्रति 0·4 हेक्टेयर (एकड़) (किग्रा०)	काटने का समय	प्रति 0·4 हेक्टेयर (एकड़) उपज (क्विटल)
बाजरा	जुलाई के मध्य एवं अगस्त के आरम्भ में	4–5	अक्टूबर-नवम्बर	70–100
ज्वार	अप्रैल-जुलाई	22–26	जुलाई-अक्टूबर	110–150
मक्का	अप्रैल-जुलाई	18–22	जुलाई-सितम्बर	110
लोबिया	मई-जुलाई	7– 9	अक्टूवर	100–130
सोयाबीन	मार्च-जुलाई	9–13	अक्टूबर-दिसम्बर	75
बरसीम	अक्टूबर-नवम्बर	9–11	दिसम्बर-मई (4·6 कटिंग)	250–350
जई	नवम्बर-दिसम्बर	37–46	जनवरी-मई (2-3 कटिंग)	185
नेपियर	फरवरी-जुलाई	7000 से 10,000 जड़ें	अक्टूबर और आगे वर्ष भर (8–10 कटिंग)	550
गिनी घास	जून-जुलाई	7000 से 10,000 जड़ें	अक्टूबर और आगे वर्ष भर (8–10 कटिंग)	150–220
लूसर्न	अक्टूबर-नवम्बर	5– 6	दिसम्बर और आगे (8 कटिंग)	225
सूडान	जून-जुलाई	7– 9	अगस्त-अक्टूबर 3-4 (कटिंग)	225
ग्वार	मई-जुलाई	13–18	जुलाई-अक्टूबर	75–100
सेंजी	अक्टूबर-नवम्बर	18–19	फरवरी-मार्च	100–110
मेथ	मई-जुलाई	5– 7	जुलाई-सितम्बर	75–100
सूरजमुखी	मार्च-जुलाई	1– 8	फूलने से पूर्व	75–100
शलजम	सितम्बर-अक्टूबर	2– 3	नवम्बर-जनवरी	150
गाजर	सितम्बर-नवम्बर	3– 4	नवम्बर-जनवरी	185

नोट—हरे चारे की अच्छी उपज के लिये खाद तथा सिंचाई के उपयुक्त साधन होना नितान्त आवश्यक है ।

ऐसे ही कुछ फसल चक्र (Crop Rotation) नीचे दिये जा रहे हैं—

ज्वार, ग्वार, जई	एक वर्ष
ज्वार, बरसीम	एक वर्ष
ज्वार, बरसीम, ज्वार, लोबिया	दो वर्ष
ज्वार, बरसीम, मक्का, बरसीम	दो वर्ष
मक्का, लूसर्न	दो वर्ष
बाजरा, मटर, जई	एक वर्ष
नेपियर घास	दो वर्ष

इस प्रकार, थोड़ी ही भूमि से पशुओं के लिये वर्ष भर हरा चारा लगातार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा चारा पशुओं के लिये अत्यन्त पौष्टिक एवं स्वास्थ्य-वर्धक होता है। दुधारू पशुओं के लिये इसकी विशेष उपयोगिता है।

पंजाब कृषि विश्वविद्यालय की रिले फसल योजना

पंजाब कृषि विश्वविद्यालय ने एक रिले फसल योजना तैयार की है जिसे अपनाकर किसान साल भर अपने 10 पशुओं को प्रतिदिन 40 किलो हरा चारा दे सकेगा।

इस योजना में एक हैक्टेयर के खेत को छः हिस्सों में बाँटना होगा और उनमें अलग-अलग फसल-चक्र अपनाने होंगे। प्रत्येक हिस्से के लिये फसल चक्र तैयार किया गया है जिसमें अनाज, दलहनी तथा सदाबहार चारे की फसलें भी शामिल हैं।

इस मिले-जुले फसल चक्र से पूरे साल हरे चारे की भारी पैदावार ही नहीं मिलेगी बल्कि ज्यादा पोषक-तत्व भी मिलेंगे। यह योजना बलुई दोमट मिट्टी वाले इलाकों में अपनाई जा सकती है लेकिन सिंचाई की सुविधा पूरी होनी चाहिये।

अगर आप चाहते हैं कि पैदावार आपकी आशा के अनुकूल मिले तो उसके लिये आपको खेती के मान्य एवं स्वीकृत ढंग से अपनाने होंगे।

विभिन्न चारों के लिये स्वीकृत फसल योजना, लुधियाना में पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के 'पशु विज्ञान विभाग' से प्राप्त की जा सकती हैं।

अखिल भारतीय समन्वित अनुसन्धान प्रयोजना द्वारा निर्धारित फसल चक्र

1. पश्चिमी क्षेत्र उदयपुर में मक्का + लोबिया — बरसीम का एक चारा फसल चक्र, मक्का + लोबिया — गेहूँ और मक्का का चारा।

2. उत्तरी क्षेत्र हिसार में ज्वार + लोबिया — ज्वार + ग्वार — बरसीम + जापानी सरसों; सर्दी के दिनों में बरसीम के साथ एन० बी०–21 और रिजका के चारे वाले फसल चक्र।

3. इलाहाबाद, जबलपुर, झाँसी के मध्य क्षेत्र में एम० पी० चरी/मक्का— बरसीम का फसल चक्र।

4. पूना में रिजका और ज्वार—जई का फसल चक्र अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ।

5. हैदराबाद के क्षेत्र में मक्का—गेहूँ—एम० पी० चरी + लोबिया का फसल चक्र।

हरे चारे की मुख्य फसलें

रबी—बरसीम, जई, रिजका

जायद—मक्का, लोबिया

खरीफ—मक्का, लोबिया, ज्वार, बाजरा तथा एम० पी० चरी

फसल-चक्र एवं चारा उत्पादन की नवीनतम वैज्ञानिक जानकारी हासिल कर आप थोड़ी ही भूमि से वर्ष भर अधिक चारा उगाकर अपने पशुओं का पालन-पोषण कर सकते हैं। नवीनतम जानकारी के लिये अपने निकट के प्रसार कार्यकर्त्ताओं, कृषि महाविद्यालयों, कृषि संस्थानों, कृषि विश्वविद्यालयों तथा भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली से सम्पर्क स्थापित कीजिये जहाँ से आपको हर सम्भव सहयोग प्राप्त होगा। कभी-कभी रेडियो तथा दूरदर्शन के माध्यम से भी उपयुक्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। इस विषय पर विशेषानज कारी के लिए केन्द्रीय चारा अनुसन्धान संस्थान, झाँसी (उ० प्र०) के निदेशक से पत्र व्यवहार अथवा सम्पर्क स्थापित करें।

परिच्छेद : 31

चरागाह और उनका प्रबन्ध

(PASTURE LAND AND THEIR MANAGEMENT)

चरागाहों की आवश्यकता (Importance of Pastures)—पशु जीव की उत्पत्ति से ही, उनके चारे के लिये चरागाहों को प्राथमिकता दी गई है। पशुओं को चरागाहों पर चराकर पालना पशु-उत्पादन का सर्वश्रेष्ठ ढंग है। यह सर्वविदित है कि दुधारू पशुओं को चरागाहों पर चराकर एवं उनको थोड़ा पौष्टिक मिश्रण (concentrate mixture) देकर, डेरी उद्योग को बहुत ही लाभदायक व्यवसाय बनाया जा सकता है। हरे पौधों की पत्तियों में कुछ ऐसे पौष्टिक एवं आवश्यक तत्व होते हैं, जो पशुओं को स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं। जैसे-जैसे जनसंख्या की वृद्धि होती है, भूमि पर अधिक दबाव पड़ता है, क्योंकि बढ़ी हुई जनसंख्या को रहने के लिये स्थान तथा जीविका के लिये खेती चाहिये। अतः चरागाहों की दिन-प्रतिदिन कमी होकर, दूध, माँस तथा हड्डी उत्पादन का मूल्य खरीदे हुए चारे खिलाने से बढ़ता चला जा रहा है, जो आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वथा अनुचित है। एक मिश्रित चरागाह पशुओं के लिये सर्वोत्तम एवं सस्ता चारा प्रदान करता है। वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में चरागाह की घासों में पौष्टिक तत्व, विशेपतया प्रोटीन काफी मात्रा में होती है। इस समय इस चारे में रेशे की मात्रा बहुत कम होने के कारण, पशुओं के लिये अति उत्तम समझा जाता है। इन घासों में कैल्शियम, फॉस्फोरस की मात्रा भी काफी अच्छी तथा समुचित अनुपात में होती है। इसके अतिरिक्त इनमें विटामिन और मुख्य रूप में कैरोटीन (carotene) की मात्रा बहुत अधिक होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि चरागाहों से हमारे पशुओं को लगभग सभी आवश्यक तत्व प्राप्त होते हैं और आर्थिक दृष्टिकोण से पशुओं के सुप्रबन्ध तथा वृद्धि व उत्पादन हेतु उनको चरागाहों पर चराना नितान्त आवश्यक है। अतः चरागाह पशुओं के आधार स्तम्भ हैं। चरागाहों से ही पूर्ण विश्व में सबसे सस्ता चारा पशुओं को प्राप्त ही सकता है। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, डेन्मार्क तथा नीदरलैंड इसके विशेष उदाहरण हैं।

एक अच्छे चरागाह के गुण (Characteristics of a good Pasture)

कोई भी बंजर भूमि जिसमें जंगली घासें उग आती हैं, अच्छा चरागाह नहीं बनाती। हमारे देश में अच्छे चरागाह नहीं हैं। खेती करने के अविससित ढंग, कम

भूमि की उपलब्धता, जनता की दरिद्रता तथा समुचित सिंचाई के साधनों का अभाव इत्यादि चरागाहों के पूर्ण विकास न होने के कुछ आवश्यक कारण हैं। एक अच्छे चरागाह में निम्नलिखित गुण वांछनीय हैं—

(1) चरागाह पशुओं के निवास स्थान से बहुत अधिक दूरी पर न होकर, डेरी फार्म से एक निजी मार्ग द्वारा सम्बन्धित होना चाहिये, जहाँ से पशुओं को आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(2) चरागाह की भूमि काफी ठोस होनी चाहिये, जिससे वर्षा के पानी एवं चरते समय पशुओं के खुरों से, इसमें गर्त न पड़ जाये। इसका धरातल भी समतल होना चाहिये ताकि सिंचाई और बरसात के समय इसमें पानी एक स्थान पर न रुक जाये।

(3) चरागाह के चारों ओर की सरहद पर काँटेदार तार खिंचा होना चाहिये। जिससे जंगली पशु इसमें प्रवेश न पा सकें।

(4) चरागाह पर जो घासें बोई जायें वे काफी पाचक, पौष्टिक, शीघ्र वृद्धि करने वाली व स्वादिष्ट होनी चाहियें। अधिकतर फलीदार घासें अथवा फलीदार एवं बेफलीदार का मिश्रण बोना चाहिये।

(5) चरागाह की भूमि दूषित एवं बेकार की घासों से रिक्त होनी चाहिये।

(6) चरागाह की सिंचाई के लिये समुचित साधन उपलब्ध होना चाहिये।

(7) चरागाह की भूमि पर गर्मी के दिनों में पशुओं को सूर्य के ताप से बचाने के लिये छायादार वृक्ष होने चाहियें।

(8) पशुओं के पीने के लिये स्वच्छ पानी का भी समुचित प्रबन्ध होना चाहिये।

चरागाहों के प्रकार (Kinds of Pasture)

मुख्य तौर पर चरागाह दो प्रकार के होते हैं—

(1) **प्राकृतिक चरागाह**—जंगली मैदान, जिनमें प्राकृतिक रूप से उगी हुई घासें पशुओं को चराई जाती हैं, प्राकृतिक चरागाह कहलाते हैं।

(2) **पोषित या कृत्रिम चरागाह**—जुताई करके ऐच्छिक घासें बोये हुए मैदान पोषित चरागाह कहलाते हैं। हमारे देश में ऐसे चरागाह बहुधा राजकीय फार्मों पर ही पाये जाते हैं। भूमि पर लगाये हुए पौधों के अनुसार पोषित चरागाहों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

स्थायी चरागाह (Permanent Pastures)—यह वे चरागाह हैं जिन पर स्वयं उगने वाले वार्षिक पौधे उगाये जाते हैं। इनको कभी-कभी जोत भी दिया जाता है। वर्षों तक यह पशुओं को चराने के काम आते हैं। हमारे देश में वे क्षेत्र, जो खेती के अयोग्य हैं, स्थायी चरागाह के रूप में पशुओं को चराने के लिये प्रयोग होते हैं। ऐसे चरागाहों पर फॉस्फेट इत्यादि छिड़क कर उनका विकास किया जा सकता है।

अस्थायी चरागाह (Temporary Pastures)—फसल काटने के बाद, भूमि कुछ समय के लिये खाली पड़ी रहती है। अतः इस पर उगी हुई घासें जब तक कि भूमि दूसरी फसल की बुवाई के लिये जोती नहीं जाती, अस्थायी चरागाह के रूप में पशुओं को चराने के काम आती हैं।

वार्षिक चरागाह (Annual Pastures)—ऐसे चरागाहों के अन्तर्गत, खरीफ की फसल में कुछ भूमि चरने वाली घासों से बो दी जाती है और यह एक वर्ष के लिये पशुओं को चराने के हेतु छोड़ दी जाती है। दूसरी आने वाली खरीफ की फसल में इस भूमि को अन्य फसलें बोने के लिये जोत दिया जाता है। ऐसे चरागाहों से भूमि को कुछ आराम भी मिलता है और साथ ही चरते समय पशुओं के मल-मूत्र से खाद लगकर उसकी उर्वरा शक्ति भी बढ़ जाती है।

चरागाहों का विकास एवं प्रबन्ध
(Improvement and Management of Pastures)

वैज्ञानिक 'रसल' के अनुसार जब तक चरागाह खुले एवं बिना बाड़ (Fences) के रहेंगे, उनका समुचित सुधार नहीं हो सकता। क्रमशः चराई (Rotational Grazing) तथा वृत्ति-करण (Fencing) अत्यधिक प्रभावी सुधार है।

चरागाहों के सुप्रबन्ध में मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिये कि एक लम्बी अवधि तक उस भूमि पर पौधे उगते रहें, जिससे पशुओं को सस्ता, स्वादिष्ट तथा शीघ्र पाचक चारा काफी मात्रा में प्राप्त हो सके।

वर्षा तथा मिट्टी में उपस्थित नमी का, चरागाह के विकास में काफी महत्व है। चरागाह के विकास के विषय पर हमारे देश में अभी बहुत ही थोड़ा कार्य हुआ है। अधिक वर्षा होने वाले क्षेत्रों में पानी के प्रभाव से मिट्टी में उपस्थित काफी तत्व घुलकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसे क्षेत्रों में फली एवं बेफलीदार एवं घासों का मिश्रण अच्छा हो सकता है। रेगिस्तान जैसे सूखे स्थानों में जहाँ वर्षा का अभाव रहता है, भूमि बहुधा कार्बनिक द्रव्य नाइट्रोजन में कम होकर, कैल्शियम में अधिक हो जाती है। ऐसी भूमि का सुधार सिंचाई के अच्छे साधन उपलब्ध होने पर हो सकता है। इस भूमि के लिये फलीदार घासें सर्वोत्तम फसलें हैं। पौधों की वृद्धि के लिये ऐसी भूमि में कार्बनिक खादों का छिड़कना अनिवार्य है। चरागाह के समुचित विकास एवं सुप्रबन्ध के लिये निम्न कदम उठाने चाहिये—

किस्म का चुनाव (Selection of the Type)—एक आदर्श चरागाह की घासों में पतझड़ की ऋतु में काफी मात्रा में पोषक तत्व उपलब्ध होने चाहियें, जिससे यह जाड़ों में पशुओं को खिलाने के काम आ सकें।

घूर्णनीय चराई (Rotational Grazing)—इस विधि के अन्तर्गत चरागाह की घास को छोटे-छोटे कई खण्डों में विभाजित कर दिया जाता है। एक के बाद एक खण्ड में एक दो सप्ताह तक पशुओं को चराया जाता है और इसके बाद चराये हुए खण्डों को 2–4 सप्ताह के लिये खाली छोड़ दिया जाता है। इस अवधि में घासें पुनः वृद्धि पाकर 10 सेमी० से 15 सेमी० (4-6 इंच) तक ऊँची हो जाती हैं।

चरागाह के सुप्रवन्ध के लिये उसका चराना बहुत ही आवश्यक है। अधिक या कम चराना दोनों ही हानिकारक हैं। चरागाह के सुप्रवन्ध एवं विकास का सबसे अच्छा ढंग **"होहेनहिन विधि"** (Hohenhein's System) है। यह ढंग सर्वप्रथम जर्मनी में प्रारम्भ किया गया था। इस विधि के अन्तर्गत युवा एवं सूखे (दूध न देने वाली गायें) पशु, दुधारू पशुओं से अलग रखे जाते हैं। चरागाह को 4–6 खण्डों में विभाजित कर लिया जाता है। अब पहले दुधारू पशुओं को चराकर फिर युवा एवं सूखे पशु चराये जाते हैं। घास के 12 सेमी० से 15 सेमी० (5–6 इंच) ऊँचे होने पर ही चरना प्रारम्भ किया जाता है। चरागाह में निम्न प्रकार खाद भी लगाई जाती है—

(1) सर्वप्रथम चूना (हड्डी का चूरा)

(2) फिर फास्फोरिक अम्ल और पोटाश, प्रत्येक 25 से 30 किग्रा० प्रति एकड़ (0·4 हेक्टेयर)।

(3) नाइट्रोजन 40–50 किग्रा० प्रति एकड़ (9·4 हेक्टेयर) वृद्धि के समय।

(4) हर चराई के बाद गोवर की खाद।

इस विधि से चरागाह की उपज दुगनी बढ़ जाती है।

चरागाह को आराम (Rest to pastures)—जाड़ों की ऋतु दिसम्बर तथा जनवरी के माह में जब घासों की वृद्धि ही धीरे होती है, चराई बन्द करके चरागाह को पूर्ण आराम देना चाहिये।

चरागाह में खाद लगाना (Manuring of Pastures)—कोई भी भूमि, जिसमें चरागाह बनाना हो, अम्लीयता (acidity) के लिये उसकी परीक्षा करनी चाहिये। चरागाहों में कार्वनिक खादों (organic manures) का प्रयोग नहीं किया जाता। अकार्वनिक (inorganic manures) का प्रयोग लाभदायक होता है। खाद लगाने का सबसे अच्छा समय जुते खेत में हेंगा करने के बाद होता है। चरागाहों में 2 से 2·5 क्विटल हड्डी का चूरा (bone meal) प्रति एकड़ (0·4 हेक्टेयर) छिड़कना सर्वोत्तम खाद माना जाता है। मिट्टी में नाइट्रोजन की विभिन्नता मिलने पर, उसमें सिंचाई से ठीक पहले या वरसात में अमोनियम सल्फेट का छिड़काव करना चाहिए। इस प्रकार खाद लगाने से हरे चारे का उत्पादन कई गुना अधिक बढ़ जाता है।

बेकार पौधों का उखाड़ना (Removal of Weeds)—चरागाह में उगे हुए बेकार तथा विषैले पौधों को तुरन्त उखाड़ देना चाहिये। ऐसा करने से अनैच्छिक एवं हानिकारक पौधों का ही विनाश नहीं होता वरन् अच्छे किस्म के हरे चारे की उपज बढ़ जाती है।

चरागाह का जलाना (Burning of Pasture)—मिट्टी में परजीवी कीटों (Parasites) के अण्डे तथा लारवा (larva) जो पशुओं में रोग फैलाते हैं एवं जड़ें, ठूँठ इत्यादि नष्ट करने के लिए चरागाह को जलाना नितान्त आवश्यक है। ऐसा

करने के लिये चरागाह को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर, एक के बाद एक जलाया जाता है। यह क्रिया शुष्क मौसम में ही करनी चाहिये।

चरागाह की जुताई करना (Ploughing of Pasture)—मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने एवं उसमें खाद मिलाने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी भली-भाँति जुताई की जाए, जिससे अच्छा बोने हेतु खेत बन सके। इसके अतिरिक्त, पशुओं के खुरों से चरागाह की भूमि पर जो गर्त बन जाते हैं वह भी जुताई करके तथा मिट्टी डालकर बराबर किये जा सकते हैं।

चरागाह की बुवाई करना (Sowing of Pasture Land)—चरागाह की खूब जुताई होने के बाद, जब बोने-योग्य खेत बन जाये तो उसमें स्वेच्छानुसार फली एवं बेफलीदार घासों का मिश्रण बो देना चाहिये। बीज की मात्रा, मिट्टी में उपस्थित नमी एवं उसकी उर्वरा शक्ति पर निर्भर होती है। बहुधा लगभग 8–10 किलो बीज प्रति एकड़ (0·4 हेक्टेयर) बोने के लिये पर्याप्त होता है।

चरागाह की सिंचाई करना (Irrigation of Pasture)—चरागाह से अधिकतम उपज लेने के लिये उसमें समय पर पानी लगाना भी नितान्त आवश्यक है। ऐसा करने से चरागाह की प्रति एकड़ उपज, गाय का औसत उत्पादन तथा पशु-पालक की औसत आय बढ़ जाती है।

चरागाह की कटाई करना (Harvesting of Pasture)—चरागाह की घास को काटकर, पशुओं को खिलाने का यह आधुनिक ढंग अभी हाल में ही अपनाया गया। इसमें पशुओं को चराने की अपेक्षा, एक चरागाह से 35 से 200% तक अधिक घास मिलती है। गाय को कटा हुआ चारा मिलने के कारण, उससे दूध, उत्पादन में वृद्धि होकर, उपलब्ध चारे का लगभग 20% औसत मूल्य कम होकर, पशु-पालक को अधिक लाभ होता है।

डा० हारलेन के अनुसार चरागाह की उपज खाद से 50–100 प्रतिशत, सिंचाई से 25–75 प्रतिशत तथा कीड़ों को नियन्त्रित करके, घूर्णनीय चराई (rotational grazing) विधि अपनाकर एवं अन्य सुप्रबन्धों से 25–75 प्रतिशत अधिक बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार चारे के गुण तथा मात्रा दोनों में ही वृद्धि होकर, पशु-पालक लाभान्वित होता है।

हमारे देश में लगभग 1 लाख वर्ग मील जंगल की भूमि में 80,000 वर्ग मील भूमि, चरागाह के रूप में अविकसित प्रयुक्त होती है। इन चरागाहों की उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में लाखों रुपया सरकार की ओर से चरागाहों के विकास हेतु निर्धारित किया गया। उत्तर प्रदेश सरकार ने पशु खाद्य समस्या पर ध्यान आकर्षित करते हुए, मथुरा जिले के माधुरी कुंड नामक स्थान पर 6,78,000 रुपये की लागत का एक चरागाह एवं चारा अनुसंधान केन्द्र की स्थापना करना निश्चित किया। इसके अन्तर्गत लगभग 16·5 प्रतिशत पशु-संख्या की चारे की पूर्ति के लिये अनुमान है। इससे चारा उत्पादन के आधुनिक ढंगों पर शिक्षार्थियों को प्रशिक्षित करने की भी व्यवस्था है।

उत्तर प्रदेश के प्रत्येक विकास क्षेत्र में आदर्श चरागाह की योजना

ग्रामों में पशुओं के चारे की समस्या सुलझाने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार (पंचायत राज) ने एक नई योजना तैयार की है। इसके अन्तर्गत राज्य के प्रत्येक विकास क्षेत्र में कम से कम एक गाँव में आदर्श चरागाह बनाया जायेगा। चरागाह की भूमि ग्राम-पंचायत की होगी। पंचायत वर्षा से पूर्व उसमें पौष्टिक घास लगायेगी और इसके बाद पशु-पालकों को पशु चराने की आज्ञा देगी।

इन चरागाहों पर पशु चराने वालों से मामूली शुल्क लेकर उसे पंचायत के कार्यों में व्यय किया जावेगा।

अधिक जानकारी के लिये इच्छुक व्यक्ति केन्द्रीय चरागाह एवं चारा विकास अनुसन्धान संस्थान, झाँसी के वैज्ञानिकों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इस संस्थान के निदेशक (डाइरेक्टर) को पत्र लिखकर आवश्यक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

परिच्छेद : 32

डेरी फार्म के लिए भूमि तथा श्रमिकों की आवश्यकता

(LAND AND LABOUR REQUIREMENT OF A DAIRY FORM)

डेरी फार्म के लिये भूमि की आवश्यकता

किसी भी डेरी फार्म की भूमि की आवश्यकता, उस फार्म पर रखी जाने वाली पशु-संख्या पर निर्भर होती है। भूमि निर्धारण करने के समय, इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि फार्म पर रखे गये प्रौढ़ पशुओं की संख्या के बराबर एकड़ों में कृषि-योग्य भूमि हो। डेरी फार्म प्रारम्भ करते समय कम से कम 50 पशु (30 गायें और 20 भैंसें) अवश्य होनी चाहियें अन्यथा फार्म व्यवस्था में घाटा आयेगा। इस फार्म के लिये लगभग 20 हेक्टेयर (50 एकड़) भूमि की आवश्यकता होगी। इसमें से 12–14 हेक्टेयर (30 एकड़) भूमि चारा उगाने के हेतु खूब उपजाऊ होनी चाहिये और साथ ही उसमें सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो। भूमि का नियोजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

चारा उत्पादन हेतु 10 हेक्टेयर (25 एकड़)
चरागाह 4 हेक्टेयर (10 एकड़)
भवन, बाड़े तथा सड़कें 4 हेक्टेयर (10 एकड़)
नकद फसल तथा उद्यान 2 हेक्टेयर (5 एकड़)

डेरी फार्म के लिये श्रमिकों की आवश्यकता

भारत में अधिकतर छोटे-छोटे फार्म हैं, जिन्हें यन्त्रों द्वारा चलाना लाभदायक नहीं हो सकता। अतः फार्म व्यवसाय को सुचारू रूप से चलाने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता होती है। राजकीय तथा अच्छे निजी फार्मों पर बहुधा दो प्रकार के मजदूर रखे जाते हैं, एक कुशल श्रमिक तथा दूसरे अकुशल श्रमिक।

कुशल श्रमिक (Skilled Labour)—बढ़ई, लुहार, फार्म यान्त्रिक ड्राइवर तथा वेल्डर आदि कुशल श्रमिक कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध फार्म के विशेष उद्योग से रहता है, जैसे बढ़ई या लुहार का कार्य अच्छे हल तथा बीज बोने के यन्त्र बनाना है। कार्य के अनुसार इनका पारिश्रमिक 30 रु० प्रति दिन है।

अकुशल श्रमिक (Unskilled Labour)—वह मजदूर जो शारीरिक कार्यों

सरकारी डेरी फार्म पर रखे गये श्रमिकों का एक नमूना

पशुधन	श्रमिकों की कुल संख्या	श्रमिकों का वितरण	प्रति श्रमिक वेतन (रु०)	देखभाल करने वाले कर्मचारी
500 ढोर 200 भेड़ 100 बकरी	28 स्थायी 50 अस्थायी	20 ग्वाले	950 प्रतिमाह	1 पशु चिकित्सक इन्चार्ज
		2 जमादार (मेठ)	950 ,, ,,	1 पशु-सेवक ढोरों पर
		1 दूध अभिलेखक	950 ,, ,,	1 पशु-सेवक भेड़ बकरियों पर
		5 हलवाहे	900 ,, ,,	2 दुग्ध सुपर-वाइजर
		1 मिस्त्री	30–35 दैनिक	
		1 राशन मुन्शी	25 ,,	
		1 राशन परिचारक	20 ,,	
		1 मिल्क रूम परि-चारक	20 ,,	
		6 चौकीदार	20 ,,	
		6 भिश्ती	25 ,,	
		7 चरवाहे	20 ,,	
		4 लड़के, बछड़ों के लिये	20 ,,	
		12 सफाई करने वाले	20 ,,	
		1 गोबर की गाड़ी पर आदमी	20 ,,	
		1 ब्याने वाली गायों पर परिचारक	20 ,,	
		1 रोगी लाइन पर परिचारक	20 ,,	
		3 मजदूर, भेड़-बकरियों पर	20 ,,	
		1 बैलगाड़ी पर	20 ,,	
		1 साइकिल ड्राइवर	20 ,,	
		1 परिचारक खाद के गड्ढों पर	20 ,,	
		1 परिचारक अल-गाव वार्ड पर	20 ,,	
		1 परिचारक फुटकर	20 ,,	

के लिये रखा जाता है, अकुशल श्रमिक कहलाता है। ऐसे श्रमिक से कोई भी विशिष्ट कार्य नहीं लिया जाता है। इसके अन्तर्गत हलवाहे, कटाई, निराई करने वाले, नाली

साफ करने वाले तथा कुआँ या गड्ढा खोदने वाले मजदूर आते हैं। इनकी मजदूरी 20 रु० प्रति दिन है।

अर्धकुशल श्रमिक (Semiskilled Labour)—माली, भिश्ती, सहायक प्लम्बर, दफ्तरी, जमादार, मेठ मिस्त्री, खल्लासी, वेल्चावाला, गेट कीपर, प्रधान चौकीदार अथवा इनके समतुल्य कार्यकर्ता अर्धकुशल श्रमिक की श्रेणी में आते हैं और ऐसे स्थायी श्रमिकों की दैनिक मजदूरी 25 रु० प्रति दिन है।

अत्यधिक कुशल श्रमिक (Highly skilled labour)—मिस्त्री क्लास I, आर्मेचर वाइण्डर ग्रेड I, लुहार ग्रेड I, बढ़ई ग्रेड I जैसे कारीगर अत्यधिक कुशल श्रमिक कहलाते हैं। इनका दैनिक पारिश्रमिक 35 रु० है।

कुशल निरीक्षक द्वारा अकुशल श्रमिकों से भी फार्म व्यवसाय को लाभ में चलाया जा सकता है। अच्छा काम लेने के लिये अकुशल श्रमिकों को 4–6 या अधिक की टोलियों में विभाजित करके कार्य लेना चाहिये।

श्रम की प्रति इकाई से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना फार्म मैनेजर की कुशलता पर निर्भर होता है। क्षेत्राध्यक्ष को सदैव ही इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि फार्म में जहाँ तक हो सके, कम से कम मजदूर लगाये जायें और उन पर विशेष नियन्त्रण रखा जाये। तभी फार्म व्यवसाय लाभदायक सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। मजदूर बहुधा दो प्रकार के होते हैं, एक तो **स्थायी** (Permanent) और **अस्थायी** (temporary)। स्थायी मजदूर तभी रखना चाहिये जब फार्म पर उनको वर्ष भर खूब काम मिलता रहे। डेरी फार्म पर बहुधा ग्वाले, हलवाहे तथा कुशल श्रमिक ही स्थायी रूप से रखे जाते हैं। फार्म का प्रोग्राम देखकर ही इनको नौकर रखना चाहिये। प्रत्येक फार्म पर कुछ समय बहुत काम होता है जिसे **'अत्यधिक कार्य-काल'** (peak period) कहते हैं। शेष समय **'निष्क्रिय काल'** (inactive period) कहलाता है। अधिक काम के समय दैनिक भत्ते पर मजदूर रखना लाभदायक है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि अस्थायी मजदूर खूब परिश्रम से काम नहीं करते। अतः इन लोगों पर विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है। कार्य के आधार पर टुकड़े-टुकड़े कार्य विधि पर अर्थात् इतना काम करोगे तो इतना पैसा मिलेगा, काम-चोर मजदूरों से भी अच्छा कार्य लिया जा सकता है और फार्म व्यवसाय को हानि नहीं पहुँचती।

ग्वालों का कार्य दूध दुहना तथा अपने पशुओं को चारा खिलाना है। प्रति ग्वाला 15 गायें अथवा 12 भैंसें तथा उनके बच्चे (followers) दिये जाते हैं। चरवाहों का कार्य पशुओं को चराना है। प्रति चरवाहे 50 पशु दिये जाते हैं। सूखी गायें 6 से 8 घण्टे नित्य चराई जाती हैं तथा दुधारू गायों को दुहने से 6 घण्टे और दूध निकालने के पश्चात् 4–6 घण्टे यानि 10 से 12 घण्टे नित्य चराना चाहिये। सफाई के लिये एक आदमी को 4 बछड़ा बाड़े अथवा एक गो-गृह दिया जाता है। बहुधा चार

मजदूर तथा दो भिश्ती 5 पशुशालाओं की सफाई के लिये काफी हैं। एक डेरी फार्म पर बहुधा 1 से 4 बजे रात तथा 1 से 4 बजे दोपहर में ही गायों का दूध निकाला जाता है।

जमादार तथा ग्वालों को फार्म पर निःशुल्क क्वार्टर दिया जाता है। इन कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिये इन मजदूरों को घटाना-बढ़ाना तथा काम बाँटना फार्म इन्चार्ज की कुशलता पर निर्भर होता है।

स्थायी श्रमिकों को निर्धारित मासिक वेतन के साथ महंगाई भत्ता अलग मिलता है। यह भत्ता रोजनदारी पर काम करने वाले श्रमिकों को नहीं दिया जाता। दोनों प्रकार के श्रमिकों को सप्ताह में एक दिन साप्ताहिक अवकाश मिलता है। स्थायी श्रमिक विभाग द्वारा स्वीकृत विभिन्न छुट्टियों के भी हकदार होते हैं।

प्रादेशिक सरकार तथा श्रम मंत्रालय के निर्देशन के आधार पर श्रमिकों के रेट समय-समय पर संशोधित होकर बदलते रहते हैं।

परिच्छेद : 33

विभिन्न डेरी तथा पशु रजिस्टरों का बनाना

(MAINTENANCE OF DIFFERENT DAIRY AND CATTLE REGISTERS)

प्रत्येक डेरी फार्म पर विभिन्न प्रकार के रजिस्टर रखे जाते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य पशुओं के बारे में पूर्ण अभिलेख रखना है, जिससे उनके बारे में किसी भी विशेषता अथवा कमी का पूर्ण ज्ञान तुरन्त लग जाता है। इस प्रकार यह रजिस्टर पशुओं के सामूहिक विकास में काफी सहायक होते हैं। डेरी फार्म पर रहने वाले कुछ आवश्यक अभिलेखों की सूची निम्न प्रकार है—

(1) दुग्ध अभिलेख रजिस्टर (Milk Record Register)

(2) दुग्ध वितरण रजिस्टर (Milk Disposal Register)

(3) ब्यांत अभिलेख रजिस्टर (Lactation Record Register)

(4) ढोर गर्भित होने का रजिस्टर (Cattle Service Register)

(5) साँड रजिस्टर (Bull Register)

(6) ब्याने का रजिस्टर (Calving Register)

(7) बछड़ों का रजिस्टर (Calf Register)

(8) स्वास्थ्य अभिलेख रजिस्टर (Health Record Register)

(9) बछड़ों की खुराक का रजिस्टर (Calf Feeding Register)

(10) पशु भार अभिलेख रजिस्टर (Cattle Weight Record Register)

(11) पशु की खुराक का रजिस्टर (Cattle Feeding Register)

(12) हाजिरी एवं वेतन का रजिस्टर (Attendance and Pay Register)

(13) आय-व्यय रजिस्टर (Income and Expenditure Register)

(14) अनुमानित आय-व्यय अभिलेख (Budget Estimates)

(15) वंशावली अभिलेखन (Pedigree Record)

(16) वृत्तपत्र (History Sheet)

(17) श्रमिकों को दैनिक काम पर लगाए जाने का रजिस्टर (Labour distribution Register)

यह अभिलेख निम्नलिखित कार्यों में काफी सहायक होते हैं—

(1) प्रजनन हेतु अच्छे पशु के चयन में।

(2) पशु को उसके उत्पादन हेतु संतुलित एवं सस्ता आहार देने में।

(3) पशु समूह में किसी भी असाधारणता का पता लगाने में।

(4) पशु एवं उनसे उत्पादन के आर्थिक मूल्यांकन में।

(5) फार्म व्यवसाय के उचित संचालन में।
(6) आय तथा व्यय के ज्ञान में।
(7) फार्म की आर्थिक दशा जानने में।

दुग्ध अभिलेख

भारत में क्रियात्मक रूप से दूध का रिकार्ड केवल राजकीय तथा कुछ अच्छे निजी डेरी फार्मों पर ही रखा जाता है। सामान्य कृषकों में अभी इस रीति का बिल्कुल ही चलन नहीं है। दुग्ध अभिलेख रखने से निम्नलिखित लाभ हैं—

(1) साँडों का चयन—दुग्ध का रिकार्ड रखने पर पशु-पालक को साँड तथा अन्य पशुओं के चयन में काफी सहायता मिलती है। जिस साँड की माँ तथा बछियों ने सबसे अधिक दूध दिया हो, वह साँड वास्तव में अन्य साँडों से अच्छा होगा और उसमें अधिक दूध पैदा करने वाले गुण विद्यमान होंगे।

(2) सन्तति परीक्षण—इस विधि द्वारा साँड की अपनी संतति में उत्पादन के गुण देने की क्षमता का अनुमान हो जाता है। यह परीक्षण एक ही साँड से पैदा हुई पाँच या अधिक बछियों के दुग्धोत्पादन अभिलेख पर आधारित होता है। साथ ही माँ तथा बछियों का एक साथ उत्पादन रिकार्ड रखना भी अच्छा है क्योंकि इसमें दोनों की परस्पर तुलना भी हो जाती है।

(3) उचित प्रजनन—चयन की भाँति दुग्ध अभिलेख प्रजनन क्रिया में भी सहायक होता है। वे पशु जो थोड़ी ही अवधि में अधिक दूध देकर अपनी उत्पादन क्षमता को गिरा देते हैं, इसका झूठा ही प्रभाव दिखाते हैं कि वे अच्छे उत्पादक हैं। पूर्ण ब्यांत भर लगातार एक-सा दूध देने वाले पशु इतना प्रभावित नहीं करते, परन्तु वे अधिक अच्छे तथा अल्पव्ययी माने जाते हैं। दुग्ध रिकार्ड द्वारा अनुत्पादक पशुओं का पता लग जाता है, जिन्हें छंटनी करके डेरी से निकाला जा सकता है। इसके द्वारा निम्न कोटि के पशु, प्रजनन से वंचित रखे जाकर यूथ से अलग किये जा सकते हैं तथा अच्छे पशुओं में सुप्रजनन करके उनकी उत्पादन क्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

(4) अधिक दूध के लिए उत्तेजना—चूँकि इस विधि में दुग्ध का भार लिया जाता है, अतः ग्वाला अधिक से अधिक दूध दुहने का प्रयत्न करता है।

(5) नियमित एवं सन्तुलित आहार—दूध अभिलेख रखना पशुओं को उनकी आवश्यकतानुसार नियमपूर्वक सन्तुलित आहार देने में काफी सहायक होता है। दिये दूध की मात्रा के अनुसार पशुओं की चारे-दाने की मात्रा भी घटाई-बढ़ाई जा सकती है। अच्छा और नियमित आहार देने पर दुधारू पशुओं में दुग्धोत्पादन की क्षमता बढ़ती है। पशु को सन्तुलित एवं नियमित आहार देने से व्यर्थ होने वाले चारे का बचाव होकर खर्चे की भी बचत होती है। पशुओं में दुग्धोत्पादन का लगभग 60% मूल्य उनके चारे-दाने में खर्च होता है।

(6) अधिक चारा उत्पादन—दूध रिकार्ड करने के समय में पशु-पालक को

अच्छे चारे के विषय में पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अतः उसको आगे चलकर फार्म के अधिक क्षेत्रफल में अच्छा चारा उत्पादन करने की प्रेरणा मिलती है।

(7) गायों से निकट सम्पर्क—दूध तथा चारे का अभिलेखन पशु-पालक को प्रत्येक पशु के बारे में अलग-अलग जानकारी रखने का अवसर प्रदान करता है। यदि किसी गाय का दुग्धोत्पादन कम हो जाता है, तो पशु-पालक को तुरन्त ही पता लग जाता है कि अमुक गाय के प्रति कुछ खराबी है, जैसे—या तो उसे कोई रोग लग रहा है अथवा उसके प्रति सुप्रवन्ध में कुछ कमी है।

(8) उचित मूल्य—पशु-ग्राहक पशु एवं उसके माँ-बाप का अभिलेख देखकर, उसके प्रति उचित मूल्य का अनुमान कर लेते हैं। बहुधा देखा गया है कि यदि पशु का रिकार्ड अच्छा है, तो खरीदार उसका अधिक मूल्य दे देता है। जब कोई बिना अभिलेख वाली गाय खरीदी जाती है, उसकी दुग्धोत्पादन क्षमता का अनुमान उसके वाह्य गुण एवं दृश्य रूप देखकर किया जाता है, जिससे कभी-कभी ग्राहक को बड़ा धोखा हो जाता है।

(9) व्यक्तिगत गर्व एवं लगन—इस बात का ज्ञान होना कि प्रत्येक गाय कैसा उत्पादन कर रही है, पशु-पालक में अपने यूथ के प्रति विशेष गर्व एवं लगन का सूचक है। अधिक दुधारू पशु अपने पास रखकर, पशु-पालक एक दिन "गोपाल रत्न" बनने की आशा करता है।

(10) वंशावली—डेरी पशुओं में वंशावली अभिलेख सबसे महत्वपूर्ण होता है और इसको पूरा करने के लिये आवश्यक होता है कि प्रत्येक गाय का दूध अभिलेख अलग-अलग रखा जाये।

(11) केन्द्रीय गोविन्द रजिस्टर (Central Herd Book) में पंजीकरण—जो लोग अपने पशुओं को इस किताब में पंजीकृत कराना चाहते हैं उनके लिये दूध अभिलेख रखना नितान्त आवश्यक है। बिना इसके पशुओं का पंजीकरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार डेरी फार्म पर रखे जाने वाले अभिलेख वहाँ के क्रिया-कलापों की सही जानकारी प्रस्तुत कर फार्म व्यवसाय को प्रोत्साहित करते हैं।

दूध अभिलेख रजिस्टर
(Milk Record Register)

फार्म का नाम........................ माह.................................. सन् 19..................

क्रम संख्या	पशु का नाम तथा नम्बर	ब्याने की तिथि	गर्भित करने की तिथि	दिये हुए दूध की मात्रा (किग्रा०)															सम्पूर्ण उत्पादन (किग्रा०)			विशेष विवरण
				1		2		3		4		←तिथि→	29		30		31		वर्तमान	भूत	पूर्ण योग	
				प्रातः	सायं	प्रातः	सायं	प्रातः	सायं	प्रातः	सायं	←——→	प्रातः	सायं	प्रातः	सायं	प्रातः	सायं				

हस्ताक्षर..............................

दूध वितरण रजिस्टर
(Milk Disposal Register)

फार्म का नाम............................माह............................सन् 19....................

तिथि	दूध का भार		दैनिक उत्पादन का योग	दुग्ध वितरण									क्रीम, मक्खन या खोये का वितरण				शेष			विशेष विवरण
				बेचा गया			घरेलू उपयोग			क्रीम, मक्खन, घी या खोया के लिये निकाला गया दूध			घी या खोया की प्राप्ति	घी या खोया बेचा गया			घी या खोया			
	प्रातः	सायं		मात्रा	मूल्य		मात्रा	मूल्य		मात्रा	मूल्य			मात्रा	मूल्य		मात्रा	मूल्य		
	किग्रा०	किग्रा०	किग्रा०	कि० ग्रा०	रु०	पै०	कि० ग्रा०	रु०	पै०	कि० ग्रा०	रु०	पै०	कि० ग्रा०	कि० ग्रा०	रु०	पै०	कि० ग्रा०	रु०	पै०	

हस्ताक्षर....................

ब्यांत अभिलेख रजिस्टर
(Lactation Record Register)

फार्म का नाम.................. माह.................. सन् 19..................

क्रम संख्या	गाय का नाम व नम्बर	ब्याने की तिथि	वर्ष	वर्ष में दिये हुए दूध उत्पादन का ब्यौरा (किग्रा०)												ब्यांत में दिये दूध की मात्रा (किग्रा०)	चिकनाई की औसत प्रतिशत	दूध देने के दिन	दूध सुखाने की तिथि	सूखे रहने की अवधि
				जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जौलाई	अगस्त	सितम्बर	अक्टूबर	नवम्बर	दिसम्बर					

हस्ताक्षर..................

ढोर गर्भित होने का रजिस्टर
(Cattle Service Register)

फार्म.................... माह.................... सन् 19....................

क्रम संख्या	मादा का नाम तथा नम्बर	नस्ल	गर्भित कराने की तिथि	साँड का नाम तथा नम्बर	साँड की नस्ल	ब्याने की तिथि	बच्चे का लिंग	विवरण	विशेष विवरण

हस्ताक्षर..............................

साँड रजिस्टर
(Bull Register)

फार्म का नाम.................माह.................सन् 19.........

क्रम संख्या	गर्भित करने का अभिलेख				विशेष विवरण
	साँड का नाम तथा नम्बर	नस्ल	गर्भित करने की तिथि तथा संख्या	सफलता तथा असफलता	

हस्ताक्षर.......................

ब्याने का रजिस्टर
(Calving Register)

फार्म का नाम.................माह...............सन् 19............

क्रम संख्या	साँड का विवरण	मादा का नाम तथा नम्बर	ब्याने की तिथि	बच्चे का लिंग	बच्चे का भार तथा ऊँचाई	बच्चे का नाम तथा नम्बर	बच्चे का विवरण	विशेष विवरण

हस्ताक्षर.........................

बछड़ों का रजिस्टर
(Calf Register)

फार्म का नाम.................माह.................सन् 19............

क्रम संख्या	जन्म तिथि	कान का नम्बर	लिंग	पिता का नाम तथा नम्बर	माता का नाम तथा नम्बर	वितरण		विशेष विवरण
						वितरण की तिथि	किस प्रकार वितरित किया गया	

हस्ताक्षर.............................

स्वास्थ्य अभिलेख रजिस्टर
(Health Record Register)

फार्म का नाम.......................माह.......................सन् 19.........

क्रम संख्या	अवलोकन	पशु चिकित्सा अभिलेख					चिकित्सा का विवरण
		पशु का नाम तथा नम्बर	कब से	कब तक	निदान	टीका	

अन्तिम निपटान का रु०.............तिथि.............
बेचा गया.......................किसको.......................

हवाला		फार्म सुपरिन्टेन्डेन्ट के हस्ताक्षर
पन्ना संख्या	तिथि	

हस्ताक्षर.......................

बछड़ों की खुराक का रजिस्टर
(Calf Feeding Register)

फार्म का नाम..................माह......................सन् 19...............

क्रम संख्या	यूथ नम्बर	जन्म तिथि	जन्म भार (किग्रा०)	प्रजनन		पिलाये हुये दूध की मात्रा (किग्रा०)													योग	
						1				2				3→ →30	31					
						प्रायः		सायं		प्रातः		सायं			प्रातः		सायं		दूध	निघृत दूध
				माता का नाम तथा नम्बर	पिता का नाम तथा नम्बर	दूध	निघृत दूध	दूध	निघृत दूध	दूध	निघृत दूध	दूध	निघृत दूध		दूध	निघृत दूध	दूध	निघृत दूध	किग्रा०	किग्रा०

हस्ताक्षर...............

पशुभार अभिलेख रजिस्टर
(Cattle Weight Record Register)

फार्म का नाम..................माह...............सन् 19............

क्रम संख्या	पशु का नाम तथा नम्बर	ब्याने की तिथि	ब्याने पर भार	मासिक भार (किग्रा०)											
				जनवरी 1	फरवरी 1	मार्च 1	अप्रैल 1	मई 1	जून 1	जौलाई 1	अगस्त 1	सितम्बर 1	अक्टूबर 1	नवम्बर 1	दिसम्बर 1

हस्ताक्षर........................

पशु को खुराक का रजिस्टर
(Cattle Feeding Register)

फार्म का नाम.......................माह.......................सन् 19...............

दाने की मात्रा किग्रा०					मोटे चारे की मात्रा (किग्रा०)											खनिज लवण (किग्रा०)			
					सूखे चारे			साइलेज		हरे चारे									
जौ	चना	चोकर	चूनी	खली	भूसा	चरी	सूखी घास	मक्का	ज्वार	मक्का	ज्वार	लूसर्न	बरसीम	लोभिया	ग्वार	नमक	सुपर मिन्डिफ	मिल्कमिन	विशेष विवरण

हस्ताक्षर.......................

हाजरी एवं वेतन का रजिस्टर
(Attendance & Pay Register)

फार्म का नाम………………माह………………सन् 19……………

क्रम संख्या	कर्मचारी का नाम	पिता का नाम	पता	मासिक तिथि (उपस्थित/अनुपस्थित)								पूर्ण उपस्थिति	दर		धन जो देना है		जुर्माना		बाकी देय रकम		भुगतान की तिथि	पाने वाले के हस्ताक्षर या निशानी अंगूठा	विशेष विवरण
				1	2	3	4	— —	29	30	31		रु०	पै०	रु०	पै०	रु०	पै०	रु०	पै०			

हस्ताक्षर………………

वार्षिक आय-व्यय का वास्तविक विवरण
(Annual Income & Expenditure Record)

फार्म का नाम—डेरी फार्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वर्ष 1992–93

आय (Income) रु०		व्यय (Expenditure) रु०	
दूध तथा दूध से बने पदार्थों का विक्रय	4,79,497	वेतन गैर शिक्षण कर्मचारी	70,707
उधार बिक्री	35,572	वेतन स्थायी श्रमिक	5,16,120
बीज तथा अनाज	3,534	मजदूरी दैनिक श्रमिक	30,610
गोबर की खाद	15,000	पशुओं के लिये चारा दाना	6,35,737
मौजूदा स्टाक	70,590	पशु चिकित्सा पर खर्च	23,407
		बीज तथा खाद	1,860
		अन्य खर्चा	10,192
	कुल आय = 6,04,193		कुल व्यय = 12,88,633
	—5,50,845	—60% पठन-पाठन एवं शोध पर किया गया विभागीय खर्च	= 7,37,788
कुल वार्षिक लाभ = 53,348 रु० जो पूँजी लेखा में स्थानान्तरित हुआ			कुल योग = 5,50,845 रु०

हस्ताक्षर...............

डेरी तथा कुक्कुट फार्म का अनुमानित आय-व्यय

पशु पालन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वर्गीकरण	वास्तविक आय-व्यय वर्ष 1990–91	अनुमानित आय-व्यय वर्ष 1991–92	अनुमानित आय-व्यय वर्ष 1992–93
(अ) गैर शिक्षण कर्मचारी	1,42,920	2,41,600	2,48,800
(ब) चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी	5,23,060	8,03,300	8,48,200
(स) श्रमिक दैनिक मजदूरी	15,000	15,000	15,000
(द) बीज तथा खाद	1,800	2,000	2,000
(य) चारा-दाना	6,46,200	6,60,000	8,00,000
(र) पशु चिकित्सा	25,500	25,500	25,500
(ल) अन्य खर्चें	9,760	14,000	14,000

नोट—डेरी पशुओं की संख्या–350; कुक्कुटों की संख्या—1000 प्रति वर्ष

वंशावली
(Pedigree Sheet)

फार्म का नाम.......................................

गाय/भैंस.......................................

नाम.........नम्बर.........नस्ल.........नर/मादा.........

जन्म तिथि.............जन्म-स्थान.........................

जन्म के समय भार......किग्रा०..........जन्म के समय दशा......

रंग............अन्य पहचान के चिन्ह............
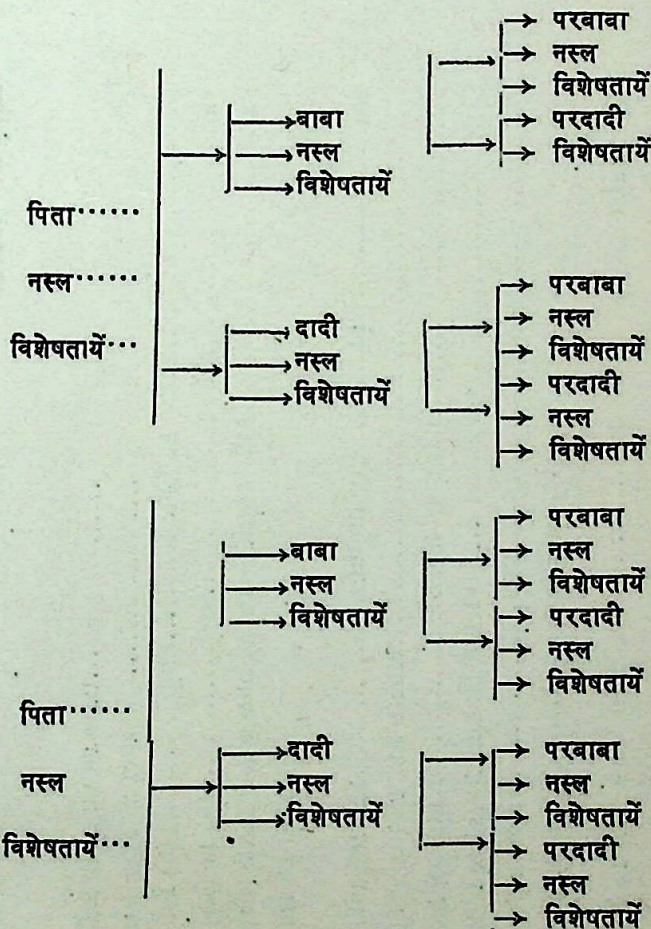
विशेषतायें :

ब्यांत में दूध की मात्रा (किग्रा०)		
ब्यांत में दूध देने के दिन		

यूथ रजिस्टर नं०

फोटो

वृत्त-पत्र
(History Sheet)

फार्म का नाम..

पशु का नाम तथा नम्बर....................नस्ल....................नर/मादा

जन्म तिथि..................जन्म स्थान....................

प्रजनन साँड....................माता..

माता के सर्वोत्तम ब्यांत का उत्पादन............किग्रा०..............................

क्रय की तिथि....................क्रय अधिकारी..............................

विक्रयकर्त्ता का नाम व स्थान..

दिया गया मूल्य............रु० अनुमानित आयु..........वर्ष....................माह

पशु की निकासी—

बिक्री अथवा मृत्यु के समय पशु का अनुमानित मूल्य..........................रु०

बिक्री का स्थान............तिथि............प्राप्त मूल्य......................रु०

मृत्यु स्थान............तिथि............मृत्यु का कारण........................

मृत शरीर का वितरण....................

पृष्ठ तथा तिथि का ब्यौरा..................

हस्ताक्षर फार्म मैनेजर
क्रु० प० उ०

प्रजनन अभिलेख			ब्याने का अभिलेख						उत्पादन अभिलेख						स्थानान्तरण अभिलेख				भार अभिलेख		
तिथि	साँड			बछड़ा									दिन		कहाँ से		कहां को				
	नाम	नस्ल	ब्याने की तिथि	सामान्य अथवा असामान्य प्रसव	लिंग	नाम तथा नं०	जन्म भार (किग्रा०)	विवरण	दूध सुखाने की तिथि	दूध की मात्रा (किग्रा०)	ब्यांत का अधिकतम उत्पादन किग्रा०	300 दिन का उत्पादन (किग्रा०)	दूध देने के दिन	सूखे रहने के दिन	स्थान	तिथि	स्थान	तिथि	भार लेने की तिथि	वास्तविक भार (किग्रा०)	कार्यभारी के हस्ताक्षर

यूथ रजिस्ट्रेशन (Herd Registration)

ढोर रजिस्ट्रेशन द्वारा हमें पशुओं के यथार्थ पूर्वजों एवं दुग्धोत्पादन सम्बन्धी प्रायः सभी आँकड़ों का ज्ञान होकर, उनकी वास्तविकता का पता चलता है। पशु धन के उचित सुधार हेतु हमारी सरकार का ध्यान इस विषय पर भी आकर्षित हुआ कि अच्छे उत्पादक पशुओं का राजकीय स्तर पर अभिलेख रखा जाये। अतः भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (I. C. A. R.) नई दिल्ली में इस कार्य हेतु सभी प्रमुख भारतीय पशु नस्लों के लिये एक केन्द्रीय यूथ रजिस्टर (Central Herd Book) खोला गया। इसमें विभिन्न नस्लों के पशुओं के रजिस्ट्रेशन के लिये निम्न आवश्यकता निर्धारित हुई—

सारणी 33·1—यूथ पंजीकरण हेतु निर्धारित मान्यतायें

क्रम संख्या	पशु की नस्ल	प्रति ब्यांत 300 दिनों में दिये हुये दूध की मात्रा
1.	शाहीवाल	3000 पौंड (1350 किग्रा०)
2.	मुर्रा	3000 पौंड (1350 किग्रा०)
3.	सिन्धी	2500 पौंड (1125 किग्रा०)
4.	हरियाणा	2000 पौंड (900 किग्रा०)
5.	गिर	2000 पौंड (900 किग्रा०)
6.	थारपारकर	2500 पौंड (1125 किग्रा०)
7.	अंगोल	1500 पौंड (675 किग्रा०)
8.	काँकरेज	1500 पौंड (675 किग्रा०)
9.	केनगेयाम	1000 पौंड (450 किग्रा०)

उक्त पशु यदि उसी नस्ल के शुद्ध साँडों से गर्भित कराये जायें तो उनकी सन्तति भी इस यूथ पुस्तिका में पंजीकृत हो सकती हैं। हमारे देश में यह कार्य सर्वप्रथम सन् 1941 में प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष शाहीवाल तथा सिन्धी नस्ल को केन्द्रीय यूथ रजिस्टर में अंकित किया गया। तत्पश्चात् सन् 1942 में हरियाणा तथा मुर्रा, 1945 में गिर तथा काँकरेज, 1946 में थारपारकर और 1949 में अंगोल तथा केनगेयाम आदि नस्लों के पशुओं को भी इस रजिस्टर में अंकित होने के लिये अनुमति प्रदान की गई। पंजीकरण के लिये उपर्युक्त सभी पशु अपनी नस्ल के अनुसार पूर्णतया शुद्ध होने चाहियें, क्योंकि नस्ल के गुणों में यदि कोई दोष मिलता है, तो उपर्युक्त गुण होते हुए भी पशु का पंजीकरण नहीं हो सकता।

पशुओं का पंजीकरण करने के लिये तीन व्यक्तियों की एक समिति होती है। इसमें केन्द्रीय यूथ रजिस्टर का वरिष्ठ अधिकारी, राज्य के पशु-पालन विभाग का

निदेशक (Director) अथवा उसका प्रतिनिधि तथा पशु-प्रजनक स्वयं या कोई अन्य निर्णायक सम्मिलित होता है। पंजीकरण के लिये इस समिति द्वारा पशुओं का भली भाँति निरीक्षण किया जाता है। यदि निरीक्षण में पशु, पंजीकरण के लिये अनिवार्य निर्धारित गुणों में सर्वसम्मति द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, तो उसका पंजीकरण हो जाता है। यदि कोई भी पशुपालक सारणी 33·1 में दी हुई नस्लों के पशु का पंजीकरण कराना चाहे तो उसे पशु का उत्पादन, माँ-बाप का ब्यौरा, शारीरिक वितरण तथा पहचान के चिन्ह लिखकर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, कृषि भवन, नई दिल्ली को एक प्रार्थना पत्र भेजना चाहिये।

परिच्छेद : 34

डेरी पशु तथा बैलों का क्रय करना

(PURCHASE OF DAIRY CATTLE AND BULLOCKS)

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहकर, कृषि से ही अपनी जीविका चलाती है। अतः कृषि-कार्य एवं दूध की प्राप्ति के लिये, हमें पशु पर ही, पूर्णरूपेण निर्भर रहना पड़ता है। यह पशु कैसे, कब और कहाँ से प्राप्त हों, एक बड़ी समस्या है। वैसे तो पशुधन सुधार हेतु हम काफी अग्रसर हो चुके हैं, परन्तु अभी तक पशुओं के क्रय-विक्रय पर कोई आशातीत दृष्टिपात न हो सका है। अतः आज के विकास अभियान के साथ यह परम आवश्यक है कि इस विषय पर भी ठोस कदम उठाये जायें, जिससे कि इच्छुक पशु-प्रजनकों को अपने कार्य में अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलता रहे।

भारत में पशु बाजारों की दशा

हमारे देश में पशुओं का क्रय-विक्रय छोटे-छोटे पशु मेलों तथा पशु बाजारों में होता है। ऐसे मेले छोटे-छोटे कस्बों तथा गाँवों में, अधिकतर सड़कों के किनारे खुले मैदानों अथवा बागों में लगते हैं। इन पशुओं के लिये चारा, पानी की समुचित व्यवस्था तो अलग रही, उनके खड़े होने को छाया तक नहीं मिलती। तालाबों तथा कच्चे कुओं का गन्दा एवं दूषित जल, उन्हें पिलाया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनमें अनेक रोग होने की सम्भावना रहती है। अधिकतर पशुओं के क्रय-विक्रय में दलालों का हाथ रहता है, जिसके परिणामस्वरूप पशु-प्रजनकों को लाभ मिलना तो अलग रहा वह वेचारे उल्टे लुट जाते हैं। पशु-प्रजनकों को भली-भाँति बाजार भाव का भी ज्ञान नहीं होने पाता, अतः कम कीमत पर ही उन्हें अपने पशु निकट के पशु बाजारों में बेचने पड़ते हैं। साथ ही, दूर के अच्छे बाजारों में पशुओं को ले जाने का उनके पास कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार, आये दिन पशु प्रजनकों को अपने पशुओं को क्रय-विक्रय सम्बन्धी उक्त समस्याओं का सामान करना पड़ता है। साथ ही पशु-ग्राहकों को भी अपनी इच्छानुसार मनचाहे पशु नहीं मिल पाते।

कुछ आवश्यक सुझाव

(1) प्राचीन दलालों वाले ढंग को समूल नष्ट करके, सीधा सम्पर्क विधि अथवा नीलाम विक्रय विधि अपनाई जाये। यह विधियाँ सभी उन्नतिशील देशों में अपनाई जा चुकी हैं और इनसे पशु-प्रजनक एवं ग्राहक दोनों को ही आशातीत लाभ भी पहुँचा है।

(2) क्रय-विक्रय के लिये, आधुनिक पशु बाजारों में प्रचलित दोषों का उन्मूलन करके, नियन्त्रित बाजार (Regulated Markets) बनाये जायें। इन बाजारों में क्रय-विक्रय अधिकारियों, तथा पशुओं के लिये ठहरने के स्थान, प्रकाश, पानी तथा चारे की समुचित व्यवस्था, हाट समिति द्वारा की जाये।

(3) पशुओं के भाव नियन्त्रित किये जायें और इनको समाचार-पत्रों में प्रकाशित करके तथा रेडियो द्वारा प्रसारित करके जन-साधारण तक पहुँचाया जाये।

(4) पशुओं के यातायात के लिये समुचित साधन जुटाये जायें जिससे कि इच्छुक विक्रयकर्त्ता अपने पशुओं को दूर के अच्छे-अच्छे बाजारों में भी ले जा सकें।

(5) **सहकारी ढोर प्रजनक समितियाँ** बनाई जायें और इनके अन्तर्गत सहकारिता के आधार पर ही पशुओं का क्रय-विक्रय किया जाये। इससे पशु-प्रजनकों में आपसी द्वेष-भाव समाप्त होकर, पशु धन के अधिक उत्तम विकास की ओर उनका ध्यान आकर्षित होगा।

(6) अच्छा मूल्य प्राप्त करने के लिये पशु-प्रजनकों द्वारा पशुओं के अच्छे अभिलेख, जैसे **सन्तति अभिलेख**, (Progeny Record), **दुग्ध अभिलेख, स्वास्थ्य अभिलेख** आदि रखे जायें इससे ग्राहकों को पशु खरीदते समय पूर्ण सन्तोष होगा और वह उनके लिये अधिकतम मूल्य दे सकेगा।

देश में किया गया कार्य—केन्द्रित ग्राम योजना एवं विकास योजनाओं के अन्तर्गत इस दिशा में कुछ कार्य हो चुका है और आज भी हो रहा है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में राजकीय पशु-पालन विभाग द्वारा सहकारी ढोर प्रजनक समितियाँ बनाने का कार्य काफी दिनों से चल रहा है। भाव नियन्त्रण के लिये प्रत्येक पशु-शल्य-चिकित्सा को अपने क्षेत्र में लगे पशु बाजारों से विभिन्न वर्ग के पशुओं के औसत भाव की एक सूची प्रति माह निदेशक, पशु-पालन विभाग को प्रेपित करनी पड़ती है। पशु बाजारों के विकास हेतु राज्य सरकार विचार कर रही है। उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में निम्न प्रकार उत्तम पशु मिलने का आयोजन भी पूर्णतया सफल है—

जनपद	नस्ल
वाराणसी	गंगा तीरी
मथुरा	हरियाणा (कोसी)
प्रतापगढ़	शाहीवाल
इटावा	मुर्रा तथा भदावरी भैंस

इसी प्रकार देश के अन्य प्रदेशों में भी इस विषय पर अब काफी कार्य हो रहा है।

क्रयकर्त्ता का उद्देश्य और उनकी प्राप्ति—प्रत्येक खरीदार कुछ न कुछ उद्देश्य रखकर ही पशु बाजार जाता है। यह उद्देश्य पशु प्रजनकों के लक्ष्य से मिलते-

जुलते ही रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि विक्रय-कर्त्ता अपने पशु का अधिकाधिक मूल्य चाहता है और क्रय-कर्त्ता उसको कम से कम मूल्य में लेना चाहता है। हमारे देश में क्रय-कर्त्ता का उद्देश्य या तो कृषि कार्य के लिए अच्छे बैल खरीदना या दूध के लिए अनुकूल डेरी पशु लेना होता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसे, उनके गुणों का चयन तथा अवगुणों की छंटनी करने का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। इसके उपरान्त, उक्त बताई बातों को ध्यान में रखकर एक कुशल खरीदार ऐच्छिक पशु खरीदकर पूर्णतया लाभान्वित हो सकता है।

इस प्रकार, सुसंगठित पद्धति के अनुसार निश्चित हाट व्यवस्था द्वारा क्रय-विक्रय करके पशु-पालक अपने व्यापार में लगाई हुई पूंजी के बदले समुचित लाभ उठा सकता है।

डेरी फार्मों पर रखे गये पशुओं की नीलामी तथा बिक्री

देश तथा प्रदेश के कुछ सरकारी डेरी फार्मों पर विशुद्ध नस्ल के पशु रखे जाते हैं। इस सम्बन्ध में N. D. R. I. (राष्ट्रीय गव्य अनुसंधान संस्थान) करनाल; I. V. R. I. (भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान) इज्जतनगर; स्टेट लाइव स्टाक फार्म, चक गंजरिया, लखनऊ; पशु-धन प्रक्षेत्र पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय; पशुधन प्रक्षेत्र, हिसार (हरियाणा); पशुधन प्रक्षेत्र, आराजी लाइन्स, वाराणसी तथा लाइव-स्टाक फार्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का नाम उल्लेखनीय है। इन फार्मों से दो प्रकार से पशु प्राप्त किये जा सकते हैं। एक तो नीलामी द्वारा और दूसरे चुनींदा पशुओं का क्रय करके। ऐसे प्रत्येक फार्म पर वर्ष में एक या दो बार छंटनी किए हुए पशुओं का नीलाम किया जाता है। नीलाम की तिथि दैनिक समाचार-पत्रों में पहले से ही घोषित कर दी जाती है। निश्चित तिथि पर आप वहाँ पहुँचकर नीलामी में बोली बोलकर मनवांछित पशु खरीद सकते हैं।

दूसरी विधि में जिन फार्मों पर प्रजनन के लिये अच्छी नस्ल के पशु पैदा किये जाते हैं। उनका वंशावली अभिलेख तथा अन्य रिकार्ड रखे जाते हैं। बिक्री के लिए ऐसे पशुओं की फार्म पर प्रतिवर्ष सूची तैयार रहती है और उनका मूल्य भी निर्धारित रहता है। अतः उक्त अभिलेख देखकर अपनी इच्छानुसार पशुओं का चयन करके निर्धारित मूल्य पर पशु खरीद सकते हैं।

आजकल बढ़ती हुई गुण्डागर्दी के कारण कभी-कभी कुछ अवांछित लोग अच्छे पशु-पालकों को नीलामी में बोली ही नहीं बोलने देते। अतः इस समस्या पर काबू पाने का आसान तरीका यह है कि फार्म पर एक कमेटी द्वारा बेचे जाने वाले पशुओं का विक्रय मूल्य पहले से ही निर्धारित कर लिया जाए और जो खरीदार पहले आये उसी के हाथ पशु बेच दिया जाये।

अच्छे पशुओं के क्रय के लिये आर्थिक सहायता

बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने के बाद से अनेक बैंकों ने अपनी ग्रामीण शाखायें

खोलकर कृषि तथा पशु-पालन के लिये ऋण देने की समुचित व्यवस्था की है। देश के विभिन्न भागों में बैंकों की "कृषि विकास शाखायें" (Agricultural Development Branches) खोली जा चुकी हैं। इनमें कृषि तथा पशु-पालन विकास अधिकारियों से सम्पर्क करके आप अच्छे पशु खरीदने हेतु सही परामर्श तथा ऋण ले सकते हैं। बैंक से ऋण लेने के लिए किसी भी बिचौलिए अथवा कर्मचारी को कमीशन या रिश्वत नहीं देनी पड़ती।

पशु मेला

एशिया का सबसे बड़ा सोनपुर का पशु मेला—यह मेला प्रतिवर्ष हरिहर क्षेत्र में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर 25–30 दिनों के लिये आयोजित किया जाता है। इसमें बड़ी संख्या में गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, ऊँट, हाथी, भेड़-बकरियों की खरीद एवं बिक्री होती है। मेले में सरकार की ओर से व्यापारियों तथा खरीदारों के लिए सुविधा एवं रोशनी, पानी तथा पशुओं की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की जाती है।

इसी प्रकार के छोटे-छोटे स्थानीय मेले ददरी (भृगु क्षेत्र) वलिया, चाचकपुर मौनी बाबा का धाम गाजीपुर, मछली शहर जौनपुर, कृषि विश्वविद्यालय पंतनगर तथा अनेक क्षेत्रों में लगाये जाते हैं। यहाँ से पशु-पालक एवं कृषक अपनी इच्छानुसार पशुओं का क्रय-विक्रय तो करते ही हैं; साथ ही यहाँ आयोजित विचार गोष्ठियों द्वारा कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी हासिल कर अपनी समस्याओं का भी समाधान कर सकते हैं।

पशुचिकित्सा विज्ञान

VETERINARY SCIENCE

परिच्छेद : 35

गाय और घोड़े की प्रारम्भिक शरीर रचना तथा क्रिया विज्ञान

(ELEMENTARY ANATOMY AND PHYSIOLOGY OF COW AND HORSE)

विषय परिचय—जीव विज्ञान की वह शाखा जो पशुओं के रोग, उनकी चिकित्सा तथा रोकथाम से सम्बन्धित है, पशु चिकित्सा विज्ञान (veterinary science) कहलाती है। उसके अन्तर्गत पशु को स्वस्थ रखने वाले ढंग; जैसे—नियमित एवं स्वच्छ आहार, साफ-सुथरा रहन-सहन तथा उनका सुप्रवन्ध भी आता है।

पशु-चिकित्सा विज्ञान सीखने के लिये एक विद्यार्थी को शरीर के विभिन्न भागों की रचना तथा उनकी कार्य-प्रणाली के बारे में समुचित ज्ञान होना परम आवश्यक है। अतः **पशु-चिकित्सा विज्ञान की वह शाखा है, जो शरीर रचना का बोध कराती है, शरीर रचना विज्ञान (anatomy) कहलाती है।** इसके अन्तर्गत हमें हड्डियों की वनावट एवं उनका पारस्परिक संयोजन, माँस-पेशियों, शिरा व धमनी, नसों, तन्तुओं तथा शरीर के विभिन्न भागों की रचना का वर्णन मिलता है। इसके दूसरी ओर **पशु-चिकित्सा विज्ञान की वह शाखा, जो हमें शरीर के विभिन्न भागों की कार्य-प्रणाली का बोध कराये, शरीर क्रिया विज्ञान (physiology) कहलाती है।** पशु-चिकित्सा-विज्ञान की तीसरी शाखा, जो पशुओं को विभिन्न बीमारियों के बारे में पूर्ण ज्ञान कराये, रोग विज्ञान (pathology) कहलाती है।

शरीर की बाह्य रचना (External anatomy of the body)

पशु के शरीर को निम्नलिखित पाँच मुख्य भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. सिर (head), 2. ग्रीवा (neck), 3. धड़ (trunk), 4. पूँछ (tail), 5. पुट्ठे (quarters)।

सिर के भाग

1. सींग (horns) घोड़ों में अनुपस्थित, 2. चाँद (poll), 3. मस्तक (forehead), 4. चेहरा (face), 5. नासादण्ड (bridge of nose), 6. थूथन (muzzle), 7. ऊपरी होंठ (muffle), 8. होंठ (lips), 9. नथुना (nostrils), 10. मुंह (mouth), 11. गाल (cheek), 12. जबड़े (Jaws), 13. जबड़े का

कोण (angle of the jaw) 14. ठुड्डी (chin), 15. ठुड्डी गर्त (chin groove), 16. भालकेश (forelock) गो पशुओं में अनुपस्थित, 17. आननकिरीट (facial crest), 18. आँख (eye) : भौं (eye brow), पलक (eye lid), पक्ष्म (eye lashes), नेत्रक गोलक (eye ball), कार्निआ (cornea), 19. कर्ण (ear) : कान का आधार (base), कर्ण सिरा (tip), कर्ण शिरायें (ear veins) ।

ग्रीवा के भाग

1. ग्रीवा किरीट (crest), 2. ग्रीवा स्तल (base of the neck), 3. गलगर्त (juglar groove), 4. गलकम्बल (dewlap), (5) अयाल (mane) गो पशुओं में अनुपस्थित, 6. गला (throat) ।
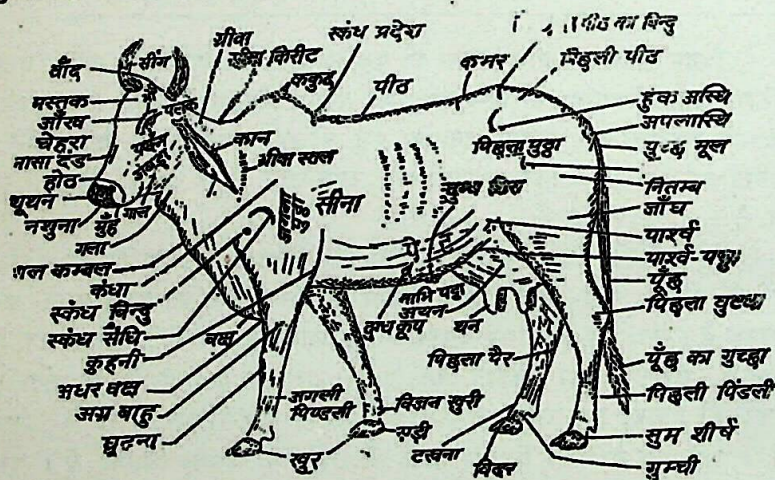
चित्र 35·1—गाय के शरीर की बाह्य रचना
(External anatomy of the Cow)

धड़ के भाग

1. ककुद (hump), 2. स्कन्ध प्रदेश (withers) 3. पीठ (back), 4. कमर (loins), 5. पिछली पीठ (croup), पिछली पीठ का विन्दु (point of croup), 6. तल पेट (belly), 7. पसली (ribs), 8. पार्श्व (flank), 9. पार्श्व पट्टा (flap of flank), 10. हुक अस्थि (गाय में), 11. अपलास्थि (pinbone) (गाय में) 12. नाभि पट्टा (navel flap), 13. अधरवक्ष (brisket), 14. वक्ष (breast), 15. सीना (chest), 16. हृत्-घेरा (heart girth), 17. गुदा (anus) ।

18. मादा में—अयन (udder)—थन (teats), थन का आधार (base), थन सिरा (tip), थन-छिद्र (teat meatus), थन-नली (teat canal), दुग्धकूपक (milk well), दुग्धशिरा (milk vein), नाम अलंकार (escutcheon) ।

19. भग (vulva), भगओष्ठ (lips of the vulva), भगशिश्न (clitoris) ।

20. नर में—अण्डकोष (testis), वृषणकोष (scrotum), लिंग (penis), शिशनमुण्ड (glans penis), मुतान (sheath)।

पूँछ के भाग :

1. पुच्छ मूल (root of the tail), 2. पुच्छ आधार, 3. पुच्छ धड़, 4. पुच्छ सिरा, 5. पुच्छ गुच्छा।

पुट्ठे :

1. कन्धा
2. स्कन्ध सन्धि (shoulder joint)
3. स्कन्ध बिन्दु (point of shoulder)
4. बाहु (arm)
5. अग्रबाहु (fore-arm)
6. कुहनी (elbow)
7. कुहनी बिन्दु (Point of elbow)
8. कक्ष (axilla)

पिछला पुट्ठा
(Hind Quarter)
↓
पिछले पैर
↓

1. नितम्ब (hip)
2. नितम्ब सन्धि (hip joint)
3. ऊपरी जंघा (upper thigh)
4. निचली जंघा (lower thigh)
5. अन्तर्जंघा (groin)
6. स्टेफिल सन्धि (stifle-joint)
7. पिछला घुटना (hock)
8. पिछले घुटने का बिन्दु (Point of hock)
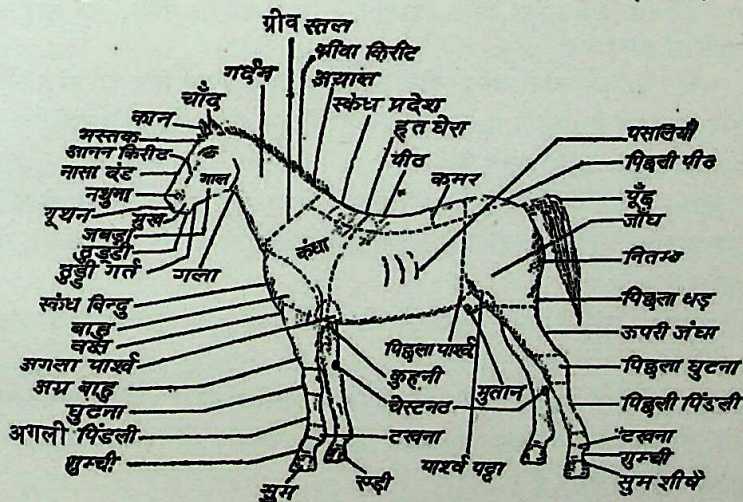
चित्र 35·2—घोड़े के शरीर की बाह्य रचना
(External anatomy of the horse)

9. चेस्टनट (गो पशुओं में अनुपस्थिति)
10. घुटना (knee)
11. अगली पिंडली (fore cannon)

9. घुटना सन्धि (hock joint)
10. चेस्टनट (केवल घोड़ों में)
11. पिछली पिंडली (hind cannon)

विजन खुरी (dew claws), घोड़ों में अनुपस्थित
टखना और टखना सन्धि
(fetlock and fet lock joint)
गुम्ची और गुम्ची सन्धि
(Pastern and pastern joint)
सुमशीर्ष और सुमशीर्ष सन्धि
(coronet and coronet joint)
सुम या खुर (hoof)
विदर (cleft), घोड़ों में अनुपस्थित

उक्त भागों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

सींग (Horns)—गो पशुओं के सिर पर दो सींग होते हैं। सींगों पर सिर से जुड़ा रहने वाला भाग आधार तथा ऊपर की नोक सिरा (tip) कहलाती है। आधार के ऊपर की ओर दो वर्ष की आयु में सींगों का पहला छल्ला बनता है। तत्पश्चात् प्रतिवर्ष एक छल्ला पड़ता जाता है। इन्हीं छल्लों से पशु की आयु का अनुमान किया जाता है।

चाँद (Poll)—कानों अथवा दोनों सींगों के मध्य स्थित सिर का सबसे ऊँचा भाग चाँद कहलाता है। घोड़ों में यहाँ से एक बालों का गुच्छा लटका दिखाई देता है, इसे **भालकेश** (fore lock) कहते हैं।

कान—सींगों के नीचे दोनों ओर पशुओं के कान होते हैं। सींगों की भाँति इनमें भी आधार और सिरा होता है। इसी सिरे से पशुओं में रक्त परीक्षण हेतु खून लिया जाता है।

मस्तक—चाँद से लेकर नीचे की ओर आँखों की सतह तक का भाग मस्तक कहलाता है।

नेत्र—मस्तक के दोनों ओर चेहरे पर दो आँखें होती हैं। इसके अन्दर वाले कोण को **भीतरी कैन्थस** (inner canthus) तथा वाहरी कोण को **बाह्य कैन्थस** (outer canthus) कहते हैं।

चेहरा—आँखों की सतह से नीचे की ओर नथुनों के बीच तक का भाग चेहरा होता है।

थूथन तथा ऊपरी होंठ (Muzzle and muffle)—इस विषय में दो विभिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार घोड़ों में ऊपरी होंठ का भाग **मजिल** (muzzle) कहलाता है तथा दूसरे मत के अनुसार नथुने, ठुड्डी, मुँह तथा ठुड्डी गर्त इसमें सम्मिलित

हैं। गो पशुओं में नथुनों एवं ऊपरी होंठ के मध्य स्थित काला भाग **मफिल** (muffle) कहलाता है।

नथुने—नाक के दोनों नासारन्ध्र नथुने कहलाते हैं। घोड़ों में नथुनों की अन्दरूनी पर्त में एक छोटा सा छिद्र दिखाई पड़ता है। यह छिद्र आँख के निचले पलक से प्रारम्भ होने वाली एक नलिका का वाह्य द्वार है। इस नलिका को **नासाश्रु वाहिनी** (nasolacrimal duct) कहते हैं और इससे आँसू बाहर निकलते हैं। इसके अतिरिक्त, घोड़ों की नाक में यदि ऊपर की ओर एक किनारे से अंगुली डाली जाए, तो वह एक अन्धकोष्ठ (blind pouch) में प्रवेश पाती है। इसे **झूठा नथुना** (false nostril) कहते हैं।

जबड़ा—ऊपर और नीचे के दाँतों वाले प्रदेश जबड़े कहलाते हैं। गले के सामने निचले जबड़े की भुजाओं के मध्य वाला भाग जावल (jowl) होता है। जावल के पीछे के भाग को गला कहते हैं।

आननकिरीट (Facial crest)—घोड़ों में आँख के नीचे गण्ड-डांडा (zygomatic ridge) वाला भाग **आननकिरीट** कहलाता है।

ग्रीवाकिरीट (Crest of the neck)—गर्दन का ऊपरी भाग, जहाँ से घोड़ों में लम्बे-लम्बे बाल उगते हैं, ग्रीवाकिरीट कहलाता है।

अयाल (Mane)—घोड़ों में ग्रीवाकिरीट के ऊपर निकले हुए लम्बे बाल अयाल कहलाते हैं। गो-पशुओं में अयाल नहीं होते।

ग्रीवास्तल (Base of the neck)—ग्रीवा का धड़ से मिलने वाला भाग ग्रीवास्तल है।

गलगर्त (Juglar groove)—जबड़े के कोण से स्कंध के सामने तक ग्रीवा के निचले भाग में दौड़ा हुआ एक लम्बा गर्त, गलगर्त कहलाता है। इसमें **जुगलर शिरा** (Juglar vein) स्थित रहती है, जिसमें अन्तः शिरा इन्जेक्शन (intravenous injection) दिया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर इसी शिरा से पशु का रक्त भी लिया जा सकता है।

श्वांस नली (Trachea)—गले से प्रारम्भ होकर फेफड़ों तक जाने वाली, दोनों ओर के गलगर्तों के मध्य स्थित कार्टिलेज की बनी यह एक लम्बी नली है।

गलकम्बल (Dewlap)—गो-पशुओं में ग्रीवा के निचले भाग में गले से लेकर अधर वक्ष (brisket) तक लटकने वाली मसीली झालर को गलकम्बल कहते हैं। भैंसों तथा घोड़ों में यह नहीं होता।

ककुद (Hump)—गो-पशुओं ग्रीवाकिरीट तथा स्कन्ध-प्रदेश के मध्य यह उठा हुआ सबसे ऊँचा मसीला भाग है, जो घोड़ों, विदेशी नस्ल के गो-पशुओं तथा भैंसों में नहीं होता।

स्कन्ध प्रदेश (Withers)—गर्दन के धड़ से मिलने के स्थान पर यह धड़ का सबसे ऊँचा ऊपरी भाग है, जो आगे की ओर ग्रीवाकिरीट तथा पीछे की ओर पीठ से

मिला रहता है। घोड़ों में यह चौथे तथा पाँचवें **वक्षीय-कशेरुकाओं** (thoracic vertebrae) के **कशेरुका-कन्टकों** (spinous processes) से मिलकर बनता है।

पीठ—स्कन्ध प्रदेश से लेकर अन्तिम पसली तक का भाग पीठ कहलाता है। घोड़ों में इसी पर जीन अथवा काँठी रखी जाती है।

कमर (Loin)--पीठ से लेकर नितम्ब विन्दु (point of hip) की सतह तक कटि-कशेरुका (lumber vertebrae) वाला भाग कमर होता है।

पिछली पीठ (Croup)—कमर तथा पुच्छमूल (dock) के मध्य स्थित त्रिक्-कशेरुका (sacral vertebrae) वाला भाग, पिछली पीठ होता है। इसमें इलियम तथा सैक्रम के मिलने से बना हुआ सबसे ऊँचा भाग, **पिछली पीठ का बिन्दु** (point of croup) कहलाता है।

पूँछ—गो-पशुओं में पूँछ के पुच्छमूल (dock), पुच्छ धड़, पूँछ का गुच्छा तथा पुच्छ सिरा नामक चार भाग होते हैं। पूँछ में नीचे की ओर बालों के गुच्छे वाला भाग पूँछ का गुच्छा कहलाता है। घोड़ों में पूरी पूँछ पर बाल होते हैं।

नितम्ब (Buttock)—गुदा (anus) के दोनों ओर स्थित स्टेफिल सन्धि (stifle joint) के समतल तक बढ़ा हुआ मसीला भाग नितम्ब है।

नितम्ब बिन्दु तथा अपलास्थि (Point of buttock and pin bones)—यह साइऐटिक ट्यूवर (sciatic tuber) द्वारा बनाया हुआ पुच्छमूल के नीचे उठा हुआ भाग है। गायों में यहाँ पर **श्रोणि मेखला** (Pelvic girdle) के अन्तिम सिरों को **अपलास्थि** (pin bones) कहते हैं।

वक्ष (Breast)—ग्रीवा का निचला भाग, जो धड़ से मिलकर अगली टाँगों के सामने स्थित रहता है, वक्ष कहलाता है।

अधरवक्ष (Brisket)—वक्ष के पीछे दोनों ओर के अगले पैरों के मध्य का भाग अधरवक्ष होता है।

स्कन्ध (Shoulder)—स्कैप्युला (scapula) हड्डी के ऊपर का मसीला भाग स्कन्ध कहलाता है।

स्कन्ध बिन्दु (Point of shoulder)—यह ह्यूमरस (humerus) हड्डी की ऊपरी नोंक से बना हुआ, उठा भाग है।

स्कन्ध-सन्धि (Shoulder Joint)—स्कैप्युला के नीचले तथा ह्यूमरस के ऊपरी सिरे के मिलने से जो जोड़ बनता है, उसे स्कन्ध-सन्धि कहते हैं।

घेरा (Girth)—कुहनी विन्दु के पीछे से सीने के चारों ओर की परिधि घेरा कहलाती है। पशु का हृत घेरा (heart girth) यहीं नापा जाता है।

सीना (Chest)—स्कन्ध के पीछे पसलियों वाला भाग सीना होता है।

पार्श्व (Flank)—स्टेफिल तथा श्रोणि बिन्दु (point of hip) के सामने वाला खाली क्षेत्र अथवा अन्तिम पसली और पिछले धड़ के मध्य स्थित भाग पार्श्व है, इसके निचले किनारे पर खाल का एक छोटा सा लटकता हुआ थैलीनुमा भाग पार्श्व पट्टा (flap of the flank) कहलाता है।
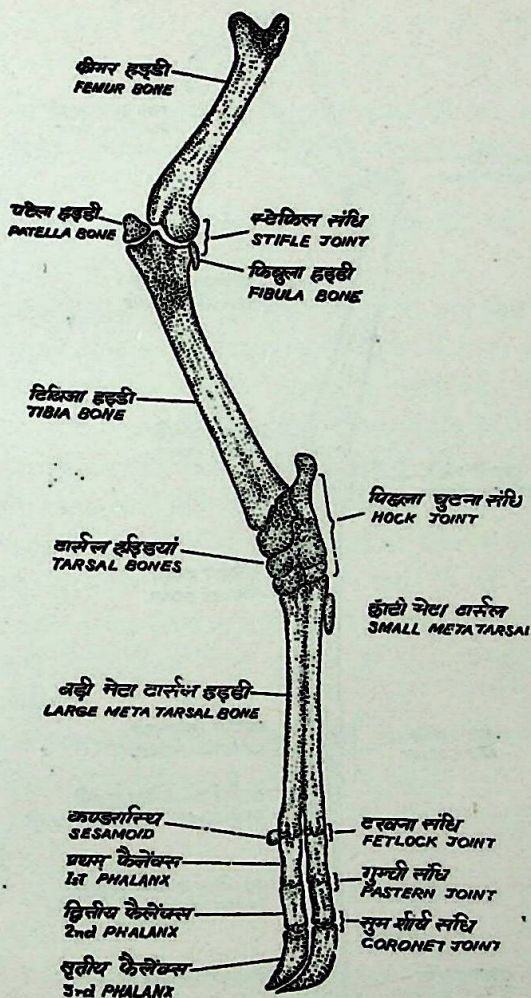
चित्र 35·3—गो पशु के पिछले पैर की हड्डियाँ तथा जोड़

(Bones and joints of the hind limb of cattle)
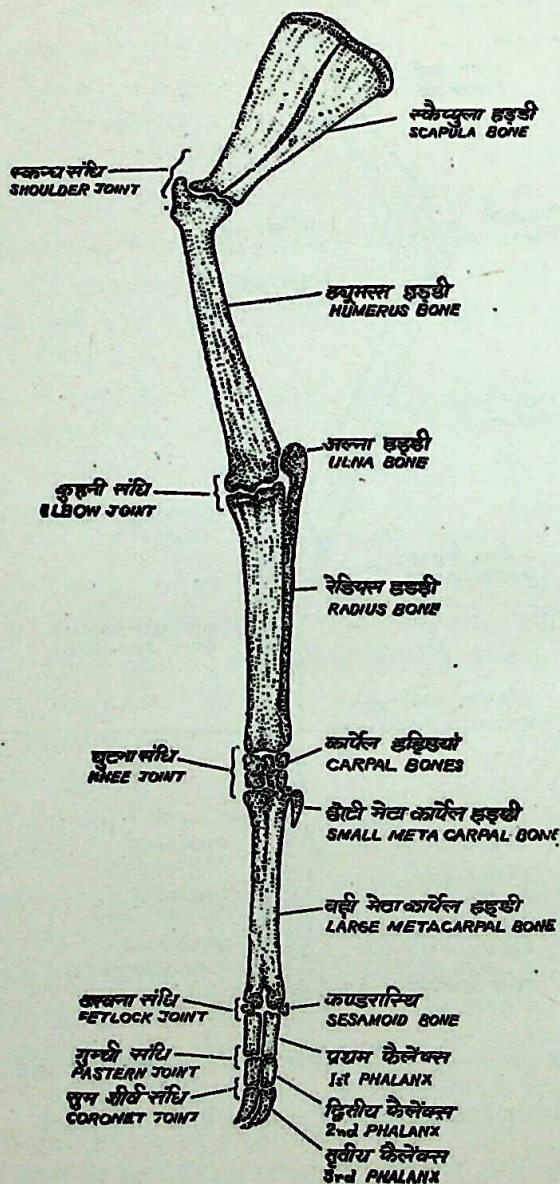
चित्र 35·4—गो पशु के अगले पैर की हड्डियाँ तथा जोड़

(Bones and joints of the fore limb of cattle)

श्रोणि बिन्दु (Point of hip)—यह इलियम (ilium) हड्डी का बाह्य कोण है, जो अन्तिम पसली से लगभग 10 सेमी॰ (4 इन्च) पीछे उठा हुआ सा दिखाई पड़ता है। गायों में इन्हें हुक अस्थि (hook bones) कहते हैं।

श्रोणि सन्धि (Hip joint)—फीमर (femer) के सिर तथा श्रोणि मेखला के ऐसिटेबुलम (acetabulum) के मध्य जो सन्धि बनती है, उसे श्रोणि-सन्धि कहते हैं।

तलपेट (Belly)—पार्श्व के आगे तथा पेट का निचला भाग तलपेट कहलाता है।

ढोल (Barrel)—तलपेट तथा पार्श्व वाला भाग मिलकर ढोल बनाते हैं।

अयन (Udder)—गायों में पिछली टाँगों के मध्य तलपेट के नीचे लटकता हुआ मसीला भाग अयन होता है। इसमें चार थन होते हैं। थन का वह भाग जिसके द्वारा वे अयन पर लगे रहते हैं, आधार तथा अग्रभाग सिर कहलाता है। थन की पूरी लम्बाई में थन नली होती है, जो थन छिद्र के रूप में सिरे पर खुलती है। इसी नली में थन साइफन (teat syphon) डालकर थनैला रोग (matitis) से पीड़ित गाय का दूध निकाला जाता है तथा दवाओं का अन्त:-स्तनीय (intra mammary) इन्जेक्शन दिया जाता है। अयन के ऊपर दुग्ध शिरायें (milk veins) एवं दुग्ध कूपक (milk wells) स्थित रहते हैं। टाँगों से पीछे पूँछ की ओर अयन का जुड़ा हुआ चपटी धारी वाला भाग नामअलंकार (escutcheon or milk mirror) कहलाता है।

स्टेफिल सन्धि (Stifle joint)—यह पार्श्व के निचले भाग के पीछे फीमर, पटेला तथा टिबिया अस्थियों से बना हुआ जोड़ है।

जंघा—स्टेफिल से पीछे तथा नीचे की ओर पिछले घुटने तक का मसीला भाग जांघ होता है।

ऊपरी जंघा (Gaskin)—यह जाँघ के निचले भाग पर बाहर की ओर उठा हुआ मसीला भाग है।

अन्तर्जंघा (Groin)—जाँघ की अन्दरुनी सतह अन्तर्जंघा कहलाती है।

एकिलिस टेंडन या हैमस्ट्रिंग (Achilles tendon or hamstring)—यह जाँघ के निचले मसीले भाग से पिछले घुटने के बिन्दु (point of hock) तक जाने वाला एक सुदृढ़ टेंडन है।

पिछले घुटने का बिन्दु (Point of hock)—कैलकेनियस (calcaneus) हड्डी द्वारा बनाया हुआ, यह पिछले घुटने का सबसे ऊपरी नुकीला भाग है।

पिछला घुटना (Hock joint)—टिबिया, टार्सस तथा मेटाटार्सस हड्डियों द्वारा बनाया हुआ, यह एक संयुक्त जोड़ है।

पिछले टेंडन (Back tendon)—गहरे तथा ऊपरी फ्लेक्सर टेंडन (flexor-tendon), पिछले टेंडन कहलाते हैं।

पिडली पिंडली (Hind Cannon)—यह पिछले घुटने तथा टखने का मध्य मेटा-टार्सस हड्डी वाला भाग है।

टखना (Fet lock)—प्रथम फ्लेंक्स, उसकी कण्डरास्थि (sesamoid) तथा मेटा-टार्सस हड्डी के निचले सिरे के मिलने से जो जोड़ बनता है, उसे टखना कहते हैं।

अर्गट (Ergot)—यह टखने के पीछे वालों का एक किण (callosity) है, जो घोड़ों में ही होती है। गोपशुओं में यह भाग अनुपस्थित रहता है।

गुम्ची तथा गुम्ची सन्धि (Pastern and Pastern joint)—टखने के नीचे तथा सुमशीर्ष के ऊपर प्रथम फ्लेंक्स और थोड़ा सा द्वितीय फ्लेंक्स वाला भाग गुम्ची है। इन दोनों के मिलने से जो जोड़ बनता है, इसे गुम्ची सन्धि कहते हैं।

सुमशीर्ष (Coronet)—यह सुम के चारों ओर वाला कुछ द्वितीय फ्लेंक्स का निचला भाग है। तृतीय फ्लेंक्स, उसकी कण्डरास्थि (sesamoid) तथा द्वितीय फ्लेंक्स के निचले सिरे के मध्य बनने वाला जोड़ सुमशीर्ष सन्धि है।

सुम (Hoof)—तृतीय फ्लेंक्स का शृंगीय संरचना (horny structure) वाला काला भाग सुम या खुर कहलाता है। गायों में यह दो टुकड़ों में विभाजित रहता है। इन दोनों टुकड़ों के मध्य वाला भाग, विदर (cleft) कहलाता है। खुर के पीछे तथा ऊपर दोनों ओर उठा हुआ भाग, ऐड़ी का वल्ब (bulb of heel) तथा गुम्ची सन्धि का गड्ढादार भाग, ऐड़ी गर्त (hallow of heel) होता है। खुर का अगला भाग पादांगुली (toe), पिछला भाग ऐड़ी, ऊपर का भाग दीवार (wall) तथा नीचे का भाग तली (sole) कहलाता है। घोड़ों में विदर नहीं होता।

विजन खुरी (Dew claws)—गो पशुओं में टखने के पीछे प्रत्येक पैर में दो छोटी-छोटी सींगयुक्त रचनायें (horny structures) हैं, जिन्हें विजन खुरी कहते हैं। घोड़ों में यह नहीं होतीं।

भुजा या बाहु—यह ह्यूमरस हड्डी के ऊपर का मसीला भाग है।

कुहनी (Elbow)—यह अल्ना अस्थि का कूर्पर प्रवर्ध (olecranon process) वाला भाग है।

कुहनी सन्धि (Elbow joint)—ह्यूमरस के निचले तथा रेडियो-अल्ना के ऊपरी सिरे के मिलने से जो जोड़ बनता है, उसे कुहनी सन्धि कहते हैं।

कुहनी बिन्दु (Point of elbow)–यह कुहनी सन्धि के पीछे कुछ ऊपर निकला हुआ, अल्ना अस्थि के कूर्पर प्रवर्ध का ऊपरी भाग है।

कक्ष (Axilla)—कुहनी का अन्दरुनी भाग कक्ष कहलाता है।

अग्रबाहु (Fore arm)—कुहनी और घुटने के मध्य रेडियो-अल्ना वाला भाग अग्रबाहु है।

घुटना सन्धि (Knee joint)—यह रेडियस, कार्पस तथा मेटाकार्पस अस्थियों द्वारा बना हुआ, एक संयुक्त जोड़ है।

चेस्टन—अगले पैरों में अन्दर की ओर घुटना सन्धि के ऊपर तथा पिछले पैरों में अन्दर की ओर पिछले घुटने के नीचे स्थित यह श्रृंगीय संरचनायें (horny structures) हैं। ये बहुत ही संवेदनशील (senstitive) होती हैं, अतः इन्हें दबाने से घोड़ा पैर ऊपर उठाया है। गो-पशुओं में यह अनुपस्थित रहती हैं।

अगली पिण्डली (Fore cannon)—घुटना और टखना के बीच मेटाकार्पस हड्डी वाला भाग, अगली पिण्डली कहलाता है।

शरीर की बाह्य रचना का क्रिया-विज्ञान से सम्बन्ध

(Relation of External Anatomy with Physiology)

(1) आँखें चमकीली, कान खड़े तथा चुस्त शरीर, इस तथ्य को प्रदर्शित करते हैं कि पशु अधिक उत्पादक, अच्छा रक्त संचारण वाला एवं अन्य शारीरिक क्रियाओं भली-भाँति सम्पन्न करने वाला है।

(2) चौड़ी थूथन, विस्तृत गाल तथा सुदृढ़ जबड़ा, पशु की खूब चबा-चबा कर अधिक खाने की क्षमता और अधिक उत्पादन का द्योतक है।

(3) बड़े और खुले नथुने पशु की अच्छी श्वास-प्रश्वास क्रिया, अधिक उत्पादन एवं अच्छे उपापचयन (metabolism) को प्रकट करते हैं।

(4) छोटे, हल्के तथा गुट्ठल सींग पशुओं में वाँछनीय हैं, क्योंकि इनसे पशु को आराम मिलता है और साथ ही परिचारक (attendant) को चोट आदि लगने का भय कम रहता है।

(5) छोटी सुदृढ़ ग्रीवा एवं मध्यम गलकम्वल (dewlap) तथा ककुद (hump) पशु की अच्छी कार्यक्षमता का प्रतीक है।

(6) सीधी सुदृढ़ पीठ तथा कमर पशु के अच्छे आन्तरिक अंगों एवं उनकी अच्छी कार्य-क्षमता का द्योतक है।

(7) समतल पिछली पीठ, पशु के अयन (udder) की अच्छी जुड़न एवं सुविकसित थन उसकी उत्पादन क्षमता प्रदर्शित करते हैं।

(8) गाड़ी खींचने वाले बैलों तथा घोड़ों में पिछली पीठ कुछ ढलवाँ वांछनीय है।

(9) चौड़ा और गहरा सीना तथा दूर-दूर कंधे, पशु में अधिक वक्षीय स्थान, बड़ा दिल तथा फेफड़े, उत्तम श्वांस क्रिया एवं अधिक उत्पादन का प्रतीक हैं।

(10) चौड़ा तथा उभरा हुआ तलपेट एवं बड़ी-बड़ी पसलियाँ पशु के शरीर में काफी स्थान, अधिक चारा खाने की क्षमता, बड़ा शिशु जन्मने एवं अधिकतम उत्पादन को प्रदर्शित करती हैं।

(11) चिकना तथा मुलायम नाम अलंकार (escutcheon) पशु के अयन में अच्छे रक्त संचरण एवं अधिक दुग्धोत्पादन को प्रकट करता है।

(12) बड़ा, मुलायम, लचीला, सम थनोंदार तथा ऊपरी हुई टेढ़ी-मेढ़ी शिराओं वाला अयन, पशु में अधिक रक्त संचरण एवं दुग्धोत्पादन की क्षमता को प्रदर्शित करता है।

(13) पशु के लम्बे पैर, उसकी अधिक कार्य-क्षमता का प्रतीक है। दौड़ने वाले घोड़ों में ऐसे पैर वांछनीय है।

(14) अच्छी अस्थियाँ, साफ सन्धियाँ, पतली एवं ढीली त्वचा, मुलायम वाल मोटे न होने वाले दुधारू तथा अधिक कार्य करने वाले पशुओं में वाँछनीय हैं। यह गुण अच्छे रक्त संचरण एवं अधिक उत्पादन का द्योतक हैं।

(14) सीधे, सुदृढ़ पैर तथा मजवूत खुर और गुम्ची (pastern) पशु की अच्छी कार्य-क्षमता तथा साँडों में अच्छी प्रजनन क्षमता का प्रतीक है। दौड़ने वाले घोड़ों में ऐसे ही गुण होने चाहियें।

(16) चुस्त मुतान और खिंचा हुआ मुलायम वृषणकोप (scrotum) साँड की उत्तम प्रजनन-क्षमता का प्रतीक है।

पशु के शरीर की आन्तरिक रचना तथा क्रिया-विज्ञान से उसका सम्वन्ध (Internal Anatomy and its Relation with Physiology)

पशु की आन्तरिक रचना को उसके कार्यों के अनुसार निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. पेशी तन्त्र (Muscular System)
2. तन्त्रिका तन्त्र (Nervous System)
3. श्वांस तन्त्र (Respiratory System)
4. रुधिर वाहिनी तन्त्र (Blood Vascular System)
5. पाचन तन्त्र (Digestive System)
6. उत्सर्जन तन्त्र (Excretory System)
7. जनन तन्त्र (Reproductive System)
8. स्तनीय तन्त्र (Mammary System)
9. अन्तःस्रावी तन्त्र (Endocrine System)
10. कंकाल तन्त्र (Skeleton System)

ग्रीवा के पीछे तथा पेट के नीचे वक्ष (thorax) और अदर (abdomen) का भाग होता है। वक्षीय-गुहा (thoracic cavity) में दिल तथा फेफड़े और उदर-गुहा (abdominal cavity) में पाचन तथा उत्सर्जन अंग स्थित रहते हैं। वक्ष और उदर एक साथ मिलकर अन्तरांग (viscera) कहलाते हैं।

अपने-अपने नाम के अनुसार ही इन सभी तन्त्रों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं।

पेशी तन्त्र—इसके अन्तर्गत शरीर की माँस-पेशियाँ तथा टेंडन आते हैं। इनका मुख्य कार्य शरीर का मसीला भाग बनाना है।

तन्त्रिका तन्त्र—इसके अन्तर्गत शरीर की सभी तन्त्रिकायें (nerves) आती हैं जिनका मुख्य कार्य शरीर की विभिन्न सूचनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाना तथा वहाँ से दिये गये आदेशों को शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचाकर, उस पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण रखना है।

श्वांस तन्त्र—इसके अन्तर्गत श्वांस नली तथा फेफड़े आते हैं, जिनका मुख्य कार्य शरीर को स्वच्छ वायु प्रदान करना तथा दूषित वायु को बाहर निकालना है।

रुधिर वाहिनी तन्त्र—दिल, शिरायें तथा धमनियाँ मिलकर रुधिर वाहिनी तन्त्र बनाते हैं। इस तन्त्र का मुख्य कार्य शरीर के विभिन्न भागों में उनकी आवश्यकतानुसार रक्त संचार करना है। दिल, रक्त का एक पम्पिग स्टेशन है। यहाँ से धमनियों द्वारा ऑक्सीजन युक्त रक्त शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचाया जाता है तथा शिरायें, इस प्रकार प्रयोग में लाये गये रक्त को दिल में पुनः वापस लाती हैं। फेफड़ों में रक्त का शुद्धीकरण होता है।
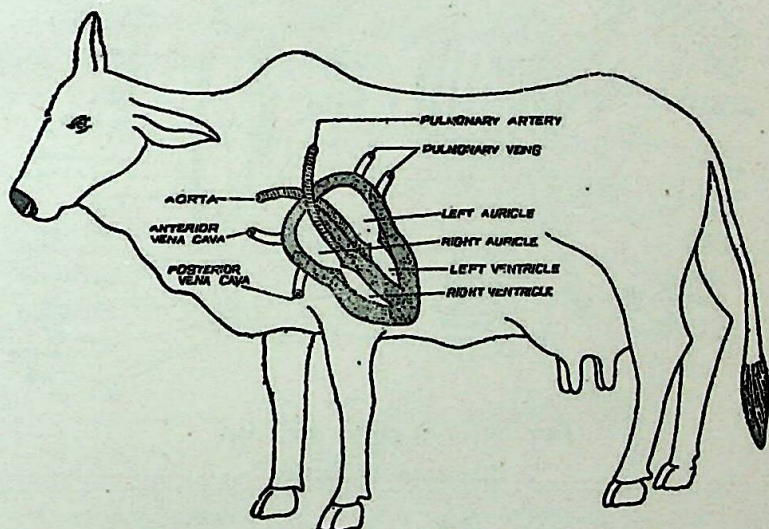
चित्र 35·5—गाय का हृदय और उसके भाग

पाचन तन्त्र—पाचक क्रिया में भाग लेने वाले सभी अंग जैसे—मुँह, अन्न नली, आमाशय छोटी आँत, बड़ी आँत, मलाशय तथा अग्न्याशय (pancreas) इत्यादि मिलकर पाचन तन्त्र बनते हैं। इन अंगों का मुख्य कार्य खाये गये भोजन को चवाकर तथा पचाकर शरीर में शोषित होने योग्य बनाना तथा बचे हुए भाग को मल के रूप में शरीर से बाहर निकालना है।

चित्र 35·6—पशु का उत्सर्जन तन्त्र

उत्सर्जन तन्त्र—इसके अन्तर्गत गुर्दा, मूत्र वाहिनी (ureter) तथा मूत्राशय आते हैं। इनका मुख्य कार्य दूषित पदार्थों को मूत्र के रूप में शरीर के बाहर निकालना है।
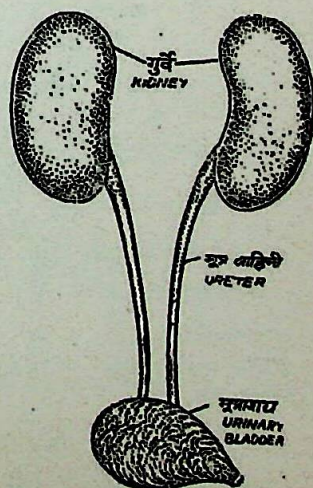
जनन तन्त्र—इसके अन्तर्गत पशुओं के

जनन अंगों का वर्णन मिलता है। इन अंगों का मुख्य कार्य अपने जैसे ही अन्य प्राणियों को जन्म देना है। विशेष विवरण के लिये जनन तन्त्र वाला पाठ देखिये।
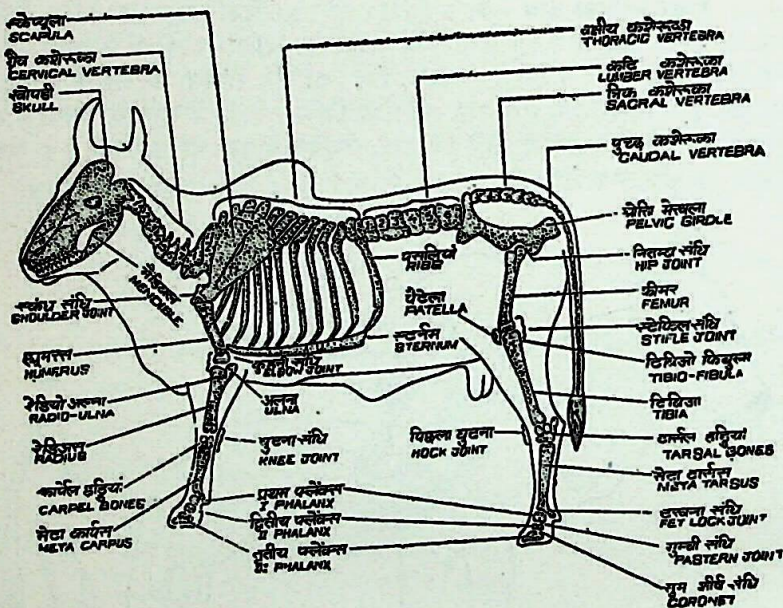
चित्र 35·7—गो-पशु का अस्थि पंजर
(Skeleton of cattle)
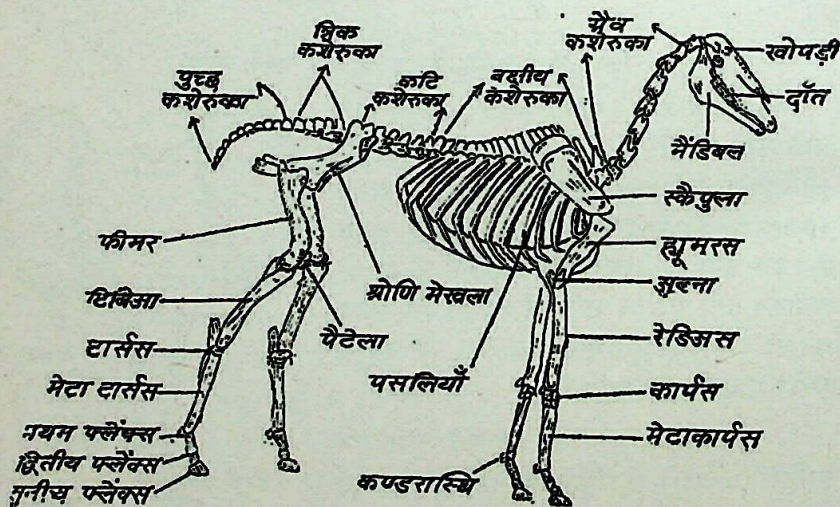
चित्र 35·8—घोड़े का अस्थि पंजर
(Skeleton of the horse)

स्तनीय तन्त्र—अयन, थन, दुग्धशिरा तथा दुग्धकूपक मिलकर स्तनीय तन्त्र बनाते हैं। यह तन्त्र केवल मादाओं में ही पाया जाता है। इसका मुख्य कार्य दुग्धोत्पादन करना है।

अन्तःस्रावी तन्त्र—शरीर की विभिन्न नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ; जैसे—पिट्यूटरी, कार्पस ल्युटियम, डिम्व ग्रन्थि फॉलिकिल तथा थाइरॉयड आदि मिलकर अन्तःस्रावी तन्त्र वनाती हैं। इनका मुख्य कार्य हारमोन निकालना है जो शरीर में विभिन्न क्रियाओं के सम्पन्न होने में अपना विशेष महत्व रखते हैं।

कंकाल तन्त्र—शरीर की सभी अस्थियाँ मिलकर कंकाल तन्त्र वनाती हैं। गो-पशुओं के अस्थिपंजर में कुल मिलाकर 180 तथा घोड़े में 250 अस्थियाँ होती हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

सारणी 35·1—पशु के शरीर की अस्थियाँ

नाम अंग	अस्थियों की संख्या	
	गो-पशुओं में	घोड़ों में
खोपड़ी	30	34
कशेरुका (Vertebrae)	51	54
पसलियाँ	13×2=26	18×2=36
स्टर्नंस	1	1
पैर	18×4=72	20×4=80
पूर्ण योग	180	205

अस्थिपंजर का मुख्य कार्य शरीर का ढाँचा बनाना एवं आन्तरिक अंगों का उनके कार्य में सहयोग देना।
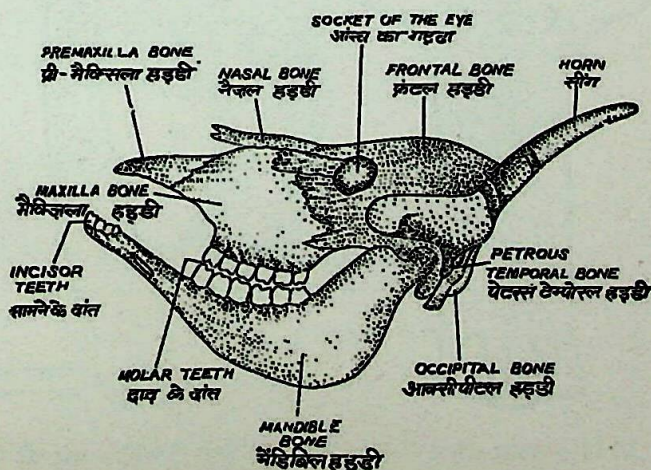
चित्र 35·9—पशु की खोपड़ी (Skull of cattle)
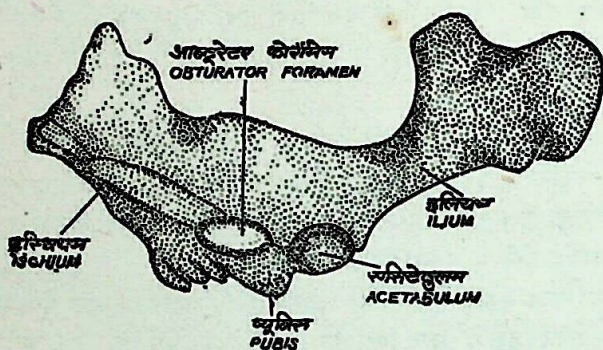
चित्र 35·10—पशु के कूल्हे की हड्डी (Pelvic Girdle)
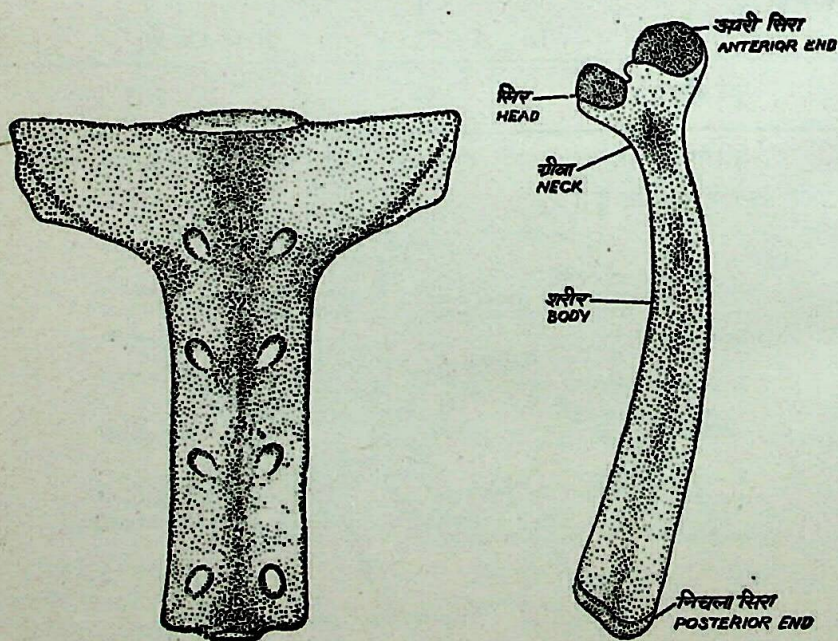
चित्र 35·11—सैक्रम अस्थि (Sacrum)

चित्र 35·12—पशु की पसली के विभिन्न भाग
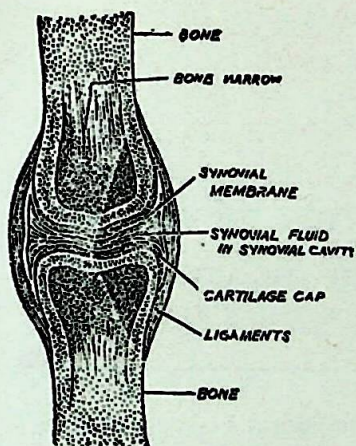
चित्र 35·13—पशु की घुटना संधि
(C. S. of Knee joint)
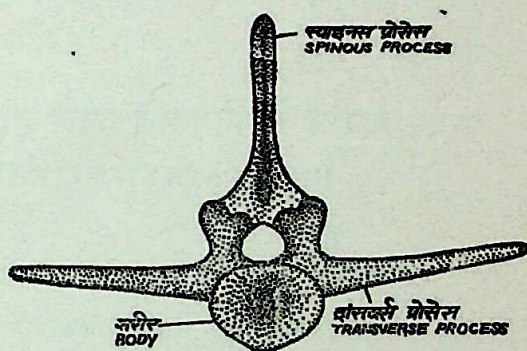
चित्र 35·14—पशु की कशेरुका
(Vertebrae)
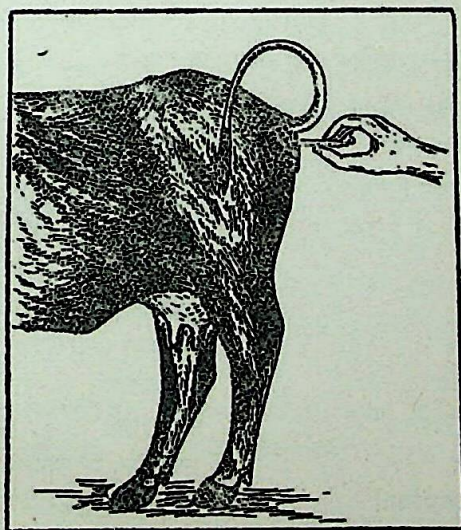
चित्र 35·15—पशु का तापक्रम लेना
(Recording of Body Temperature)

परिच्छेद : 36

शरीर से निकलने वाले हारमोन एवं उनके कार्य

(HORMONES SECRETED BY THE ANIMAL BODY & THIER FUNCTIONS)

शरीर के अन्दर अनेक ऐसी नलिका विहीन ग्रंथियाँ हैं जो कुछ द्रव पदार्थ निकाल कर सीधे रक्त वाहिनी तन्त्र में डालती हैं। ऐसी ग्रंथियाँ एण्डोक्राइन ग्लैंड कहलाती हैं और इनसे निकलने वाला द्रव पदार्थ अथवा स्राव, हारमोन के नाम से जाना जाता है। जीवन विज्ञान की वह शाखा जिसके अन्तर्गत ऐसी ग्रंथियों की जानकारी प्राप्त कर हारमोन एवं उनके कार्यों का अध्ययन किया जाए, एण्डोक्राइनालोजी कहलाती है। पशु के शरीर में उपस्थित प्रमुख नलिका विहीन ग्रंथियाँ तथा उनसे निकलने वाले पदार्थों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

नलिका विहीन ग्रंथियाँ	उनसे निकलने वाले हारमोन
1. पिट्यूटरी ग्रंथि	प्रोटीन हारमोन
(अ) ऐण्टीरियर पिट्यूटरी	वृद्धि एवं विकासकारक ट्राफिक हारमोन
(ब) पोस्टीरियर पिट्यूटरी	ऑक्सीटोसिन, वाजोप्रेसिन
2. ऐड्रीनल	ऐड्रीनलीन, स्टीरॉयड
3. ओवरी	ईस्ट्रोजन, प्रोजेस्ट्रॉन (स्टीरॉयड)
4. अण्डकोष	ऐण्ड्रोजन (स्टीरॉयड)
5. थायरॉयड	थायरॉक्सीन, केल्सीटोनिन
6. पैराथायरॉयड	पैराथार्मोन
7. पैंक्रियाज	इन्सूलीन, ग्लूकागान
8. ड्यूडिनल ग्रंथियाँ	सेक्रीटिन, इण्टेरोगैस्ट्रॉन तथा कोलीसिस्टोकीनिन
9. आमशयिक एपीथिलियम	गैस्ट्रिन
10. अंतड़ी का एपीथिलियम	विल्लीकीनिन

इनमें पिट्यूटरी, ऐड्रीनल, थायरॉयड, पैराथायरॉयड पूर्णरूपेण अन्तःस्रावी (endocrine) तथा शेष आंशिक अन्तःस्रावी होती हैं। मस्तिष्क में उपस्थित पिट्यूटरी ग्रंथि सबसे अधिक प्रभावशाली एवं बड़ी ग्रन्थि है जो शरीर की अन्य नलिका-

विहीन ग्रन्थियों पर अपना नियन्त्रण रखती है। इनसे निकलने वाले हारमोन रासायनिक पदार्थ हैं जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में निकलकर या तो परोक्ष रूप से अथवा लिम्फ मार्ग द्वारा रक्त परिवहन संस्थान में पहुँचते हैं। यहाँ से यह पदार्थ रक्त के साथ अन्य ऊतकों में पहुँचकर उनकी क्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। पशु के शरीर में विभिन्न एन्जाइमी प्रक्रिया को गतिशीलता प्रदान करने के लिये हारमोन कोएन्जाइम के रूप में भी कार्य करने की क्षमता रखते हैं। अपना प्रभाव प्रदर्शित करने के उपरान्त यह पदार्थ काम में आकर समाप्त हो जाते हैं। अधिक क्रियाशील होने के कारण हारमोन शरीर में सम्पन्न होने वाली अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं में कैटेलिस्ट (catalyst) की भाँति कार्य करके उनके सम्पन्न होने में सहायता करते हैं।

पशु-कार्यिकी में हारमोन के कार्य
(Role of Hormones in Animal Physiology)

(अ) ऐंटीरियर पिट्यूटरी ग्रंथि से निकलने वाले हारमोन—इसके अन्तर्गत एड्रीनोकार्टिकोट्रापिक हारमोन (ACTH), फॉलिकुलर स्टीमुलेटिंग हारमोन (F. S. H.), इन्ट्रस्टीशियल सेल स्टीमुलेटिंग अथवा ल्युटिनाइजिंग हारमोन (I.C. S. H. or L. H.), लैक्टोजीनिक हारमोन (प्रोलैक्टिन), वृद्धिकारक हारमोन (G.H. or growth promoting), तथा थायरोट्रापिक हारमोन आते हैं। ऐसे हारमोन ट्रापिक हारमोन कहलाते हैं क्योंकि या तो यह पदार्थ अन्य नलिका-विहीन ग्रन्थियों के कार्य को प्रभावित एवं नियन्त्रित करते हैं अथवा परोक्ष रूप से पशु की वृद्धि एवं विकास में निम्न प्रकार सहायक होते हैं—

1. ऐड्रीनोकार्टिकोट्रापिक हारमोन—यह हारमोन एड्रीनल कार्टेक्स को क्रियाशील करके कार्टिसोन तथा अन्य स्टीरॉयड हारमोन निकालने में सहायक होता है। साथ ही यह ग्लूकोज के उपापचयन एवं ऑक्सीजन के उपयोग, प्रोटीन संश्लेषण, तथा ग्लूकोकार्टिक्वायड के निर्माण को प्रोत्साहित करके, ऐड्रीनल कार्टेक्स में ऐस्कार्बिक एसिड तथा कोलेस्ट्राल को कम करता है।

2. फॉलिकुलर स्टीमुलेटिंग हारमोन—मादा पशुओं में यह ओवरी की ग्रैफियन फालिकिलों की वृद्धि एवं विकास में सहायक है। नर पशुओं में यह अण्डकोषों की आकार को बढ़ाता है।

3. ल्युटिनाईजिंग हारमोन—(L. H. or I. C. S. H.)—मादा पशु में यह F. S. H. के साथ संयोजित होकर अण्डाणुक्षरण (ovulation) तथा कॉर्पसल्युटियम के विकास में सहायक है। नर में I. C. S. H. हारमोन लेडिग कोशिकाओं को उत्तेजना प्रदान करके एंड्रोजन का उत्पादन करता है।

4. वृद्धिकारक हारमोन (G. H.)—यह शरीर की अस्थियों का विकास करके सम्पूर्ण शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। शरीर में इसकी कमी बौनापन

(dwarfism) तथा अधिकता हाथ एवं चेहरे की अस्थियों में विकृतता उत्पन्न करती है। यह हारमोन शरीर में ग्लूकोज की उपयोगिता कम करता है, प्रोटीन संश्लेषण में सहायता करता है, तथा दुधारू गायों के दूध उत्पादन में बढ़ोत्तरी करता है। इस प्रकार यह कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा वसा के उपापचयन पर भी प्रभाव डालता है।

5. प्रोलैक्टिन (Prolactin)—यह एक लैक्टोजीनिक हारमोन होने के नाते दुधारू गायों का दुग्ध उत्पादन बढ़ाता तथा अयन एवं थनों का विकास करता है। अयन से दूध बाहर निकालने में इसका विशेष महत्व है। प्रोलैक्टिन I. C. S. H. or L. H. के साथ मिलकर कॉर्पसल्युटियम को प्रोजेस्ट्रान हारमोन निकालने के लिये प्रोत्साहित करता है। ऐंड्रोजन के साथ मिलकर प्रोलैक्टिन नर जननेन्द्रिय के सहायक उपांगों के विकास एवं कार्यों में सहायता प्रदान करता है।

6. थायरोट्राफिक हारमोन (T.S.H.)—यह हारमोन थायरॉयड कोशिकाओं का विकास करके उनसे अधिक मात्रा में थायरॉक्सीन निकालता है जो आयोडीन के उपापचयन में महत्वपूर्ण योगदान करता है। सामान्य दुधारू गायों में यह उनका दुग्ध उत्पादन भी बढ़ाता देखा गया है।

(ब) पोस्टीरियर पिट्यूटरी ग्रंथि से निकलने वाले हारमोन—

1. ऑक्सीटोसिन—यह हारमोन पशुओं में संभोग, प्रसव तथा दूध देने के समय निकलता है। संभोग के समय गर्भाशय की मांस पेशियों में संकुचन उत्पन्न करके शुक्राणुओं को गर्भाशय में अन्दर की ओर ले जाने में सहायक है। प्रसव के समय मांस पेशियों को ढीला करके, पेट में प्रसव पीड़ा उत्पन्न करके बच्चे को बाहर निकालता तथा जेर (after birth or placenta) को बाहर फेंकता है।

दुधारू गायों में दूध को थनों से बाहर निकालने में भी यह हारमोन विशेष भूमिका अदा करता है। गाय दुहते समय 5 से 7 मिनट तक ही इसका असर रहता है अतः जल्दी दूध दुहने से उनसे अधिक दूध प्राप्त होता है।

2. वाजोप्रेसिन—इसे ऐंटिडायुरेटिक (ADH) हारमोन के नाम से भी जाना जाता है। यह मधुमेह तथा रक्त चाप नियन्त्रित करने में मदद देता है। गुर्दे पर प्रभाव डालकर यह बहुमूत्र रोग पर भी अपना नियन्त्रण रखता है।

ऐंटिरियर पिट्यूटरी से निकलने वाले हारमोनों को निम्न प्रकार भी वर्गीकृत किया जा सकता है :
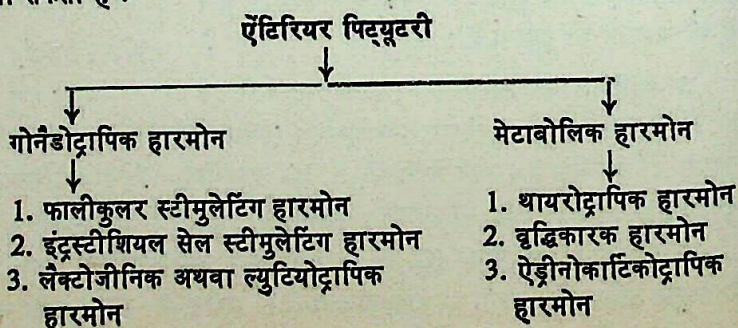
ऐड्रीनलीन—ऐड्रीनल ग्रंथि से निकलने वाला यह हारमोन यकृत पर प्रभाव डालकर वहाँ मौजूद ग्लाइकोजन को तोड़कर रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ाकर कार्बोहाइड्रेट के उपापचयन में सहायक है। रक्त में ग्लूकोज की कमी होने पर यह हारमोन तत्काल सक्रिय हो जाता है।

स्टीरॉयड—कार्टिसोन तथा H-डिऑक्सीकॉर्टिकोस्टीरोन नामक प्रमुख स्टीरॉयड लवण उपापचयन को नियन्त्रित करते, आघात को सहन करने में सहायता करते, ग्लाइकोजन के भण्डारण में मदद देते तथा कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

ईस्ट्रोजन—ईस्ट्राडायोल, ईस्ट्रोन, ईस्ट्रियोल नामक ओवरी से निकलने वाले ईस्ट्रोजीनिक हारमोन मादा पशु में स्त्रीत्व का विकास करके उसमें प्रौढ़ता एवं गर्म होने के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

प्रोजेस्ट्रॉन—मादा पशु में कार्पसल्युटियम तथा प्लैसेंटा द्वारा यह हारमोन निकलता है। गर्भाशय में संसेचित अण्डाणु को स्थान ग्रहण करने, उसके पोषण, तथा गर्भावस्था को बनाये रखने में इसका विशेष महत्व होता है। इसी कारण यदि गर्भावस्था में कार्पसल्युटियम को तोड़ दिया जाये तो मादा पशु का गर्भ गिर कर वह कुछ दिन बाद पुनः गर्म होने लगती है।

ऐण्ड्रोजन—अण्डकोष द्वारा निकलने वाले टेस्टेस्टरॉन, ऐंड्रोस्टीरॉन तथा एड्रीनोस्टीरॉन नामक प्रमुख स्टीरॉयड ऐण्ड्रोजन कहलाते हैं। इनका कार्य नर जननांगों के विकास पर नियन्त्रण करना, शुक्राणु उत्पादन, तथा नर पशु के गौण लैंगिक गुणों का विकास करना है।

थायरॉक्सीन—पशु की थायरॉयड ग्रन्थि से यह हारमोन निकलकर शरीर में आयोडीन की मेटाबोलिज्म (उपापचयन) को नियन्त्रित करता है। इसकी कमी से शरीर में आयोडीन की कमी होकर गलगण्ड (goiter) के लवण उत्पन्न होते हैं।

कैल्सीटोनिन—थायरॉयड ग्रन्थि की 'C' कोशिकाओं से निकलने वाला यह पदार्थ कैल्शियम लवण के उपापचयन में सहायक है।

पैराथार्मोन—पैराथायरॉयड ग्रन्थि से निकलने वाला यह हारमोन रक्त में कैल्शियम तथा फास्फोरस लवणों का सही स्तर बनाये रखकर इनके उपापचयन से सम्बन्धित है। रक्त एवं हड्डियों के बीच कैल्शियम का सन्तुलन बनाये रखना भी इसी का कार्य है।

इन्सुलिन—शरीर में उपस्थित पैंक्रियाज (अग्न्याशय) की बीटा-कोशिकाओं से यह हारमोन निकालता है। कार्बोहाइड्रेट उपापचयन में इसका विशेष योगदान है। इसकी कमी से मधुमेह रोग हो जाता है। रक्त में बढ़े हुए ग्लूकोज को यह यकृत में वापस लाकर ग्लाइकोजन के रूप में बदलकर वहाँ भण्डारित करता है।

ग्लूकागॉन—पैंक्रियाज की अल्फा-कोशिकाओं में ग्लूकागॉन का निर्माण होता है। रक्त में शर्करा की कमी होने पर यह हारमोन यकृत में उपस्थित ग्लाइकोजन

को तोड़कर वहाँ शर्करा की आपूर्ति करता है। इस प्रकार यह हारमोन भी कार्बोहाइड्रेट के उपापचयन से सम्बन्धित है। किन्तु स्तनधारी पशुओं से इन्सुलिन की तुलना में यह कम प्रभावी होता है। मुर्गियों में इसका प्रभाव अधिक देखने को मिलता है।

सेक्रीटिन—ड्यूडिनल ग्रन्थियों से निकलने वाला यह हारमोन पैंक्रियाटिक जूस (अग्न्याशय रस) के बनने एवं बाहर निकलने पर अपना नियन्त्रण रखता है। प्रोसेक्रीटिन नामक एक प्रो-एन्जाइम पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया द्वारा यह हारमोन उत्पादित होता है। प्रोसेक्रीटिन इन्जाइम ड्यूडिनम की दीवार की श्लेष्मल झिल्ली में मौजूद रहता है।

इण्टेरोगैस्ट्रॉन—अपनी अर्द्धशुद्धीकृत अवस्था में यह हारमोन गैस्ट्रिक अथवा पेप्टिक अल्सर (पेट के अन्दर का घाव) की चिकित्सा में लाभदायक है। आमाशयिक रस (गैस्ट्रिक जूस) के निकलने में यह हारमोन अवरोध उत्पन्न करके उस पर नियन्त्रण रखता है। आमाशय की मांस पेशियों की गति को भी यह कम करता है। ड्यूडिनम में वसा की उपस्थिति में इसका निर्माण होता है।

कोलीसिस्टोकीनिन—ड्यूडिनम की दीवाल की श्लेष्मल झिल्ली में प्रोएन्जाइम के रूप में पाया जाने वाला यह हारमोन आमाशयिक रस में मौजूद हाइड्रोक्लोरिक एसिड द्वारा सक्रिय होकर अपनी क्रिया करता है। वसा के उपापचयन में यह सहायक है।

गैस्ट्रिन—आमाशय की दीवाल की एपिथिलियल कोशिकाओं से प्राप्त होने वाला गैस्ट्रिन हारमोन भी पोषक तत्वों के उपापचयन से सम्बन्धित है।

विल्लीकीनिन—अंतड़ी की एपिथीलियम में पाया जाने वाला यह हारमोन आमाशयिक रस (गैस्ट्रिक जूस) के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल द्वारा क्रियाशील होकर अंतड़ी की विल्लाई को गति प्रदान करके पोषक-तत्वों के शरीर में शोषण तथा उपयोग में सहायता करता है।

संक्षेपतयः नलिकाविहीन ग्रंथियों से निकलने वाले हारमोन शरीर की वृद्धि, विकास एवं उपापचयन में सहायक होकर विभिन्न शारीरिक क्रिया-कलापों में सामंजस्य स्थापित करते हैं। इनकी कमी अथवा अधिकता से शरीर में भिन्न प्रकार के क्लेश उत्पन्न हो सकते हैं।

परिच्छेद : 37

रोग-जनन और प्रतिरक्षा
(PATHOGENESIS AND IMMUNITY)

रोग फैलाने वाले जीवाणु निम्नलिखित वनस्पति अथवा जीव-जगत के अन्तर्गत आते हैं।

1. फाइलम थैलोफाइटा—वर्ग शाइजोमाइसिटीज; इसके अन्तर्गत वैक्टीरिया, फफूँदी तथा यीस्ट आते हैं।

2. फाइलम प्रोटोजोआ—इसके अन्तर्गत एक कोशिका वाले जीवाणु आते हैं, जैसे अमीवा।

3. वाइरस (Virus) या विषाणु।

बैक्टीरिया (Bacteria)—माइक्रोस्कोप द्वारा दिखाई देने वाले यह बहुत ही छोटे आकार के विभिन्न प्रकार के जीवाणु हैं, जो जीवधारियों में अनेक प्रकार के रोग फैलाते हैं। इनको जीवाणु, अणुजीव, सूक्ष्मजीव आदि नामों से भी जाना जाता है। साधारणतया विखण्डन (fission) द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है। यह पोर्सिलेन फिल्टर के छिद्रों से होकर नहीं निकल सकते। अपने गुणों एवं रोग फैलाने के अनुसार इनको विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है। अपने आकार में यह लम्बे, गोल तथा टेढ़े मेढ़े हो सकते हैं। लम्बे जीवाणु बेसिलाइ (bacilli), गोल आकार वाले कोकाई (cocci) तथा टेढ़े-मेढ़े दिखाई देने वाले जीवाणु स्पाइरेल्ला (Spirella) कहलाते हैं। कुछ बैक्टीरिया बीजाणु (Spore) बनाते हैं जो प्रतिकूल वातावरण में भी पनप सकते हैं। अपने में उपस्थित एक कशाभ (flagellum) के आधार पर इन्हें सचल तथा अचल (mobile and non-mobile) भी कहा जा सकता है। वह जीवाणु जिनमें
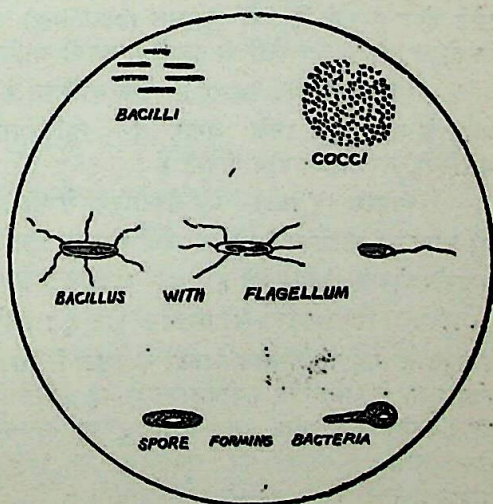
चित्र 37·1—बैक्टीरिया के प्रकार
(Kinds of Bacteria)

कशाभ होता है, गतिमान होते हैं। शारीरिक तापक्रम (70°–90°F) पर यह अपना खूब विकास करते हैं। अधिक उच्च तापक्रम पर यह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। कुछ वैक्टीरिया जो शरीर के अन्दर विभिन्न क्रियाओं के सम्पन्न होने में सहायता करते हैं, लाभदायक भी होते हैं। जुगाली करने वाले पशु के रूमेन में पाये जाने वाले सूक्ष्म जीव (वैक्टीरिया एवं प्रोटोजोआ) इसका उदाहरण हैं। इनके विपरीत, बीमारी उत्पन्न करने वाले जीवाणु बहुत ही भयानक व हानिकारक होते हैं। यह शरीर में एक विषैला पदार्थ "टॉक्सिन" उत्पन्न करके पशु अथवा मनुष्य में रोग के लक्षण प्रकट करते हैं। माँस रस, फलों का रस, दूध तथा ऐगार-ऐगार जैसे कृत्रिम माध्यमों में इनको भली-भाँति उगाया जा सकता है। पशुओं में यह ऐंथ्रक्स, गलाघोंटू, लंगड़िया, टी० बी०, मैस्टाइटिस (थनैला रोग) तथा बाँझपन जैसे अनेक बैक्टीरियल रोगों का कारण बनते हैं।

कवक (Mould)—वैक्टीरिया से मिलते-जुलते यह वनस्पति जगत के प्रतिनिधि हैं, जो बहुधा नमी-युक्त स्थानों पर उगे हुए देखे जाते हैं। इनकी उत्पत्ति बीजाणुओं (spore) द्वारा लैंगिक (sexual) एवं अलैंगिक (asexual) विधियों में होती है। इसमें से कुछ दद्रु (ringworm) जैसी बीमारियाँ फैलाते हैं। बैक्टीरिया की भाँति यह भी लाभदायक तथा हानिकारक दो प्रकार के हो सकते हैं। पैनीसीलियम नामक फंगस से बहुमूल्य ऐंटीवायोटिक (प्रतिजैविक पदार्थ) प्राप्त होते हैं। अर्गट नामक फंगस खाने से पशु का गर्भ गिर जाता है।

यीस्ट (Yeast)—यह गोल अथवा अण्डाकार, बैक्टीरिया से कुछ बड़े, छोटे-छोटे कोषाणु होते हैं, जो मुकुलन (budding) द्वारा अपना विकास करते हैं। ऐल्कोहल तथा डवल रोटी के बनाने में इनकी आर्थिक महत्ता है।

प्रोटोजोआ (Protozoa)—एक कोशिका के बने हुए यह सबसे छोटे जीव-जगत के सदस्य हैं। इनके अन्दर एक न्यूक्लियस होता है। जीवधारियों में यह मलेरिया, सर्रा आदि रोग फैलाते हैं।

वाइरस (Virus)—यह बैक्टीरिया से भी छोटे बहुत ही सूक्ष्म जीवाणु हैं, जो साधारण माइक्रोस्कोप से न देखे जाकर एक बहुत ही शक्तिशाली इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से दिखाई देते हैं। यह लगभग 5 से 15 मिलि माइक्रोन (1 माइक्रोन =1/1000 मिलिमीटर) के बराबर होते हैं। इतने अधिक छोटे होने के कारण, ये बहुत ही महीन पोर्सिलेन फिल्टर के छिद्रों से भी बाहर निकल जाते हैं। जीवित कोषाणुओं के अतिरिक्त, प्रयोगशाला में यह किसी भी माध्यम में नहीं उगाये जा सकते। पशुओं में यह पशु प्लेग, खुरपका-मुखपका तथा गोशीतला जैसे छूतदार रोग फैलाते हैं। वाइरस को सर्वप्रथम सन् 1890 में रूस के एक वैज्ञानिक आइवानोव्स्की (Iwanowsky) ने पहचाना।

प्रतिरक्षा (Immunity)

जीवधारियों द्वारा रोग रोकने की शक्ति एवं कुछ विषयों के प्रभाव को सहन करने की प्रवृत्ति को प्रतिरक्षा कहते हैं। इसको अग्र प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. वंशागत प्रतिरक्षा (Inherited immunity)—बीमारी की ऐसी शक्ति अपने पित्रों से सन्तति में आती है। यह **वैयक्तिक, नस्ल** तथा **जाति** तीन प्रकार की हो सकती है।

वैयक्तिक प्रतिरक्षा (Individual immunity)—जैसे अमुक जीवधारी को क्षय रोग (T. B.) नहीं होता, परन्तु उसी प्रकार के अन्य को हो जाता है।

नस्ल प्रतिरक्षा (Breed immunity)—जैसे अल्जेरियन नस्ल की भेड़ को ऐंथ्रक्स का रोग नहीं होता, परन्तु अन्य सभी नस्ल की भेड़ों में यह रोग बहुत प्रकोप करता है।

जाति प्रतिरक्षा (Species immunity)—पूरी जाति में रोग के प्रति प्रतिरक्षा होना; जैसे घोड़ों में पशु प्लेग, गो-पशुओं में ग्लांडर (glander) रोग तथा भेड़ों में सूकर-ज्वर (swine fever) का न होना।

2. अर्जित प्रतिरक्षा (Acquired immunity)—इसको निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—
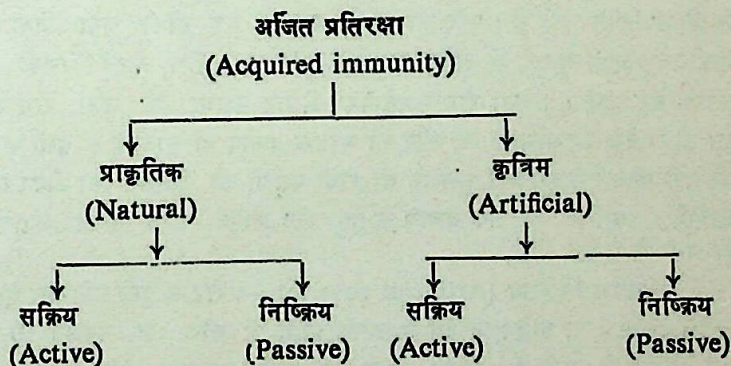
प्राकृतिक अर्जित (Natural acquired)—जीवधारी में ऐसी प्रतिरक्षा, प्राकृतिक रूप से रोग के आक्रमण के बाद स्वतः आती है, जैसे एक बार चेचक होने के बाद, उसी मनुष्य में प्रायः दुबारा इसका आक्रमण नहीं होता। जीवधारियों के शरीर में इस रोग के कारण **ऐन्टीबाडीज** (प्रतिपिण्ड) बन जाती हैं, जो पुनः रोग के आक्रमण को रोकने में सहायक होती है।

प्राकृतिक सक्रिय (Natural active)—बीमारी रोकने की ऐसी शक्ति प्राकृतिक छूतदार रोग के ठीक हो जाने के बाद स्वतः आती है। ऐसी प्रतिरक्षा कम अथवा अधिक समय के लिये हो सकती है।

प्राकृतिक निष्क्रिय (Natural passive)—प्राकृतिक रूप से ऐसी प्रतिरक्षा माँ से बच्चे में गर्भनाल (placenta) अथवा खीस द्वारा पहुँचती है। जैसे, खीस पिलाये गये बछड़ों को सफेद बदबूदार दस्त होने का रोग नहीं लगता।

कृत्रिम अर्जित (Artficial acquired)—इस प्रकार की प्रतिरक्षा स्वतः न होकर कृत्रिम रूप जैसे, टीका लगाने अथवा सीरम का इन्जेक्शन देने से उत्पन्न होती है।

कृत्रिम सक्रिय (Artificial active)—कृत्रिम रूप से यह प्रतिरक्षा पशुओं में विभिन्न प्रकार के रोगों के प्रति बचाव के टीके लगने से उत्पन्न होती है। रोग फैलाने वाले जीवाणु की शक्ति को कम करके, यह टीके तैयार किये जाते हैं। इसी अवस्था में इन्हें ऐन्टीजन (antigen) कहते हैं। **यही एन्टीजन इन्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रवेश पाकर एन्टीबाडी बनाते हैं, जो काफी समय तक शरीर में अपना प्रभाव रखकर, वर्षों तक रोग रोकने में सहायक होती हैं।**

चूंकि वैक्सीन में ऐन्टीजन होती है, जो शरीर में प्रवेश पाने के कुछ दिनों के बाद एन्टीवाडी में परिवर्तित हो पाती है, अतः वैक्सीन देने के बाद उस अवधि तक (4, 5 दिन), जब तक ऐन्टीवाडी नहीं बन पाती, पशु की बीमारी रोकने की शक्ति और भी कम हो जाती है। **इसी कारण रोग-ग्रसित पशु को वैक्सीन का टीका नहीं दिया जाता।** रोग-ग्रसित पशु के शरीर में जीवाणुओं के कारण एन्टीजन पहले से ही उपस्थित रहते हैं। यदि इस समय वैक्सीन का टीका लगा दिया जाये, तो एन्टीजन दोहरी खुराक में होकर, पशु की प्रतिरक्षा क्षीण करके उसकी मृत्यु का कारण बन जाते हैं। अतः रोग फैलने पर बीमार पशुओं को उसी रोग के बचाव का टीका देने पर बीमारी का और भी अधिक प्रकोप हो जाता है। **इसी कारण जब बीमारी फैल रही हो, वहाँ भूलकर भी रोगी पशुओं को वैक्सीन का टीका न लगाना चाहिये।** इसीलिये ऐसे टीके बचाव के हेतु, रोग प्रकोप करने वाली ऋतुओं के पूर्व ही लगा दिये जाते हैं।

कृत्रिम निष्क्रिय (Artificial passive)—शरीर में ऐसी प्रतिरक्षा ऐन्टीसीरम (antiserum) का इन्जेक्शन देने से उत्पन्न होती है और यह लगभग 10–14 दिन तक ही स्थायी रहती है। सीरम बनाने के लिये लगातार उस समय तक पशु के शरीर में बढ़ती हुई मात्रा में एन्टीजन का इन्जेक्शन देते रहते हैं, जब तक कि वह अधिक से अधिक मात्रा सहन कर सके। इस प्रकार ऐसे पशु के शरीर में काफी मात्रा में एन्टीबाडी अथवा जीव विषहर (antitoxin) बन जाती है। अब इस पशु का रक्त निकालकर सीरम ले लेते हैं। इसमें एन्टीजन न होकर पहले से बनी बनाई एन्टीबाडी होती है, जो इन्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रवेश पाकर तुरन्त ही रोग के कीटाणुओं से लड़ना प्रारम्भ कर देती है। सन्देहयुक्त पशु में सीरम का इन्जेक्शन 10 से 14 दिन तक प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है। 14 दिन बाद आवश्यकता हो तो पुनः सीरम का टीका दिया जा सकता है। **सीरम सदैव रोग के प्रकोप होने पर ही उपयोग में लाना चाहिये। स्वस्थ पशु जो रोगी के सम्पर्क में रहे हों, उनको 15–20 घ० से० सीरम का टीका देकर बीमार पशुओं के साथ छोड़ देते हैं।** इस प्रकार सीरम द्वारा पैदा की हुई निष्क्रिय प्रतिरक्षा, धीरे-धीरे सक्रिय प्रतिरक्षा में बदल जाती है।

रोगी पशुओं को 100 से 200 घ० से० सीरम का इन्जेक्शन देना चाहिये, जिससे अधिक मात्रा में एन्टीवाडी शरीर में प्रवेश करके, रोग के कीटाणुओं पर विजय पाकर रोगी को निरोग कर सकें। प्रत्येक बीमारी का अलग-अलग एन्टीसीरम बनाया जाता है।

शरीर में उपस्थित कुछ विशेष प्रकार के कोषाणु, जैसे—न्यूट्रोफिल (माइक्रोफेजेज एवं मैक्रोफेजेज) भी किसी हद तक बीमारियाँ रोकने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार शारीरिक कोषाणु (body cells) एवं शारीरिक तरल पदार्थ (body fluids) दोनों ही शरीर रक्षा-योजना के विभिन्न अंग हैं। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि सीरम में ऑप्सोनिन (opsonin) नामक कुछ विशेष पदार्थ उपस्थित रहते हैं और इन्हीं पदार्थों के कारण बैक्टीरिया, श्वेत कणों से चिपक जाते हैं।

परिच्छेद : 38

रोग और उसका वर्णन

(DISEASE & ITS DESCRIPTION)

रोग (Disease)—जीवधारी का नॉर्मल तापक्रम, नाड़ी गति तथा श्वसन (respiration); चमकीली आँखें; चुस्त कान; उत्तेजक शरीर; भोजन में रुचि एवं भली प्रकार मल-मूत्र का शरीर से बाहर निकलना ही उसके पूर्णतया स्वस्थ होने का सूचक है। इसके विपरीत सामान्य कार्यों में किसी कारणवश अवरोध उत्पन्न होकर शरीर का अस्वस्थ हो जाना ही रोग कहलाता है किसी भी बीमारी विशेषकर, संक्रामक रोगों का वर्णन निम्न प्रकार किया जाता है—

1. अन्य नाम (other names)
2. विषय परिचय (introduction)
3. कारण (etiology or cause)
4. छूत लगने के ढंग (mode of infection)
5. उद्भवन काल, (incubation period)
6. लक्षण (symptoms)
7. निदान (diagnosis)
8. चिकित्सा (treatment)
9. रोकथाम (prevention & control)

अन्य नाम—बीमारी का वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व उसके पर्यायवाची नाम लिखने चाहियें।

विषय परिचय—अन्य नाम लिखने के उपरान्त रोग का थोड़ा सा परिचय देना नितान्त आवश्यक है, जिससे यह पता लग जाये कि बीमारी का प्रकार, वेग तथा अन्त कैसा है। रोगी का संक्षिप्त इतिहास ही वास्तव में रोग का परिचय है।

कारण (Cause)—बीमारी फैलाने वाले कारक (factors) ही रोग का कारण बनते हैं। इनको निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) उत्तेजक कारक (Exciting causes)—वे कारण हैं जिनके बिना रोग प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। इसके अन्तर्गत जीवाणु व विषाणु, (bacteria & virus), परजीवी कीट (parasites), रासायनिक, भौतिक, तापीय (thermal), वैद्युत (electrical) तथा अनियमित आकार जैसे अनेक कारक आते हैं।

(2) पुनः प्रवर्त्तक कारक (Predisposing causes)—आयु, लिंग, स्वभाव, रंग, निर्बलता, अस्वस्थ वाड़ा, गन्दा पानी, कुप्रबन्ध तथा राशन में कुछ आवश्यक खाद्य अवयवों की कमी आदि कारक जो पशु के शरीर की सहन शक्ति क्षीण करके, उसको उत्तेजक कारणों का शिकार बनाते हैं, पुनः प्रवर्त्तक कारक कहलाते हैं।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—संक्रामक एवं छूतदार बीमारियों के जीवाणु निम्न मार्गों द्वारा पशु के शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं—
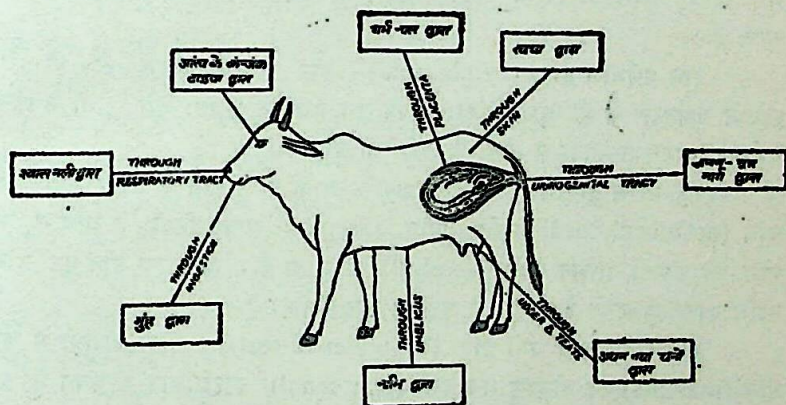
चित्र 38·1—पशुओं को छूत लगने के ढंग
(Mode of Infection to Animals)

(1) त्वचा द्वारा (by skin)—पसीना तथा अम्लीयता के कारण स्वच्छ त्वचा स्वतः जीवाणु रहित रहती है। त्वचा के छिल जाने, रगड़ जाने, कट जाने, अथवा घाव आदि बन जाने से उसका उक्त गुण नष्ट होता है। अतः अनन्य प्रकार के रोग फैलाने वाले जीवाणु इस मार्ग द्वारा शरीर में प्रवेश पा लेते हैं।

(2) मुँह द्वारा (by ingestion)—अधिकतर रोग फैलाने वाले जीवाणु दूषित आहार, चारा, पानी आदि के सम्पर्क में आकार पशु की अन्न नली (digestive tract) में पहुँचकर रोग संचार करते हैं।

(3) नाक द्वारा (by inhalation)—दूषित वायु तथा धूल आदि युक्त वातावरण में साँस लेने से श्वांस नली (respiratory tract) द्वारा कुछ रोग जैसे—टी० बी० के जीवाणु स्वस्थ पशु के शरीर में प्रवेश पाकर फेफड़ों आदि पर अपना कुप्रभाव डालते हैं। अधिकतर वाइरस रोग इस प्रकार फैलते हैं। रोगी के थूक अथवा कफ में रोग के जीवाणु उपस्थित रहते हैं। बीमार के थूकने अथवा खखारने पर उसमें के कुछ कण हवा में भी उड़ते हैं। यदि स्वस्थ पशु ऐसे वातावरण में साँस लेते हैं, तो यह जीवाणु-युक्त कण उसकी श्वाँस नली में प्रवेश पा लेते हैं। रोग फैलाने की इस विधि को **बिन्दुक संक्रमण** (droplet infection) भी कहते हैं।

(4) आँख द्वारा (by conjunctiva of the eye)—कुछ रोग जैसे संक्रामक गर्भपात के जीवाणु कन्जक्टाइवा द्वारा भी पशु के शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते देखे गये हैं, परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है।

(5) जननेन्द्रिय तथा मूत्रनली द्वारा (by urinogenital tract)—मादा में गर्भाशय शोथ (metritis), गर्भाशयपूयता (pyometra) तथा नर मादा में संक्रामक गर्भपात, टी० बी० एवं गुर्दाशोथ (nephritis) जैसे रोगों के जीवाणु इसी मार्ग द्वारा पशु के शरीर में प्रवेश पाकर अपने क्षत-स्थल (lesion) में निवास करते हैं।

(6) गर्भनाल द्वारा (by placenta)—कुछ रोग जैसे पैतृक टी० बी० गर्भाशय में गर्भकाल में ही भ्रूण (foetus) को लग जाती है। अतः ऐसे रोगों के जीवाणु गर्भनाल द्वारा ही मादा से बच्चे के शरीर में प्रवेश पाते हैं।

(7) नाभि द्वारा (by umbilicus)—बच्चा पैदा होने के बाद यदि उसका नाल (umbilical cord) अपूति दूषित (aseptic) सावधानियों के साथ न काटा गया, तो उसको नाभिक रोग (navel-ill) हो जाता है। अतः इस रोग का जीवाणु नाभि द्वारा ही बच्चे के शरीर में घुसकर छूत फैलाता है।

(8) अयन तथा थनों द्वारा (by udder & teats)—मादा पशुओं में थनैला रोग (mastitis) का जीवाणु थन नली (teat canal) द्वारा गाय के अयन में प्रवेश पाकर, इस रोग का कारण बनता है। ग्वालों के दूषित हाथ तथा गन्दे बर्तन इस रोग के प्रसार में सहायक होते हैं।

(9) अण्डे द्वारा (by egg)—इस मार्ग द्वारा रोग की छूत प्रायः मुर्गियों में ही फैलती देखी गई है। इस विधि में, कुछ रोग जैसे बेसिलेरी सफेल दस्त (bacillary white diarrhoea) के जीवाणु अण्डों में विकास किया करते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—रोग के जीवाणु शरीर में प्रवेश पाने के बाद अपना विकास करके कुछ घण्टों से लेकर कई दिनों तक कभी-कभी महीनों बाद रोग का प्रथम लक्षण प्रकट करते हैं। अतः इस प्रकार जीवाणु का गुप्त रूप से विकास काल 'इनक्यूबेशन अवधि' अथवा रोग का उद्भवन-काल कहलाता है। दूसरे शब्दों में, पशु को रोग की छूत लगने से लेकर प्रथम लक्षण प्रकट होने की अवधि को इनक्यूबेशन अवधि कहते हैं। कुछ रोगों की औसत इनक्यूबेशन अवधि निम्नलिखित हैं—

(1) ऐंथ्रक्स	12 से 24 घण्टे या अधिक
(2) गलघोटू	1 से 3 दिन
(3) लंगड़ी	1 से 5 दिन
(4) टी० बी०	अनिश्चित (कई माह)
(5) जोने रोग	अनिश्चित (कई माह)
(6) संक्रामण गर्भपात	33 से 100 दिन
(7) पशु प्लेग	3 से 8 दिन

(8) खुरपका-मुखपका	1 से 6 दिन
(9) गोशीतला	3 से 7 दिन
(10) चीचड़ी ज्वर	7 से 17 दिन
(11) कॉक्सीडिओसिस	7 से 21 दिन

लक्षण (symptoms)—रोगावस्था का बाह्य आँख द्वारा आभास होना ही लक्षण कहलाता है। यह निम्न प्रकार के हो सकते हैं—

(1) निदान लक्षण (Diagnostic symptoms)—वे लक्षण हैं, जो केवल एक ही रोग के लिये सीमित होते हैं। उदाहरणार्थ, गलघोटू रोग में पशु को घुर्र-घुर्र की आवाज करना।

(2) आत्मनिष्ठ लक्षण (Subjective symptoms)—वे लक्षण जिनको रोगी स्वतः महसूस करके डॉक्टर को बताये, आत्मनिष्ठ लक्षण कहते हैं।

(3) वस्तुनिष्ठ लक्षण (Objective symptoms)—वे लक्षण हैं जिनको रोगी की परीक्षा करने के उपरान्त डॉक्टर स्वयं पता लगाता है।

(4) सामान्य लक्षण (General symptoms)—वे लक्षण जो सम्पूर्ण शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं, सामान्य लक्षण कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, तापक्रम का बढ़ना, कंपकंपाना आदि।

(5) स्थानीय लक्षण (Local symptoms)—वे लक्षण हैं जो एक समय में शरीर के केवल एक भाग पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, उदाहरणार्थ, फोड़ा।

(6) पूर्व सूचक लक्षण (Premonitory symptoms) रोग के आगमन को पहले से ही आगाह करने वाले लक्षण पूर्व सूचक लक्षण कहलाते हैं। उदाहरणार्थ मलेरिया ज्वर आने से पूर्व ठण्ड और कंपकंपी होना।

(7) फलानुमानकी लक्षण (Prognostic symptoms)—यह वे लक्षण हैं जो रोग की दिशा, अवधि तथा अन्त के बारे में बोध्र कराते हैं।

(8) शारीरिक लक्षण (Physical symptoms)—कुछ रोगों के लक्षण परिश्रवण (Auscultation), परिताड़न (Percussion), धड़कन (Palpitation) अथवा खोज (Exploration) करके जाने जाते हैं। ऐसे लक्षणों को शारीरिक लक्षण कहते हैं।

(9) कालिक लक्षण (Periodic symptoms)—यह वे लक्षण हैं जो एक नियत काल में प्रकट होकर कुछ समय के लिये लुप्त हो जाते हैं।

(10) संलक्षण (Syndrome)—लक्षणों का वह समूह जो किसी रोग के साथ संयोजित होकर बीमारी का निदानिक (clinical) रूप बनाता है, संलक्षण कहलाता है।

निदान (Diagnosis)—रोग का प्रारम्भ तथा प्रकृति जानकर उसकी अन्य रोगों से अलग पहचान लेना ही निदान कहलाता है। यह अग्रलिखित प्रकार का हो सकता है—

(1) लाक्षणिक निदान (Symptomatic diagnosis) बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर ही रोग को पहचान लेना लाक्षणिक निदान कहलाता है। इसे clinical diagnosis भी कहते हैं।

(2) ऐतिहासिक निदान (Historical diagnosis)—इस विधि में रोगी का संक्षिप्त इतिहास लेकर रोग के प्रारम्भ तथा प्रकृति के वारे में अनुमान किया जाता है।

(3) माइक्रॉस्कोपिक निदान (Microscopical diagnosis)—इस विधि में एक स्वच्छ जीवाणु-रहित (sterilized) काँच के स्लाइड पर पशु के रक्त, थूक, गोबर अथवा शरीर से बाहर निकलने वाले किसी भी दूषित पदार्थ का पतला लेप (smear) बनाकर रोग फैलाने वाले जीवाणु, जैसे—वैक्टीरिया, प्रोटोजोआ तथा परजीवियों (Parasites) के अण्डों अथवा उनकी अन्य विकास अवस्थाओं को देखा जाता है।

(4) संवर्धनीय निदान (Cultural diagnosis)—यह निदान वहुधा बैक्टीरियल बीमारियों के प्रति ही किया जाता है। रोगी से प्राप्त सन्देहयुक्त दूषित रक्त, थूक आदि पदार्थों से वैक्टीरिया को किसी अनुकूल माध्यम, जैसे—ऐगार-ऐगार, माँस-रस (meat broth) में उगाकर, उसका कॉलोनी बनाना (colony formation) देखकर रोग के कारण का पता लगाया जाता है।

(5) पशु में टीका लगाकर निदान (Diagnosis by animal inoculation)—उपर्युक्त प्रकार से जाँच करने पर यदि रोग का भली प्रकार निदान न हो सके तो रोगी से प्राप्त दूषित पदार्थ अथवा तैयार किये हुये वैक्टीरियल संवर्धन (bacterial culture) का थोड़ी मात्रा में ग्रहणशील स्वस्थ पशु के शरीर में इन्जेक्शन देकर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं। इस विधि में ग्रहणशील पशु के स्थान पर वहुधा गिनीपिग (guinea pig) का प्रयोग किया जाता है।

(6) शव परीक्षा द्वारा निदान (Diagnosis by postmortem examination)—कभी-कभी जव मृत शरीर रोग परीक्षण हेतु लाया जाता है तो उसका निदान लाश को चीर-फाड़ करके आन्तरिक अंगों (internal organs) में उपस्थित परिवर्तन देखकर किया जाता है। इस प्रकार देखे हुए क्षतस्थल (lesions) के द्रव से स्लाइड वनाकर माइक्रोस्कोप में जीवाणुओं को भी पहचाना जा सकता है।

(7) कुछ विशेष परीक्षणों द्वारा निदान (Diagnosis by some special tests)—कुछ बीमारियों जैसे टी० वी० तथा पुराना कीटाणु अतिसार (Johne's disease) का निदान करने के लिये विशेष प्रकार की जाँच करनी पड़ती है। ऐसे रोगों में निदान के हेतु कुछ ऐलर्जिक (allergic) पदार्थ जैसे ट्यूबर्क्युलिन (tuberculin) तथा जोनिन (Johnin) का प्रयोग होता है।

(8) विभेदी निदान (Differential diagnosis)—कभी-कभी रोग के कुछ ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जो अन्य बीमारियों से भी मिलते-जुलते हैं। ऐसी अवस्था में

रोग का निदान करना प्राय: कठिन-सा हो जाता है, क्योंकि कभी-कभी रोग इतना जटिल हो जाता है कि उसके मूल कारणों तथा लक्षणों का पता ही नहीं लग पाता।

चिकित्सा (Treatment)—रोग का निदान करने के उपरान्त रोगी की तुरन्त ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहियें। चिकित्सा को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) रोग निरोधी चिकित्सा (Prophylactic treatment)—इसके अन्तर्गत वे सब साधन आते हैं, जो स्वस्थ पशुओं को रोग से बचाने के प्रति किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—रोग की ऋतु आने से पूर्व ही बचाव के टीके लगवा लेना, रोग प्रारम्भ होने पर रोगी के सम्पर्क में आये हुए स्वस्थ पशुओं को 15 से 20 घ० सें० की मात्रा में ऐन्टीसीरम का इन्जेक्शन देना, स्वस्थ पशुओं को रोगी पशुओं के सम्पर्क से बचाना आदि। ऐसे साधन बहुधा संक्रामक एवं छूतदार रोगों से बचाव के लिये ही अपनाये जाते हैं।

(2) रोगहर चिकित्सा--(Curative treatment)—वह सब चिकित्सा जो रोगी को रोगोन्मुक्त कराने के प्रति की जाती है, रोगहर चिकित्सा कहलाती है। यह दो प्रकार की हो सकती है—एक तो 'प्राथमिक चिकित्सा' (first aid) और दूसरी 'वास्तविक चिकित्सा' (actual treatment)।

प्राथमिक एवं वास्तविक चिकित्सा—वह चिकित्सा जो चिकित्सक के आने के पूर्व रोगी को थोड़ा आराम पहुँचाने हेतु दी जाती है, प्राथमिक चिकित्सा कहलाती है। इसके अतिरिक्त, पशु को निरोग करने हेतु जितने भी साधन चिकित्सक द्वारा अपनाये जाते हैं, **वास्तविक चिकित्सा** के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न औषधियों का सेवन, इन्जेक्शन, पथापथ्य, परहेज तथा अनुपान आदि इसमें सम्मिलित हैं।

रोकथाम (Prevention & control)—प्रकोप के समय छूतदार बीमारियों से बचाव के साधन अपनाना तथा बीमारी को नियन्त्रित करना, जिससे कि उसका शीघ्र ही दमन हो सके रोकथाम कहलाता है। इसके अन्तर्गत पृथक्करण (isolation) रोग की सूचना, रोगी के शव एवं बिछावन आदि का उचित प्रबन्ध, रोगी पशु के सम्पर्क में आये हुए बर्तनों एवं स्थानों की सफाई, चरागाहों का बदलना, पशुओं के टीके लगाना, क्वांरटीन, पशुओं के एकत्रित होने पर रोक तथा पशुओं का खान-पान आदि आता है। इनका विस्तृत विवरण 'संक्रामक रोग और उनकी राकथाम' वाले पाठ में दिया गया है।

परिच्छेद : 39

बीमारियों का वर्गीकरण

(CLASSIFICATION OF DISEASES)

पशु तथा मनुष्य आये दिन विभिन्न प्रकार की बीमारियों का शिकार हुआ करते हैं। इनमें कुछ रोग तो ऐसे होते हैं जो सामान्य देख-भाल, रख-रखाव तथा खान-पान पर नियन्त्रण रखने से ठीक हो जाते हैं। खाँसी, अपच, नजला जैसी अनेक बीमारियाँ इसी समूह के अन्तर्गत आती हैं और इन्हें सामान्य रोग कहते हैं। कालरा, टायफाइड, चेचक, ऐन्थ्रक्स, गलाघोटू, पशु प्लेग आदि ऐसे असाध्य रोग हैं जो मनुष्यों तथा पशुओं में एकाएक प्रकोप करते हैं और इनका आक्रमण बहुत भयानक होता है। रोग फैलाने वाले कारकों के अनुसार इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(अ) : (1) रोग प्रारम्भ होने के ढंग के अनुसार (according to mode of origin)।

(2) कारण के अनुसार (according to etiology)।

(3) प्रकोप तथा अवधि के अनुसार (according to severity and duration)।

(4) रोग ग्रस्त भागों में परिवर्तनानुसार (according to the changes brought about in affected parts)।

(5) विभाजन के अनुसार (according to distribution)।

(6) रोग ग्रस्त भागों के अनुसार (according to the parts affected)।

(7) लाक्षणिक घटनानुसार (according to clinical occursence)।

रोग प्रारम्भ होने के ढंग के अनुसार

(1) **पैतृक रोग (Hereditary)**—ये वे रोग हैं, जो माता-पिता से संतति में पहुँचते हैं, जैसे—मिर्गी तथा हीमोफीलिया। इसमें रोग उत्पन्न करने वाले कारक, माता-पिता से बच्चे के शरीर में जीन (genes) द्वारा पहुँचते हैं और जन्म होने के बाद किसी समय भी रोग के लक्षण प्रकट करते हैं।

(2) **जन्म-जात रोग (Congenital)**—ये वे रोग हैं, जो प्रसव के पूर्व गर्भकाल में बच्चों को मादा जननेन्द्रिय के अन्दर ही लग जाते हैं। उदाहरणार्थ, जन्म-जात क्षय रोग।

अर्जित रोग (Acquired)—वे सब रोग, जो जीवधारी के पैदा होने के बाद संसार में उसके जीवन काल में प्रारम्भ होते हैं, अर्जित रोग कहलाते हैं।

कारण के अनुसार

(1) विशिष्ट रोग (Specific)—वे रोग, जिनका कारण निश्चित होता है, विशिष्ट रोग कहलाते हैं। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) संक्रामक रोग (Infectious)—पशु प्लेग, धनुर्वात (tetanus) जैसे रोग जो बैक्टीरिया, वाइरस तथा प्रोटोजोआ द्वारा फैलते हैं, संक्रामक रोग कहलाते हैं। रोगी पशु से स्वस्थ पशु में ऐसे रोग, उनके शारीरिक स्पर्श अथवा सम्पर्क में रहने वाले पदार्थों के द्वारा पहुँचते हैं। यह रोग छूत से फैलने वाले अथवा न फैलने वाले हो सकते हैं।

(ब) छूत के रोग अथवा संसर्गिक रोग (Contagious disease)—ये वे रोग हैं, जो रोगी से स्वस्थ पशु में सीधे सम्पर्क द्वारा पहुँचते हैं। उदाहरणार्थ : पशु प्लेग, गलाघोटू। छूत से फैलने वाले प्रायः सभी रोग संक्रामक होते हैं। परन्तु सभी संक्रामक रोग छूत से फैलने वाले नहीं होते। छूत से फैलने वाले रोगों की छूत एक स्थान से दूसरे स्थान पर मनुष्य, चिड़ियों, जंगली पशुओं, वायु तथा पानी द्वारा पहुँचती है।

(2) अविशिष्ट रोग (Non specific)—ये वे रोग हैं, जिनके कारण निश्चित न होकर अनन्य एवं अनिश्चित होते हैं। उदाहरणार्थ दस्त, शूल वेदना, पेचिस इत्यादि।

प्रकोप तथा अवधि के अनुसार

(1) अति उग्र रोग (Per acute)—ऐंथ्राक्स जैसी कुछ बीमारियों का प्रकोप कभी-कभी इतना भयंकर होता है कि बिना कोई विशेष लक्षण प्रकट किये ही एकाएक अनेक पशु मरने लगते हैं और इनमें पशु की चिकित्सा का भी समय नहीं मिल पाता। भेड़ों में कभी-कभी ऐंथ्राक्स रोग इसी रूप में प्रकोप करता है।

(2) उग्र रोग (Acute)—ऐंथ्राक्स, गलाघोटू तथा लंगड़िया जैसे एकाएक बहुत तेजी से प्रकोप करके थोड़ी ही अवधि में समाप्त होने वाले रोग उग्र अथवा तीक्ष्ण कहलाते हैं।

(3) स्वल्पकालीन रोग (Sub acute)—ये वे रोग हैं, जिनका आरम्भ तेजी से होकर, अवधि उग्र रोगों से अधिक होती है, जैसा खुरपका मुँहपका रोग।

(4) चिरकालीन रोग (Chronic)—क्षय तथा पुराना कीटाणु अतिसार (Johne's disease) जैसे रोग, जिनके लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होकर काफी समय से समाप्त होते हैं, चिरकालीन रोग कहलाते हैं। यह उग्र तथा स्वल्पकालीन रोगों की भाँति तीक्ष्ण नहीं होते, परन्तु उतने ही भयानक हो सकते हैं।

रोग-ग्रस्त भागों में परिवर्तनानुसार

(1) क्रियागत रोग (Functional)—मूर्छा (epilepsy) जैसे रोग, जो किसी अंग की रचना पर प्रभाव न डालकर, उसके कार्य पर प्रभाव डालते हैं, क्रियागत रोग कहलाते हैं।

(2) रचनात्मक रोग (Structural)—वे रोग, जो किसी अंग की बनावट पर प्रभाव डालते हैं, रचनात्मक रोग कहलाते हैं, जैसे लकवा, लंगड़ी ।

विभाजन के अनुसार

(1) स्थानिक मारी (Enzootic)—वे रोग, जो कुछ मुख्य जातियों में ही प्रकोप करते हैं, स्थानिक मारी कहलाते हैं ।

(2) पशु महामारी (Epizootic)—ऐसे रोग एक बड़े क्षेत्र में एक साथ बहुत से पशुओं में फैलकर एक जैसे लक्षण पैदा करते हैं ।

(3) पैन्जूटिक रोग (Panzootic)—वे हैं, जो एक देश या राष्ट्र में बहुत-सी पशु-जातियों में एक साथ प्रकोप करते हैं ।

(4) विदेशी रोग (Exotic)—वे रोग, जो विदेश से लाये गयें पशुओं के द्वारा प्रारम्भ होते हैं, विदेशी रोग कहलाते हैं । उदाहरणार्थ—दक्षिणी अफ्रीकी अश्व रोग (साउथ अफ्रीकन हार्स सिक्नेस) ।

(5) विकीर्ण रोग (Sporadic)—पागलपन (rabies) जैसे रोग को यत्र-तत्र कभी-कभी होते देखे जाते हैं, विकीर्ण रोग कहलाते हैं ।

(6) देशी रोग (Indigenous)—देश अथवा राष्ट्र के जन्म-जात रोग, देशी रोग कहलाते हैं ।

रोग-ग्रस्त भागों के अनुसार

(1) सामान्य रोग (General)—वे रोग, जो एक समय में शरीर के कई भागों अथवा सम्पूर्ण शरीर पर अपना प्रकोप करते हैं, सामान्य रोग कहलाते हैं । उदाहरणार्थ—इनफ्लूएंजा ।

(2) स्थानीय रोग (Local)—हाइड्रोसील, हार्निया, स्तन शोथ, फोड़ा या व्रण जैसे रोग, जो एक समय में शरीर के किसी विशेष अंग पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, स्थानीय रोग कहलाते हैं ।

लाक्षणिक घटनानुसार

(1) प्राइमरी रोग—कुछ रोग; जैसे, कुत्तों में डिस्टेम्पर, जो स्वतन्त्र रूप से अपना विकास करके प्रथम लक्षण प्रकट करते हैं, प्राइमरी रोग कहलाते हैं ।

(2) गौण रोग (Secondary)—वह रोग जो प्राइमरी रोग के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होता है, गौण रोग कहलाता है । उदाहरणार्थ—डिस्टेम्पर के बाद कोरिया रोग ।

(3) इण्टर करेण्ट रोग (Inter current)—वे रोग, जो प्राइमरी रोग के प्रकोप के मध्य पैदा होकर उसको और भी जटिल तथा भयानक बना देते हैं, इण्टर करेण्ट कहलाते हैं । उदाहरणार्थ—कोढ़ में खाज पैदा हो जाना, डिस्टेम्पर के साथ निमोनिया होना ।

(ब) ; 1. माइक्रोबायलोजिकल—बैक्टीरिया, वाइरस, प्रोटोजोआ तथा रिकेट्सिया द्वारा फैलने वाले रोग।

2. पैरासाइटिक—अंतः तथा बाह्य परजीवी कीटों द्वारा फैलने वाले परजीवी कीट रोग।

3. उपापचयिक (मेटाबोलिक)—उपापचयिक गड़बड़ी तथा आहार में पोषक-तत्वों की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग।

4. फंगल—कवक से उत्पन्न होने वाले रोग।

5. विषाक्तता—सर्पविष, पौधों तथा रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग।

6. अर्बुद तथा रसौली जैसे रोग।

7. शारीरिक चोट आदि से उत्पन्न कलेश।

इनका विविध वर्णन अगले पाठों में किया जा रहा है।

परिच्छेद : **40**

संक्रामक रोग और उनकी रोकथाम
(INFECTIOUS DISEASES & THEIR PREVENTION)

जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, बैक्टीरिया, वाइरस तथा प्रोटोजोआ से उत्पन्न होने वाले रोग, जो एक पशु से दूसरे पशु में पहुँचते हैं, संक्रामक रोग कहलाते हैं। जब ऐसे रोग स्वस्थ पशु को रोगी पशु के सीधे सम्पर्क में आने से लगते हैं, तो इन्हें छूत के रोग (contagious diseases) कहते हैं। मनुष्य में कालरा तथा चेचक और पशुओं में ऐंथ्रक्स, गलघोटू, लंगड़िया, पशु प्लेग, टेटनस तथा क्षय रोग आदि इनके उदाहरण हैं।

रोग फैलने के कारण (Etiology or Causes)

(अ) उत्तेजक कारक (Exciting Cause) :

बैक्टीरिया, वाइरस तथा प्रोटोजोआ जैसे सूक्ष्मजीव जिसके बिना कोई विशिष्ट रोग उत्पन्न नहीं हो सकता, बीमारी के उत्तेजक कारक कहलाते हैं।

(ब) पुरः प्रवर्तक कारक (Predisposing Factors) :

(1) दूषित आहार (faulty feeding)।

(2) अनुचित प्रजनन (defective breeding)।

(3) अस्वस्थ बाड़ा (unhygienic living)।

(4) गन्दा पानी (dirty water)।

(5) अधिक पशुओं का एक साथ रहना (assembly of animals)।

(6) दूषित प्रबन्ध (faulty management practices)।

उपर्युक्त कारणों से बीमारी फैलने वाले सूक्ष्मजीव पशु के शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं। अतः पुरः प्रवर्त्तक कारक रोग को आमन्त्रित करते हैं।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)

निम्नांकित मार्गों द्वारा रोग के कीटाणु पशु के शरीर में प्रवेश पा सकते हैं—

(1) त्वचा द्वारा (through skin)।

(2) भोजन प्रणाली द्वारा (through digestive tract)।

(3) श्वाँस नली द्वारा (through respiratory tract)।

(4) कंजक्टाइवा द्वारा (through conjunctiva)।

(5) जननेन्द्रिय तथा मूत्र नली द्वारा (through urinogenital tract)।

(6) गर्भनाल द्वारा (through placenta)।

(7) नाभि द्वारा (through umbilicus)।
(8) अयन तथा थनों द्वारा (through udder and teats)।
(9) अण्डे द्वारा (through egg)।

संक्रामक एवं छूत के रोगों की रोकथाम के कुछ सामान्य उपाय
(General measures for prevention and control of infectious and contagious diseases)

बचाव, उपचार की अपेक्षा अच्छा है (Prevention is better than cure)—यह रोग बहुत भयानक होते हैं, जिसमें करोड़ों की संख्या में पशु प्रतिवर्ष मृत्यु के घाट उतरते हैं। पशुओं के संक्रामक रोग केवल राष्ट्र की आर्थिक क्षति के लिये उत्तरदायी नहीं हैं वरन् इनके द्वारा पशु-धन का जो विनाश होता है, उससे कृषि कार्य को भी भारी धक्का पहुँचता है। इन रोगों के कारण देश में पशुधन उद्योग का आधुनिक वैज्ञानिक विकास भी समुचित रूप से नहीं हो सका है। अतः यहाँ पर उनकी रोकथाम के मुख्य उपाय वर्णन किये जा रहे हैं जिनको अपनाकर पशुपालक आपातकाल में अपने पशुओं की जान-माल की रक्षा कर सकते हैं।

(1) पृथक्करण (Isolation)—संक्रामक एवं छूत के रोग का सन्देह होते ही बीमार पशु को स्वस्थ पशुओं से पृथक् कर देना चाहिए और उसको अलग बांधकर ही देखभाल करनी चाहिए। स्वस्थ पशुओं को साफ-सुथरे, हवादार एवं रोशनी युक्त स्थानों में रखा जाय और उनका खाना-पीना तथा परिचारक भी रोगी पशु से बिल्कुल ही अलग रहे। यदि परिचारकों की कमी हो; जिसके कारण एक ही परिचारक रोगी तथा स्वस्थ, दोनों प्रकार के पशुओं की देखभाल करता हो, तो प्रथम उसे स्वस्थ पशुओं की देखभाल करके, रोगी पशु के पास जाना चाहिये और वहाँ से लौटने पर अपने हाथ-पैर दवायुक्त पानी, जैसे डिटोल घोल से साफ करना चाहिये। रोगी पशु के पास उसे एप्रन (कोट) पहनकर कार्य करना चाहिए और वहाँ से चलते समय एप्रन वहीं उतारकर रख देना चाहिए। रोगी के अच्छा हो जाने पर स्वस्थ पशुओं की कुछ दिनों तक नित्य जांच करनी चाहिये और यदि उनमें लेशमात्र भी बीमारी का सन्देह हो, तो तुरन्त अलग कर देना चाहिये।

(2) रोग की सूचना (Notification of the disease)—रोग की आशंका होने पर तुरन्त ही समीप के पशुशल्य चिकित्सक को सूचना देकर बुलवा भेजना चाहिये, जिससे कि उसकी सहायता से रोग आगे न बढ़ने पावे। वैसे तो सरकार की ओर से यह विभागीय आदेश है कि संक्रामक अथवा छूतदार रोग की आशंका होने पर क्षेत्र का लेखपाल अथवा ग्राम-सेवक लिखित रूप में समीप के पशु-चिकित्सक को तुरन्त ही सूचना दे। तहसील में इस कार्य के लिए विशेष प्रकार के फार्म उपलब्ध होते हैं। लेखपाल ऐसे चार फार्मों को भरकर बीमारी के विवरण से तहसीलदार को सूचित करता है। तहसीलदार तुरन्त ही एक प्रतिलिपि पशु-चिकित्सक को आवश्यक कार्यवाही हेतु तथा एक-एक जिला पशुधन अधिकारी व परगनाधीश को अविलम्ब

प्रेषित करता है। जिला पशुधन अधिकारी तुरन्त ही उस क्षेत्र के पशु-चिकित्सक को बीमारी रोकने हेतु आदेश जारी करता है।

ग्राम सेवक अपने क्षेत्र की बीमारी की रिपोर्ट स्वयं ही पशु-चिकित्सक अथवा क्षेत्र विकास अधिकारी से करता है, जो तत्क्षण ही रोग की रोकथाम के उपचार अपनाता है।

(3) रोग से मरे पशु के शव और बिछावन आदि का उचित प्रबन्ध (Proper disposal of the carcass and material in contact)—संक्रामक रोग से मरे हुए पशु का शव खुले मैदान, नदी या तालाव में नहीं फेंकना चाहिये और न उसकी खाल ही उतारने देना चाहिए। मरे हुए पशु उससे सम्वन्धित पदार्थ जैसे मल-मूत्र, बिछावन आदि को या तो आग में जला देना चाहिये अथवा 1·5–2 मीटर गहरा गड्ढा खोदकर, उसके ऊपर या नीचे चूने की 20–30 सेमी॰ की सतह बिछाकर पशु के शव को मिट्टी से बन्द कर देना चाहिये। इस गड्ढे के चारों ओर काँटेदार तार या खाई लगवा देना चाहिये, जिससे स्वस्थ पशु वहाँ चरने के लिये न पहुँच सके। ऐसा करने से स्वस्थ पशुओं को रोग लगने का भय नहीं रहता।
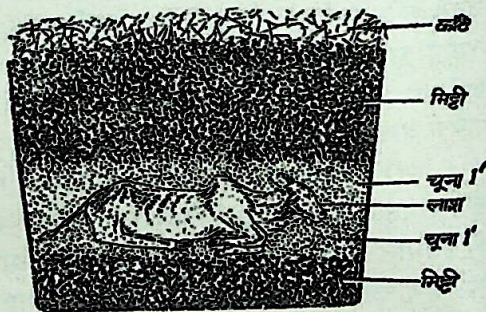
चित्र 40·1—मृत पशु को गड्ढे में गाड़ना

(4) रोगी पशु के सम्पर्क में आये हुए बर्तनों एवं स्थानों की सफाई (Cleaning of the material in contact with the patient)—पशु गृह के फर्श तथा दीवारें खूब अच्छी तरह से साफ करके 3% कास्टिक सोडा या 5% कार्वोलिक अम्ल घोल से धो डालनी चाहिये। तत्पश्चात् दीवारों को कार्वोलिक अम्ल युक्त चूने के घोल से पुतवा देना चाहिये। रोगी के सम्पर्क में आये हुए वर्तन तथा जंजीरें आदि गर्म भाप से अथवा उवलते पानी में खौलाकर जीवाणु रहित करना चाहिए।

(5) चरागाहों का बदलना (Change of pastures)—बीमार पशुओं द्वारा चरे हुए चरागाह बहुधा रोग फैलाने में बहुत सहायक होते हैं। इस पर निकाले हुए मल-मूत्र इत्यादि से, वहाँ की घास में रोग के कीटाणु अपना निवास करते हैं। जब कोई स्वस्थ पशु ऐसे दूषित चरागाहों पर चरने जाता है, तो मुँह या श्वास नली द्वारा छूत के कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश पाकर बीमारी फैलाते हैं। अतः ऐसे चरागाहों पर जहाँ बीमार पशु चर चुके हों, स्वस्थ पशु नहीं चराना चाहिये और उनको अच्छे, साफ एवं शुद्ध चरागाहों पर भेजना चाहिये। दूषित चरागाह पर चूना छिड़कवा कर अथवा हल चलवा कर उसे 5–6 माह की अवधि के लिये खाली छोड़ देना चाहिये। ऐसा करने से रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। यदि सम्भव हो तो

इन चरागाहों के चारों ओर खाई या तार लगवा देना चाहिये, जिससे धोखे से भी कोई पशु वहाँ न पहुँच सके।

(6) पशुओं को टीका लगवाना (Vaccination of animals)—अधिकतर उपयोग में आने वाले जैविक पदार्थ निम्नलिखित हैं—

(अ) मरा हुआ अथवा जीवित, परन्तु रोग उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ **बैक्टीरियल या वाइरस वैक्सीन।**

(ब) बीजाणु द्वारा उत्पादित बैक्टीरिया रिक्त पदार्थ; जैसे—**टॉक्सिन (जीव विष)** तथा **टॉक्साइड (जीव विषाभ)**, जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में दिये जाने पर शरीर के अन्दर काफी मात्रा में विशेष प्रकार की ऐन्टीबाडी (प्रति पिण्ड) उत्पन्न कर देते हैं, जिन्हें **जीव-विषहर** (antitoxin) कहते हैं।

(स) **बैक्टीरियल अथवा वाइरल ऐन्टीसीरम**—इनका प्रयोग महामारी के फैलने अथवा महामारी की आशंका के समय बचाव के लिये होता है।

चित्र 40·2—वैक्सीन तथा सीरम
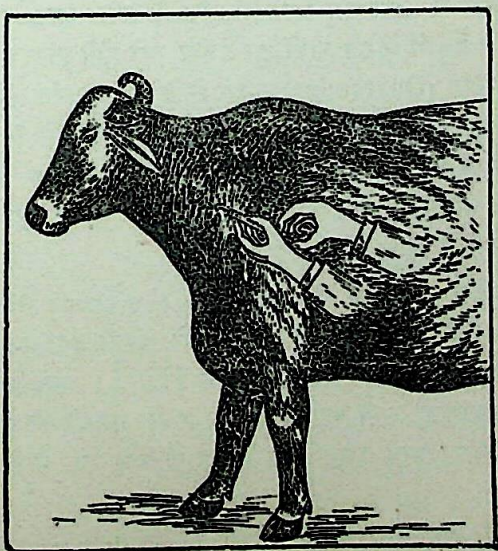
चित्र 40·3—पशु को टीका लगाना

(द) रोग के निदान के लिये प्रयोग होने वाले कुछ एर्लजिक (allergic) पदार्थ, जैसे—मैलीन, जोनिन, ट्यूवर्क्युलिन आदि ।

प्रत्येक संक्रामक रोग के टीके प्रादेशिक पशु-पालन विभाग की ओर से रोग की ऋतु आने से पूर्व लगाये जाते हैं। अतः समीप के पशु चिकित्सक को सूचना देकर बचाव के टीके, उचित समय पर प्रतिवर्ष लगवा देने चाहियें। ऐसा करने से पशुओं में महामारी फैलने का भय नहीं रहता। यदि टीके पहले से न लगवाये गये हों, तो महामारी फैलने पर तुरन्त ही आस-पास तथा पड़ौस के गाँवों में स्वस्थ पशुओं को वैक्सीन का टीका देना चाहिये तथा रोगी पशुओं से सम्पर्क में आए हुए स्वस्थ पशुओं को 15 से 20 घ० सेंमी० सीरम का इन्जेक्शन देना चाहिये। रोगी के सम्पर्क में आये हुये स्वस्थ पशुओं को कभी भूलकर भी वैक्सीन का टीका न दिया जाये अन्यथा बीमारी और जोर पकड़ लेगी। इस प्रकार सीरम देने से वहुधा 14 दिन के लिये पशु में बीमारी रोकने की शक्ति पैदा होती है। अतः यदि आवश्यकता हो, तो सीरम का टीका 14 दिन बाद पुनः दोहरा देना चाहिये। टीका लगाने से पूर्व पिचकारी व सुई को गर्म पानी में उबालकर खूब साफ कर लेना चाहिये। अधिक खर्चीला होने के कारण आजकल सीरम का उत्पादन बन्द कर दिया गया है और विशेष परिस्थितियों में ही इसकी आपूर्ति की जाती है।

आजकल महामारी से बचाव के टीके प्रत्येक प्रदेश में पशु-पालन विभाग द्वारा सरकार की ओर से निःशुल्क अथवा नाममात्र शुल्क लेकर लगाये जाते हैं। गलघोटू (H. S.) के प्रति मई या जून में लंगड़िया (B. Q.) एवं विषहरी (Anthrax) के प्रति अगस्त-सितम्बर में और पशु प्लेग (R. P.) के प्रति अक्टूबर-नवम्बर में यह टीके लगवा लेने से पशुओं में इन रोगों का प्रकोप नहीं होने पाता।

(7) क्वारंटीन (Quarantine)—इस विधि के अन्तर्गत, सभी नये खरीदे हुए पशुओं को निजी यूथ (herd) में मिलाने के पूर्व, 15 से 21 दिन तक अलग रखकर, इस तथ्य की परीक्षा की जाती है कि वे किसी संक्रामक रोग से पीड़ित तो नहीं हैं। यदि इस अवधि में उनमें कोई भी बीमारी के लक्षण नहीं मिलते, तो उन्हें स्वस्थ पशुओं के यूथ में मिला लिया जाता है।

(8) पशुओं के एकत्रित होने पर रोक (To check the gathering of animals)—वहुधा ऐसा देखा गया है कि बाजारों, मेलों तथा पशु प्रदर्शनियों आदि में इकट्ठा होने से पशुओं में छूतदार रोग शीघ्र फैलते हैं। अतः यदि किसी स्थान में रोग फैलने की आशंका हो, तो वहाँ आने वाले सभी पशुओं को या तो मार्ग में ही बचाव के टीके लगवाये जायें अथवा कुछ समव के लिये इन मेलों को स्थगित कर दिया जाये।

(9) पशुओं का खान-पान (Feeding of animals)—बीमारी फैलने की ऋतु में स्वस्थ पशुओं के चारे एवं पानी पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पशुओं को

कोई भी ऐसा आहार न दिया जाये जो उनके पेट में कब्ज करे; क्योंकि ऐसा होने से पशु में रोग ग्रहण करने की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। अतः ऐसे समय में शीघ्र पाचक व पौष्टिक आहार; जैसे—हरे चारे, चोकर, दलिया आदि तथा स्वच्छ एवं कुयें का ताजा पानी देना चाहिये। नदियों, नहरों तथा तालावों का पानी, जो कि रोग के कीटाणुओं अथवा विभिन्न प्रकार के परजीवी कीटों से संदूषित हो सकता है, पशुओं को नहीं पिलाना चाहिये। साथ ही पशुओं को एक-दूसरे का जूठा चारा-दाना नहीं खिलाना चाहिये और न जूठे बर्तनों में पानी पिलाना चाहिये।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि वर्षा ऋतु में संक्रामक एवं संसर्गिक रोग पशुओं में अधिक प्रकोप करते हैं और हमारे ग्रामीण भाइयों तथा कृषकों के मूल्यवान पशु देखते-देखते ही ऐसी बीमारियों का शिकार होकर मौत के घाट उतर जाते हैं। अतः उपर्युक्त बताई हुई मोटी-मोटी बातों को ध्यान में रखकर आप कुसमय में अपने पशुओं की जान-माल की रक्षा कर सकते हैं। हमारे बहुत से अनपढ़ साथी बीमारियों के बचाव के प्रति टीका लगवाने के महत्व को नहीं समझते। टीका न लगवाने से आपका ही नुकसान है। अतः छुतैली बीमारियों के प्रति सरकार की ओर से जब कभी टीके की व्यवस्था हो, उसे सहर्ष लगवा लेना चाहिये। यदि आपके क्षेत्र या गाँव में किसी छुतैली बीमारी का प्रकोप हो रहा हो तत्काल ही पशु-चिकित्सक से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

गोजातीय तथा भैंस वंशज पशुओं को रोगों से बचाव के प्रति टीके लगाना (Prophylactic Vaccination of Cattle & Buffaloes)

गलाघोटू रोग (Haemorrhagic Septicaemia)

1. **वैक्सीन का नाम** —हैमोरेजिक सेप्टीसिमिया एड्जूवेंट वैक्सीन

निर्माता —भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) इज्जतनगर, बरेली

मात्रा —2 मिलि लिटर 150 किलोग्राम शरीर भार तक, 3 मिलि लिटर 150 किलोग्राम से अधिक शरीर भार पर।

टीका देने की विधि —गर्दन अथवा नितम्ब की माँस पेशी में (1/M)

प्रतिरक्षा की अवधि —एक वर्ष

भण्डारण —रेफ्रीजरेटर में 2° से 4°C पर 12 माह तक

सावधानियाँ —(1) प्रयोग से पूर्व बोतल को भली भाँति हिलाइए।
(2) टीका लगाने के बाद 2–3 दिन तक पशु चरने न भेजें।

पैंकिंग —एक बोतल में 100 खुराक सीलबन्द

2. वैक्सीन का नाम —बाएफ एच० एस० वैक्सीन
निर्माता —बाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
मात्रा —2·5 मि०लि० वर्षा शुरू होने से पूर्व प्रति वर्ष
विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे (Sub cut)
प्रतिरक्षा —एक वर्ष
भण्डारण —प्रशीतक में
पैंकिग —100 मि०लि० (40 पशुओं के लिए)
—25 मि०लि० (10 पशुओं के लिए)

ऐंथ्राक्स
(Anthrax)

वैक्सीन —ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन
निर्माता —आई० वी० आर० आई० इज्जतनगर–मुक्तेश्वर
मात्रा —1 मिलि लिटर
विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे (Sub cut)
प्रतिरक्षा —एक वर्ष
भण्डारण —प्रशीतक (Refrigerator) में
पैंकिग —एक बोतल में 100 खुराक सील बन्द

लंगड़िया रोग
(Black Quarter)

1. वैक्सीन का नाम —ब्लैक क्वार्टर वैक्सीन (पॉलीवैलेन्ट)
निर्माता —आई०वी०आर०आई०, इज्जतनगर
मात्रा —5 मि०लि० वर्षा शुरू होने से पूर्व प्रति वर्ष तथा अधिक अच्छी प्रतिरक्षा के लिये 10 दिन बाद पुनः एक बार।
विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे (Sub cut) टीका दें।
प्रतिरक्षा —एक वर्ष
भण्डारण —प्रशीतक में 2° से 4°C पर 6 माह तक
पैंकिग —एक बोतल में 50 खुराक सील बन्द
2. वैक्सीन का नाम —बाएफ ब्लैक क्वार्टर रोग वैक्सीन
निर्माता —बाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
मात्रा —2·5 मि०लि० वर्ष में एक बार मानसून से पहले
विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे टीका दें।
प्रतिरक्षा —एक वर्ष
भण्डारण —प्रशीतक में

पैंकिग —100 मि०लि० (40 खुराक)
—25 मि०लि० (10 खुराक)

3. बाएफ लंगड़िया तथा गलाघोटू संयुक्त वैक्सीन
Baif's B.Q. & H.S. Combined Vaccine

निर्माता —बाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट बाघोली, पूना
मात्रा —5 मि०लि० वर्ष में एक बार मानसून से पहले
विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे
प्रतिरक्षा —एक वर्ष
भण्डारण —प्रशीतक में 6° से 10°C के मध्य 1 वर्ष तक
पैंकिग —100 मिलि० (20 खुराक)

रिण्डरपेस्ट
(Rinderpest)

1. वैक्सीन का नाम —फ्रीजड्राइड जी०टी०वी० (Gost Tissue Virus)
निर्माता —आई०वी०आर०आई०, इज्जतनगर
मात्रा तथा विधि —1 मि०लि० त्वचा के नीचे
प्रतिरक्षा —7 से 14 वर्ष तक
भण्डारण —प्रशीतक में
पैंकिग —0·25 ग्राम चूर्ण एक ऐम्पूल में (100 पशुओं के लिए)
सावधानियाँ —(i) एक ऐम्पूल को तोड़कर उसका वैक्सीन 100 मिली लिटर ठंडे नॉर्मल सलाइन में घोलें।
(ii) विदेशी नस्ल के पशुओं को इसका टीका न दें क्योंकि उनमें यह प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है।
(iii) घोलने के बाद वैक्सीन को जल्दी से जल्दी लगा दें। घुले हुए वैक्सीन को सूर्य की रोशनी से बचायें।

2. वैक्सीन का नाम —फ्रीज ड्राइड टिसू कल्चर रिण्डर पेस्ट वैक्सीन
निर्माता —आई०वी०आर०आई०, इज्जत नगर
मात्रा —1 मिलि लिटर प्रति पशु
विधि —ऐम्पूल को तोड़कर ठंडे किये हुए नार्मल सलाइन में घोलकर निर्धारित मात्रा में त्वचा के नीचे टीका दें।

प्रतिरक्षा —2 से 3 वर्ष

भण्डारण —प्रशीतक में 4°C पर 6 माह तक तथा —20°C पर 2 वर्ष तक।

सावधानियाँ —(i) यह वैक्सीन देशी तथा विदेशी सभी पशुओं को दिया जा सकता है। दुधारू तथा गाभिन पशु भी वैक्सीनेट किये जा सकते हैं।

(ii) वैक्सीन घोलने से पूर्व सीरिंज तथा सुई भी जीवाणु रहित करके रेफ्रीजरेटर (प्रशीतक) में रख कर ठण्डा कर लें।

(iii) एल्कोहल अथवा स्प्रिट का प्रयोग न करें।

(iv) धुले हुए वैक्सीन को वर्फ के टुकड़ों के बीच थर्मस फ्लास्क में रखें तथा 4 घण्टे तक प्रयुक्त कर लें।

(v) एक दिन के वछड़े को भी 1 मि० लि० की मात्रा में इसका टीका दिया जा सकता है किन्तु 6 से 8 माह की आयु पर उन्हें एक-बार दुबारा टीका देना पड़ता है।

पैंकिग —काँच की ऐम्पूल में चूर्ण के रूप में

3. वैक्सीन का नाम —वाएफ टिसू कल्चर वैक्सीन

निर्माता —वाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना

मात्रा —1 मि० लि० प्रति पशु वर्ष में एक बार

विधि —ऐम्पूल को तोड़कर उसका पदार्थ 100 मि० लि० ठंडे घोलक में घोलकर त्वचा के नीचे टीका दें।

प्रतिरक्षा —एक वर्ष या अधिक

भण्डारण —4° से 6°C पर रेफ्रीजरेटर में

सावधानियाँ —(i) घोला हुआ वैक्सीन 2 घंटे में प्रयुक्त कर लें।

(ii) इसे सूर्य की रोशनी से वचायें।

(iii) दुधारू तथा गर्भित पशुओं को भी इसका टीका दिया जा सकता है।

पैंकिग —एक शीशी में 100 खुराक, साथ में 100 खुराक घोलक

खुरपका-मुँहपका रोग
(Foot & Mouth Disease)

1. वैक्सीन —खुरपका-मुँहपका रोग वैक्सीन (O. A. C. & Asia I) (फूट एण्ड माउथ डिजीज वैक्सीन), पालीवैलेंट

निर्माता —आई०वी०आर०आई०, इज्जतनगर

मात्रा —40 मिलि लिटर त्वचा के नीचे गल कम्बल पर। 20 मिलि लिटर बछड़ों तथा भेड़ों के लिये।

विधि —पहले 4 से 6 माह के अन्तर पर दो वार इसका टीका देकर, बाद में प्रतिवर्ष इसका प्रयोग करें। बछड़ों में यह 'काफ-हुड वैक्सीनेशन' कहलाता है। एक माह से कम आयु के बछड़ों को 20 मि० लि० का पहला टीका देकर, अगले 21 दिन में इतनी ही मात्रा में दुबारा वैक्सीन लगायें। 5 से 6 माह की आयु पर इन्हें 40 मि० लि० वैक्सीन देकर पुनः 40 मि० लि० एक वर्ष की उम्र पर दें। अब 40 मि० लि० की मात्रा में प्रतिवर्ष टीका लगायें। विदेशी नस्ल के पशुओं को प्रत्येक 6 माह पर इसका टीका देना अधिक अच्छा है।

प्रतिरक्षा —6 माह से 1 वर्ष तक

भण्डारण —प्रशीतक में, किन्तु डीप फ्रीज में न रखें

पैकिंग —1 तथा 8 खुराक की बोतल में

सावधानियाँ —(i) प्रयोग से पूर्व वैक्सीन को भली-भाँति हिला लें।
—(ii) खुरपका-मुँहपका रोग के प्रकोप के समय दूध पीने वाले बच्चों को उबला हुआ दूध पिलायें

2. वैक्सीन —फूट एण्ड माउथ वैक्सीन (कन्सन्ट्रेटेड)
B. Vet. C. Quadrivalent (O. A. C. Asia-I types) and Monovalent Sub type A-22

निर्माता —बाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना

मात्रा —(i) क्वाड्रीवैलेन्ट वैक्सीन :
गाय, भैंस तथा बछड़े —10 मि० लि०
भेड़-बकरी —5 मि० लि०
—(ii) मानो वैलेन्ट वैक्सीन —2·5 मि० लि०

टीका देने का प्रोग्राम—

प्राथमिक टीका देने के समय पशु की आयु	दूसरी बार टीका देने का समय (बूस्टर डोज)	पुनः टीका देने का समय
(1) 6 से 8 सप्ताह के बछड़े तथा बछियाँ	4 माह की आयु पर एक बार और पुनः 6 माह बाद	6, 9 अथवा 12 माह के अन्तर पर
(2) 4 से 6 माह के युवा पशु	6 माह बाद	
(3) प्रौढ़ पशु	3–4 माह बाद	

विधि —गल कम्वल, अथवा गर्दन पर त्वचा के नीचे टीका दें (Sub cut)।

प्रतिरक्षा —6–12 माह

भण्डारण —प्रशीतक में 6°C तथा 10°C के बीच 1 वर्ष तक

पैंकिग —(i) क्वाड्रीवैलेन्ट वैक्सीन : 100 मि० लि० (10 खुराक), 30 मि० लि० (3 खुराक) तथा 10 मि० लि० (एक खुराक)

(ii) मानोवैलेन्ट वैक्सीन : 100 मि० लि० (40 खुराक) तथा 25 मि० लि० (10 खुराक) की शीशियों में

3. वैक्सीन का नाम —(i) हेक्स्ट खुरपका-मुँहपका रोग वैक्सीन ओ० ए० सी० तथा एशिया 1

(ii) मानोवैलेन्ट सब टाइप A-22 वैक्सीन

निर्माता —हेक्स्ट फार्मास्युटिकल्स लिमिटेट बाम्बे

मात्रा —गाय, भैंस तथा बछड़े—10 मि० लि०

भेड़ तथा बकरी —5 मि० लि०

विधि —गर्दन पर त्वचा के नीचे टीका दें

प्रोग्राम —प्राथमिक टीका—3 सप्ताह या अधिक आयु पर

बूस्टर टीका —प्राथमिक टीका देने के बाद 3 माह के भीतर

पुनः वैक्सीनेशन—प्रत्येक 6 माह के भीतर

प्रतिरक्षा —6 माह

भण्डारण —प्रशीतक में 6° से 10°C के मध्य

पैंकिग —30 मि०लि० तथा 100 मि०लि० की शीशियों में।

इस पाठ में वर्णन किये गये वैक्सीन उनके निर्माताओं अथवा अधिकृत विक्रेताओं से आप खरीद कर उचित समय पर अपने पशुओं को लगा सकते हैं। वैक्सीन की बोतलों अथवा पैकिंग के साथ जो साहित्य मिलता है उसी के अनुसार निर्धारित मात्रा में इसका प्रयोग करना चाहिये। प्रत्येक वैक्सीन के पैकिंग पर निर्माता तिथि तथा उसके प्रयोग की अन्तिम तिथि (expiry date) अंकित रहती है। अन्तिम तिथि बीत जाने पर उस वैक्सीन का टीका पशु को नहीं लगाना चाहिये। समस्त वैक्सीनों को निर्धारित तापक्रम पर ही रेफ्रीजरेटर में रखना चाहिये। ऐसा न करने से वैक्सीन खराब हो जाता है। दुकान से खरीदते समय भी इन्हें बर्फ के टुकड़ों के बीच पेटी या थर्मस फ्लास्क में रखकर घर लाकर रेफ्रीजरेटर में रखना जरूरी है। प्रयोग में लाने से पूर्व सीरिंज तथा सुई को खौलते हुए पानी में उबाल कर जीवाणु रहित करना चाहिये। वैक्सीनेशन करते समय सुई को साफ करने अथवा पशु के शरीर पर लगाने के लिये स्प्रिट, एल्कोहॉल अथवा अन्य किसी विसंक्रामक पदार्थ को उपयोग में नहीं लाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वैक्सीन की क्षमता नष्ट हो सकती है। एक बार वैक्सीन की शीशी खोल लेने पर अथवा चूर्णयुक्त वैक्सीन को घोलक में घोलने के बाद उसे पुनः भण्डारित न करके शीघ्रातिशीघ्र पशुओं को लगा देना चाहिये। सूर्य की रोशनी से भी इन औषधियों को बचाना अधिक अच्छा है। टीका देने के बाद तीन-चार दिन तक पशुओं को चरागाह पर चरने नहीं भेजना चाहिये।

रोग नियन्त्रण में प्रादेशिक सरकार का योगदान

पशुओं में प्रकोप करने वाली महामारियों से न केवल उनकी असामयिक मृत्यु होती है वरन् उनके उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतएव पशुपालन विभाग, उत्तर-प्रदेश द्वारा इस दिशा में दो प्रकार के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं :

(1) चिकित्सा सुविधाओं का विस्तार

(2) रोग नियन्त्रण हेतु वैक्सीन का उत्पादन एवं पशुओं को टीका लगाना

पशु रोग निदान हेतु मण्डलीय स्तर पर निदान प्रयोगशालायें तथा केन्द्रीय स्तर पर पशुपालन निदेशालय पर एक प्रयोगशाला कार्यरत है। पशु चिकित्सालयों एवं अन्य विभागीय संस्थाओं द्वारा पशुओं को प्रमुख संक्रामक रोगों से बचाव हेतु टीका लगाने की सुविधायें उपलब्ध कराई जाती हैं। बचाव के टीकों का उत्पादन विभागीय जैविक औषधि उत्पादन केन्द्र, लखनऊ द्वारा किया जाता है। जिन बीमारियों के प्रति बचाव के टीकों का उत्पादन इस केन्द्र पर नहीं होता उन्हें क्षेत्रीय माँग के अनुसार आई० वी० आर० आई०, तथा अन्य प्रदेशों की राजकीय अथवा निजी क्षेत्र की वैक्सीन उत्पादन संस्थाओं से प्राप्त कर प्रदेश के पशुओं में प्रयोग हेतु विभागीय संस्थाओं को उपलब्ध कराया जाता है। टीका उत्पादन को बढ़ावा देने के लिये जैविक औषधि उत्पादन की एक-एक इकाई गोरखपुर तथा पर्वतीय अंचल में स्थापित की जा रही है।

बैक्टीरियल रोग
(BACTERIAL DISEASES)

परिच्छेद : **41**

ऐन्थ्रक्स
(ANTHRAX)

अन्य नाम—गिल्टी रोग, जहरी बुखार, प्लीहा का बुखार, विषहरी आदि।

विषय परिचय—यह एक बैक्टीरिया द्वारा फैलने वाला विशेषकर जुगाली करने वाले पशुओं का बहुत ही घातक भयानक छूतदार रोग है। बहुधा यह रोग गाय, भैंस, घोड़ा, भेड़ तथा बकरियों को हुआ करता है। हमारे देश में भेड़ों में यह बहुत ही प्रचण्ड रूप से प्रकोप करता है। चूँकि यह एक ऐसा रोग है जो अनजाने में पशुओं से मनुष्यों को भी लग जाता है, अतः इसे बहुत ही भयंकर समझा जाता है। शत-प्रतिशत रोग-ग्रसित पशु कुछ घण्टों में ही परलोक सिधार जाते हैं। गर्मियों की ऋतु में इसका प्रकोप हुआ करता है। तराई तथा दलदले स्थानों में इसका जीवाणु कई वर्ष तक जीवित रह सकता है। बहुधा लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही रोग-ग्रसित पशु की मृत्यु हो जाती है और उसकी चिकित्सा के लिये समय ही नहीं मिल पाता। छोटी आयु के पशुओं को यह रोग अधिक होता है। प्रतिवर्ष इस रोग से मरने वाली गाय-भैंसों की अनुमानित संख्या 5000 के लगभग है। संसार के प्रायः सभी देशों में इस रोग का प्रकोप होता है। भारत जैसे गर्म देश में गर्मियों के दिनों में दूषित चरागाहों से पशुओं को इस रोग की छूत लग जाती है। जिन स्थानों में एक बार यह रोग फैल चुका हो, वहाँ इसका बार-बार प्रकोप होता है।

कारण (Etiology or cause)—**बैसिलस ऐन्थ्रेसिस** (Bacillus Anthracis) नाम का बैक्ट्रीरिया इस रोग को फैलाता है। वह स्पोर (बीजाणु) बनाने वाला जीवाणु होने के कारण अधिक शक्तिशाली समझा जाता है। स्पोर केवल हवा में उपस्थित ऑक्सीजन मिलने पर ही बनते हैं। मृत शरीर को यदि चीर दिया जाये तो वायु से ऑक्सीजन लेकर असंख्य स्पोर बनने लगते हैं। रोग-ग्रसित पशु में शरीर से निकलने वाले द्रवों तक रक्त में यह जीवाणु उपस्थित रहता है। शरीर से बाहर 37 डिग्री सेंटीग्रेड पर इसका विकास होता है। शरीर के अन्दर स्पोर नहीं बनते वरन् शरीर से बाहर जब रक्त निकलता है, तो ऑक्सीजन की उपस्थिति में स्पोर बनने लगते हैं, जो

प्रतिकूल वातावरण में भी पनप सकते हैं। यह जीवाणु सूर्य के ताप में 6–10 घण्टे में नष्ट हो जाते हैं, परन्तु अनुकूल वातावरण में इनके स्पोर वर्षों तक जीवित रहकर बैक्टीरिया को जन्म देते रहते हैं। स्पोर तेज भाप से पाँच मिनट में नष्ट हो जाते हैं तथा 1 : 1000 मरकरी-पर-क्लोराइड का घोल 20 मिनट में इन्हें नष्ट कर देता है। बैसिलस ऐन्थ्रेसिस को सर्वप्रथम 1850 में रेयर और उनके सहयोगी डैवेन ने ऐन्थ्राक्स से मरे हुए पशु के रक्त में देखा। कोच (Koch) तथा पास्चर (Pasteur) ने क्रमशः 1876 और 1877 में इस जीवाणु को कृत्रिम माध्यम में उगाया। जीवाणु छड़ की आकृति का 2–4 माइक्रॉन (micron) लम्बा तथा गतिहीन होता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection) :

(1) अन्न नली द्वारा (By ingestion)—दूषित पानी, चारा-दाना खाने तथा चरागाह में चरने से स्पोर पशु के शरीर में प्रवेश पाते हैं। कुत्ते, कौवे, गीध तथा सियार भी इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं। ऐसे जीवधारी रोग ग्रसित पशु के माँस को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

(2) श्वाँस नली द्वारा (By inhalation)—इस मार्ग से छूत अधिकतर मनुष्यों को लगा करती है। ब्रुश बनाने वाली फैक्टरियों में काम करने वाले लोगों में नाक के द्वारा स्पोर शरीर में प्रवेश पाकर बीमारी फैलाते हैं। इसी कारण इसका नाम 'ऊन छाँटने वालों का रोग' (wool sorter's disease) भी पड़ा है। रोगी पशु की खाल तथा ऊन से भी यह रोग पशुओं को लग जाता है।

(3) त्वचा द्वारा (By skin)—पशुवध गृहों (slaughter houses) में काम करने वाले मनुष्यों तथा बचाव के टीके लगाते समय पशु-चिकित्सकों में कभी-कभी किसी घाव अथवा खरोंच के द्वारा स्पोर शरीर में प्रवेश पाकर रोग का कारण बनते हैं। पशुओं को काटने वाली मक्खियाँ जब किसी रोगी पशु के खून को चूसकर स्वस्थ पशु को काटती हैं, तो इसमें रोग के जीवाणु प्रवेश पा लेते हैं।

(4) मृत पशुओं के शरीर से बचने वाले उर्वरक (fertilizers) तथा हड्डी के चूर्ण (bone meal) में भी यह स्पोर उपस्थित रहकर रोग फैलाने में सहायक होते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Period of incubation)—12 से 24 घण्टे या अधिक।

लक्षण (Symptoms) :

(1) अति तीव्र (Per acute)
(2) तीव्र (Acute)
(3) कुछ तीव्र (Sub acute)

अति तीव्र अवस्था (Per acute form)—काँपकर धड़ाके से पृथ्वी पर गिरना, तेज श्वाँस-प्रश्वाँस, मुँह नाक तथा मलाशय से रक्त मिला हुआ झागदार

स्राव का गिरना तथा कुछ ही क्षणों में रोगी की मृत्यु हो जाना आदि इस अवस्था के प्रमुख लक्षण हैं। कभी-कभी विना लक्षण प्रकट किये ही पशु एकाएक मरने लगते हैं। शाम को अच्छे बाँधे हुए पशु प्रातः अपने बाड़े में मरे हुए मिलते हैं। रोग की ऐसी अवस्था प्रायः भेड़-बकरियों में अधिक होती देखी गई है।

तीव्र अवस्था (Acute form)—अत्यधिक बेचैनी, पैरों का लड़खड़ाना, 106 डिग्री फारेनहाइट (41° सें०) तक तेज बुखार, वेगयुक्त श्वाँस-प्रश्वास, तीव्र नाड़ी, चक्कर काटना, पेट का गुम्ब हो जाना, शरीर के थोड़े-थोड़े भागों में पसीना आना, खोंचा मारने वाला तेज दर्द, वाह्य श्लेष्मिक झिल्लियों का नीलापन लिये हुये लाल दिखाई पड़ना, कोख, गले व कभी-कभी सीने पर सख्त तथा गर्म सूजन, बाद में खून मिले दस्त होकर रोग ग्रसित पशु का 24 से 48 घण्टे में मर जाना तथा उसके शरीर के प्राकृतिक छिद्रों से काला कोलतार जैसा चमकदार झागयुक्त स्राव निकलना और उसका न जमना, इस अवस्था के प्रधान लक्षण हैं। इसमें मृत्यु एकाएक नहीं होती। कुछ पशुओं के मुँह तथा जीभ में छाले भी पड़ते देखे गये हैं और उनके मुँह से रक्त-युक्त लार वहती है। पशु के मरने के बाद यदि प्लीहा की परीक्षा की जाये तो वह कई गुना बढ़ी मिलती है। इसी कारण इसे 'प्लीहा का बुखार' भी कहा जाता है।

कुछ तीव्र अवस्था (Sub acute form)—इसमें लगभग तीव्र अवस्था के सभी लक्षण कुछ हल्केपन में विद्यमान रहते हैं। तेज बुखार आना, भूख की कमी, जुगाली न करना, पेट का फूल जाना, मुँह, नाक तथा अतड़ी से रक्तयुक्त स्राव इत्यादि लक्षण प्रकट करके 2 से 6 दिन में पशु की मृत्यु हो जाती है।

मरने के बाद पशु का शरीर फूल जाता है। उसकी त्वचा सड़ जाती है तथा नथुनों और मलाशय से झागदार खून बहता है।

रोग का निदान (Diagnosis) :

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के ऊपर बताये गए मुख्य लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाती है।

चित्र—41·1
ऐन्थ्रक्स रोग के जीवाणु
(Bacillus Anthracis)

(2) माइक्रोस्कोप द्वारा (Microscopic)—रोगी पशु के रक्त का काँच के स्लाइड पर पतला लेप बनाकर 10% मेथिलीन ब्ल्यू के जलीय घोल में अभि-रंजन (staining) करके, माइक्रोस्कोप के तेल लक्षक-काँच (oil immersion objective) में देखने से रोग के जीवाणु नीले रंग के तथा उनके कैपस्यूल (capsules) नीललोहित (purple) दिखाई पड़ते हैं। बेलनाकार छड़ की आकार के ये जीवाणु 4μ से 8μ लम्बे तथा 1μ से $1{\cdot}2\mu$ व्यास के होकर जंजीर की आकृति में दिखाई देते हैं।

रक्त लेने के लिये या तो कान की शिरा में सुई छेदकर खून निकाल लेते हैं। अथवा कान की जड़ पर दोहरा वन्ध वाँधकर, उसे अलग काट लेने हैं। तत्पश्चात् इससे खून लेते हैं। सुई छेदे हुए या काटे हुए स्थान को गर्म लोहे से तुरन्त दाग देना चाहिये, जिससे रक्त की एक बूँद भी पृथ्वी पर गिरकर छूत न फैलाने पाये।

(3) **संवर्धनीय (Culture)**—इस विधि में जीवाणु को किसी अनुकूल माध्यम, जैसे ऐगार-ऐगार अथवा रक्तयुक्त ऐगार में उगाकर, उसकी परीक्षा करने पर, भेड़ की ऊन अथवा स्त्रियों के उलझे हुए बालों के एक गुच्छे की भाँति उनकी वृद्धि दिखाई पड़ती है।

(4) **पशु को टीका लगाकर (Animal inoculation)**—संवर्धन (culture) या किसी अन्य सन्देहयुक्त पदार्थ को लवणीय घोल में घोलकर, गिनीपिग (guinea-pig) में इन्जेक्शन देने पर 36 से 48 घण्टे में रोग के लक्षण दिखाकर उसकी मृत्यु हो जाती है। इस जाँच के लिये गिनीपिग के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रहण-शील पशु को भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

(5) **वलय परीक्षण (Ring test)**—इसको **ऐस्कोली परीक्षण (Ascoli's test)** भी कहते हैं। जब मरा हुआ पशु निदान करने से पूर्व सड़ गया हो, तब यह परीक्षा की जाती है। इसके अन्तर्गत, पहले रोगयुक्त प्लीहा (spleen) या शरीर के किसी अन्य भाग को नार्मल-लवणीय (normal saline) घोल में पीसते हैं। तत्पश्चात् इसको उबलते हुए ऊष्मक जलपात (water bath) पर कुछ मिनटों तक रखकर, उतार कर छान लेते हैं। अब एक परखनली में ½ घ० सें० ऐन्थ्रक्स का सीरम लेकर उसमें उतना ही उपर्युक्त प्रकार बनाया हुआ प्लीहा का लवणीय घोल मिलाते हैं। इस प्रकार रोगी पशु में दोनों घोलों के मिलने के स्थान पर एक श्वेत अवक्षेप (white precipitate) की वलय (ring) बन जाती है।

चित्र 41·2—ऐस्कोली परीक्षण (Ascoli's test)
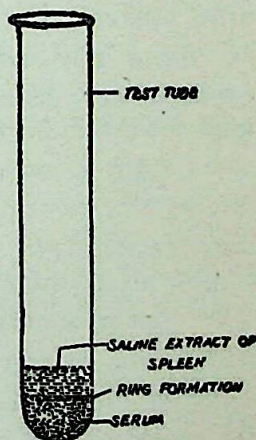
चिकित्सा (Treatment) :

रोग के लक्षण प्रकट होने पर इसका कोई भी विशेष इलाज नहीं है। यदि प्रारम्भकाल में ही रोग का पता लग जाए, तो 100–150 घ० सें० ऐंटी ऐन्थ्रक्स सीरम (anti serum) का अन्तः शिरा (intravenous) अथवा अधस्त्वक् (sub-cutaneous) इन्जेक्शन देकर पशु को किसी हद तक बचाया जा सकता है। पैनि-सिलिन (penicilin) अथवा सल्फाडिसीडीन घोल का इन्जेक्शन भी काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। 33⅓ प्रतिशत सल्फामीडीन सोडियम घोल 30–40 घ० सें० ग्रीवा

में एक ओर तथा 50 घ० सें० सीरम का इन्जेक्शन गर्दन में दूसरी ओर देने से आशातीत लाभ होते देखा है।

आजकल इस बीमारी के इलाज में ओम्नामाइसीन, म्यूनोमाइसीन, एम्पीसिलीन, ओम्नासिलीन, ओरिप्रिम वेट, टेरामाइसीन तथा जेन्टामाइसीन नामक इन्जेक्शन काफी लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

'अंथ्रासीनम' नामक होम्योपैथिक औषधि भी इस रोग की चिकित्सा में कारगर साबित हुई है। अंथ्रासीनम–30 शक्ति की तरफ दवा की 8–10 बूँदें ऐन्थ्राक्स रोग से पीड़ित पशु को 3–3 घण्टे के अवकाश पर लाभ होने तक देनी चाहिये।

रोकथाम (Prevention and Control)—रोग नियन्त्रण एवं बचाव के लिये संक्रामक रोगों की रोकथाम वाले पिछले पाठ में बताये हुए सभी उपचार करने चाहियें। महामारी फैलने पर स्वस्थ पशुओं को, जो रोगी पशु के सम्पर्क में न आये हों, **'ऐन्थ्रक्स स्पोर वैक्सीन'** (anthrax spore vaccine) या **'पास्चर डबल वैक्सीन'** (pasteur double vaccine) का टीका देना चाहिये। इससे पशु के शरीर में एक वर्ष के लिये बीमारी रोकने की शक्ति आ जाती है।

बीमारी के बचाव के लिये 'सीरो-वैक्सीनेशन' (sero-vaccination) की विधि काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। इस विधि में 15 से 20 घ० सें० सीरम का गर्दन में एक ओर तथा वैक्सीन की एक मात्रा (1 घ० सें०) का ग्रीवा में दूसरी ओर त्वचा के नीचे (sub/cut) इन्जेक्शन दिया जाता है।

रोगी पशु के सम्पर्क में आये हुये स्वस्थ पशुओं को यदि उपलब्ध हो तो 10 से 25 घ० सें० की मात्रा में ऐन्टसीरिम का इन्जेक्शन देना चाहिये। इससे 14 दिन के लिये रोग प्रतिरक्षा (immunity) आ जाती है। यदि आवश्यकता हो, तो 14 दिन बाद पुनः सीरम का इन्जेक्शन दोहराया जा सकता है। रोग के बचाव के लिये जहाँ रोग फैलता हो, वहाँ के लोगों को बरसात होने से पूर्व ही, प्रति वर्ष अपने पशुओं को वैक्सीन का टीका लगवाना चाहिये। **टीके पशु-पालन विभाग की ओर से लगाये जाने का प्रबन्ध है, जो पास के पशु चिकित्सक अथवा क्षेत्र विकास अधिकारी (B. D. O.) को सूचना देकर लगवाये जा सकते हैं।**

मरे हुये पशुओं को जलाने या गड्ढे में गाड़ने के लिये ले जाने से पूर्व उनके शरीर के सभी प्राकृतिक छिद्र 1 : 1000 मरकरी पर-क्लोराइड के घोल अथवा फिनायल में भिगोई हुई रूई को निचोड़कर बन्द कर देना चाहिये, जिससे उनसे कोई भी स्राव निकलकर पृथ्वी पर न गिरने पावे। किसी भी दशा में पशु की खाल नहीं उतरवानी चाहिये और न शव परीक्षा के लिये उसकी लाश ही खोलनी चाहिये। रोगी पशु के सम्पर्क में आई हुई नष्टकीय वस्तुओं तथा उसके मलमूत्र को जहाँ बीमारी हुई हो उसी स्थान पर जला देना अधिक अच्छा होगा। शव को 1·5–2 मीटर गहरा गड्ढा खोदकर चारों ओर से 20–30 सें० मी० मोटी चूने की तह लगाकर मिट्टी में दबाया जा सकता है। लाश को जलाने की विधि गाड़ने की अपेक्षा

अधिक उपयुक्त है। यदि लाश को जमीन में भली प्रकार न दाबा गया तो कभी-कभी केचुयें ऐंथ्राक्स रोगों के स्पोरों (बीजाणुओं) को भूमितल पर लाकर रोग फैलाते हैं।

मनुष्य में ऐन्थ्रक्स

मनुष्यों में यह रोग दो प्रकार से होता देखा गया है—

(1) विषालु पीपफुन्सी (Malignant pustule)—कसाई, खाल उतारने वाले मनुष्यों ब्रुश अथवा बाल की फैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरों तथा पशु-चिकित्सकों को कभी-कभी धोखे से रोग-ग्रसित पशु के सम्पर्क में आने से, इस रोग की छूत लग जाती है। रोग के कीटाणु त्वचा द्वारा उनके शरीर में प्रवेश पाते हैं। कीटाणु घुसने वाले स्थान पर पीड़ा होती है और शीघ्र ही लाल चमकीला दाना पड़ जाता है, जिसमें लाली लिये हुए तरल पदार्थ भरा रहता है। आस-पास नये दाने निकलकर त्वचा का रंग लाल हो जाता है। इस प्रकार कारबंकिल जैसा फोड़ा बनकर, उसके फटने पर काले रंग का स्राव निकलता है। यदि रोगी की चिकित्सा भली-भाँति न की गई, तो उसी क्षण उसको बुखार आकर रक्त दोष से उसकी मृत्यु हो जाती है। अंतड़ी में यदि छूत पहुँच जाती हैं, तो रोगी के पेट दर्द और मिचली होने से दम घुटकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

(2) ऊन छाँटने वालों का रोग (Wool sorter's disease)—ऊन की फैक्ट्रियों में काम करने वाले लोगों में स्पोरयुक्त दूषित ऊन या बालों से इस रोग के बीजाणु (स्पोर) मनुष्य की श्वाँसनली में प्रवेश पावर निमोनिया या प्लूरिसी जैसे लक्षण प्रकट करते हैं। बाद में शरीर का पूर्ण रक्त दूषित होकर मनुष्य को मृत्यु के घाट उतारता है।

रोग की प्राथमिक अवस्था में अति प्रति-रक्षित सीरम (Hyperimmune serum) **देकर मनुष्य को बचाया जा सकता है।** इसमें प्रयोग होने वाला सीरम 'स्क्लेवो सीरम' (Sclavo's serum) कहलाता है, जो गधे से तैयार किया जाता है। इससे अतिरिक्त आरोमाइसीन, टेरामाइसीन तथा पेनेसिलीन का इन्जेक्शन भी काफी गुणकारी है।

सावधानी

ऐन्थ्रक्स; पशुओं तथा मनुष्यों में फैलने वाली बहुत ही प्राणघातक बीमारी है और इसकी छूत पशुओं से मनुष्यों को तथा मनुष्यों से पशुओं को लग सकती हैं। अतः जहाँ तक हो सके रोगी से दूर रहना चाहिये। साथ ही रोगी के सम्पर्क में आये हुये पदार्थों से भी अपने को बचाना चाहिये। एक बार रोग से ग्रसित हो जाने पर रोगी को बचाना बहुत ही कठिन हो जाता है।

पशुओं को बचाव का टीका लगाते समय भी पशु-डॉक्टरों को इसकी छूत लग सकती है। अतः टीका लगाते समय उन्हें गम बूट, एप्रन कोट तथा हाथ में रबर की दस्ताने पहन कर बहुत ही सावधानीपूर्वक पशुओं को टीका लगाना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो वैक्सीन को जमीन पर भी नहीं गिरने देना चाहिये।

परिच्छेद : 42

गलघोटू

[HAEMORRHAGIC SFPTICAEMIA (HS)]

अन्य नाम—घुड़का, घोटुआ, नाविक ज्वर, घुरखा आदि।

विषय परिचय—छूत के बैक्टीरिया द्वारा फैलने वाला यह एक बहुत ही भयानक संक्रामक रोग है। देश में लगभग 40,000 गौ तथा भैंस जाति के पशु प्रति वर्ष इस रोग का शिकार होकर मृत्यु के घाट उतरते हैं, जिससे राष्ट्र को लगभग एक करोड़ रु० की वार्षिक क्षति पहुँचती है। जुगाली करने वाले पशु और विशेषकर काले धन (भैंस) पर इसका अधिक प्रकोप होता है। यह रोग गौ-पशुओं में कभी-कभी इतने भयंकर रूप से फैलता है कि देश के अधिकतर भागों में कृषि-कार्य चौपट हो जाता है। कम एवं युवा अवस्था के पशुओं को यह रोग अधिक लगता है और 80 से 94 प्रतिशत रोग ग्रसित पशु इससे मर जाते हैं। यह बीमारी वर्षा-ऋतु के आने पर प्रारम्भ होती है और कभी-कभी गाँव के गाँव साफ कर देती है।

कारण (Etiology)—गौवंश में यह रोग एक छूत के बैक्टीरिया 'पास्च्युरेल्ला बोवीसेप्टिका' (Pasteurella boviseptica) तथा भैंसों में 'पास्च्युरेल्ला बुबैली-सेप्टिका' (Past bubaliseptica) द्वारा फैलता है। शरीर के बाहर यह जीवाणु शीघ्र ही नष्ट हो जाती है; परन्तु शरीर के अन्दर रक्त प्रणाली में प्रवेश पाकर यह अधिक समय तक जीवित रहकर अपना विकास करके पशुओं में रोग संचार करते हैं। रोग का बैक्टीरिया सर्वप्रथम 'बोलिंगर' (1878) तथा 'किट' (1885) ने यूरोप में देखा।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection)

(1) अन्न नली द्वारा (By ingestion)—यह रोग घर पर अथवा चरागाह पर पशुओं को लग सकता है। रोग-ग्रस्त पशु जब चरागाह पर चरने जाता है, तो उसके मलमूत्र आदि से वहाँ की घास दूषित हो जाती है। जब एक स्वस्थ पशु इसी दूषित चरागाह की घास खाता है, तो अन्न नली द्वारा छूत के जीवाणु उसके शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं।

(2) श्वाँस नली द्वारा (By inhalation)—कुछ लोगों का मत है कि यह जीवाणु पशु की श्वाँस नली में सहभोजी (commensal) बनकर निवास करते हैं और किसी कारणवश उसकी शक्ति क्षीण होने पर जोर पकड़ लेते हैं तथा रोग फैलाते हैं, परन्तु यह कथन कहाँ तक सत्य है, इसकी कोई भी पुष्टि नहीं है।

(1) त्वचा द्वारा (By Skin)—काटने वाली मक्खियों, किलनियों, जुओं तथा पिस्सुओं द्वारा भी यह रोग बीमार पशुओं से स्वस्थ पशुओं में किसी हद तक फैलता देखा गया है।

इसके अतिरिक्त पशुओं का पारस्परिक सम्पर्क, दूषित आहार परिचारक तथा दूषित व नम जलवायु इस रोग के फैलने में सहायक होते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—बहुधा एक से तीन दिन में बीमारी के लक्षण प्रकट होते हैं। कभी-कभी यह अवधि 2–5 दिन भी हो सकती है।

लक्षण (Symptoms)—पशुओं में इस रोग की तीन अवस्थायें हैं और एक साथ बहुत से पशु बीमार पड़ते हैं।

(1) तीव्र रक्त पूतित अवस्था (Acute septicaemic form)—एकाएक तापक्रम बढ़कर 104 से 108 डिग्री फारेनहाइट (40° सें०–42° सें०) तक पहुँचना, खाने-पीने में अरुचि, पशु का एकदम सुस्त हो जाना, कानों का नीचे लटकना, पहले कब्ज फिर जोर लगाकर दस्त, ऐंठन, रम्भाना, दाँत पीसना, दस्त में रक्त या श्लेष्मा (mucous) मिला हुआ होना, इस अवस्था के प्रधान लक्षण हैं। कभी-कभी रोग का अधिक जोर होने पर बिना लक्षण प्रदर्शित किये ही 6 से 8 घण्टों में पशु की मृत्यु हो जाती है और यह अवस्था ऐन्थ्रक्स से मिलती-जुलती है।

(2) शोथ अवस्था (Oedematous form)—पशु को तेज बुखार, गलकम्बल कण्ठ और निचले जबड़े के बीच कष्टप्रद कड़ी तथा गर्म सूजन, जीभ का सूजकर मुंह से बाहर निकल आना, मुंह से लार बहना, कष्टप्रद श्वाँस-प्रश्वाँस, अत्यधिक बेचैनी, आँखें तथा शरीर की सभी श्लेष्मक झिल्लियों का सूजकर रक्त वर्ण हो जाना आदि इस अवस्था के प्रधान लक्षण हैं। **जीभ तथा गले की सूजन अधिक बढ़ने पर पशु को साँस लेना बहुत कठिन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह घुर-घुर की आवाज करने लगता है।** अन्त में पशु अपनी गर्दन नीची डालकर बेसुध होकर पृथ्वी पर लेट जाता है और 12 से 36 घण्टे में दम घुटकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

(3) अंश अवस्था (Pectoral form)—इस अवस्था में निमोनिया जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। श्वाँस गहरी तथा जल्दी-जल्दी आने लगती हैं। पशु थोड़ा बहुत खाँसता है और उसकी नाक से श्वेत अथवा लाल रंग का बबूलेदार स्राव निकलता है जो बाद में गाढ़ा होकर रस्सी के पतले टुकड़े की भाँति, नाक से लटका हुआ प्रतीत होता है। पशु को बुखार रहता है और 1 से 7 दिन में उसकी मृत्यु हो जाती है।

मरने के बाद यदि पशु की लाश को चीरकर देखा जाये तो उसके शरीर की सभी श्लेष्मक झिल्लियाँ रक्त संकुलित (congested), सभी लसिका ग्रन्थियाँ (lymph glands) सूजी हुई तथा अंतड़ी व पेट की दीवारें सूजी हुई लाल दिखाई पड़ती हैं। इन दीवारों पर खून के छोटे-छोटे धब्बे (haemorrhagic spots) जमे हुए प्रतीत होते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—इस विधि में ऊपर बताये हुए रोग के मुख्य-मुख्य लक्षण देखकर बीमारी की पहचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—काँच के पतले स्लाइड पर रक्त अथवा शरीर से निकले हुए स्राव का पतला लेप बनाकर माइक्रॉस्कोप के अन्दर देखने पर द्वि-ध्रुवी (bipolar) जीवाणु दिखाई देते हैं। प्रायः सभी शारीरिक द्रवों, ऊतकों तथा रोगी के मलमूत्र में इस रोग के जीवाणु बहुतायत से पाये जाते हैं।

(3) संवर्धनीय (Cutural)—किसी उपयुक्त माध्यम में जीवाणुओं को उगाकर उनकी कौटम्बिक विशेषताओं को देखकर उन्हें पहचाना जा सकता है। संदूषित पदार्थ का ग्रहणशील पशु में इन्जेक्शन देकर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

इस महामारी की कोई भी चिकित्सा नहीं है और एक बार लक्षण प्रकट होने पर प्रायः रोगग्रसित पशु मर ही जाते हैं। **एन्टीसीरम** यदि उपलब्ध हों, तो रोगी पशु को 100 से 150 घ० सें० की मात्रा में अन्त:शिरा इन्जेक्शन (intravenous injection) देने से काफी लाभ हो जाता है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में पशु को 20 से 40 ग्रेन पोटाश पानी में मिलाकर कई बार पिलानी चाहिये। चार ग्राम **पोटाश आयोडाइड** को 300 घ० सें डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर त्वचा के नीचे इन्जेक्शन देने से सूजन कम हो जाती है। **कार्बोलिक अम्ल** का हल्का घोल पर्याप्त पानी में घोलकर पशु को प्रारम्भ में पिलाने से कभी-कभी रोग का जोर कुछ कम हो जाता है। मूल्यवान पशुओं को $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत **सल्फाडिमीडीन सोडियम** के घोल का 70 से 100 घ० सें० अन्त:शिरा इन्जेक्शन देना चाहिये। त्वचा के नीचे गर्दन में एक ओर 50 घ० सें० सल्फाडिमीडीन और दूसरी ओर 50 घ० सें० एन्टिसीरम का इन्जेक्शन देने से आशातीत लाभ होता है। यदि आवश्यकता हो तो उसी दिन या दूसरे दिन इन्जेक्शन दोहराया भी जा सकता है। रोगी को पैनिसिलीन, सल्फाडिमीडीन मिलाकर अन्त:पेशी (intramuscular) इन्जेक्शन भी दिया भी जा सकता है। सल्फाडिमीडीन के अतिरिक्त **सल्फामीराजीन, सल्फाडायजीन, सल्फाथायजोल** आदि अन्य सल्फ औषधियाँ प्रयुक्त की जा सकती हैं। बाएफ द्वारा निर्मित सल्फाडायजीन एवं ट्राइमीथोप्रिम इन्जेक्शन इस रोग की अच्छी दवा है।

त्रित्र—42·1 सल्फामेजाथीन घोल

आजकल इस बीमारी की चिकित्सा में होस्टासाइक्लीन, टेरामाइसीन, एक्रो-

माइसीन, स्टेक्लीन, आक्सीटेट्रासाइक्लीन, ऐम्पीसिलीन, ओरिप्रिम वेट, जेंटामाइसीन तथा ओम्नामाइसीन नामक पेटेण्ट औषधियों का उपयोग अधिक गुणकारी समझा जाता है।

रोकथाम (Prevention and Control)—**संक्रामक रोगों से बचाव के बताये हुए सभी रोकथाम के ढंग प्रयुक्त होने चाहियें।** स्वस्थ पशुओं को 'गलघोटू कम्पोजिट ब्राथ वैक्सीन' (haemorrhagic septicaemia composite broth vaccine) का टीका देना चाहिये। यह वैक्सीन पास्च्युरेला वोवीसेप्टिका स्ट्रेन को पोषक माँस रस (broth) में उगाकर बनाया जाता है। 275 किलोग्राम तक के शरीर भार वाले पशु को 5 घन सें० तथा इससे अधिक भार वाले पशु को 10 घ० सें० की मात्रा में टीका दिया जाता है। वैक्सीन 250 घ० सें० की मात्रा में रंगीन सोडावाटर जैसी बोतलों में बन्द किया हुआ उपलब्ध होता है। एक बोतल को खोलने से 24 घण्टे बाद वैक्सीन खराब हो जाता है, अतः खोलने पर पूरी बोतल प्रयुक्त हो जानी चाहिये। भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) इज्जतनगर में तेल के साथ एक वैक्सीन (oil adjuvant vaccine) तैयार की गई है, जिसके प्रयोग से 27 माह तक पशु में इस रोग की प्रतिरक्षा रहती है। इसमें फार्मलीन से मरे हुए बैक्टीरिया पास्च्युरेल्ला मल्टोसिडा (Past multocida) होते हैं।

उत्तर प्रदेश में लखनऊ के **जैविक औषधि उत्पादन अनुभाग** (biological product section), बादशाह बाग में यह वैक्सीन तैयार होकर 150 घ० सें० की मात्रा में सोडावाटर जैसी रंगीन बोतलों में भरकर सीलबन्द किया जाता है। गाय तथा भैंस जाति के पशुओं को 3 घ० सें० की मात्रा में इसका अन्तःपेशी (I/m) इंजेक्शन दिया जाता है। इस वैक्सीन को प्रयोग करने से पूर्व भली-भाँति हिलाना चाहिये। इसके प्रयोग से पशु में 6 माह या अधिक समय तक रोग रोकने की शक्ति आ जाती है।

रोगी पशु के सम्पर्क में आये हुए सभी स्वस्थ पशुओं को यदि उपलब्ध हो तो 15–20 घ० सें० सीरम की त्वचा के नीचे इन्जेक्शन देना चाहिये। तत्पश्चात् जब तक इस महामारी का प्रकोप कम न हो जाय, प्रति 10 दिन बाद सीरम का इन्जेक्शन पशु को देते रहना चाहिये। सीरम देने के 15 दिन बाद पशुओं को वैक्सीन का टीका देने से अधिक लाभ होता है।

बचाव के लिये प्रतिवर्ष वर्षा आरम्भ होने से पूर्व ही पशुओं में सामूहिक रूप से गलघोटू के टीके लगवाने चाहियें। पशु-पालन विभाग की ओर से सामूहिक टीकों का समुचित प्रबन्ध होता है, जो निकट के पशु चिकित्सक को सूचना देकर लगवाए जा सकते हैं। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्थित विकास क्षेत्रों के ग्राम सेवक तथा सहायक विकास अधिकारी (पशु-पालन) भी टीके लगाने का समुचित प्रबन्ध करते हैं।

परिच्छेद : 43

लंगड़ी
[BLACK QUARTER (B. Q.)]

अन्य नाम—लंगड़िया, चुरचुरिया, जहरवाद, फड़ सूजन आदि।

विषय परिचय—यह गाय भैंस तथा भेड़ों की एक छूतदार बैक्टीरियल बीमारी है, जिसमें किसी मसीले भाग में गैस भरी सूजन आकार पशु को बेचैन कर देती है, अधिकतर यह रोग पशु के अगले कन्धे अथवा पिछले पुट्ठे पर होकर उसको लंगड़ा बना देता है। तीन वर्ष तक की आयु के पशुओं में इसका प्रकोप अधिक होता है। एक से तीन दिन में शत-प्रतिशत रोग-ग्रसित पशु परलोक सिधार जाते हैं। **नीलकण्ठन** (1954) के अनुसार लगभग 85 प्रतिशत यह रोग वम्बई, हैदरावाद, मैसूर तथा मद्रास में और शेष 15% बचे हुए सारे देश में प्रकोप करता है। वर्षा ऋतु में इसका प्रकोप अधिक होता है।

कारण (Causes)—स्पोर युक्त **क्लॉस्ट्रीडियम शोविआई** (clostridium chauvoei) नामक बैक्टीरिया इस रोग का कारण है, कभी-कभी **क्लॉस्ट्रीडियम सेप्टिक** (clostridium septique) भी इस रोग को फैलाने में सहायक होता है। इन जीवाणुओं के स्पोर शरीर के अन्दर ही वन जाते हैं। यह स्पोर प्रतिकूल वातावरण में भी काफी समय तक जीवित रह सकते हैं।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection)

1. अन्न नली द्वारा (By ingestion)—दूषित चारागाहों पर स्वस्थ पशुओं के चरने से इस रोग का जीवाणु संदूषित घास द्वारा पशु के शरीर में प्रवेश पा जाता है।

2. त्वचा द्वारा (By skin)—खुले घाव अथवा खुरेंच से भी जीवाणु शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाता है। जीवाणु रक्त प्रणाली में न पहुँचकर केवल अपने क्षतस्तल (lesion) में ही निवास करता है।

पशुओं के पारस्परिक स्पर्श से यह रोग नहीं फैलता। इसका जीवाणु बहुधा मिट्टी में रहा करता है। सूजन के फटने पर हवा की उपस्थिति से इसमें से निकले हुए स्राव में से जीवाणु स्पोर बनाते हैं जो प्रतिकूल वातावरण में भी काफी समय तक जीवित रह सकते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—कुछ घण्टों से लेकर 5 दिन।

लक्षण (Symptoms)—सर्वप्रथम पशु अन्य पशुओं से अलग खड़ा होता है। वह खाना, पीना तथा जुगाली वन्द करके सुस्त रहने लगता है। उसे 107 से 108 डिग्री फारेनहाइट (41·7 से 42·3° सेन्टीग्रेड) तक तेज बुखार होकर जाँघों के ऊपर

कन्धे या गर्दन पर दर्द महसूस होता है। पशु रंभाता तथा दाँत पीसता है। सूजन जल्दी-जल्दी बढ़ने लगती है और पशु का तापक्रम गिरकर कभी-कभी नार्मल से भी कम हो जाता है। इस प्रकार तापक्रम का गिरना मृत्यु का सूचक है। प्रायः 12 से 40 घण्टे में रोगी पशु मर जाता है।

पशु पहले लंगड़ाकर चलता है और बाद में चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। बहुधा पिछले पुट्ठे पर असर होकर पशु पिछली टाँग से लंगड़ाता देखा जाता है। **सूजन के अन्दर गैस भरी रहती है, अतः इस स्थान को दबाने से चुर-चुर की आवाज (crepitating sound) आती है।** इसीलिये यह बीमारी चुरचुरिया कहलाती है। पहले सूजन गर्म तथा दर्दयुक्त होती है, जो बाद में ठण्डी तथा दर्द रहित हो जाती हैं। सूजन के ऊपर की खाल सूखकर सख्त तथा काली पड़ जाती है। यदि इस सूजन पर चीरा लगाया जाय, तो इसमें से काले रंग का झागदार खून निकलता है, जिसमें सड़े मक्खन जैसी वदबू आती है। काटते समय सूजन वाला भाग रवर के स्पंज की भाँति कटता प्रतीत होता है।

रोग का निदान (Diagcosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—इसमें रोगी पशु का इतिहास लेकर तथा ऊपर वताये गये रोग के मुख्य लक्षण देखकर बीमारी की पहचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—सूजे हुए भाग को चीरकर उसमें से निकले हुये रक्त की एक बूंद का स्लाइड पर पतला लेप बनाकर माइक्रोस्कोप में देखने से रोग के जीवाणु दिखाई देते हैं। इनकी आकृति छड़ की भाँति तथा लम्बाई 3–5 माइक्रॉन (micron) होती है।

(3) संवर्धनीय (Cultural)—वातनिरपेक्षी (anaerobic) परिस्थितियों में उपयुक्त माध्यम में जीवाणु को उगाकर कौटुम्बिक विशेषताओं को देखा जा सकता है। साथ ही संदूषित पदार्थ का गिनीपिग में इन्जेक्शन देकर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

औषधियों से वहुत कम लाभ होता है। रोग के प्रारम्भ में प्रौढ़ पशु को 20 से 40 लाख यूनिट पैनिसिलिन (Penicillin) का इन्जेक्शन लगाया जा सकता है। पैनिसिलिन को ऐन्टि लंगड़ी सीरम अथवा सल्फामीराजीन के साथ मिलाकर लगाना और भी गुणकारी है। $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत डिमीडीन सोडियम का घोल 70 से 100 घ० सें० की मात्रा में अन्त:शिरा इन्जेक्शन द्वारा देने से आशातीत लाभ होता है। ऐन्टि-लंगड़ी सीरम यदि उपलब्ध हो, तो 100 से 200 घ० सें० की मात्रा में पशु को इन्जेक्शन देकर किसी हद तक बचाया जा सकता है। पशु के सूजन वाले भाग पर जीवाणु रहित चाकू से चीरा लगाकर उसे साफ करके घाव में टिंचर आयोडीन या 1 : 1000 का मर्करी-पर-क्लोराइड घोल भरकर उसे अच्छा किया जा सकता है, परन्तु जहाँ तक सम्भव हो चीरा नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से

खोले हुये घाव से असंख्य बैक्टीरिया निकलकर वातावरण को दूषित कर देते हैं, जिससे और भी अधिक बीमारी फैलने का भय रहता है। आजकल इस बीमारी की चिकित्सा में होस्टासाइक्लिन, ओम्नासिलीन, ओरिप्रिम वेट, ओम्नामाइसीन, टेरामाइसीन, ऐम्पीसिलीन तथा स्टेक्लीन जैसे प्रतिजैविक पदार्थों का उपयोग होने लगा है।

रोकथाम (Prevention and control)—छूतदार बीमारियों से बचाव के पूर्व बताये गये सभी उपनार अपनाने चाहियें। पशुओं को दूषित भूमि व चरागाहों से अलग रखना चाहिये। स्वस्थ पशुओं को 6 माह की आयु से पूर्व ही बीमारी से बचाव वाला टीका लगवाना चाहिये और तीन वर्ष तक प्रति वर्ष इस टीके को दोहराना चाहिये। भारत में इस बीमारी से बचाव के लिये **'पोलीवैलेंट फार्मलीनाइज्ड एनाकल्चर वैक्सीन'** (polyvalent formalinised anaculture vaccine) प्रयुक्त होता है। **वैक्सीन** बनाने के लिये वैक्टीरिया को माँस रस (meat broth) पर 2–3 दिन तक उगाकर, उसके ऊपर वाला तरल पदार्थ निथार लेते हैं। तत्पश्चात् इसमें 0·5 से 1% फार्मलीन मिला देते हैं। **जैविक औषधि उत्पादन अनुभाग** (B. P. Section) **बादशाह बाग, लखनऊ** द्वारा निर्मित यह वैक्सीन 250 घ० सें की मात्रा में रंगीन सोडावाटर जैसी सीलबन्द बोतलों में उपलब्ध होती है। एक बोतल खोलकर उसी दिन प्रयुक्त हो जानी चाहिये, क्योंकि खुली हुई रखने से यह खराब हो जाती है। वैक्सीन बनाने के 6 माह बाद तक इसका प्रयोग किया जाता है। आयु के अनुसार गाय, भैंस जाति के पशुओं को 5 से 10 घ० सें० तथा भेड़ों को 1 से 2 घ० सें० की मात्रा में इसका टीका दिया जाता है। इससे एक वर्ष के लिये पशु में रोग के प्रति प्रतिरक्षा आ जाती है। टीका लगाने के 10 दिन बाद पुनः दोहरा देने से पशु में रोग प्रतिरक्षा की क्षमता अधिक बढ़ जाती है।

बीमार पशु के सम्पर्क में आये हुये स्वस्थ पशु को यदि उपलब्ध हो तो 15 से 20 घ० सें० की मात्रा में **एन्टीसीरम** का टीका लगा देने से 14 दिन तक के लिये उसमें रोग रोकने की शक्ति आ जाती है। अतः यदि आवश्यकता हो तो 14 दिन के बाद यह टीका दोहराया भी जा सकता है। **बीमारी से बचाव के लिये प्रतिवर्ष वर्षा आरम्भ होने से पूर्व इस रोग के सामूहिक टीके राजकीय पशु-पालन विभाग की ओर से लगाये जाते हैं। अतः समीप के पशु शल्य-चिकित्सक या क्षेत्र विकास अधिकारी से सम्पर्क स्थापित करके रोग के टीके पहले से ही लगवा लेने चाहियें जिससे कि महामारी फैलने का भय ही न रहे।**

परिच्छेद : 44

क्षय-रोग
[TUBERCULOSIS (T. B.)]

अन्य नाम—तपेदिक, टी० वी०, थाइसिस, राज्यक्षमा, पर्ल रोग आदि ।

विषय परिचय—पशुओं तथा मनुष्यों में वैक्टीरिया द्वारा फैलने वाला यह बहुत ही भयंकर, एक दीर्घकालिक छूतदार रोग है, जिससे लाखों पशु तथा मनुष्य प्रति वर्ष मृत्यु का शिकार होते हैं । पशुओं से मनुष्य को इसकी छूत लगने के कारण यह बहुत ही भयानक रोग माना जाता है । साथ ही पशुओं में इसकी कोई विशेष चिकित्सा भी नहीं हो पाती, इस कारण यह बीमारी और भी अधिक खतरनाक मानी जाती है । इस रोग का जीवाणु माइक्रो-बैक्टीरियम ट्यूबर्क्युलोसिस के नाम से जाना जाता है । क्षय-रोग प्राय: उन पशुओं में अधिक देखा जाता है, जो गन्दी तथा अन्धेरी इमारतों में पास-पास बाँधे जाते हैं ।

यह रोग संसार के प्रायः सभी देशों तथा सभी पशुओं में पाया जाता है । गौ तथा भैंस के पशुओं को क्षय-रोग अधिक शीघ्र लगता है । गौ-पशुओं की अपेक्षा भैंसें अधिक ग्रहणशील हैं । बन्दर, चिड़िया तथा सुअरों में भी यह रोग प्रकोप करता है ।

कारण (Etiology or cause) क्षय-रोग एक जीवाणु **माइकोबैक्टीरियम ट्यूबर्क्युलोसिस** (mycobacterium tuberculosis) द्वारा फैलता है । ये जीवाणु तीन प्रकार के होते हैं, **गो जातीय** (bovine,) **मानव जातीय** (human) तथा **पक्षी जातीय** (avian) स्ट्रेन जो क्रमशः गाय, भैंस, मनुष्यों तथा पक्षियों में रोग फैलाते हैं । **'कोच'** (Koch) ने सन् 1882 में सर्वप्रथम इस जीवाणु को प्रदर्शित किया । इस रोग के जीवाणु बहुत ही कठिनता से मरते हैं और महीनों तक शरीर से बाहर जीवित रह सकते हैं ।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection)

(1) अन्न नली द्वारा (By ingestion)—यह बैक्टीरिया बीमार पशु के दूध, जूठा व दूषित चारा-पानी, मल-मूत्र, थूक, कफ, तथा बर्तनों द्वारा स्वस्थ पशु के मुख में प्रवेश पाकर शरीर के अन्दर पहुँचते हैं ।

(2) श्वाँस नली द्वारा (By inhalation)—इसे बिन्दुक संक्रमण (droplet infection) भी कहते हैं । क्षय-रोग से पीड़ित पशु का कफ तथा थूक शरीर से बाहर निकलने पर, उसके कण, कुछ समय के लिये वायु में तैरते रहते हैं । इन कणों में

टी० बी० के जीवाणु भी रहते हैं, जो पड़ौस के रहने वाले पशुओं में श्वांस नली द्वारा प्रवेश पाकर उनमें क्षय-रोग का प्रकोप करते हैं।

(3) जनन-मूत्र मार्ग द्वारा (By urinogenital tract)—कभी-कभी पैतृक टी० बी० गर्भाशय में रहने वाले जीवाणुओं से संतति में आ जाती है, परन्तु ऐसा वहुत ही कम होता देखा गया है।

(4) अयन द्वारा (By udder)—अयन की चिकित्सा के समय दूषित यन्त्रों के प्रयोग से क्षय-रोग का जीवाणु थन नली द्वारा कभी-कभी पशु के शरीर में प्रवेश पाता देखा गया है।

इसके अतिरिक्त अन्धेरे, विना हवादार, गन्दे मकान, अधिक काम, दूषित आहार तथा कुप्रवन्ध भी इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Period of incubation)—अनिश्चित (कई माह)।

लक्षण (Symptoms)

टी० बी० एक दीर्घकालान (chronic) रोग है, जो बहुत धीरे-धीरे रोगी के शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। अतः बहुत दिनों में इसके बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं। फेफड़ा, पेट तथा अयन पर इस रोग के जीवाणु विशेष रूप से अपना प्रकोप करते हैं और जिस भाग पर जीवाणु अपना आक्रमण करते हैं, उसी के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं।

फेफड़ों के क्षय में पशु खाँसता है तथा उसके मुँह से सूखा कफ निकलता है। थोड़ा बहुत घटता-बढ़ता हुआ बुखार भी पशु के शरीर में उपस्थित रहता है। पशु लगातार दुर्बल तथा जीर्ण होता चला जाता है। आगे चलकर पशु की नाक से श्लेष्मा व पीप मिश्रित स्राव वाहर निकलता है, तथा कफ भी पीप मिश्रित हो जाता है, जो बहुधा उसके द्वारा निगल लिया जाता है। ज्वर भी अब तेज रहने लगता है तथा श्वाँस काफी तेज चलती है। स्टेथॉस्कोप से पशु के फेफड़ों की जाँच करने पर छिद्रिल मर्मर (vesicular murmur) न सुनाई देकर चुरचुराहट की आवाज आती है। अब पशु बहुत ही जीर्ण होकर श्वाँस लेने में भी कष्ट का अनुभव करता है। लसीका ग्रंथियां (lymphatic glands) बढ़ जाती हैं। और शरीर की प्रायः सभी श्लेष्मिक झिल्लियाँ रक्तहीन होकर पीली पड़ जाती हैं। पशु की खाल, उसके शरीर की हड्डियों से लगभग चिपक सी जाती है और अन्त में वह परलोक सिधार जाता है।

पाचन प्रणाली पर क्षय रोग का आक्रमण होने पर, पशु की पाचन-शक्ति मन्द पड़ जाती है। पेट में शूल वेदना होती है तथा गोवर पतला पड़ जाता है, जिसमें अन्त में पीव तथा आँव मिलकर बाहर आने लगती है।

जब अयन पर क्षय रोग का बैक्टीरिया आक्रमण करता है, तो पशु का अयन (udder) कड़ा होकर उसमें गाँठ पड़ जाती है। अधिकतर पिछले थनों पर ही जीवाणु आक्रमण करता है। अयन बढ़कर सख्त हो जाता है और उसमें दवाने से

दर्द नहीं होता। दूध दुहने के बाद अयन भली-भाँति नहीं सिकुड़ता। रोग के जीवाणु जिस भाग में रहते हैं और जिसमें नहीं रहते, दोनों में असमानता आ जाती है। अयन से निकला हुआ दूध पानी की तरह पतला होकर बाद में कुछ हरापन लिए हुए पीले रंग में परिवर्तित होने लगता है। इसमें फटे हुए दूध की भाँति छीछड़े भी मिलते हैं, जो रखने पर नीचे की सतह पर बैठ जाते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के लक्षण, जैसे—खाँसी, बुखार, गिल्टी पड़ना आदि देखकर रोग की पहिचान की जा सकती है, परन्तु लक्षण तभी प्रकट होते हैं, जब रोग काफी पुराना हो चुका होता है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—रोगी पशु से प्राप्त कफ, दूध, योनि-प्रस्राव तथा मल-मूत्र का काँच के स्लाइड पर पतला लेप बनाकर, जीहल नीलसेन अभिरंजन (ziehlneelsen's stain) से अभिरंजन करके माइक्रॉस्कोप में देखने से रोग के बैक्टीरिया लकड़ी के बंधे हुए गट्ठों की भाँति दिखाई देते हैं।
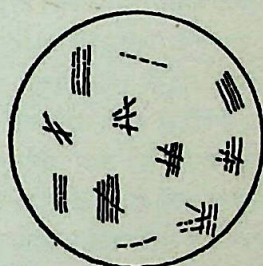
चित्र 4·41 माइकोबैक्टीरियम ट्यूबर्क्युलोसिस (mycobacterium tuberculosis)

(3) संवर्धनीय (Cultural)—रोगी पशु से प्राप्त उक्त दूषित पदार्थों से बैक्टीरिया को किसी अनुकूल माध्यम में उगाकर उसकी कोटुम्बिक विशेषताओं को देखा जा सकता है। साथ ही दूषित पदार्थ का ग्रहणशील पशु में इन्जेक्शन देकर रोग पैदा किया जा सकता है।

(4) ट्यूबर्क्युलिन जाँच (Tuberculin test)—ट्यूबर्क्युलिन (tuberculin), माइको-बैक्टीरियम का ही एक विषैला पदार्थ है, जो बैक्टीरिया को शोधित प्रोटीन संजात (Purified Protein Derivative or P.P.D.) नामक कृत्रिम संवर्धन (artificial culture) में उगाकर बनाया जाता है। जाँच करने के लिये नेत्र सम्बन्धी (ophthalmic), अधस्त्वक् (subcutaneous) तथा अन्तः त्वचा (intra dermal) विधियाँ अपनाई जाती हैं। इनमें से अन्तःत्वचा विधि सर्वोत्तम है।

अधस्त्वक् जाँच (Subcutaneous test)—ऐसी जाँच करने से पूर्व पशु का तापक्रम लेकर यह जान लेना आवश्यक है कि उसे बुखार घटता-बढ़ता तो नहीं है। तत्पश्चात् पशु की ग्रीवा में रात्रि के लगभग 10 बजे 3 घ० सें० ट्यूबर्क्युलिन (tubercalin) का त्वचा के नीचे (sub. cut) इन्जेक्शन देकर 9वें, 12वें, 15वें, 18वें, 21वें तथा 24वें घण्टे पर तापक्रम लिया जाता है। रोग-ग्रसित पशुओं में नार्मल तापक्रम से 2·5 डिग्री तापक्रम अधिक बढ़ा मिलता है। यदि तापक्रम न बढ़े तो समझना चाहिये कि पशु को क्षय रोग नहीं है।

नेत्र सम्बन्धी जाँच (Ophthalmic test)—इस विधि में गाढ़ी **संश्लिष्ट-ट्यूबर्क्युलिन** (concentrated synthetic tuberculin) के 2–3 बूँद पशु की आँख में डालते हैं। रोग-ग्रसित पशु में 24 घण्टे के बाद उसकी आँख में गाढ़ा पीले रंग का द्रव निकलता है और आँख फूल जाती है। निरोग पशुओं की आँख में उक्त औषधि डालने से कोई परिवर्तन नहीं होता।

अन्तः त्वचा जाँच (Intra dermal test)—यह जाँच गर्दन अथवा पूँछ के नीचे मसीले भाग (caudal fold) पर की जाती है। गौ पशुओं में बहुधा गर्दन पर ही यह परीक्षा की जाती है। जाँच करने के लिये गर्दन के बीचों-बीच का तिहाई भाग अधिक उपयुक्त माना जाता है। इस स्थान के बाल काटकर स्प्रिट से खूब साफ किया जाता है। इसके बाद 0·1 मिलीलिटर (1 से 2 बूँद) संश्लिष्ट ट्यूबर्क्युलिन (synthetic tuberculin) का **विशेष ट्यूबर्क्युलिन पिचकारी** (special tuberculin syringe) अथवा दन्त पिचकारी (dental syringe) द्वारा त्वचा की दोनों पर्तों के बीच इंजेक्शन दिया जाता है। इस प्रकार इन्जेक्शन के स्थान पर मूँगे की भाँति एक छोटी-सी गाँठ पड़ जाती है। **48 घण्टे बाद इस स्थान की परीक्षा करने पर रोग ग्रसित पशुओं में गर्म, उभरी हुई तथा दर्द-युक्त सूजन मिलती है।** यदि पशु में 38 घण्टे बाद यह प्रक्रिया नहीं होती, तो पुनः उसी स्थान पर 0·1 मिलीलिटर ट्यूबर्क्युलिन का इन्जेक्शन देकर 24 घण्टे बाद परीक्षा की जाती है। इस बार यदि सूजन मिलती है, तो पशु रोग-ग्रसित माना जाता है। जिन पशुओं में उक्त प्रतिक्रिया नहीं होती, वे क्षय-रोग मुक्त समझे जाते हैं।

(5) एक्स-रे द्वारा (X-Ray)—इस विधि में एक्स-रे मशीन द्वारा पशु के रोग-ग्रसित अंग के क्षत स्थलों का फोटो खींचा जाता है, जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि किस अंग में क्षय-रोग का आक्रमण हो रहा है।

चिकित्सा (Treatment)—आर्थिक दृष्टिकोण, भयंकर लगने वाली छूत तथा परिचारकों को रोग लग जाने के भय से पशुओं की चिकित्सा सम्भव नहीं है। फिर भी पशु-पालक यदि चाहें, तो उच्च कोटि के **प्रति जैविक पदार्थ** (antibiotics) किसी हद तक सफलता के लिये प्रयोग किये जा सकते हैं। मनुष्यों तथा छोटे पशुओं को ऐम्बिस्ट्रिन अथवा स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट का टीका देना प्रारम्भ में इस बीमारी की चिकित्सा में लाभप्रद सिद्ध हुआ है। ऐसे लगभग 96–100 टीका लगातार देने की राय दी जाती है। इसके अतिरिक्त आइसोनेक्स, आइसोकैडीपास, यूनिथायविन आदि क्षय-रोग रोधक गोलियों का भी इसमें उपयोग होता है। क्षय-रोग से ग्रसित रोगी को प्रोटीन तथा विटामिन युक्त राशन देते रहने से उक्त औषधियों से शीघ्र लाभ होता है। एक बार चिकित्सा प्रारम्भ होने पर दवाई का पूरा कोर्स लगातार लेना चाहिये, क्योंकि बीच-बीच में इलाज छोड़ देने पर क्षय-रोग के कीटाणु इन औषधियों के प्रति प्रति-रोधी हो जाते हैं।

रोकथाम (Prevention and Control)—बीमारी से बचाव के लिये

स्वस्थ पशुओं को खुले, रोशनी व हवादार स्वच्छ घरों में बाँधना चाहिये। निर्बल पशुओं को दूध सदैव उबालकर पिलाना चाहिये। छोटे बछड़ों को उनके जन्म के दूसरे सप्ताह में 5 घ० सें० की मात्रा में बी० सी० जी० (Bacillus Calmette Gurein) का टीका देना चाहिये। यह बीमारी किसी यूथ में फैल चुकी हो तो उसे निम्न प्रकार नियन्त्रित करना चाहिये—

(1) स्टेम्पिग आउट विधि (Stemping out method)—इस विधि में सभी पशुओं की ट्यूबर्क्युलिन जाँच (tuberculin test) की जाती है। इस प्रकार जो पशु रोग-ग्रसित मिलते हैं, उन्हें नष्ट कर दिया जाता है। तत्पश्चात् शेष पशुओं की प्रति 6 माह बाद तब तक ट्यूबर्क्युलिन जाँच की जाती है, जब तक कि रोगी पशु इस यूथ में मिलते रहते हैं। फिर 12 माह के अवकाश पर डाक्टरी परोक्षा की जाती हैं। यह यूथ **'जाँच किया हुआ यूथ'** (Tested herd) कहलाता है।

(2) बैंग विधि (Bang's method)—यह ढंग इस उद्देश्य पर आधारित है कि क्षय-ग्रसित पशुओं की सन्तति में यह रोग शीघ्र ही नहीं होता। अतः इस विधि के अनुसार जन्म पाने के तुरन्त बाद बच्चों को माँ से अलग कर दिया जाता है। कृत्रिम रूप से खिलाकर उनका अच्छे वातावरण में पालन-पोषण किया जाता है। तत्पश्चात् बड़े होने पर उनकी ट्यूबर्क्युलिन जाँच की जाती है। जो इस जाँच में पास हो जाते हैं, उनका एक नया यूथ बना लिया जाता है तथा बड़े पशुओं का पुराना यूथ अलग कर दिया जाता है।

संक्षेपतः, यदि यह रोग एक बार फैल गया, तो फिर इसका उन्मूलन करना बहुत कठिन हो जाता है। जिन पशुओं में यह रोग हो चुका हो, उनका परीक्षण करके स्वस्थ पशुओं से उन्हें अलग कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त रोग रोकने के लिये अलगाव (segregation) एवं वध की नीति (slaughter policy) अपनानी चाहिये। परीक्षण और वध की नीति संयुक्त राज्य अमेरिका एवं फिनलैण्ड में अपनाई जा चुकी है। धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से भारत में यह रीति अपनाना अभी सम्भव न हो सका है।

सावधान !

क्षय रोग पशुओं से मनुष्यों तथा मनुष्यों से पशुओं को लगने के कारण बहुत ही भयंकर समझा जाता है। रोग-ग्रसित गाय के दूध में भी इसकी छूत मौजूद रहती है। अतः ऐसी गाय का दूध नहीं पीना चाहिये। सावधानी के लिए दूध सदैव उबाल कर ही पीना अधिक अच्छा है। रोग-ग्रसित गाय से ग्वालों को क्षय रोग की छूत अधिक शीघ्र लगती है। यदि कोई ग्वाला क्षय रोग से पीड़ित हो तो उससे गाय नहीं दुहवाना चाहिये, अन्यथा गाय को छूत लगने का भय रहता है। जहाँ तक सम्भव हो क्षय रोग से ग्रसित रोगी से दूर रहना चाहिये और भूलकर भी उनका जूंठा अथवा हाथ से छुआ हुआ पदार्थ नहीं खाना चाहिये। ऐसे रोगी के बिस्तर आदि पर भी नहीं लेटना चाहिये। रोगी को जगह-जगह थूकने से मना करना चाहिये क्योंकि ऐसे थूक में क्षय रोग के असंख्य जीवाणु हो सकते हैं। जिस कमरे में क्षय रोग का रोगी रहा हो उसकी भली-भाँति धुलाई, पुताई तथा सफाई करने के बाद ही उसे उसे उपयोग में लाना चाहिये।

परिच्छेद : 45

पुराना कीटाणु अतिसार

(JOHNE'S DISEASE)

अन्य नाम—पैरा ट्यूबर्क्युलोसिस, जोने रोग, असत ट्यूबर्क्युलोसिस, दीर्घ-कालीन-असत ट्यूबर्क्युलोसिस-आन्त्रार्ति, दीर्घकालिक बैसिलेरी अतिसार आदि।

विषय परिचय—टी० बी० की भाँति यह एक बहुत भयंकर छूतदार बीमारी है जिसमें विशेषतौर पर छोटी तथा बड़ी आँत सूजकर खराब हो जाती है। यह बीमारी संसार के प्रायः सभी देशों में गौ तथा भैंस वंशज पशुओं को विशेष रूप से क्षति पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त भेड़ या बकरियाँ भी इसका शिकार होती हैं। वैज्ञानिक जोन (Johne) ने अमेरिका में सन् 1895 में इस रोग का जीवाणु सर्व-प्रथम प्रदर्शित किया और उसी के नाम पर इस बीमारी का नाम 'जोने रोग' पड़ा। यह रोग लगभग सभी बातों में टी० बी० से मिलता-जुलता है। कम आयु के पशुओं में इसका प्रकोप कम होता है, परन्तु 3 से 6 वर्ष की आयु वाले पशुओं में यह रोग खूब फैलता है। भारत में सर्वप्रथम सन् 1917 में इस रोग को देखा गया।

कारण (Etiology or Cause)—यह बीमारी एक जीवाणु माइकोबैक्टी-रियम-पैरा ट्यूबर्क्युलोसिस (mycobacterium para tuberculosis) के पशु की भोजन प्रणाली में पहुँचने से होती है। इस जीवाणु को जोने बैसिलस (Johne's Bacillus) के नाम से भी जाना जाता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—रोग के कीटाणु बीमार पशु के मल-मूत्र, चारा, पानी, बर्तनों इत्यादि को दूषित कर देते हैं। जब कोई अच्छा स्वस्थ पशु इन दूषित पदार्थों के सम्पर्क में आता है, तो उसकी आहारनाल में यह कीटाणु प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं। रोग की छूत, संदूषित बाड़े अथवा चरागाहों से पशुओं को लगती है।

इन्क्यूबेशन अवधि (Incubation period)—अनिश्चित (6 माह से 1 वर्ष या अधिक)।

लक्षण (Symptoms)—पशु के शरीर के अन्दर इस बीमारी का विकास बहुत धीरे-धीरे होता है। अतः टी० बी० की भाँति बहुत दिनों में इसके लक्षण प्रकट हो पाते हैं। इस प्रकार अनजाने ही पशु के शरीर में यह बीमारी अपना घर कर लेती है और वर्षों तक छुपी हुई चलती रहती है। रोग के लक्षण बहुधा पशु के निर्बल

होने अथवा मादा पशुओं के ब्याने के बाद प्रकट होते हैं पशु का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता दिखाई देता है। वह चारा भी भली-भाँति नहीं खाता। रोगी का तापक्रम नार्मल रहता है, परन्तु उसका शरीर शनैःशनैः जीर्ण होकर पसलियाँ चमकने लगती हैं। तत्पश्चात् पशु को स्थाई रूप में पतले पानी जैसे बहुत बदबूदार तेज दस्त आने लगते हैं और इनमें गैस के बबूले उठते दिखाई पड़ते हैं। इस दशा में पशु महीनों अथवा वर्षों तक चलता रहता है। उसका सारा माँस सूखने लगता है। निर्बलता धीरे-धीरे बढ़ जाती है और अन्त में पशु चलने-फिरने एवं खाने-पीने से विवश होकर मृत्यु की गोद में सो जाता है। मृत्यु के बाद यदि पशु की अंतड़ियों की परीक्षा की जाये, तो इसकी श्लेष्मक झिल्ली सामान्य से पाँच गुनी मोटी तथा झुर्रियोंदार दिखाई पड़ती है।
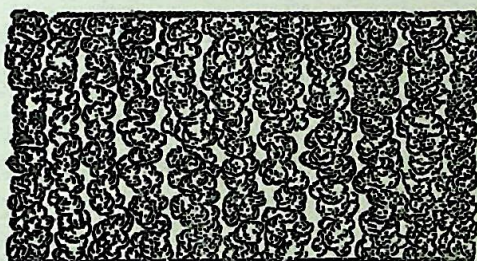
चित्र 45·1—पुराना कीटाणु अतिसार से पीड़ित पशु की झुर्रियोंदार अंतड़ी की दीवार

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—रोगी के रेक्टम (मलाशय) की श्लेष्मक झिल्ली खरोंच कर अथवा गोबर का स्लाइड पर पतला लेप बनाकर उसे जीहल नीलसेन अभिरंजक (stain) से रंगकर माइक्रॉस्कोप में देखने से रोग का अम्ल-स्थायी (acid fast) जीवाणु देखा जा सकता है।

(3) जोनिन जाँच (Johnin test)—यह जाँच भी बिल्कुल ट्यूबर्क्युलिन की दोहरी अन्तः त्वचा जाँच की भाँति की जाती है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ 'ट्यूबर्क्युलिन के स्थान पर 'जोनिन' (Johnin) प्रयोग किया जाता है। 0·2 मिलिलिटर जोनिन का गर्दन या पूँछ के नीचे वाले भाग (caudal fold) पर त्वचा की दोनों पर्तों के बीच इन्जेक्शन दिया जाता है। 48 घण्टे के उपरान्त पुनः उसी स्थान पर जहां पहले सुई लग चुकी है, दोबारा जोनिन का इन्जेक्शन दिया जाता है और फिर 24 घण्टे बाद पशु का निरीक्षण किया जाता है। रोगग्रसित पशु में इन्जेक्शन के स्थान पर फैली हुई, गर्म तथा दर्द भरी सूजन आ जाती है। जिन पशुओं को यह रोग नहीं होता, उनमें ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होती।

चिकित्सा (Treatment)—लक्षण प्रकट होने पर पशु का बचना कठिन हो जाता है, अतः आर्थिक दृष्टिकोण से इसका कोई भी इलाज नहीं है। किन्तु, यदि बीमारी का प्रारम्भ में पता लग जाये, तो सूखा चारा एवं स्तम्भक औषधियाँ (astringent medicines) देकर पशु के दस्त नियन्त्रित हो सकते हैं। स्तम्भक मिश्रण निम्न प्रकार बनाया जा सकता है—

फेरी सल्फ	150 ग्राम
ऐसिड सल्फ	150 मिलिलिटर
पानी	600 मिलीलिटर

इस मिश्रण को 30 मिलिलिटर की मात्रा में रोगी पशु को सुबह-शाम नित्य पिलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त ग्लैक्सो द्वारा निर्मित फ्युकाक्स पाउडर पानी में घोलकर पशु को पिलाने के दस्तों पर काबू पाया जा सकता है।

जीवाणु रहित अस्थि चूर्ण (bone meal) 30 से 60 ग्राम की मात्रा में रोगी पशु को देने से कुछ लाभ होता देखा गया है।

रोकथाम (Prevention and control)—इस रोग की रोकथाम भी क्षय-रोग की भाँति ही की जाती है। रोगी पशु के मल-मूत्र से दूषित चरागाह को 4-5 माह तक खाली पड़े रहने देना चाहिए तथा उस पर चूना छिड़कना चाहिये। बछड़ों को रोगी पशुओं के सम्पर्क से भली-भाँति बचाना चाहिये तथा उनके खाने-पीने के पदार्थों एवं निवास-स्थान से भी अलग रखना चाहिये। पशु-गृह खूब साफ रखे जायें तथा स्वस्थ पशु अच्छे एवं शुद्ध चरागाहों पर चराना चाहिये। प्रति 6 माह बाद यूथ की 'जोनिन जाँच' करके सभी रोग-ग्रसित पशुओं को हटा देना चाहिये। सम्पूर्ण दूषित पदार्थ या तो जला दिये जायें अथवा खाद के गड्ढों में डालकर बन्द कर देने चाहियें। पशुओं को शुद्ध ताजा जल पिलाना चाहिये।

रोग-ग्रसित पशुओं को मैगसल्फ के संयुक्त घोल का अन्तः शिरा इन्जेक्शन देकर अथवा मनुष्य-पशु घातक-यन्त्र (Human cattle killer) द्वारा नष्ट किया जा सकता है। रोग से प्रतिरक्षा (immunity) प्राप्त करने के लिये अभी तक कोई भी ढंग नहीं खोजा जा सका है।

परिच्छेद : 46

संक्रामक गर्भपात

(CONTAGIOUS ABORTION)

अन्य नाम—ब्रूसेल्लोसिस (Brucellosis), बैंग रोग (Bang's disease)।

विषय परिचय—यह पशुओं में फैलने वाला बहुत ही भयानक संक्रामक रोग है, जो मादा पशुओं, विशेषकर, गाय-भैंसों को हुआ करता है। सुअरियों तथा बकरियों को भी इसकी छूत खूब लगती है।। गर्भित पशु का गर्भाशय सूजकर, उसमें उपस्थित भ्रूण का पूरी अवधि पाने के पूर्व ही गर्भपात हो जाता है। गाय, भैंसों में बहुधा 5वें से 8वें माह तक ही उनका गर्भ गिर जाया करता है। सर्वप्रथम डेन्मार्क के एक वैज्ञानिक बैंग (Bang) ने सन् 1896 में गाय में इस रोग का जीवाणु 'ब्रूसेल्ला एबार्टस' (Brucella abortus) खोज निकाला। अतः इसी के नाम पर इस बीमारी का नाम 'बैंग रोग' (Bang's disease) तथा इसके फैलाने वाले जीवाणु का नाम 'बैंग बैसिलस' (Bang's Bacillus) पड़ा। यह रोग संसार के प्रायः सभी देशों में मुख्य तौर पर गाय तथा भैंसों में प्रकोप करता है। भैंसों की अपेक्षा गायों को यह रोग अधिक लगता है। आजकल भारत के पशु प्रजनन फार्मों के लगभग 20 प्रतिशत पशुओं में, इस रोग की छूत मिलती है। पशुओं में इसके प्रकोप से दूध तथा बच्चों की कमी हो जाने के कारण पशु-पालकों को आर्थिक क्षति पहुँचती है। साँडों में इसकी छूत अण्डकोषों, इपिडिडिमिस तथा शुक्राशय तक ही सीमित रहती है। रोगी पशु के सम्पर्क में आने अथवा उसका दूध पीने से मनुष्य को भी यह बीमारी लग जाती है, जिसे 'अण्ड्युलैंट ज्वर' (undulant fever) के नाम से जाना जाता है।

कारण (Etiology or cause)—'ब्रूसेल्ला एबार्टस' (Brucella abortus) गाय भैंसों में, ब्रूसेल्ला सुइस (Brucella suis) सुअरों में तथा ब्रूसेल्ला मेलिटेन्सिस (Brucella melitensis) बकरियों में रोग फैलता है। यह बैक्टीरिया रोगी पशु के गर्भाशय, जेर तथा भ्रूण के पेट व फेफड़ों में निवास करता है। कभी-कभी यह अयन में भी मिलता है। गर्भपात होने के दो माह माद बहुधा यह कीटाणु मादा के गर्भाशय से गायब हो जाता है, परन्तु कभी-कभी 3–4 वर्ष तक यहीं रहते देखा गया है। रोग-ग्रसित पशु के दूध में यह जीवाणु उपस्थित रहता है, अतः ऐसे दूध के सेवन से ही मनुष्यों को अण्ड्युलैंट ज्वर का रोग लग जाता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—गर्भपात होने के बाद गाय की योनि से निकलने वाला स्राव ही मुख्य रूप से इस बीमारी की छूत फैलाता है। रोग एक पशु से दूसरे पशु में निम्न प्रकार पहुँचता है—

1. अन्न नली द्वारा (by ingestion)—गर्भपात के बाद योनि से निकली गंदगी से दूषित हुआ दूध, चारा तथा पानी जब कोई स्वस्थ पशु खाता है तो उसके शरीर में अन्न नली द्वारा इस रोग का जीवाणु प्रवेश पा लेता है। इसके अतिरिक्त रोग-ग्रसित पशुओं का शरीर तथा जननाँग चाटने से भी यह रोग स्वस्थ पशुओं को लग सकता है।

2. मूत्र एवं जननेन्द्रिय नली द्वारा (by urinogenital tract)—प्राकृतिक ढंग से प्रजनन कराने में रोग-ग्रसित साँडों के लिंग से यह जीवाणु मादा की जननेन्द्रिय में प्रवेश पा लेता है तथा रोगी गायों से यह स्वस्थ साँड को भी इसी समय लग सकता है। इसके अतिरिक्त कृत्रिम गर्भाधान की विधियों में प्रयोग होने वाले यन्त्रों को यदि भली-भाँति जीवाणुरहित न किया गया, तो भी रोग फैलने की आशंका रहती है।

3. त्वचा एवं कंजन्कटाइवा द्वारा (by skin and conjunctiva)—कभी-कभी इस रोग की छूत त्वचा एवं कंजन्कटाइवा द्वारा भी पशुओं को लगती देखी गई है।

4. परिचारकों द्वारा (by attendant)—रोगी पशुओं के सम्पर्क में रहने वाले परिचारकों के दूषित कपड़े, जूते तथा हाथ भी इस रोग के फैलाने में काफी सहायक होते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Period of incubation)—33 से 100 दिन।

लक्षण (Symptoms)—रोग-ग्रसित पशु का सबसे प्रधान लक्षण गर्भपात है। पशु को काफी तेज बुखार, सुस्ती, बेचैनी, शारीरिक निर्बलता, भूख की कमी, कष्टप्रद श्वाँस-प्रश्वाँस तथा 5वें से 8वें माह में गर्भपात होना आदि, इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। गर्भपात होने के पूर्व, भग में सूजन आकर उससे बादामी रंग का स्राव होता है। अयन फूलकर लाल हो जाता है। इसमें मुख्य रूप से गर्भनाल (placenta) पर सूजन आ जाती है, जिसके फलस्वरूप गर्भपात हो जाता है। बहुधा मरा हुआ बच्चा गर्भाशय से बाहर निकलता है, परन्तु कभी-कभी यह जीवित भी हो सकता है, जो प्रसव के तुरन्त बाद मर जाता है। इसकी रूपरेखा असाधारण सी होती है। वैसे तो गर्भकाल के किसी भी समय गर्भपात हो सकता है, परन्तु आमतौर पर 5वें से 8वें माह में ही अधिक होता देखा गया है। लगातार गर्भपात होना ही इस रोग का मुख्य लक्षण नहीं है। छूत लगने के प्रथम वर्ष में यूथ के एक-दो पशुओं का ही गर्भपात होता है। दूसरे वर्ष में कई पशुओं के गर्भ गिरते हैं तथा बाद के वर्षों में बीमारी उन्मूलन हुई सी जान पड़ती है, परन्तु पुनः प्रकट हो सकती है। गर्भपात होने के उपरान्त, जेर बहुधा भ्रूण के साथ नहीं गिरती तथा योनि से पतला, गन्दा, पीले रंग का स्राव होता है। गर्भाशय

में रुकी हुई जेर सड़कर, शरीर के सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देती है, जिसके फल-स्वरूप पशु की मृत्यु हो जाती है।

रोगी पशु के शरीर के निचले भाग, जैसे उदर तली तथा सन्धियाँ (joints) कुछ सूजी हुई सी मालूम पड़ती हैं। रोग ग्रसित साँडों के घुटने एवं टखने भी सूज जाते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

1. लक्षणानुसार (Symptomatic)—पशु का इतिहास लेकर तथा मुख्य लक्षण, जैसे कई बार गर्भपात हो चुका होना, गर्भाशय से पीला गन्दला स्राव तथा गाय के पीले व नर्म गर्भाशयी काटीलीडन (uterine cotyledons) देखकर रोग की पहचान की जाती है।

2. माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—भ्रूण के पेट से निकले हुए पदार्थ का काँच के स्लाइड पर पतला लेप बनाकर तथा कार्बोल फुक्सिन से अभिरंजन (staining) करके माइक्रोस्कोप में देखने से रोग का जीवाणु पहचाना जाता है।

3. ऐग्लूटिनेशन जाँच द्वारा (Agglutination test)—इसके अन्तर्गत सन्देह-युक्त पशु के सीरम का, सलाइन के साथ 1 : 5, 1 : 10, 1 : 20 और ऊपर के अनुपात में घोल बनाकर ऐग्लूटिनेशन देखते हैं। रोग-ग्रस्त पशुओं में 1 : 40 के घोल में ऐग्लूटिनेशन हो जाता है।

चिकित्सा (Treatment)—इस रोग का कोई भी लाभदायक उपचार नहीं है। गर्भपात होने के उपरान्त गर्भाशय को हल्के पोटाश परमैंगनेट लोशन या डिटोल जैसे ऐन्टिसेप्टिक घोल से धोकर, उसमें कैम्प्रान, हिवीटेन, फ्यूरिया बोलस जैसी योनिवर्ति (pessaries) रखकर पशु को कुछ लाभ पहुँचाया जा सकता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि दो-तीन बार गर्भपात होने के बाद पशु में स्वतः ही इस रोग के प्रति सहन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

फाइजर द्वारा निर्मित 'मैस्टालान-यू' तथा कैटिल रेमिडीज तथा निर्मित 'यूटेरोटोन' को इसकी चिकित्सा में काफी उपयोगी पाया गया है। इन औषधियों के साथ-साथ पशु को हेक्स्ट द्वारा निर्मित टोनों-फॉस्फान तथा में एण्ड बेकर द्वारा निर्मित वेटोस्टीरॉल का टीका भी देना चाहिये।

रोकथाम (Prevention and control)—चूँकि बचाव उपचार से अधिक अच्छा होता है, अतः बीमारी रोकने के लिये रोग ग्रसित पशु की जानकारी होने पर तुरन्त ही उसे स्वस्थ पशुओं से अलग कर देना चाहिये। गिरे हुए भ्रूण, जेर तथा उसके सम्पर्क में आये हुये सभी नष्टकीय पदार्थों को जलाकर अथवा गहरे गड्ढे में गाड़कर ऊपर से चूना डालकर नष्ट कर देना चाहिये। रोगी पशु के पिछले धड़ पर लगी हुई गन्दगी को सैवलान या डिटोल जैसे **विष नाशक घोल** (antiseptic lotion) से धोकर साफ करना चाहिये। जिस बाड़े में रोगी पशु बाँधा गया हो, उसका फर्श

विषनाशक घोल या फिनायल से खूब धोना चाहिये, जिससे कि वह जीवाणु रहित हो जाये। पशु गृह की दीवारें कार्वोलिक अम्ल युक्त चूने से पुतवानी चाहियें। दूषित चरागाहों पर, जिनमें रोगी पशु चर चुका हो, स्वस्थ पशु न चरायें जायें और इन चरागाहों को जुतवाकर चूना छिड़का जाये। प्रजनन के लिये कृत्रिम गर्भाधान का ढंग अपनाया जाये, जिससे रोग एक पशु से दूसरे पशु को सरलता से न लगने पाये। रोग से बचाव के लिये 4 से 8 माह की आयु में ही बच्चों को टीका लगवाना चाहिये। टीका लगाने के लिये वैंग के बैसिलस के जीवित सम्वर्धन (Brucella abortus strain 19) का त्वचा के नीचे (sub/cut) इन्जेक्शन दिया जाता है। यह **वैक्सीनेशन 'काफ हुड वैक्सीनेशन'** (calf hood vaccination) कहलाता है। यह स्ट्रेन सर्वप्रथम अमेरिका के वैज्ञानिक **'वक तथा काटन'** द्वारा तैयार किया गया था। भारत में अब यह वैक्सीन भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I. V. R. I.) इज्जतनगर/मुक्तेश्वर में तैयार होकर 25 से 50 घ० सें० की शीशियों में बन्द किया हुआ उपलब्ध होता है। 5 घ० सें० प्रति पशु इसकी खुराक है। भारत में उन स्थानों विशेषकर फार्मों पर, जहाँ इस रोग की काफी छूत फैलती है, छोटे-बड़े सभी मादा पशुओं को इसका टीका दिया जाता है।

रोग का उन्मूलन करने के लिये पशुओं की ऐग्लूटिनेशन जाँच करके बीमारी का निदान किया जाता है। जब तक रोगी पशु यूथ में मिलते रहें यह जाँच प्रतिमास की जाती है। इस प्रकार निदान द्वारा सभी रोगी पशुओं को अलग करके नष्ट कर दिया जाता है तथा स्वस्थ पशुओं का एक नया यूथ बना लिया जाता है। साँडों की भी इस रोग के लिये परीक्षा की जाती है और इस प्रकार परीक्षित रोग रहित नरों से ही मादायें गर्भित कराई जाती हैं। नये खरीदे हुये पशुओं को यूथ में मिलाने से पूर्व, 15 दिन उन्हें अलग रखकर, इस रोग के लिये उनकी परीक्षा की जाती है। यदि वे ऐग्लूटिनेशन जाँच में पास हो जाते हैं, तो उन्हें बिना किसी सन्देह के यूथ के स्वस्थ पशुओं में सम्मिलित कर लिया जाता है।

भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद (I. C. A. R.) के प्रयोगात्मक अनुभवों के उपरान्त, रक्त परीक्षा तथा अलगाव का ढंग इस बीमारी को रोकने में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ है। उत्तर प्रदेश के कुछ फार्मों में इस विधि को अपनाने के बाद यह रोग समूल नष्ट होते देखा गया।

परिच्छेद : 47

बाँझपन

(STERILITY)

अन्य नाम—वन्ध्यता, अनुर्वरता, विसंक्रमणता आदि ।

विषय परिचय—यह नर तथा मादा पशुओं की एक छूतदार वीमारी है । मादा पशुओं में बाँझपन का अर्थ है गर्भ ग्रहण न करना । यह रोग प्रायः भैंसों में अधिक पाया जाता है । रोग-ग्रसित मादायें कृत्रिम तथा प्राकृतिक रूप से मादा जननेन्द्रिय में परीक्षित वीर्य डालने पर भी गर्भ धारण नहीं करतीं । वास्तव में इस रोग को बाँझपन की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि इसका ठीक नाम असंसेचनता (infertility) होना चाहिये । यह वीमारी स्थायी (ermanent) तथा अस्थायी (temporary) दो प्रकार की हो सकती है । स्थायी रूप से नर या मादा में प्रजनन शक्ति का ह्रास होना 'बाँझपन' कहलाता है और दूध देने वाले पशुओं में आजकल यह वहुत बड़ी आर्थिक समस्या है ।

अनुर्वरता (sterility) एक अकेली बीमारी न होकर, एक संयुक्त रोग है जो सम्पूर्ण जीव-विज्ञान क्षेत्र को संलग्न करती है । नर पशुओं के वीर्य में यह गर्भ-धारण की शक्ति कम करती है तथा मादा पशुओं में इससे संतानोत्पत्ति की संख्या में कमी हो जाती है ।

कारण (Etiology or cause)—अधिकतर बाँझपन के रोगोत्पादक कारक मादा पशुओं में ही विद्यमान रहते हैं । बाँझपन के मुख्य कारण निम्नांकित हैं—

(1) शरीर रचना में खराबी (anatomical defects)

(2) जननेन्द्रिय रोग (genital diseases)

(3) जननेन्द्रिय नली की चोट (injuries to the genitalia)

(4) हारमोन असंतुलन (hormonal disturbances)

(5) जैनेटिक कारक (genetic causes)

(6) कुपोषण (faulty feeding)

(7) दूषित वातावरण एवं कुप्रबन्ध (bad environment and faulty management)

(8) कुछ अनभिज्ञ कारक (certain unknown factors)

बाँझपन के कारण
रचनात्मक (Structural)
क्रियात्मक (Functional)
रोगात्मक (Pathological)
जन्मजात (congenital)
उपार्जित (acquired)
हारमोनल (hormonal)
पौषणिक (nutritional)
विशिष्ट (specific)
अविशिष्ट (non-(specific)
गाय में
गाय में
पशु के शरीर में
गाय में
गाय में
1. अविकसित ओवरी
2. अविकसित योनि
3. अविकसित गर्भाशय
4. गर्भाशय ग्रीवा का मुंह बन्द होना।
5. फ्रीमार्टिन
6. श्वेत ओसर रोग
1. नर-मादा जननेन्द्रिय में लगी हुई चोटें जिसके कारण या तो उनमें सम्भोग की इच्छा ही न होना अथवा अण्डाणु व शुक्राणु उत्पादन में बाधा।
2. शरीर पर लगी हुई ऐसी चोटें जिनके कारण इच्छा होते हुए भी सम्भोग न कर सकना।
3. मादा की योनि में रसौली (tumour)
1. ओवरी के कार्य में बाधा
2. निम्फोमैनिया
3. स्थायी कार्पसल्युटियम
4. गर्म होने के लक्षण न प्रकट करना (silent heat)
1. प्रोटीन
2. कार्बोहाइड्रेट
3. चिकनाई
4. कैल्सियम
5. फॉस्फोरस
6. मैंगनीज
7. विरल तत्व (trace-elements)
8. विटामिन E और D की कमी
1. गर्भपात
2. विब्रिओसिस
3. गर्भाशय की टी. बी.
4. ट्राइकोमोनिऑसिस रोग
5. लेप्टो स्पाईरोसिस जैसे विशिष्ट रोगों की उपस्थिति
1. योनि शोथ (vaginitis)
2. भगशोथ (vulvitis)
3. अण्डाणु नालशोथ (salpingitis) जैसे अनेक अवशिष्ट रोग

सांड

सांड में	सांड में	सांड में	सांड में
1. रिंग (rig) अवस्था	1. वीर्य दोष, जैसे निम्न कोटि का वीर्य होना	1. ब्रूसेल्लोसिस	1. अण्ड कोषों की सूजन
2. अविकसित नर जननेन्द्रिय	2. टेस्टेस्टरोन हारमोन की कमी	2. विब्रिओसिस	2. इपीडिडिमिस की सूजन
3. लिंग की वनावट में खरावी		3. ट्राइक्रोमो-निऑसिस	
4. उभय-लिंगता (hermaphroditism)			

इनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

शरीर रचना में खराबी (Anatomical defects)—ऐसी खराबियाँ शरीर वनते समय नर या मादा किसी में हो सकती हैं, उदाहरणार्थ—

(अ) क्रिप्टॉरक्डिज्म या रिग अवस्था (Cryptorchidism of rig)—यह वह अवस्था है, जिनमें कि नर पशुओं में एक अथवा दोनों अण्डकोष उदर-गुहा (abdominal cavity) में ही रुके रह जाते हैं। इस प्रकार पशु की गर्भ धारण कराने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

(ब) चोटें (Injuries)—पीठ, नितम्ब तथा पैरों में स्थायी चोट होने के कारण कभी-कभी नर-मादा आपस में सम्भोग नहीं कर पाते और इस प्रकार उनमें प्रजनन शक्ति का ह्रास होकर स्थायी अथवा अस्थायी असंसेचनता आ जाती है।

(स) आँत उतरना, नर जननेन्द्रिय का अपूर्ण विकास, मूत्र मार्ग की रचना में गड़बड़ी तथा उभयलिंगता (hermaphroditism) आदि, नर पशुओं में बाँझपन के कुछ अन्य मुख्य कारण हैं। उभयलिंगता ढोरों में कम देखी जाती है।

(द) ओवरी तथा गर्भाशयी शृंगों (uterine horns) की अनुपस्थिति में भी मादा बाँझ हो जाती है।

वृद्धावस्था, संभोग की अनिच्छा, मादा का गर्म न होना, ओवरी पर शोथ, ओवरी में सिस्ट (cyst) होने के कारण मादा में बहुत अधिक संभोग की इच्छा

(nymphomania), अण्डाणु (ovum) का अभाव इत्यादि मादा में बाँझपन के कुछ कारण हैं।

(र) फ्री मार्टिन (Free martin)—जब नर-मादा बच्चे एक ही साथ जन्म लेते हैं, तो बहुत ऐसा देखा गया है कि मादा बच्चा अधिकतर बाँझ निकल जाता है। इस अवस्था को 'फ्री मार्टिन' कहते हैं। ऐसा हारमोनल असंतुलन, गर्भकाल में ही जननतन्त्र की गड़बड़ी के कारण होता है। गर्भाशय में बन रहे दोनों बच्चों को माँ के गर्भनाल (placenta) द्वारा रक्त पहुँचता है। बछड़ा अपने विकास काल में अपने साधारण अणुकोष द्वारा एक नर हारमोन निकालता है जो रक्त द्वारा बछिया के शरीर में चारों ओर घूमता है। यदि यह हारमोन काफी मात्रा में पैदा होता है तो बछिया के जनन अंगों का विकास ही नहीं होने पाता और वह बड़ी होकर बाँझ निकल जाती है। इसका कोई भी इलाज नहीं है।
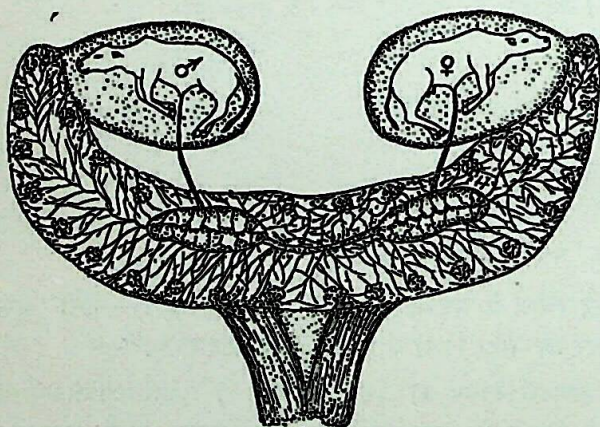
चित्र 47·1—फ्री मार्टिन (Free martin)

(अ) श्वेत ओसर रोग (White heifer disease)—यह श्वेत रंग वाली ओसरों में जननेन्द्रिय रचना के विकास में एक गड़बड़ी है, जिससे योनि के पिछले भाग पर श्वेत रंग का टिसू आकर स्थायी हाइमन (hymen) बनाता है। इससे बछिया में योनि का मुख बिल्कुल बन्द सा रहता है और संभोग काल में नर का लिंग उसमें प्रवेश नहीं कर पाता। इस टिसू की शल्य-क्रिया (operation) करके असाधारणता को दूर किया जा सकता है।

जननेन्द्रिय रोग (Genital diseases)—नर में ब्रूसेल्लोसिस (brucellosis), ट्राइकोमोनियासिस (trichomoniasis) तथा मादा में योनिशोथ (vaginitis), विब्रिओसिस (vibriosis), क्षय-रोग (T. B.), ब्रूसेल्लोसिस, ट्राइकोमिनियासिस आदि विशिष्ट (specific) बीमारियाँ बाँझपन का कारण बनती हैं। इन बीमारियों के फलस्वरूप मादा जननेन्द्रिय में ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण या तो वे गर्भित ही नहीं हो पातीं या पूर्ण गर्भ धारण करने की शक्ति का ह्रास होकर, उनका

गर्भपात हो जाता है। कभी-कभी मादा की योनि, गर्भाशय, डिम्ब प्रणाली या गर्भाशय ग्रीवा में झिल्ली पड़कर रुकावट आ जाती है और इस कारण मादा गर्भ धारण करने के योग्य ही नहीं रहती। ब्रूसेल्लोसिस का विविध वर्णन पिछले पाठ में किया जा चुका है। **विब्रिओसिस** एक ऐसा रोग है जो जननेन्द्रिय में विब्रिओफीटस नामक जीवाणु के प्रवेश पाने पर होता है। देर में गर्म होना, कई वार गाभिन न हो पाना तथा शुरू के महीने में ही गर्भपात हो जाना आदि इसके अनेक लक्षण हैं। **ट्राइकोमोनिआॅसिस** बीमारी एक जीवाणु ट्राइकोमोनास फीटस द्वारा फैलती है। मादा के गर्भाशय तथा साँड के मुतान में यह जीवाणु निवास किया करता है। गर्भाशय में इसकी उपस्थिति से पहले चार माह में ही गाभिन पशु का गर्भ गिर जाता है। **लेप्टोस्पाइरोसिस** रोग का प्रधान लक्षण गर्भकाल के अन्तिम दिनों में गर्भपात होना है। यह सभी छूतदार रोग नर-मादा के सम्भोग काल में एक-दूसरे को लग जाते हैं।

योनिशोथ (vaginitis) भगशोथ (vulvitis) तथा अण्डाणुनाल शोथ (salpingitis) आदि गो-पशुओं में होने वाले अनेक अवशिष्ट (non specific) रोग हैं जिनके कारण या तो अण्डाणु (ovum) गर्भाशय में संसेचित (fertilize) ही नहीं हो पाता अथवा गाभिन पशु का गर्भ गिर सकता है।

जननेन्द्रिय नली में लगी हुई चोटें (Injuries to genitalia)

सम्भोग अथवा ब्याने के समय नर-मादा जननेन्द्रिय में लगी हुई चोटें भी स्थायी अथवा अस्थाई बाँझपन का कारण वन जाती हैं। नर जननेन्द्रिय में चोट लगने से अण्डकोष तथा इपिडिडिमिस में सूजन आकर शुक्राणु उत्पादन की क्रिया समाप्त हो जाती है। मादा जननेन्द्रिय में चोट लगने से भग-शोथ, योनि-शोथ, गर्भाशय शोथ (metritis), गर्भाशय में पीप पड़ जाना (pyometra) तथा गर्भाशय का उलट जाना (prolapse of uterus) आदि रोगों के हो जाने का भय रहता है।

हारमोनल असन्तुलन (Hormonal imbalance)—शरीर में नलिका विहीन ग्रन्थियों (ductless glands) से जो स्राव निकलता है, उसे हारमोन कहते हैं। कुछ हारमोन, जैसे—अग्र पिट्यूटरी (anterior pitutary), टेस्टेस्टरोन, डिम्ब ग्रन्थि फॉलिकिल, कॉर्पस ल्यूटियम तथा गर्भनाल के हारमोन इत्यादि नर-मादा पशुओं की जननेन्द्रिय की बढ़ोत्तरी एवं उनकी कार्य क्षमता के लिये उत्तरदायी होते हैं। अतः शरीर में इनका असन्तुलन होना बाँझपन का सूचक है। साँडों में टेस्टेस्टरोन हारमोन की कमी शुक्राणु उत्पादन (spermatogenesis) पर कुप्रभाव डालती है। मादा पशुओं में हारमोन की कमी से कभी-कभी गर्म होने के वाह्य लक्षण (silent heat) भी प्रकट नहीं होते। ऐसी अवस्था में उनका गर्म होना ही समय पर नहीं जाना जा सकता। हारमोनल असन्तुलन अधिकतर मादा पशुओं में ही देखने को मिलता है।

जैनेटिक कारण (Genetic causes)—कुछ घातक-कारक (lethal factors) जो भ्रूण को गर्भाशय में ही मार डालते हैं, बाँझपन के कारण बनते हैं। प्रसंकरण

(hybridization) के फलस्वरूप अच्छे व तेजस्वी बच्चे पैदा होते हैं, पर वे बहुधा बाँझ निकलते हैं। इसी प्रकार अधिक सम-प्रजनन (close breeding) करने पर भी ऐसे ही परिणाम प्राप्त होते हैं।

कुपोषण (Malnutrition)—सन्तुलित आहार न मिल सकने के कारण हमारे देश में लगभग 20 से 40 प्रतिशत पशु प्रतिवर्ष बाँझ हो जाते हैं। पशु-आहार में विटामिन 'ई' तथा 'ए' की कमी हो जाने से मादा की ओवरी अविकसित रह जाती है और वह गर्म ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रोटीन तथा कैल्शियम एवं फॉस्फोरस जैसे खनिज लवण, पशु के स्वास्थ्य एवं प्रजनन शक्ति के लिए बहुत आवश्यक हैं। अतः पशुओं को दिये गये चारे में इनकी कमी, तरह-तरह के रोग उत्पन्न करके उनको अस्वस्थ बना देती है जिससे उनमें अस्थायी अथवा स्थायी बाँझपन आ जाता है।

दूषित वातावरण एवं कुप्रभाव (Bad environment and faulty management)—पर्याप्त तापक्रम, रोशनी तथा सुप्रबन्ध का पशु-प्रजनन पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ता है। गन्दे तथा अन्धेरे, बिना रोशनदान के पशुशाला पशु की प्रजनन-शक्ति का ह्रास करते हैं और साथ ही उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालकर उनमें अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं।

बाँझपन के लक्षण (Symptoms)

चूँकि बीमारी के अनेक कारण हैं, इनके अनुसार ही लक्षण दिखाई पड़ते हैं। **किन्तु बांझपन का मुख्य लक्षण पूर्ण रूप से प्रजनन-शक्ति का ह्रास होना है।**

बाँझपन का निदान (Diagnosis)

रोग की पहचान पशु के इतिहास, लक्षणों तथा कारणों पर निर्भर होती है। अतः रोग के निदान के लिए पशु का संक्षिप्त इतिहास जान लेना परम आवश्यक है। साथ ही पशु की सामान्य परीक्षा तथा विशेष तौर पर जनन अंगों की परीक्षा करनी अनिवार्य है।

इतिहास में पिछले ब्यांत का ब्यौरा : जैसे—असाधारण प्रसव, जेर का न गिराना या देर से गिराना, गर्भपात हो जाना, अनियमित ऋतुमती होना आदि जाना जा सकता है।

सामान्य परीक्षण में पशु का योनि स्राव (vaginal secretion), जनन-अंगों में असाधारणता, उसका स्वास्थ्य इत्यादि देखा जाता है। विशेष परीक्षा के लिये मलाशय तथा योनि में जीवाणु रहित चिकना हाथ डालकर जनन अंगों की भली-भाँति जाँच करके उनमें असाधारणता का पता लगाकर रोग का निदान किया जाता है।

उपर्युक्त विधि से परीक्षा करने पर बाँझ गाय में अग्र प्रकार की असाधारणता मिल सकती है।

(1) स्थायी कॉर्पसल्युटियम (Persistant corpusluteum)
(2) सिस्टिक ओवरी (Cystic ovary)
(3) अमद ओवरी (Anestrus ovary)
(4) योनि शोथ (Vaginitis)
(5) गर्भाशय शोथ (Metritis)
(6) गर्भाशय ग्रीवा शोथ (Cervicitis)
(7) गर्भाशय में तनाव की कमी (Lack of tone in the uterus)
(8) छोटी ओवरी (Small ovary)
(9) फूली हुई योनि (Inflamed vagina)
(10) योनि में अमलत्व (Acidity in vagina)
(11) रसौली (Tumour)
(12) भगशोथ (Vulvitis)

यदि बाँझपन किसी बैक्टीरिया द्वारा हो, तो माइक्रॉस्कोप की सहायता से जीवाणु को देखा जा सकता है।

चिकित्सा एवं रोकथाम (Treatment & Prevention)

चूँकि बीमारी संयुक्त कारणों से होती है, अतएव इसका कोई एक इलाज नहीं है। यदि रोग पशु पोषाहार की वजह से है, तो पशु को सन्तुलित आहार दिया जाये। यदि रोग आवश्यक हारमोनों का सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण हुआ है, तो इसका निदान किसी भी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पर पशु को ले जाकर कराया जा सकता है। बाँझपन यदि जननेन्द्रिय रोगों के कारण है, तो पशु चिकित्सक के परामर्श से इलाज कराया जा सकता है। कुछ पशु, जो बिल्कुल ठीक नहीं हो सकते, उन्हें गो-सदन भेजा जाय। इस प्रकार पशुओं में सन्तुलित व नियमित आहार देकर, अच्छे प्रजनन ढंगों, सुप्रबन्ध एवं रोग-निरोधक विधियों द्वारा बाँझपन को नियन्त्रित किया जा सकता है। बाँझपन के रोगियों की चिकित्सा तभी करनी चाहिये जबकि अन्य पशुओं में इसके फैलने की सम्भावना न हो। अतः चिकित्सा पर अधिक ध्यान न देकर अच्छे पशुओं में रोकथाम करना ही चिकित्सक एवं पशु-पालक का लक्ष्य बनना चाहिये। कृत्रिम गर्भाधान करते समय सांडों का परीक्षित वीर्य ही प्रयुक्त करना चाहिये। अधिक सावधानी के लिये सांडों के वीर्य में प्रतिजैविक पदार्थों (एन्टीबायोटिक्स) का प्रयोग करना अधिक अच्छा है।

आजकल बाँझपन की चिकित्सा में विटामिन E, विटमिन A, 'टोनोफास्फान, यूटेरोटोन, सेक्जोम, प्रजना तथा मैस्टालॉन-यू' नामक औषधियों को गुणकारी पाया गया है। ग्लैक्सो द्वारा निर्मित 'प्रोपैलीन फोर्ट', मर्क द्वारा निर्मित 'ईविआन' तथा कन्सेप्ट द्वारा बनाई गई 'विटासेप्ट' औषधियों का इन्जेक्शन सप्ताह में दो या तीन बार देने से आशातीत लाभ होता है।

✓ परिच्छेद : **48**

थनैला रोग

(MASTITIS)

अन्य नाम—स्तन शोथ (mammitis), गार्गेट (garget), अयन का शीत (chill of the udder), थनैला आदि।

विषय परिचय—यह दुधारू पशुओं के अयन (udder) का एक बहुत ही भयानक छूतदार रोग है, जो बैक्टीरिया द्वारा फैलता है। यदि प्रारम्भ से ही इस बीमारी की देखभाल उचित रूप से न की गई, तो यह पशु के थनों को बेकार करके उसके दूध को सुखा देती है। यह रोग चूंकि अयन से सम्बन्धित है, अतः केवल मादा पशुओं को ही होता है। मुख्य रूप से गाय, भैंस और बकरी ही इसके शिकार होते हैं। इस बीमारी से पशु मरते कम हैं, परन्तु अयन सूखकर वे सदैव के लिये बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह रोग बहुत ही भयानक है, जिससे लाखों पशु देश में प्रतिवर्ष बेकार होकर पशुपालक तथा राष्ट्र को भारी क्षति पहुँचाते हैं। अच्छे दुधारू पशुओं में इसका प्रकोप होता है। भारतवर्ष में अच्छे-अच्छे सरकारी एवं निजी डेरी फार्मों के पशुओं में यह रोग खूब मिलता है। श्री सेठी के (1953) अनुसार यह रोग 20·7 प्रतिशत भैंसों एवं 43·6 प्रतिशत दूध देने वाली गायों में पाया जाता है। पंजाब, मैसूर और बम्बई में भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् द्वारा की गई छानबीन के अनुसार, यह रोग भारत में एक समस्या है। गाँव की अपेक्षा शहरों में तथा भैंसों की अपेक्षा गायों में यह रोग अधिक होता है। आजकल 10–15 प्रतिशत पशुओं में यह रोग खुले रूप से तथा 50–70 प्रतिशत छिपे रूप से मिलता है। विदेशी नस्ल के पशु इसके प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं।

कारण (Etiology or cause)—बीमारी के मुख्य कारण निम्नलिखित जीवाणु हैं, जो थनों द्वारा पशु के अयन में प्रवेश करते हैं—

	जीवाणु	प्रतिशत
1.	स्ट्रेप्टोकोकाइ (streptococci) और इनमें भी मुख्य स्ट्रेप्टोकोकाई एगैलेक्शिये (streptococci agalactiae)	30·1 से 76·01
2.	स्टैफिलोकोकाई (staphylococci)	21·61 से 59·6
3.	कोरिने बैक्टीरियम पायोजिनस (coryne bacterium pyogenes)	2·13

4. माइकोबैक्टीरियम ट्यूबर्क्युलोसिस (mycobacterium tuberculosis) 0·12
5. बी० कोलाइ (B. coli) 0·12 से 5·3
6. फ्युजीफार्मिस नेक्रोफोरस (fusiformis necrophorus) कभी-कभी

वम्बई प्रदेश के किये गये सर्वेक्षण के उपरान्त स्ट्रेप्टोकोकस ग्रुप के निम्नलिखित जीवाणु इस रोग के लिये उत्तरदायी ठहराये गये—

नाम	प्रतिशत
स्ट्रेप्टोकोकस एगैलेक्शिये (streptococcus agalactiae)	52·26
स्ट्रेप्टोकोकस डिस्गेलक्शिये (streptococcus dysgalactiae)	32·34
स्ट्रेप्टोकोकस यूबेरिस (streptococcus uberis)	13·75
स्ट्रेप्टोकोकस विरीडाँस (streptococcus viridans)	00·81
स्ट्रेप्टोकोकस पायोजिनस (streptococcus pyogenes)	00·54
स्ट्रेप्टोकोकस जूइपीडेमिकस (streptococcus zooepidemicus)	00·27

गाय-भैंसों में अधिकतर यह रोग स्ट्रेप्टोकोकस जीवाणुओं द्वारा होता है, परन्तु भारतवर्ष में मुख्य रूप से इस रोग के कारण स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु ही देखे गये हैं।

जीवाणुओं के अतिरिक्त पशुशाला का कुप्रवन्ध इस बीमारी के प्रकोप के लिए विशेषकर उत्तरदायी होता है। अयन तथा थनों पर लगी हुई चोटें, ग्वाले के गन्दे हाथ, पशुशाला के गीले तथा गन्दे फर्श, सफाई का अभाव, मक्खियों का वाहुल्य, गो-दोहन के गलत ढंग इस बीमारी के जीवाणुओं को आमन्त्रित करते हैं। ऐसे कारण पुरः प्रवर्तक कारक (Predisposing factors) कहलाते हैं।

छूत लगने का ढंग (Mode of Infection)

यह जीवाणु पशु के थनों में चोट या रगड़ लग जाने अथवा रहने के कुप्रवन्ध, जैसे—ठण्डे व भीगे फर्श पर बैठ जाने से थन नली के अन्दर प्रवेश पाकर बीमारी फैलाते हैं। दूध दुहने की मशीनें, ग्वालों के गन्दे हाथ तथा कपड़े, गायों के शरीर तथा पशु-गृहों की दीवारें भी इस रोग के फैलाने में सहायक होती हैं। कभी-कभी मक्खियाँ भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोग फैलाती देखी गई हैं।
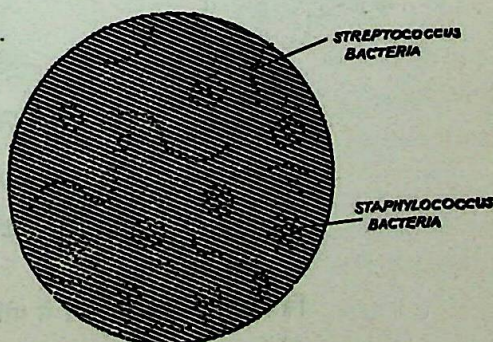
चित्र 48·1—थनैला रोग के जीवाणु
(Organisms of mastitis)

लक्षण (Symptoms)

साधारणतया यह रोग अयन तक ही सीमित रहता है और तीव्र (acute), कुछ तीव्र (sub-acute) तथा दीर्घकालिक (chronic) अवस्थाओं में पशु को हुआ करता है।

तीव्र थनैली (Acute mastitis)—सर्वप्रथम तापक्रम का बढ़ना, बेचैनी, भूख में कमी, गर्म लाल तथा दर्द युक्त अयन, बाद में बढ़ती हुई सुस्ती, तापक्रम का गिरना; अयन ठण्डा तथा कड़ा होना तथा थनों से एकाएक दूध का बहाव बन्द हो जाना आदि इस अवस्था के मुख्य लक्षण हैं। थनों से निकला हुआ दूध पहले कुछ पीलापन लेकर, बाद में गहरे लाल रंग का हो जाता है। अयन ठण्डा, कड़ा तथा नीलापन लिए हुए प्रतीत होता है।

दूध न देने वाले सूखे पशुओं में यह रोग कोरिने बैक्टीरियम पायोजिनस के द्वारा होता है और यूरोप में इसे ग्रीष्म थनैली (summer mastitis) के नाम से जाना जाता है।

कुछ तीव्र थनैली (Sub-acute mastitis)—इसके भी लक्षण लगभग वही सब हैं, जो तीव्र अवस्था में वर्णन किये जा चुके हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे धीरे-धीरे प्रकट होकर पशु को अपेक्षाकृत कम हानि पहुँचाते हैं। अयन से निकले हुए दूध में छीछड़े तथा एपिथीलियल कोशिकायें (epithelial cells) मिलती हैं।

दीर्घकालिक थनैली (Chronic mastitis)—गाय-भैंसों में स्ट्रेप्टोकोकस एगैलेक्शिये द्वारा छूत लगने से यह अवस्था होती है। इसके लक्षण बहुत ही धीरे-

चित्र 48·2—थनैला रोग से पीड़ित पशु
(Animal suffering from mastitis)
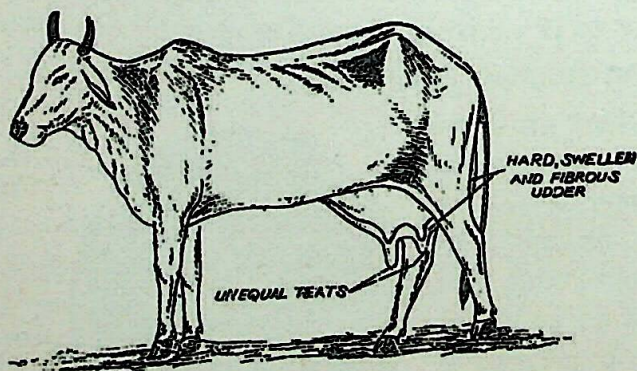
धीरे प्रकट होते हैं, जिसके फलस्वरूप रोग का आक्रमण होने के काफी दिनों बाद इसकी पहचान हो पाती है। मुख्य तौर पर अयन बढ़कर सख्त हो जाता है और दबाने पर उसमें दर्द नहीं होता। थनों से निकला हुआ दूध पतला एवं छीछड़े युक्त

होता है। धीरे-धीरे अयन क्षीण होता जाता है तथा पशु का दूध मात्रा में कम होता जाता है। रोग का वेग अधिक होने पर गाय बिल्कुल ही दूध देना बन्द कर देती है।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)

इस विधि में ऊपर बताये गये रोग के मुख्य लक्षण देखकर बीमारी की पहिचान की जाती है।

(2) बिना माइक्रॉस्कोप की सहायता के जाँच (Macroscopic tests)

इसमें अयन परीक्षण, स्ट्रिपकप, ब्रोमोथाइमोल नील, ब्रोमोक्रीसोल नील लोहित तथा क्लोराइड परीक्षण मुख्य हैं। इसमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(अ) अयन एवं थन परीक्षण (Examination of the udder & teats)—यह परीक्षण केवल उन्हीं पशुओं में हो सकता है, जो काफी पहले से रोग-ग्रसित हों। थनों से सम्पूर्ण दूध निकालने के बाद अयन को हाथ से थपथपाने पर रोग के कारण उनमें किसी भी प्रकार की असाधारणता, जैसे—अयन का कड़ा तथा फूला होना, थनों का छोटा-बड़ा होना इत्यादि को महसूस किया जा सकता है। रोग-ग्रसित थनों से निकलने वाला दूध मात्रा में कम तथा देखने में खराब होता है।

(ब) स्ट्रिप कप जांच (Strip cup test)—यह टीन का बना हुआ 500 मिलिलिटर माप का ढक्कनदार एक कप होता है। इसका ढक्कन लगभग 3 सें० मी० गहरा होता है। इसका आधा भाग एक बहुत ही महीन (2·5 सें० मी० में 100 खाने) तार की जाली का बना होता है। महीन काला कपड़ा भी इस कार्य के लिये उपयुक्त है। शेष आधा भाग टीन का बना होता है। दुहने के समय प्रत्येक थन से प्रथम दो चार धारें इसी छलनी पर दुही जाने से रोगी के दूध में फुटक अथवा थक्का (clot) देखा जा सकता है।

(स) चखकर जांच (Taste test)—साधारण तौर पर अच्छे दूध में 0·12 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड होता है, परन्तु थनैला रोग से पीड़ित पशु के दूध में इसकी मात्रा बढ़कर 1·4 प्रतिशत या और अधिक हो जाती है। अतः चखने पर ऐसे दूध में नमकीन स्वाद मिलता है।

(द) अम्लीयता परीक्षण (Acidity test)—अच्छे दूध में, थनैली के दूध की अपेक्षा अधिक अम्लीयता होती है। शुद्ध दूध की पी-एच० 6·6 से 6·8 तथा थनैली दूध की 7·4 तक हो सकती है।

(3) माइक्रॉस्कोपिक परीक्षण (Microscopic tests)

(अ) लेप जाँच (Smear test)—इस विधि के अन्तर्गत अपकेन्द्री नली (centrifugal tube) में दूध लेकर उसे अपकेन्द्रण (centrifugalisation) करके रख देते हैं, जिससे कि उनमें से कुछ रेतीला भाग नीचे की तह में बैठ जाये। तत्पश्चात्

इस पदार्थ का कांच के स्लाइड पर पतला लेप वनाकर माइक्रॉस्कोप में देखकर रोग का निदान किया जाता है।

(ब) बीजाणु परीक्षण (Bacteriological test)—इस विधि में स्वच्छ जीवाणु रहित कांच की छोटी-छोटी कार्कदार शीशियों में थनों से सीधे दूध निकाल कर भर लेते हैं। अव इन शीशियों को 37 डिग्री सेंटीग्रेड पर 12 से 24 घण्टे के लिए उद्भवित (incubate) करते हैं। तत्पश्चात् इनसे काँच के स्लाइड पर पतला लेप वनाकर माइक्रॉस्कोप में जीवाणु को देखा जाता है।

(स) संवर्धनीय परीक्षण (Cultural examination)—इसके अन्तर्गत, ठण्डे अपकेन्द्री (centrifugal) दूध में, जो पदार्थ नीचे सतह में वैठ जाता है, उसे किसी अच्छे माध्यम में वो दिया जाता है, जिससे वैक्टीरिया अपना विकास कर सकें। वाद में इस प्रकार तैयार किये हुये संवर्ध (culture) से स्लाइड वनाकर माइक्रॉस्कोप में देखकर जीवाणु पहचाने जाते हैं।

इस विधि में सभी थनों से अलग-अलग दूध का नमूना लेकर समय-समय पर परीक्षण करना चाहिये।

(4) रासायनिक परीक्षण

रासायनिक परीक्षण करने के लिये फाइजर द्वारा निर्मित **'मैस्टाइटिस रिएजेंट'** अथवा ग्लैक्सो द्वारा निर्मित **'मैस्टेड घोल** काम में लाया जाता है। ये दोनों अभिकर्मक वाजार से खरीदे जा सकते हैं। M. D. R. के नाम से वेफ (BAIF) औषधि निर्माता कम्पनी ने भी एक ऐसा घोल तैयार किया है।

'मैस्टाइटिस रिएजेंट' द्वारा जाँच करने के लिये सफेद प्याली दार वर्तन जो कम्पनी द्वारा उपलब्ध होता है, अथवा सफेद रंग की प्याली में 2 मि० ली० दूध लेते हैं इसमें अभिकर्मक बोतल के साथ प्राप्त नपने भर उक्त अभिकर्मक मिलाकर परिधि आकार में धीरे-धीरे घुमाते हैं। यदि दूध तरल रूप में बना रहे तो यह परीक्षण ऋणात्मक समझा जाता है। इसके विपरीत यदि उसमें थक्का अथवा जाली बने तो परीक्षण धनात्मक है अर्थात् पशु थनैली से ग्रसित है। दूध में अम्लीयता की प्रतिशत अधिक होने पर वह पीला पड़ जाता है। क्षारीय होने पर उसका रंग नील लोहित हो जाता है।

'मैस्टेड घोल' द्वारा जाँच करने के लिए प्लास्टिक अथवा पोर्सलीन की प्याली में रोग-ग्रसित थन से लगभग 3 मि० ली० दूध लेकर, उतनी ही मात्रा में उक्त घोल मिलाइये। परिधाकार हिलाने पर यदि इस मिश्रण में अवक्षेप (Precipitate) अथवा जाली का निर्माण हो तो पशु को थनैली से ग्रसित समझना चाहिये। M.D.R. (Mastitis Diagnostic Reagent) से भी इसी प्रकार जाँच की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग का निदान शीघ्र हो जाने में पशु का इलाज सम्भव है, परन्तु यदि जीवाणु अयन के अन्दर पहुंचकर अपना समुचित विकास कर चुके हैं, तो फिर इसकी सफल चिकित्सा नहीं हो पाती।

(1) बाह्य उपचार—रोग-ग्रसित फूले हुए अयन पर आयोडीन मरहम, सूमेग,

बेलाडोना ग्लैसरीन पेस्ट अथवा लिनीमेंट लगाकर सेंक करने से काफी लाभ होता है। गर्म पानी में मैंगसल्फ, बोरिक एसिड अथवा नीम की पत्तियाँ डालकर भी अयन को सेंका जा सकता है।

(2) ऐंटीसेप्टिक तथा सल्फा औषधियाँ (Antiseptics and sulpha-drugs)—डैप्सोन (dapsone) के तेलीय घोल अथवा 1 : 1000 ऐक्रोफ्लेविन घोल का थनों के अन्दर (intra mammary) इन्जेक्शन देने से आशातीत लाभ होता है। सल्फा औषधियाँ, जैसे—सल्फाडिमिडीन (sulphadimidine) खिलाने से भी किसी हद तक लाभ होता देखा गया है। तरल औषधि को इन्जेक्शन लगाने वाली पिचकारी में भरकर थन-साइफन की सहायता से थन के अन्दर चढ़ाया जा सकता है। थन में दवा चढ़ाने से पूर्व उसका कुल दूध निकाल देना चाहिये तथा जीवाणु रहित थन-साइफन ही उपयोग में लाना चाहिये। प्रयोग में लाने से पूर्व थन-साइफन तथा टीका लगाने वाली पिचकारी को पानी में खौलाकर जीवाणु रहित कर लेना जरूरी है।

(3) प्रतिजीवाणु पदार्थ (Antibiotics)—थनैला रोग में एम्पीसीलीन, पैनिसिलिन (Penicillin) स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin) वोलिसाइक्लीन (Wolicyclin-D.S.), डाइक्रिस्टीसिन तथा टेरामाइसीन (Terramycin) का प्रयोग काफी लाभदायक सिद्ध हुआ है। एक लाख यूनिट पैनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोपेनिसिलिन (Streptopenicillin) घोल को प्रत्येक रोग-ग्रसित थन में साइफन द्वारा चढ़ा देने तथा 10 से 20 लाख यूनिट का माँसपेशी में टीका देने से काफी लाभ होता है। इसके अतिरिक्त 4000 मिलीग्राम ऑरोमाइसिन के घोल को थन में चढ़ाने से उग्र थनैली ठीक हो जाती है। ऐंटिबायोटिक्स में प्रयोग करने पर 5–7 दिन तक पशु का दूध नहीं पीना चाहिए।

(4) पेटेण्ट औषधियाँ (Patent medicines)—**मेम्टालॉन, पेनीक्योर-डी, टेरामाइसिन, ऑरोमाइसिन, युडोपैक लैनिसिलिन , पेन्डिस्ट्रिन, नेफ्युरॉन, टिलोह तथा मैस्टीसिलिन** जैसी अनेक पेटेन्ट औषधियाँ आजकल थनैली रोग को ठीक करने के लिए रामबाण सिद्ध हुई हैं। यह दबाने वाली ट्यूबों (collapsible tubes) में बाजार से उपलब्ध होती हैं। रोग-ग्रसित थन से पूर्ण दूध निकालने के बाद नली के नॉजल को थन नली में प्रविष्ठ करके, इनमें की दवा थनों में अन्दर चढ़ा दी जाती है। लगभग एक ही बार दवा चढ़ाने से पशु निरोग हो जाता है। यदि आवश्यकता हो तो 12–24 घण्टे बाद दोबारा दवा चढ़ाई जा सकती है। मे एण्ड बेकर (M. & B.) द्वारा निर्मित **तैलीय पैनिसिलिन घोल** का 24 घण्टे के अवकाश पर अन्तः स्तनीय इन्जेक्शन देने से 60 प्रतिशत रोगी ठीक हो जाते हैं।

थनैली की चिकित्सा में पैनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन और सल्फाडिमीडीन का मिश्रण काफी अच्छा सिद्ध हुआ है। 50,000 यूनिट पैनिसिलिन तथा 20–30 घ० से० सल्फाडिमीडीन को मिलाकर अन्तः स्तनीय इन्जेक्शन देने से तीन-चार दिन में

ही इस रोग से छुटकारा मिल जाता है। इसके अतिरिक्त निम्न दवायें भी थन-नली द्वारा दी जा सकती हैं—

मिश्रण नं० 1

प्रोकेन पैनिसिलिन, जी	50,000 से 10,0000 यूनिट
डिस्टिल्ड वाटर	10–20 घ० सें०

मिश्रण नं० 2

प्रोकेन पैनिसिलिन, जी	10,000 यूनिट
डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन	100 मिलिग्राम
$33\frac{1}{3}$ प्रतिशत सल्फाडिमीडीन सोडियम घोल	4 घ० सें०
डिस्टिल्ड वाटर	10–20 घ० सें०

मिश्रण नं० 3

प्रोकेन पैनिसिलिन, जी	50,000 से 10,0000
डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसिन	100 मिलिग्राम
$33\frac{1}{3}$ प्रतिशत सल्फाडिमीडीन सोडियम घोल	5 घ० सें०
डिस्टिल्ड वाटर	10–20 घ० सें०

बाजार से मिलने वाली थन में चढ़ाने योग्य इस रोग में लाभप्रद दवाओं की सूची निम्न प्रकार है—

1. मार्क लैब द्वारा निर्मित —पेनीक्योर-डी
2. ग्लैक्सो द्वारा निर्मित —प्रोकेन पैनिसिलिन बेटनरी सीरेट
3. मैनेले और जेम्स द्वारा निर्मित —वेटिओक्स
4. वोखार्ट द्वारा निर्मित —टिलोह
5. फाइजर द्वारा निर्मित —टेरामाइसिन तथा मैस्टालान
6. साराभाई केमिकल्स द्वारा निर्मित —पेन्डिस्ट्रिन तथा पेन्डिस्ट्रिन एच० एस०
7. एस० के० एफ० द्वारा निर्मित —नेफ्युरान
8. सायनामाइड द्वारा निर्मित —आरोमाइसीन ट्यूब

इन औषधियों से लाभ न होने पर रोगी पशु को होस्टाकॉर्टिन 'एच' वेटनेसाल अथवा वेट्लॉग का इन्जेक्शन देना चाहिए, किन्तु इसके साथ पशु को ऐंटीबायोटिक देना जरूरी है।

रोकथाम (Prevention and control)—इस रोग के प्रति कोई वैक्सीन अथवा सीरम का प्रयोग नहीं होता। चूँकि रोग बहुधा कुप्रबन्ध से फैलता देखा गया है, अतः ग्वालों के हाथों, कपड़ों, दूध दुहने वाली मशीनों, बर्तनों, पशुशाला तथा अयन की स्वच्छता पर विशेष ध्यान देकर रोग से बचाव किया जा सकता है। रोग यदि फैल रहा हो, तो रोगी तथा स्वस्थ पशुओं में अलगाव (isolation) की विधि अपनानी चाहिये। थन अथवा अयन पर लगी हुई चोटों का शीघ्रातिशीघ्र उपचार

करना चाहिये। एक भी पशु में रोग की आशंका होने पर सभी दुधारू पशुओं के दूध की परीक्षा करनी चाहिये। जिन पशुओं को पुराना रोग हो, उन्हें यूथ से अलग कर देना चाहिये। देश में बीमारी के सघन अध्ययन एवं रोकथाम हेतु भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (Indian Council of Agricultural Research) द्वारा भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान (I. V. R. I.) मुक्तेश्तर में एक केन्द्रीय अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की गई। इसी योजना के अन्तर्गत देश के विभिन्न प्रदेशों में निदेशक पशु-पालन विभाग के तत्वाधान में मैस्टाइटिस लैब (mastitis labs) की स्थापना भी हुई जिनमें विषय विशेषज्ञ भारत में इस समस्या के निराकरण के लिये सतत प्रयत्नों के साथ कार्य कर रहे हैं।

थनैली की आशंका होते ही तत्काल उसका इलाज करना जरूरी है, अन्यथा यह बीमारी चारों थनों को पकड़कर गाय को हमेशा के लिये खराव कर देती है। कभी-कभी थनैली के साथ अयन में क्षय रोग का जीवाणु प्रविष्ट होकर इसे और भी जटिल बना देता है। पोटाश के घोल से थन तथा हाथ धोकर दूध निकालने से पशु को यह रोग लगने की कम सम्भावना रहती है।

पशु को विटामिन 'ई' के साथ सेलेनियम लवण खिलाने से थनैली के प्रकोप में कमी होते देखी गई है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पशु-पालन विभाग में इस पुस्तक के लेखक द्वारा कराये गये अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ है कि दुग्धशाला का कुप्रबन्ध थनैली का सबसे वड़ा कारण है। गौशाला तथा पशुओं की सफाई के साथ समुचित देखभाल, ग्वालों के हाथों तथा कपड़ों की स्वच्छता, भीगे तथा टूटे फर्श पर पशु को न वैठने देना और सही ढंग से दूध निकालने से इस वीमारी पर शीघ्र ही कावू पाया जा सकता है।

लेखक ने अपने प्रयोगों में ग्लैक्सो द्वारा निर्मित "फ्यूकाक्स" पाउडर को थनैली की चिकित्सा तथा रोकथाम में उपयोगी पाया। 5 ग्राम फ्यूकाक्स पाउडर को 20 मिलि लिटर डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर 5 मिलि लिटर की मात्रा में इस घोल को थनों के अन्दर चढ़ाने से थनैली से ग्रसित गायों को आशातीत लाभ होते देखा गया है।

परिच्छेद : 49

न्यूमोनिया
(PNEUMONIA)

अन्य नाम—फुप्फुस दाह, फुप्फुसार्ति, फेफड़े का प्रदाह आदि ।

विषय परिचय—यह पशुओं के फेफड़ों का रोग है, जिसमें कि वायुनलियों तथा फेफड़ों पर सूजन आकर पशु को श्वास कष्ट हो जाता है । पशु को काफी तीव्र ज्वर आकर उसके मुँह तथा नाक से पानी जैसा द्रव निकलता है । यदि रोग की भली-भाँति चिकित्सा न हो पाई, तो रोगी की कुछ ही दिनों में मृत्यु हो जाती है । इस बीमारी की निम्नलिखित तीन अवस्थायें हैं—

1. उग्र शोथ, पालि शोथ या कफपाक शोथ (acute, lobar or croupous pneumonia) ।

2. ब्रोंकोन्युमोनिया, पालिका शोथ या श्लेष्म न्यूमोनिया (broncho, lobular or catarrhal pneumonia)

3. अन्तरालीय, दीर्घकालिक या फुप्फुस न्यूमोनिया (interstitial, chronic or pulmonary pneumonia) ।

कारण (Etiology or cause)—इस रोग का जीवाणु न्यूमोनोकोकाइ (pneumonococci) है । सर्दी लगकर ही इसका प्रकोप हुआ करता है । कभी-कभी यह रोग किसी विशेष संक्रामक रोग के कारण हो जाता है । फेफड़ों में चोट लगने, लापरवाही से पशु को दवा पिलाने तथा वायु नली में कुछ परजीवियों (parasites) के रहने से भी यह रोग लगता है । इसके अतिरिक्त अचानक भीगना, ताप का एका-एक परिवर्तन होना तथा बुढ़ापा आदि के कारण जिससे कि बीमारी सहन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है, इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं ।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)

श्वाँस नली द्वारा (By inhalation)—रोग के कीटाणु श्वांस नली द्वारा पशु के फेफड़ों में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं ।

लक्षण (Symptoms)

उग्र शोथ (Acute pneumonia)—पशु को ज्वर आना श्वांस कष्ट, तीव्र नाड़ी गति, फैले हुये नथुने, पहले पानी जैसा और बाद में श्लेष्मा मिश्रित पीप जैसा गाढ़ा नाक से स्राव बहना, दांत पीसना तथा रोग-ग्रसित फेफड़े की ओर करवट

से लेटना आदि, इस अवस्था के मुख्य लक्षण हैं। फेफड़े रक्तवर्ण होकर उन पर संगठित क्षेत्र (consolidated areas) हो जाते हैं, जो अंगुली द्वारा थपथपाने से भद्दी आवाज करते हैं। स्टेथॉस्कोप (stethoscope) द्वारा जाँच करने अथवा फेफड़ों के स्थान पर कान रखकर सुनने से घरघराहट की आवाज सुनाई देती है, जो रोग का वेग बढ़ने पर और अधिक तीव्र हो जाती है। फेफड़ों के पूर्ण रूप से क्षति ग्रस्त हो जाने पर यह आवाज नहीं सुनाई देती।

ब्रोंकोन्यूमोनिया (Broncho pneumonia)—प्रारम्भ में खाँसी, बाँद में तीव्र ज्वर, वेगयुक्त नाड़ी, मुँह खोलकर श्वाँस लेना, नाक से गाढ़ा स्राव, जुगाली न फेरना तथा भूख का न लगना आदि, इस अवस्था के प्रमुख लक्षण हैं। स्टेथॉस्कोप अथवा कान रखकर फेफड़ों की परीक्षा करने पर क्षतिग्रस्त क्षेत्र महसूस होते हैं।

दीर्घकालिक न्यूमोनिया (Chronic pneumonia)—यह वहुधा उग्रशोथ अथवा ब्रोंकोन्यूमोनिया होने के वाद की अवस्था है, जिसमें लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होकर काफी समय में समाप्त होते हैं। पशु को रुक-रुक कर खाँसी आकर श्वाँस प्रश्वाँस में कष्ट का अनुभव होता है। ज्वर न रहकर नाड़ी की गति क्षीण व अनियमित सी हो जाती हैं। फेफड़ों के अन्तरालीय तन्तुमय ऊतक (interstitial fibrous tissue) के बढ़ जाने के कारण, स्टेथॉस्कोप से सुनने पर चुरचुराहट की आवाज सुनाई देती है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के ऊपर वताये गये मुख्य लक्षण देखकर तथा स्टेथॉस्कोप से फेफड़ों की असाधारणता का पता लगाकर रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग की आशंका होने पर रोगी पशु को शुद्ध, साफ एवं हवादार स्थान पर अन्य पशुओं से अलग वाँधना चाहिये। उसको हल्का पथ्य दिया जाये। **न्यूमोनिया में दस्तावर तथा पिलाने वाली औषधियों का प्रयोग सर्वथा वर्जित है।** अतः दवा अधिकतर चटनी अन्यथा इन्जेक्शन के रूप में ही देनी चाहिये। कम्वल, टाट या कपड़ा ओढ़ाकर पशु के शरीर को गर्म रखना चाहिये। पशु के सीने पर लिनीमेंट या तारपीन के तेल की मालिश करके गर्म सेंक करना काफी लाभप्रद है। दिन में दो तीन वार रोगी को तारपीन या यूकलेप्टिस के तेल को भाप निकलते हुये गर्म पानी की वाल्टी में डालकर, वफारा देना चाहिये। औषधि के रूप में निम्नलिखित नुस्खा देना चाहिये—

अर्क बेलाडोना	2 मिलि लिटर
पोटाशियम क्लोरेट	8 ग्राम
शीरा	आवश्यकतानुसार

चटनी बनाकर दिन में दो बार रोगी को चटाओ।

बुखार कम करने के लिये 'हरविना' कैप्सूल तथा खाँसी आने पर 'कैफलौन' चूर्ण रोगी पशु को दिया जा सकता है।

सल्फा औषधि जैसे—**सल्फाडाइजीन** (sulphadiazine), **सल्फाट्रायड** (sulphatriad), **सल्फाडिमीडीन** (sulphadimidine) का प्रयोग निमोनिया की चिकित्सा में काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। सल्फाबोलस की 5 ग्राम वाली टिकिया खिलाने अथवा $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत सल्फाडिमीडीन सोडियम के घोल का शिरा में (I/V) इन्जेक्शन देने से आशातीत लाभ होता है। सल्फाडिमीडीन घोल 50 से 70 घ० सें० पहली खुराक में देकर बाद में इसकी आधी मात्रा दी जानी चाहिये। एम० बी 693 (M. B. 693) की गोलियाँ भी प्रत्येक प्रकार की न्यूमोनिया में समुचित लाभ पहुँचाती हैं। **प्रतिजीवाणु पदार्थ** (antibiotic), जैसे—पैनिसिलिन या स्ट्रेप्टो पैनिसिलिन, औसत भार के प्रौढ़ पशु को 20 से 30 लाख यूनिट की मात्रा में 3–4 दिन तक इन्जेक्शन देने से, इस रोग को समूल नष्ट कर देते हैं। इन औषधियों से लाभ न होने पर उसे टेरामाइसिन, होस्टासाइक्लिन अथवा म्यूनोमाइसीन जैसे उच्च कोटि के प्रतिजैविक पदार्थों का टीका दिया जा सकता है। स्वास्थ्य लाभ होने पर पशु को निम्नलिखित पौष्टिक चूर्ण कमजोरी दूर करने के लिये दिया जा सकता है—

Rx

अमोनियम कार्बोनेट	8 ग्राम
चूर्ण नक्स वोमिका	4 ग्राम
चूर्ण डिजिटैलिस	8 ग्राम

सबको मिलाकर एक चूर्ण बनाकर दिन में दो बार पशु को खिलाओ।

रोगी जब तक निर्बल रहे उससे कोई भी शारीरिक कार्य नहीं लिया जाना चाहिये, अन्यथा रोग के पुनः आक्रमण होने की आशंका रहेगी। पशु को हल्के, पौष्टिक, स्वादिष्ट एवं शीघ्र पाचक चारे खिलाने चाहियें।

रोकथाम (Prevention & Control)

बहुधा ऐसा देखा गया है कि बड़े पशुओं की अपेक्षा कम आयु के अथवा दूध पीने वाले बछड़ों में न्यूमोनिया का आक्रमण बहुत जल्दी होता है। जो बछड़े स्वयं दूध नहीं पीते उन्हें नाल अथवा ढरके से दूध पिलाने पर न्यूमोनिया होने की सम्भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। अतः ऐसे पशुओं को साफ सुथरे स्थानों में रखना चाहिये तथा अत्यधिक ठण्ड और खराब मौसम से बचाना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो बछड़ों को नाल से दूध नहीं पिलाना चाहिये। यदि किसी पशु को न्यूमोनिया हो जाये तो उसे अन्य पशुओं से अलग करके दवा करनी चाहिये। पशु का शरीर पुराने कम्बल या टाट से ढकना चाहिये। नवजात बच्चों को कुछ दिन तक कैल्डीरूब्रा, विटाब्लेड चूर्ण तथा विमराल सिरप देकर इस रोग के प्रकोप से बचाया जा सकता है।

वायरस रोग
(VIRUS DISEASES)

परिच्छेद : **50**

पशु-प्लेग
[RINDERPEST (R. P.)]

अन्य नाम—मालमारी, कैटिल प्लेग, पोंकनी, पकवेदन, पोंकनी-माता, पिचीनाव, बसन्तू, पेया, वेदन, मनरोग, मतहाई, पोंका, शीतल व पकवा आदि।

विषय-परिचय—यह एक वायरस द्वारा फैलने वाला बहुत ही भयानक संक्रामक रोग है, जिसके प्रकोप से लाखों पशु प्रति वर्ष मौत की घाट उतर जाते हैं। पशु प्लेग प्राय: सभी जुगाली करने वाले पशुओं को विशेष रूप से हुआ करता है। रोग ग्रसित पशुओं में से लगभग 80 से 100 प्रतिशत पहाड़ी तथा विदेशी पशु मौत का शिकार होते हैं। मैदानी पशुओं में 20 से 40 प्रतिशत रोगी पशुओं की मृत्यु हो जाती है। गाय की अपेक्षा भैंस अधिक ग्रहणशील हैं, परन्तु वकरियों तथा भेड़ों में भी यह रोग देखा गया है। एक वार रोग-ग्रसित होने के पश्चात् वही पशु फिर कई वर्ष बाद इसी रोग से पीड़ित हो सकता हैं। वैसे तो यह महामारी वर्ष की किसी भी ऋतु में प्रकोप कर सकती है, परन्तु अधिकतर सूखे मौसम में जब पशु स्थानान्तरण (migration) करते हैं, यह रोग खूब फैलता है। 1860 में इस भयंकर रोग से 10 लाख पशुओं का विनाश हुआ था। लगभग दो-तीन लाख पशु प्रतिवर्ष इस रोग से मरकर देश को अनुमानित 30 करोड़ रुपये की वार्षिक क्षति पहुँचाते रहे हैं। पिछले दशकों में पशु प्लेग उन्मूलन योजना द्वारा इस बीमारी पर काबू पा लिया गया था, किन्तु 1985 से पुन: इसका प्रकोप होने के समाचार मिले हैं।

कारण (Etiology or cause)–कैटिल प्लेग बहुत ही शीघ्र, एक पशु से दूसरे पशु में एक वायरस द्वारा फैलता है। शरीर के अन्दर यह वायरस काफी समय तक जीवित रह सकता है, परन्तु शरीर के बाहर शुष्क जलवायु में लगभग 24 घण्टे के अन्दर ही, यह अल्पजीवी वायरस नष्ट हो जाता है। रोगी के शरीर से निकलने वाले सभी रसों एवं स्रावों में यह वायरस उपस्थित रहता है। वाइरस को सर्वप्रथम सन् 1902 में एक वैज्ञानिक 'निकोली' (Nicolle) ने पहचाना।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection)

(1) अन्न नली द्वारा (By ingestion)—यह रोग पशुओं के निकटतम सम्पर्क से बहुत ही शीघ्र फैलता है। चारा, पानी, बर्तन तथा परिचारकों के कपड़े, जो रोगी के मलमूत्र तथा लार इत्यादि से दूषित हो जाते हैं, अच्छे पशुओं के सम्पर्क में आने से तुरन्त छूत फैलाते हैं। परिचारक तथा मक्खियाँ भी इस रोग को फैलाने में सहायक होती हैं। रोगी पशु की देख-रेख करने वाले तीमारदार के कपड़ों में भी इस रोग के वाइरस चिपक जाते हैं। जब ऐसा तीमारदार स्वस्थ पशुओं के पास जाता है तो विषाणु (virus) उनके शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं।

(2) श्वांस नली तथा कन्जंक्टाइवा द्वारा भी कभी-कभी इस रोग का वाइरस स्वस्थ पशु में प्रवेश पाकर बीमारी फैलाता है।

इन्क्यूबेशन अवधि (incubation period)—3 से 8 दिन।

लक्षण (Symptoms)

प्रथम अवस्था—इस अवस्था में एक साथ अनेक पशु बीमार पड़ते हैं। सर्वप्रथम पशु का तापक्रम बढ़ता है, जो चार-पाँच दिन में 104 से 108 डिग्री फारेनहाइट (40°–42° सें०) तक पहुँच जाता है। पशु का शरीर काँपने लगता है और उसके रौंगटे खड़े हो जाते हैं। उसका मुँह गर्म हो जाता है तथा वह सुस्त होकर खाना-पीना कम करने लगता है। दाँतों से कटकटाहट की आवाज होती है तथा पशु जुगाली करना भी बन्द कर देता है। इसके फलस्वरूप पशु को कब्ज हो जाता है तथा गोबर सख्त व खून से सना हुआ निकलता है।
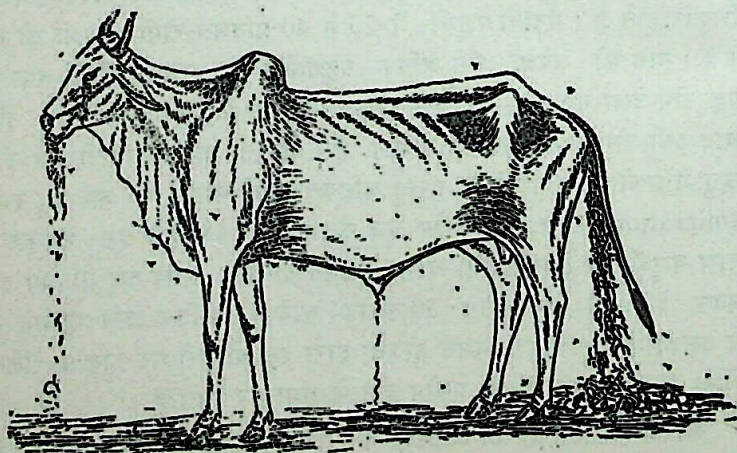
चित्र 50.1—पशु-प्लेग से पीड़ित रोगी पशु
(A victim of Rinderpest)

द्वितीय अवस्था—पशुओं की आँखें लाल हो जाती हैं और उनसे कीचड़ बहने लगता है। रोगी को चारा निगलने में कष्ट होता है तथा प्यास अधिक बढ़ जाती है। मुँह के अन्दर की श्लेष्मल झिल्ली लाल रंग की होकर उसमें छाले पड़ने लगते हैं।

मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली रक्त वर्ण होकर सूखने लगती है। नाक, आँख तथा मुँह से पानी बहता है। पतले गोबर के साथ आँव आने लगती है तथा नथुने और थूथन की खाल सूखकर फटने लगती हैं।

तृतीय अवस्था—पशु के आँख, नाक और मुँह से मवाद जैसा लसदार पदार्थ निकलना प्रारम्भ हो जाता है। तत्पश्चात् दस्त शुरू हो जाते हैं। पहले पतले बदबूदार दस्त आते हैं और बाद में खून आने लगता है, जिसमें काफी मात्रा में श्लेष्मा भी कभी-कभी मिला हुआ दिखाई पड़ता है। पशु की पूँछ तथा पिछला धड़, दस्त से पूर्णतया सन जाता है। पशु के पास बहुत ही खराब सड़न जैसी बदबू आती है और वह बहुत ही जीर्ण होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगता है। दस्त आरम्भ होने के साथ ही पशु का तापक्रम भी गिर जाता है और कभी-कभी यह नॉर्मल से भी नीचे पहुँच जाता है। इस प्रकार बहुधा 4 से 7 दिन में पशु की मृत्यु हो जाती है, परन्तु कभी-कभी रोगी पशु तीन सप्ताह तक भी जीवित रह सकता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—पशु में बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर रोग का निदान किया जाता है—जैसे थरथराहट के साथ तेज बुखार, जीभ के नीचे, मुँह के अन्दर तथा मसूड़ों के ऊपर महीन-महीन दाने निकलना और उनका फूटकर घाव बन जाना। इसके बाद पतले आँव मिले बदबूदार दस्त होना और साथ ही आँख व नाक से लसदार द्रव का बहना तथा अन्त में पशु की मृत्यु हो जाना।

(2) शव परीक्षा (Postmortem examination)—रोगी पशु की अंतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली रक्त वर्ण होकर विशेष तौर पर मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली (mucous membrane) पर कतारदार रेखायें (zebra markings) पड़ जाती हैं।

(3) पशु के टीका लगाकर (Animal inoculation)—रोग ग्रसित पशु से दूषित पदार्थ लेकर, स्वस्थ पशु में इन्जेक्शन देकर रोग के लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं।

उदयपुर विश्वविद्यालय में किये गये परीक्षण से यह ज्ञात हुआ कि प्रतिरक्षण ऐन्जाइम तकनीक की सहायता से पशुओं के मुँह में छाले आदि पड़ने से पहले ही पशु प्लेग के संक्रमण का पता चल जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग का पूर्ण रूप से आक्रमण होने पर पशु बहुधा मर जाता है। अतः चिकित्सा का कोई विशेष महत्व नहीं है। रोग के प्रारम्भ होने पर ही यदि पशु की चिकित्सा हो जाये तो कभी-कभी आशातीत लाभ हो जाता है। रोगी पशु को $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत **सल्फाडिमीडीन सोडियम** घोल का त्वचा के नीचे अथवा नस (शिरा) में इन्जेक्शन देकर आराम पहुँचाया जा सकता है। युवा पशु के लिये इसकी मात्रा प्रथम खुराक में 50 से 70 घ० सें० तथा द्वितीय खुराक में 30 घ० सें० है। इसके अति-

रिक्त सल्फाबोलस अथवा **पेंसुलीन की 5 ग्राम वाली गोलियाँ**; प्रथम बार 5 गोली, फिर 3, फिर 2 की मात्रा में दस्तों को रोकने में काफी सहायक होती है। वैसे; नियम के अनुसार प्रत्येक 45 कि० ग्रा० (100 पौंड) शरीर भार के लिये एक गोली पहले दिन देकर, दूसरे दिन उसकी आधी मात्रा तीन से पाँच दिन तक देनी चाहिये। यदि **ऐन्टी पशु-प्लेग सीरम** (anti rinderpest serum) उपलब्ध हो तो 100 से 200 घ० सें० की मात्रा में बीमार पशु को इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये। 50 घ० सें० सीरम का इन्जेक्शन गर्दन में एक ओर तथा 30 घ० सें० 33⅓ प्रतिशत सल्फोडिमीडीन सोडियम घोल गर्दन में दूसरी ओर देने से आशातीत लाभ होता है। ग्लैक्सो द्वारा निर्मित **'पयुकाक्स पाउडर'** आजकल इस रोग की चिकित्सा तथा रोकथाम में काफी प्रभावकारी सिद्ध हुआ है।
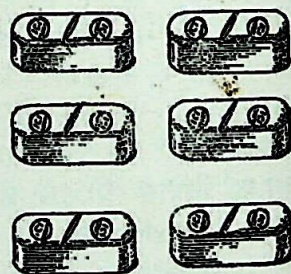
चित्र—50·2
सल्फाबोलस गोलियाँ

रोगी के शरीर को कपड़ा, बोरी या कम्बल उढ़ाकर गर्म रखना चाहिये और उसे हल्के व शीघ्र पाचक पदार्थ, जैसे—हरी घास व लूसर्न खिलाना चाहिये। थोड़ा सा कार्बोलिक अम्ल का हल्का घोल तेल के साथ मिलाकर पिलाने से भी कभी-कभी लाभ हो जाता है। दस्त बन्द करने के लिये निम्नलिखित नुस्खा भी दिया जा सकता है—

पिसी खड़िया	60 ग्राम (2 औंस)
सौंफ	15 ग्राम (½ औंस)
कत्था	15 ग्राम (½ औंस)
बेलगिरी	30 ग्राम (1 औंस)
अफीम	2 ग्राम (½ ड्राम)

युवा पशु को यह नुस्खा दो खुराक में चावल के माँड के साथ देना चाहिये। दिन में 2 या 3 बार दवा खिलानी चाहिये।

रोकथाम (Prevention and control)—बीमारी फैलते ही, उसकी सूचना निकट के पशु-शल्य चिकित्सक को देनी चाहिये। रोगी तथा उसके सम्पर्क में आये हुए सभी पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग रखना चाहिये। इस प्रकार पशुओं को तीन श्रेणियों में विभाजित करके; **रोगी, रोगी के सम्पर्क में आये हुए अच्छे पशु, तथा स्वस्थ पशुओं** को अलग-अलग बाँधना चाहिये। स्वस्थ पशुओं को पशु-प्लेग वैक्सीन का टीका देना चाहिये। संसार के विभिन्न देशों में थोड़े-बहुत गुणों तथा अवगुणों के साथ निम्नलिखित वैक्सीन प्रयोग हो रहे हैं—

1. बकरी टिसू वाइरस वैक्सीन (Goat tissue virus vaccine)—इसे जी० टी० वी० (G.T.V.) भी कहते हैं। भारत में मुख्य तौर पर इसी का प्रयोग होता है। विदेशी नस्ल के पशुओं में इसके प्रयोग से प्रतिक्रिया (reaction) होने का

भय अधिक रहता है। इसमें वाइरस को वकरों के टिसुओं में उगाया जाता है, जिससे उसका असर कम हो जाता है। सर्वप्रथम सन् 1926 में भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (I.V.R.I.) इज्जतनगर में यह वैक्सीन एक वैज्ञानिक एडवर्ड (Edward) ने तैयार किया था। उत्तर प्रदेश में अब यह वैक्सीन जैविक औषधि
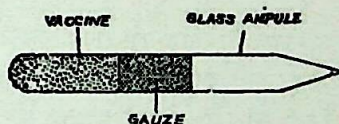
चित्र 50.3—बकरी टिशू वाइरस वैक्सीन (G. T. V.)

उत्पादन अनुभाग (Biological Product Section), बादशाह बाग, लखनऊ में बनाया जाता है। वैक्सीन सूखे चूर्ण के रूप में 0·25 ग्राम की मात्रा में काँच की ऐम्पूलों में सील किया जाता है। ऐसा एक ऐम्पूल 100 पशुओं के लिये पर्याप्त होता है। रैफ्रिजेरेटर में यह वैक्सीन लगभग एक माह तक तथा थर्मस फ्लास्क में वर्फ के टुकड़ों के बीच लगभग 7 दिन तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

टीका लगाने के पूर्व ऐम्पूल (ampule) को तोड़कर, उसमें का चूर्ण एक जीवाणुरहित शीशे के खरल में उडेल दिया जाता है। अब इसमें थोड़ा सा नॉर्मल सलाइन का घोल डालकर मूसली से खूब रगड़ते हैं। जब दोनों मिलकर एक समान हो जायें, तो उसमें अधिक नॉर्मल सलाइन का घोल मिलाकर 100 घ० सें० वैक्सीन बना लेते हैं। इस प्रकार एक ऐम्पूल वैक्सीन 1 घ० सें० की मात्रा में 100 पशुओं के लिये काफी होता है। नॉर्मल सलाइन का घोल बनाने के लिये सलाइन की एक टिकिया को 100 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में घोलते हैं। इस प्रकार बनाये हुये वैक्सीन को खरल से एक चौडे मुंह की साफ सूखी नीले रंग की शीशी में उलटकर, नीले कपड़े से ढक देते हैं अथवा इसको ठण्डे पानी में भिगोई हुई रूई से लपेट देते हैं। ऐसा करने से अधिक से अधिक दो घण्टे तक यह घोल अपनी शक्ति सुरक्षित रखता है, अत: इसी बीच इस वैक्सीन का पशुओं की त्वचा के नीचे (sub-cut) टीका देना चाहिये। इस टीके से पशुओं में 7 वर्ष के लिये रोग प्रतिरक्षा आ जाती है।

2. लैपीनाईज्ड वाइरस वैक्सीन (Lapinised virus vaccine)—यह वैक्सीन वाइरस को खरगोश के शरीर में उगाकर बनाया जाता है। इसका प्रयोग सबसे अधिक चीन देश में होता है और ऐसा कहा जाता है कि यह वैक्सीन जी० टी० वी० से अधिक अच्छा है, क्योंकि इसके प्रयोग से पशुओं में उतनी अधिक प्रतिक्रिया नहीं होगी। अत: यह देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के पशुओं के लिये उपयुक्त है। ऐग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद में किये गये प्रयोग इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस वैक्सीन से 5 वर्ष के लिये पशुओं में रोग प्रतिरक्षा आ जाती है। साथ ही 7–8 माह तक के गर्भित पशुओं को भी इसका टीका दिया जा सकता है क्योंकि इससे गर्भ गिरने का भी अन्देशा नहीं रहता।

3. पक्षीय वाइरस वैक्सीन (Avianised virus vaccine)—यह वैक्सीन वाइरस को मुर्गी के अण्डे में उगाकर तैयार किया जाता है। 1939–45 के युद्ध काल में सर्वप्रथम इसे तैयार किया गया था। विदेशों में आजकल इसी काम का सबसे अधिक प्रयोग होता है। पशुओं में इसके प्रयोग से 5 वर्ष के लिये रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

चूँकि बीमारी, स्थानान्तरण के समय पशुओं में फैलती है, अतः इन मार्गों में ही पशुओं को रोक कर टीका देना चाहिये। गाँवों में टीका लगाने के लिये सभी पशुओं को गांव के किनारे किसी बाग या खेत में इकट्ठा कर लिया जाता है और एक साथ पूरे समूह को टीका दे दिया जाता है। टीका लगाने के लिये प्रातःकाल का समय अधिक अच्छा होता है। जिन मादाओं को गर्भ धारण किये पाँच माह से ऊपर हो चुके हों, उन्हें वैक्सीन नहीं दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, 6 माह से ऊपर के बच्चों को 1 घ० सें० की मात्रा में टीका दिया जाता है।

रोगी पशु के सम्पर्क में आये पशुओं को यदि उपलब्ध हो तो 15 से 20 घ० सें० तथा स्वस्थ पशुओं को 10 घ० सें० की मात्रा में सीरम का टीका देना चाहिये। ऐसा करने से 10 से 14 दिन तक के लिये पशुओं में बीमारी के लिये प्रतिरक्षा आ जाती है।

पशु-प्लेग उन्मूलन योजना (Rinderpest eradication scheme)

1 अक्टूबर सन् 1954 भारत में पशुपालन के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखने की तिथि है। यह वह दिन था, जबकि भारत सरकार ने पशु-प्लेग समूल नष्ट करने के हेतु बीड़ा उठाकर, राष्ट्रव्यापी सामूहिक टीके की योजना (Mass Immunization or M. I. Scheme) चलाई। इसमें जी० टी० वी० वैक्सीन प्रयोग होने का उद्देश्य रखा गया। पशु-पालन विभाग की ओर से सर्वप्रथम यह कार्य प्रयोगात्मक रूप से दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेशों; जैसे—आंध्र प्रदेश, बम्बई, मैसूर, हैदराबाद तथा कुर्ग में प्रारम्भ किया गया और इसमें काफी सफलता भी मिली। अतः द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश के प्रायः सभी प्रदेशों में सामूहिक टीकों का लक्ष्य रखकर कार्य का संचालन हुआ। इस योजना का मुख्य उद्देश्य, थोड़े से थोड़े समय में अधिक पशुओं में टीका लगाना था।

यह योजना विशेष तौर पर प्रादेशिक पशु-पालन विभागों के निदेशकों (Directors) के निर्देशन में कार्यान्वित हुई। इसके अन्तर्गत स्थानीय कार्य के लिये सबसे बड़ा अधिकारी, सहायक पशु-प्लेग आफिसर (ए० आर० ओ०) कहलाया, जिसका मुख्यालय जिले में होता है और वही कुछ क्लर्कों के साथ यहाँ अपने कार्यालय का काम करता है। ए० आर० ओ० की संरक्षता में कुछ पशु-चिकित्सक तथा कई पशु-सेवक (Stock man) रहते हैं जिनका मुख्य कार्य, उसके निर्देशन में गाँव-गाँव कैम्प करके, वहाँ के अधिकाधिक पशुओं को टीका लगाना है। इस कार्य

में उपयोग होने वाली सभी वस्तुयें जैसे—वैक्सीन, पिचकारी, सल्फामेजाथीन, निशान डालने की मशीन, कैम्पिग का सामान तथा एक 'जीप' कार सरकार की ओर से पार्टी को दी जाती है। ए० आर० ओ० 'जीप' से दौरा करके विभिन्न स्थानों में जहाँ कार्य चल रहा हो समय-समय पर निरीक्षण करता तथा पार्टी को आवश्यक सुझाव देता है। इस योजना में सभी टीके लगे पशुओं का, पशु-चिकित्सक अभिलेख रखकर प्रतिमाह ए० आर० ओ० को रिपोर्ट देते हैं। वह अपने जिले में किये गये कार्य का पूर्ण विवरण मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक रिपोर्टों में निदेशक, पशुपालन विभाग को प्रस्तुत करता है, जो समय-समय पर अपना बहुमूल्य निर्देशन देता रहता है।

योजना के प्रारम्भ से 1960–61 वर्ष तक 934 लाख से अधिक पशुओं को टीके लगाये गये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस कार्य हेतु 1730 लाख मात्रा वैक्सीन का उत्पादन हुआ तथा मैसूर, महाराष्ट्र, आंध्र-प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, बिहार और दिल्ली क्षेत्र के गाँवों में टीके का कार्य 31 मार्च 1961 तक समाप्त किया गया। साथ ही उत्तर प्रदेश-नेपाल, बिहार, नैपाल, पश्चिमी बंगाल-नैपाल, आसाम-भूटान, पंजाब-पश्चिमी पाकिस्तान तथा गुजरात-पश्चिमी पाकिस्तान सरहदों में अनेक टीके लगाने के स्टेशन खोले गये।

अब तक इस कार्य में बहुत ही सन्तोषजनक प्रगति हुई है। इसके परिणाम-स्वरूप आज देश के अधिकाँश प्रदेश इस रोग से मुक्त हो चुके हैं।

भारत के सभी प्रमुख पशु प्लेग अधिकारियों की एक बैठक में यह तय हुआ कि पशु प्लेग उन्मूलन योजना के समाप्त होने पर देश के किनारे के प्रान्तों में लगातार सामूहिक टीका लगाने का प्रोग्राम जारी रखा जाये ताकि जब तक आस-पास के देश इस रोग से मुक्त न हो जायें, तब तक हमारे पशुओं में इससे बचने की सामूहिक शक्ति उच्च स्तर पर बनी रहे।

पिछले एक-दो वर्षों से रिण्डरपेस्ट का प्रकोप फिर से होने लगा है और अब जो बीमारी फैल रही है उसका प्रकोप भी भयंकर होता है। अतः रोकथाम के लिये इसके प्रति बचाव का टीका अब पुनः दिया जाने लगा है।

उत्तर प्रदेश में इस बीमारी की रोकथाम एवं उन्मूलन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर 6 टीका लगाने के केन्द्र स्थापित किये गये हैं तथा भारत-नेपाल सीमा पर 20 किलोमीटर के क्षेत्र में पशुओं को टीका लगाने हेतु 7 टीकादल कार्यरत हैं। इसी प्रकार अन्य प्रदेशों से लगी सीमाओं पर 15 चेकपोस्ट एवं 15 प्रतिरक्षा मण्डल कार्य कर रहे हैं।

परिच्छेद : 51

खुरपका-मुखपका

[FOOT AND MOUTH DISEASE (F. M.)]

अन्य नाम—एफ्थस ज्वर, मैलिगनेन्ट एफ्था, एपिजूटिक एफ्था, पका, खंगवा आदि ।

विषय परिचय—खुरपका-मुखपका एक बहुत शीघ्र फैलने वाला संक्रामक रोग है, जो बहुधा जुगाली करने वाले पशुओं में होता देखा गया है। गाय, भैंस, भेड़, बकरी तथा सुअरों में यह रोग खूब फैलता है। संसार के लगभग सभी देशों में इस रोग का प्रकोप हुआ करता है। सुअरों में यह रोग बड़े भयंकर रूप से फैलता है तथा अधिकतर रोग-ग्रसित सुअर मौत का शिकार हो जाते हैं। अन्य पशुओं में मृतकों की संख्या लगभग नहीं के बराबर है, परन्तु रोग-ग्रसित पशु बहुत अधिक निर्बल हो जाते हैं, जिससे उनकी उत्पादन क्षमता काफी कम हो जाती है। रोग-ग्रसित गर्भित गाय तथा भैंसों के बच्चे, मादा का शरीर अधिक जर्जर होने के कारण, उनके पेट में ही मर जाते हैं और इस प्रकार पशुओं का बाजार में मूल्य भी कम लगता है। इन्हीं कारणों से इस रोग से मृत्यु दर कम होते हुये भी, देश की अर्थ-व्यवस्था को भारी क्षति पहुँचती है। **श्री गोपाल कृष्ण और ढांडा** (1958) के अनुसार, इस रोग के द्वारा राष्ट्र को प्रतिवर्ष लगभग चार करोड़ रुपये की क्षति पहुँचती है। वसन्त ऋतु में इस रोग का प्रकोप होता है।

कारण (Etiology or cause)—यह बीमारी एक वाइरस के द्वारा, जो लगभग सात प्रकार का खोज किया जा चुका है, होती है। वाइरस के मुख्य तीन प्रकार 'ए', 'ओ' तथा 'सी' यूरोपियन देशों में मिलते हैं और शेष चार प्रकार— **एशिया, सैट 1** (SAT_1) **सैट 2** (SAT_2), **सैट 3** (SAT_3) एशिया तथा दक्षिणी अफ्रीका से खोज किये गये। सातों प्रकार के जीवाणु पशु के शरीर में लगभग एक ही प्रकार के लक्षण पैदा करते हैं, परन्तु आपस में यह भिन्न होते हैं। यही कारण है कि एक प्रकार के विषाणु से आक्रमण किया हुआ पशु ठीक होकर पुनः दूसरे प्रकार के विषाणु से आक्रमणित हो सकता है। भारत में अभी तक 'ए' और 'ओ', 'सी' के प्रमुख नमूने ही उल्लिखित किये गये हैं। लोफ्लर (Loeffler) और फ्रोस्च (Frosch) ने सर्वप्रथम इस रोग के वाइरस को (1898) में देखा। सन् 1925 में **वैली और कैरे** (Vallee & Carre) ने वाइरस के प्रकार 'ए' तथा 'ओ' में विभिन्नता प्रकट की। तत्पश्चात् 1926 में **वाल्डमैन और ट्राटवीन** (Waldmann and Trautwein) ने वाइरस के प्रकार 'सी' को खोज निकाला।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)

(1) रोग-ग्रसित पशु की लार जब किसी स्वस्थ पशु को निकट संपर्क से लगती है, तो उसमें रोग फैलाती है।

(2) दूषित चारा, पानी, नाँद, खाल, दूध व दूध से बने पदार्थ, वर्तन, फर्श तथा परिचारकों के कपड़ों से तुरन्त छूत लग जाती है।

(3) इस रोग से अच्छे हुये पशु कुछ दिनों तक रोग के वाइरस अपने शरीर में छिपाये रहते हैं, जिससे कि इनके सम्पर्क में आने वाले स्वस्थ पशु वीमार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस रोग का वायरस उड़ने वाली चिड़ियों के पैरों में भी चिपक जाता है, जो उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान में बीमारी की छूत फैलाती हैं।

इन्क्यूबेशन अवधि (Incubation period)—1 से 6 दिन।

लक्षण (Symptoms)

छूत लगकर पशु को जाड़ा देकर बुखार आता है। पशु का तापक्रम 104 से 105 डिग्री फारेनहाइट (40 से 40·6° सें०) और कभी-कभी इससे भी अधिक हो जाता है। पशु खाना-पीना तथा जुगाली करना बन्द कर देता है। मुँह से लार बहने लगती है और होठों से चपचपाहट की आवाज होती है। पशु विल्कुल सुस्त होकर नीचे गर्दन डालकर खड़ा हो जाता है। दुधारू पशुओं में दूध देने की क्षमता कम हो जाती है। खुर के बीचों-बीच और मुँह के अन्दर, गालों, जीभ, होठ, तालू तथा मसूड़ों पर छाले पड़ जाते हैं, जो बाद में फूटकर लाल रंग के छिछले, कटे-पिटे किनारेदार धब्बे बन जाते हैं। छाले पड़ने के समय ही मुँह से धागे की भाँति पतली लार बहती है, जो टूट-टूट कर पृथ्वी पर गिरती है। पैरों के छालों के कारण पशु लंगड़ाने लगता है तथा बार-बार अपने पैर पृथ्वी पर झटकता है। यह घाव धीरे-धीरे लगभग दो सप्ताह में भर जाते हैं और इनके भरने के उपरान्त, उस स्थान पर दाग नहीं पड़ते। कभी-कभी थन एवं अयन में भी छाले पड़ जाते हैं। पशु खाने तथा चलने में असमर्थ होकर अत्यन्त दुर्वल हो जाते हैं परन्तु इस बीमारी से पशु मरते कम हैं। छाले पड़ने के वाद पशु का बुखार भी कम हो जाता है।
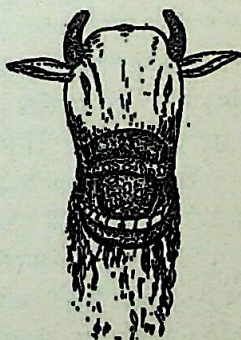
चित्र 51·1—खुरपका-मुँहपका रोग से पीड़ित पशु के मुँह में छाले

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) **लक्षणानुसार (Symptomatic)**—पशु में बीमारी के मुख्य लक्षण देख कर रोग की पहचान की जाती है।

(2) **पशु में टीका द्वारा (Animal inoculation)**—रोग-ग्रसित पशु के

छालों से द्रव लेकर, गिनीपिग के शरीर में इन्जेक्शन देने से रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

रोग-ग्रसित पशु के मुँह के छालों को किसी अच्छे ऐंटिसेप्टिक लोशन, जैसे—पोटाश, फिटकरी, बोरिक ऐसिड, फार्मलीन, सुहागा इत्यादि के घोलों से धोना चाहिये। मुँह के छाले धोने के उपरान्त, 1 भाग सुहागा, 4 भाग शहद में मिलाकर छालों पर लेप करने से बहुत शीघ्र आराम होने लगता है। छालों पर बोरो-ग्लेसरीन का लेप भी गुणकारी है।

पैरों के छालों पर 1% तूतिया या फिनायल का घोल दिन में कई बार डालना चाहिये। खुर के बीच पड़े हुए घावों पर ऐंटिसेप्टिक पाउडर, जैसे—जिंक-बोरिक, सल्फोनेमाइड या सिबाजोल छिड़का जा सकता है। यदि एक ही साथ अधिक पशुओं का इलाज करना हो, तो उन्हें **'पाद स्नान'** (foot bath) कराना चाहिये। रोग से पीड़ित पशुओं के आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पशु को जो भी आहार दिया जाये, वह पौष्टिक एवं मुलायम होना चाहिये। हरे चारे व गुड़ के साथ मिश्रित चावल का घूटा काफी लाभप्रद है। शीरे के साथ मिलाकर माड़ी (gruel) भी चटाई जा सकती है। रोग का प्रकोप यदि अयन पर भी हो तो दूध निकालने के के लिये थन साइफन (milk syphon) का प्रयोग करना चाहिये।

मुँह में पड़े छाले तथा खुर के घावों को शीघ्र अच्छा करने के लिये पशु को 10 मि० ली० टेरामाइसीन अथवा ऐम्पीसिलीन के 5–7 इन्जेक्शन देना चाहिये। घाव सड़ने पर पैरों की ड्रेसिंग करके पट्टी बाँधना अधिक अच्छा है।

रोकथाम (Prevention and control)—चूँकि यह संक्रामक रोग है, जो बहुत तेजी से एक पशु से दूसरे पशु को लग जाता है, अतः बीमारी का बचाव करने के लिये, जिस गाँव में बीमारी फैली हो, उसके निकटवर्ती प्रत्येक गाँव में 'पाद स्नान' (foot bath) बनवानी चाहिये। पाद स्नान 3–4 मीटर लम्बी, 1 मीटर चौड़ी, 30 सेंमी० गहरी तथा दोनों ओर एक-एक मीटर का ढाल देकर बनाई जाती है। इसमें 1% तूतिया का घोल भरकर, प्रातः सायं पशुओं को इसके बीच से निकालना चाहिये। पाद-स्नान ऐसे स्थान में बनाये जायें, जहाँ होकर घर या गांव के सारे पशु बाहर जाते हों।

हमारे देश में बीमारी रोकने के लिये एक ढंग जिसे **एपथाइजेशन** (apthisation) कहते हैं, प्रयुक्त होता है। इसमें रोग-ग्रसित पशु की लार लेकर उसके साथ रहने वाले सभी स्वस्थ पशुओं के मुँह में लगा देते हैं। ऐसा करने से बीमारी शीघ्र ही हल्के रूप से सभी पशुओं को हो जाती है और शीघ्र ही उनमें इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न होती जाती है।

विदेशों में यह रोग, **'उन्मूलन एवं वध नीति'** (eradication & slaughter policy) अपनाकर नियन्त्रित किया जाता है। बीमारी फैलने पर अति प्रतिरक्षित

सीरम (hyper immune serum) भी पशुओं को दिया जाता है। सक्रिय प्रतिरक्षा (active immune) प्राप्त करने के लिये पशुओं को टीका भी लगाया जाता है।

बीमारी के प्रकोप के समय दूध पीने वाले बच्चों को इससे बचाने के लिये, उन्हें उबाला हुआ दूध पिलाना चाहिये।

खुरपका-मुंहपका वैक्सीन

(1) अभी हाल में ही हेक्सट नामक औषधि निर्माता एक कम्पनी ने भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान के सहयोग से भारत में प्रथम बार इस बीमारी के प्रति एक वैक्सीन उपलब्ध कराया है जिसे क्रय करके पशुओं को लगाया जा सकता है। गाय, भैंस तथा बछड़ों को 10 मिलीलिटर तथा भेड़-बकरियों को 5 मिलीलिटर की मात्रा में त्वचा के नीचे इसका टीका लगाया जाता है। $1\frac{1}{2}$–2 माह की आयु के पशुओं को पहली बार टीका देकर दुबारा 4 माह की आयु पर और तत्पश्चात् 6 माह बाद पुनः टीका दिया जाता है। जिन पशुओं को पहली बार 4–6 माह की आयु पर टीका देते हैं, उनमें फिर 6 माह बाद इसे दोहराना चाहिये। प्रौढ़ पशुओं को पहली बार टीका लगने के बाद 2–3 माह पश्चात् दुबारा टीका देना चाहिये। तत्पश्चात् 6, 9 अथवा 12 माह के अवकाश पर इसका टीका लगाया जा सकता है। युवा दुधारू तथा प्रजनक सभी प्रकार के पशुओं को इसका टीका दिया जा सकता है। टीका लगे स्थान पर थोड़ी सी सूजन आकर पशु को हल्का बुखार हो सकता है।

100 मिलीलिटर की मात्रा में शीशियों में बन्द यह वैक्सीन बाजार से खरीदा जा सकता है। इसे 6° से 10° सेन्टीग्रेड के तापक्रम पर भण्डारित करना चाहिये। बर्फ में रखे वैक्सीन को जमने से बचाना चाहिये। हिमीकृत (frozen) वैक्सीन को कभी भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिये।

(3) बाएफ अनुसंधान संस्थान, पूना द्वारा भी इस बीमारी के प्रति एक वैक्सीन तैयार किया गया है। गौ तथा भैंस वंशज पशुओं के लिये इसकी मात्रा 10 मिलीलिटर और भेड़-बकरियों के लिये 5 मिलीलिटर है।

(3) अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में खुरपका-मुँहपका की बीमारी पर नियन्त्रण रखने के लिये वैक्सीन का प्रयोग किया जा रहा है। मिश्र की सरकार ने इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन के सहयोग से अपने यहाँ सीमित स्तर पर वैक्सीन तैयार करने के लिये एक खुरपका-मुँहपका रोग संस्थान की भी स्थापना की है।

*जर्मन फेडरल रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ वाइरस एनीमल डिजीजेज के वैज्ञानिक निदेशक, डॉ० हंस ओ० बोम ने अपने सहयोगी ए० पी० ह्वाइटलैंड के सहयोग से बीमारी के प्रति अग्रलिखित पदार्थों से एक वैक्सीन तैयार किया—

*Hans O. Bohm, Animal Research and Development Vol. 4 p. 90, 1976 institute for scientific cooperation, Germany.

विषाणु युक्त घोल	69%
ऐल्जेल	30%
ग्लाइकोकोल बफर	1%
सैंपोनिन	0·1%
फार्मलीन	0·06%

गो पशुओं के लिये इसकी मात्रा 5 मिलीलिटर तथा भेड़-बकरियों के लिये 3 मिलीलिटर है।

विभागीय योगदान

खुरपका-मुंहपका रोग के कारण दूध उत्पादन तथा कृषि कार्य में बड़ी हानि होती है। अतः इस रोग के उन्मूलन के लिये भारत सरकार ने रोग रहित क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उत्तर-प्रदेश में लखनऊ, कानपुर, मेरठ और वाराणसी के क्षेत्र लिये गये हैं। इस रोग के टीके की एक खुराक की कीमत आठ रुपया है किन्तु उक्त क्षेत्र के पशु-पालकों को यह रियायती मूल्य पर दी जाती है। ऐसी ही योजना अन्य प्रदेशों में भी चलाई जा रही है।

विदेशी संकर एवं दुधारू पशुओं के बच्चों में इस रोग का प्रथम टीका डेढ़ माह की उम्र पर तथा दूसरा टीका उसके 6 माह बाद लगाया जाता है। पशुओं को यह टीका प्रतिवर्ष लगवाना आवश्यक है।

परिच्छेद : **52**

गो शीतला रोग

(COW POX)

अन्य नाम—गो मसूरी, चेचक वैरिओला-वैक्सीनियाँ आदि ।

विषय परिचय—एक वाइरस द्वारा फैलने वाला यह एक संक्रामक रोग है । अन्य पशुओं की अपेक्षा भेड़ों में इसका अधिक प्रकोप होता है । रोग-ग्रसित पशु के शरीर, मुख्यतः अयन व थनों पर छोटे-छोटे दाने निकलते हैं । कभी-कभी यह दाने होठों, जाँघों के अन्दर वाले भाग तथा नर के अण्डकोष के वाह्य आवरण पर भी दिखाई देते हैं । आगे चलकर यह दाने छोटे-छोटे फफोले से बनकर फटते हैं और इन स्थानों पर सूखकर दाग बन जाते हैं । यह रोग भारतवर्ष में प्रायः बहुत ही कम पशुओं को होता देखा गया है ।

कारण (Etiology or cause)—पशुओं में यह रोग एक वायरस द्वारा फैलता है ।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—बीमार पशु के सम्पर्क में आया हुआ चारा, पानी, बर्तन आदि जब स्वस्थ पशु के लगाव में आता है, तो शीघ्र ही बीमारी फैल जाती है । बहुधा यह रोग ग्वालों के हाथ अथवा दूध निकालने वाली मशीनों द्वारा स्वस्थ पशु में फैलता है । परिचालकों के लगे हुये चेचक के टीके भी पशुओं में इस रोग के फैलाने में सहायक होते हैं ।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—3 से 7 दिन में इस रोग के लक्षण प्रकट होते हैं ।

लक्षण (Symptoms)—सर्वप्रथम पशु को थोड़ा बुखार होता है और फिर वह सुस्त रहने लगता है । उसका खाना-पीना भी कम हो जाता है और कभी-कभी पशु बिल्कुल ही चारा नहीं खाता । इसके बाद मादा पशुओं में अयन तथा नर में अण्डकोषों का बाह्य आवरण फूलने लगता है, जो छूने से सख्त महसूस होता है और इन पर छोटे-छोटे दाने प्रतीत होने लगते हैं । पशु दूध निकलवाने में कष्ट का अनुभव
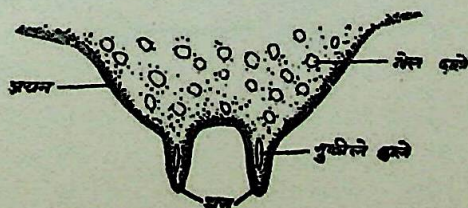
चित्र 52.1—गो शीतला रोग (cow pox) से ग्रसित अयन

करता है तथा दूध का उत्पादन एवं जुगाली करना बिल्कुल ही कम कर देता है। पशु के शरीर पर निकले हुये दाने अब छालों का रूप धारण करने लगते हैं, जो पकने के बाद फटकर छिछले घाव बनकर सूखने लगते हैं। यही घाव बाद में दाग बन जाते हैं।.अयन पर यह छाले गोल तथा थनों पर अण्डाकार (oval) आकृति के होते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—रोग के ऊपर बताये हुये मुख्य लक्षण देखकर पशु में बीमारी की पहचान की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

रोगी पशु लगभग 15 से 20 दिन में स्वयं ठीक हो जाता है। दानों पर ऐंटीसेप्टिक मरहम, जैसे—जिंक बोरिक, सल्फानिलामाइड, सिबाजोल, सैवलान अथवा लोरेक्सीन क्रीम लगाने तथा फूटे छालों पर ऐंटीसेप्टिक पाउडर छिड़कने से शीघ्र लाभ होता है। दवा लगाने से पूर्व इन क्षतस्थलों को सैवलॉन, पोटेशियम पर-मैंगनेट अथवा मर्क्युरोक्रोम के हल्के घोल से साफ कर लेना चाहिये। भली-भाँति चिकित्सा न होने पर पशु को थनैला रोग का भय रहता है। अतः यदि ऐसी आशंका हो तो पशु के थन में भी दवा चढ़ानी चाहिये।

रोकथाम (Prevention & control)—बीमारी के बचाव के लिये ग्वालों के हाथ व दूध निकालने वाले सभी बर्तन भली प्रकार साफ व जीवाणु रहित किये जाने चाहिये। ऐसा करने के लिये पानी में कीटाणु नाशक दवा डालकर बर्तनों को उबालना चाहिये। हाथों को गर्म पानी व साबुन से साफ करके डिटोल (dettol) या सैवलॉन (savlon) लोशन से धो डालना चाहिये। रोग-ग्रसित पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग बाँधना चाहिये। दूध निकालने से पहले अयन को पोटाश के पानी से धोकर, साफ तौलिये से पोंछकर सुखा लेना चाहिये। थन हल्के फीनोल घोल (phenol solution) से धोकर, एल्कोहल से साफ करने चाहियें। दूध सदैव उबाल-कर पिया जाना चाहिये। बीमारी के टीके, जो अभी थोड़े दिनों से खोज किए गये हैं, निकट के पशु-चिकित्सक के परामर्श से लगवा देने चाहियें। एक बार इस रोग से ग्रसित पशु फिर कई वर्षों तक इसका शिकार नहीं होता, क्योंकि उसके शरीर में स्वतः रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

परजीवी कीट रोग
(PARASITIC DISEASES)

परिच्छेद : 53

परजीवी कीटों का आर्थिक महत्व
(ECONOMIC IMPORTANCE OF THE PARASITES)

विषय परिचय—विभिन्न प्रकार के परजीवी कीट (parasites) मनुष्य तथा पशु के शरीर में निवास किया करते हैं। पशुओं में होने वाले कीड़े, **फीता कृमि या टेप वर्म** (cestodes or tape worms) **राउण्ड वर्म या नेमोटोड** (round worms or nematodes), **फ्ल्यूक्स या ट्रीमाटोड** (flukes or trematodes), **प्रोटोजोआ** (protozoa) तथा किलनी, जूँ आदि हैं। अपने रहन-सहन के अनुसार इनको दो प्रमुख भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—एक तो शरीर के अन्दर रहने वाले अथवा **अन्तः परजीवी कीट** (endoparasites); और दूसरे, शरीर की त्वचा पर रहने वाले अथवा **बाह्य परजीवी कीट** (ectoparasites)। राउण्ड वर्म, टेप, वर्म, मलेरिया परजीवी तथा लिवर-फ्लूक, जैसे—पैरासाइट अन्तः परजीवी कीट एवं किलनी, जूँ पिस्सू आदि बाह्य परजीवी कीट कहलाते हैं। तराई, नमीयुक्त तथा दलदली भूमि इनके विकास के लिये अति उत्तम हैं। अतः तराई एवं अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में रहने वाले पशुओं में इनका अधिक प्रकोप हुआ करता है। परजीवी रोग मनुष्य की अपेक्षा पशुओं में अधिक प्रकोप करते हैं, क्योंकि पशु अधिकतर कच्चे खाद्य पदार्थ खाते हैं। अन्तः परजीवी कीटों के लार्वा प्रकाश पाकर घास पर ऊपर की ओर चढ़ते हैं। अतः दिन में ऐसे स्थानों पर चरने वाले पशुओं में इनके निगल जाने की सम्भावना अधिक रहती है। रात्रि में यह लार्वा रेंग कर पौधे के तने में जमीन के निकट जाकर चिपके रहते हैं। इनका जीवन-चक्र परोक्ष (direct) अथवा अपरोक्ष (indirect) होता है।

अपरोक्ष जीवन-चक्र में मध्यस्थ पोषक (intermediate host) की आवश्यकता पड़ती है। पूर्ण-वृद्धि प्राप्त कीट बहुधा मनुष्य या पशु के शरीर में पाये जाते हैं। यह हजारों की संख्या में अण्डे देते हैं। गोबर अथवा थूक के साथ यह अण्डे शरीर से बाहर निकलते हैं। भूमि पर अनुकूल वातावरण मिलने से इन अण्डों का

विकास होकर, इनसे लार्वा निकलते हैं जो पड़ौस की घास पर चिपक जाते हैं। इनकी रक्षा हेतु, इनके शरीर पर एक आवरण बन जाता है, जो प्रतिकूल वातावरण से इनकी रक्षा करता है। जब कोई पशु ऐसी दूषित घास चरता है, तो यह लार्वा उसके शरीर में प्रवेश पाकर प्रौढ़ कीटों में अपना विकास करते हैं। इस विकास काल में यह कीट; पशु की अंतड़ी, उदर, यकृत तथा फेफड़ों आदि पर कुप्रभाव डालकर, उसके स्वास्थ्य का विनाश करते हैं।

कुछ कीट, मनुष्य अथवा पशु के शरीर में प्रवेश पाने से पूर्व, कुछ समय तक मध्यस्थ पोषक (intermediate host) जैसे—मच्छर, घोंघा, किलनी, मछली आदि में अपना विकास करते हैं और अनुकूल अवस्था ग्रहण करने के उपरान्त त्वचा अथवा मुख द्वारा पशु या मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से यह निम्न प्रकार हानिकारक है—

पशु को बाह्य-परजीवियों (Ectoparasites) से होने वाले दोष

(1) त्वचा का खराब हो जाना।
(2) रक्त चूसने के कारण शरीर में खून की कमी तथा निर्बलता।
(3) अनेक प्रोटोजोअन बीमारियों का शिकार होना।
(4) खुजलाहट और बेचैनी।
(5) स्वास्थ्य का गिरना।
(6) दुधारू गायों में दूध उत्पादन कम हो जाना।
(7) बैलों की काम करने की शक्ति क्षीण हो जाना।
(8) शरीर भार तथा वृद्धि व विकास में कमी।

पशु को अन्तः परजीवियों (Endoparasites) से होने वाले दोष

(1) पशुओं में यह परजीवी रोग फैलाकर, धीरे-धीरे उनकी शक्ति क्षीण करके, उनको मृत्यु के घाट उतारकर, पशु-पालक तथा अपरोक्ष रूप से राष्ट्र को लाखों रुपये की आर्थिक क्षति पहुँचाते हैं।

(2) परजीवी कीटों से उत्पन्न रोग तथा इनके जीवन विकास की कुछ अवस्थायें मनुष्य में भी प्रकोप करती हैं।

(3) रोग ग्रसित पशु से प्राप्त पदार्थ जैसे—माँस, दूध इत्यादि भी मनुष्य के लिए बेकार होते हैं। इस प्रकार ऐसे पशु अनुपयोगी हो जाते हैं, जिनको पालने में निरर्थक व्यय होता है।

(4) यह कीट एक पशु से दूसरे पशु में छूत फैलाकर प्रतिवर्ष, अनेक पशुओं का विनाश कर देते हैं।

(5) पशुओं के शरीर पर कुप्रभाव डालकर, यह उनका उत्पादन तथा कार्य क्षमता कम कर देते हैं।

(6) रोगोन्मुक्त होने के लिये ऐसे पशुओं की चिकित्सा में धन खर्च होकर, पशु-पालकों को आर्थिक क्षति पहुँचती है।

(7) इन रोगों की रोकथाम के उपाय अपनाने में प्रतिवर्ष राष्ट्र की भारी पूँजी व्यय होती है।

(8) पशु का रक्त चूसकर यह कीट उनको निरन्तर निर्बल बनाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ परजीवी, पशुओं की खुराक से ही अपना भोजन लेते हैं।

(9) इनके आक्रमण से पशु जीर्ण-क्षीर्ण होकर कभी-कभी अन्य रोगों का शिकार हो जाता है।

परजीवी कीट रोग उन क्षेत्रों में अधिक प्रकोप करते हैं, जहाँ गन्दे तालाब या नाले होते हैं। शरीर पर उनका कुप्रभाव परजीवियों की संख्या, स्वभाव, इनके द्वारा आक्रमणित भाग तथा निकाले गये कुछ विषैले पदार्थों पर निर्भर होता है। इन बीमारियों से प्रतिवर्ष देश के पशु-धन को बहुत अधिक क्षति पहुँचती है। परजीवी रोगों की रोकथाम के लिये हमारे देश में एक विशेष योजना कार्यान्वित की गई है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रदेश में कुछ परजीवी केन्द्र खोले जाते हैं, जिनमें सामूहिक रूप से परजीवियों को नष्ट करने वाली औषधियाँ पशुओं को पिलाई जाती हैं।

ऐस्केरिस (Ascaris)

केंचुए के आकार के यह कीट नेमाटोड ग्रुप के प्रतिनिधि हैं, जो नर तथा मादा के विभिन्न रूप में पाये जाते हैं। इनकी भोजन प्रणाली; मुँह, अन्न नली, अन्तड़ी तथा मलाशय से मिलकर बनती है। मुँह में तीन होंठ होते हैं। यह बहुधा छोटी आयु के पशुओं में अधिक प्रकोप करते हैं। प्रौढ़, कीट, मनुष्य तथा पशुओं की अन्तड़ी में निवास किया करते हैं। गोबर के साथ इनके अण्डे शरीर से बाहर निकलते हैं। कुछ दिनों बाद इन अण्डों से लार्वा निकलता है। यह घास में छिपकर पशु की भोजन प्रणाली में मुख द्वारा प्रवेश पाते हैं। अब लार्वा पशु की अन्तड़ी की दीवार में घुसते हैं। यहाँ से यह यकृत (liver) फेफड़ा, प्लीहा (spleen), गुर्दा, फेरिंक्स तथा अन्न नली में होकर पुनः अन्तड़ी में प्रवेश पाकर प्रौढ़ कीट का रूप धारण करते हैं। अपने इस स्थानान्तरण काल में शरीर के जिन भागों में यह होकर जाते हैं, उनका विनाश कर देते हैं। प्रौढ़ कीट अन्तड़ी की दीवार पर घाव बना देते हैं, जिससे पाचन विकार उत्पन्न होकर पशु का स्वास्थ्य गिरने लगता है। पशु की अन्तड़ी में पचे हुए भोजन से यह कीट अपनी खुराक शोषित करते हैं। अतः पशु रक्त क्षीणता से पीड़ित होकर, उत्पादन के योग्य न रहकर, निरन्तर दुर्बल होता चला जाता है। अन्त में कब्ज, दस्त तथा क्षीणता (anaemia) के लक्षण उत्पन्न होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। पशुओं की त्वचा खुरदरी दिखाई देना, शरीर भार में कमी तथा उनकी वृद्धि एवं विकास रुक जाना आदि इसके अन्य दुष्परिणाम हैं।

चित्र—53·1
ऐस्केरिस

शरीर में इन कीटों का प्रकोप होने पर पशुओं को निम्नलिखित औषधियाँ देनी चाहियें।

1. **बैन्मिथ**—1 मिलीलिटर प्रति 4 किलोग्राम शरीर भार (अधिकतम 60 मिलीलिटर)।
2. **पिपरेक्स**—5 ग्राम प्रति 20 किलोग्राम शरीर भार।
3. **पिपराजीन एडिपेट**—10 ग्राम प्रति 45 किलोग्राम शरीर भार।
4. **वर्मेक्स**—15 से 30 मिलीलिटर प्रति 30 किलोग्राम शरीर भार।
5. **नीलवर्म**—10–15 ग्राम प्रति प्रौढ़ पशु।
6. **पैनाकुर**—5 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार।
7. **निलजान**—0·33 मिलीलिटर प्रति किलोग्राम शरीर भार।
8. **वोपैल चूर्ण**—50–75 ग्राम प्रति प्रौढ़ पशु।
9. **वल्बाजेन (एल्बेन्डाजोल) बोलस**—600 मिलि ग्राम 1 बोलस प्रति 80 किलो ग्राम शरीर भार पर।
10. **मेबाजोल ग्रैन्यूल्स**

प्रायः इन कृमिनाशक, औषधियों की एक ही खुराक देना पशु के लिये पर्याप्त होता है। यदि आवश्यक हो तो 20–21 दिन बाद दुबारा एक खुराक दी जा सकती है। चूर्ण युक्त औषधियाँ पानी में घोलकर पशु को पिलाई जा सकती हैं।

फाइलेरिया
(Filaria)

यह सूत्राकार लम्बे तथा पतले नेमाटोड हैं, जो बहुधा रुधिर प्रवाह (blood stream) में पाये जाते हैं। इनका मुंह गोल अथवा षट्भुजाकार (hexagonal) होकर बिना होंठ का होता हैं। शरीर में यह भोजन प्रणाली के बाहर अपना निवास करते हैं। पैराफाइलेरिया मल्टीपैपीलोसा (Parafilaria multipapillosa), पैरा फाइलेरिया बोवीकोला (P. bovicola) घोड़ों तथा ढोरों की त्वचा के नीचे (Sub-cutaneous tissues) स्थित रहकर शरीर पर छोटे-छोटे फफोले से बनाकर पकाते फोड़ते हैं। सीटेरिया सर्वाइ (setaria cervi) तथा स्टीफैनोफाइलेरिया आसामेन्सिस (stephanofilaria assamensis), आसाम, बंगाल और उड़ीसा के पशुओं में प्रमुख रूप से पाये जाते हैं और उनमें **मूँझ फूटना** (hump sore) नामक बीमारी फैलाते हैं। इनके अतिरिक्त, अंकोसर्का गिब्सोनी (onchocerca gibsoni) तथा अंकोसर्का इंडिका (O. indica) नामक परजीवी भी इस ग्रुप के प्रतिनिधि हैं। **फाइलेरिया कीटों की मादायें अण्डे न देकर, लार्वा उत्पन्न (viviparous) करती हैं।** इनका लार्वा **माइक्रोफाइलेरिया** (microfilaria) कहलाता है। रक्त चूसने वाले संधिपाद प्राणी (arthropods) का यह कीट अतिथि बनकर रहता है। जब एक संधिपाद प्राणी किसी रोग-ग्रसित पशु का खून चूसता है, तो यह कीड़े रोगी से इसके शरीर में पहुँचकर छूत फैलाने वाली अवस्था के लार्वा में परिवर्तित हो जाते हैं। अब इस संधिपाद प्राणी द्वारा किसी स्वस्थ पशु को काटने पर यह लार्वा उसके रक्त में प्रवेश पा लेता है। यहाँ अपने विकास काल में कीट लसीका तन्त्र (lymphatic system), संयोजी ऊतक

(connective tissue) तथा अन्य शारीरिक गुहाओं में रहकर उन पर अपना कुप्रभाव डालकर, फाइलेरिया रोग (filariasis) उत्पन्न करता है। बीमार पशु को लकवा मार जाना, पैर बेकार हो जाना, नेत्रों का प्रकाश नष्ट हो जाना आदि इस रोग के दुष्परिणाम हैं। जिस समय माइक्रोफाइलेरिया रक्त में चक्कर लगाते हैं पशुओं की आँखों, अण्डकोषों, स्पाइनल कॉर्ड तथा मस्तिष्क आदि अनेक भागों में सूजन आ जाती है। कुछ कीट शरीर पर गिल्टियाँ बनाकर पकाते-फोड़ते हैं। इससे पशु को बहुत ही कष्ट होता है और उसकी चमड़ी भी खराब हो जाती है। मूँझ-फूटने (hump sore) वाली बीमारी में क्षतस्थल को दबाकर, इन कीटों को बाहर निकाला जा सकता है।
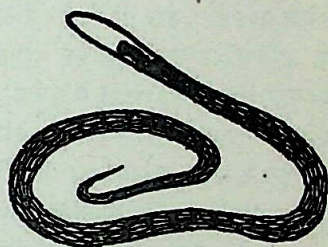
चित्र 53·2—माइक्रोफाइलेरिया (Microfilaria)

चिकित्सा के लिये एक प्रौढ़ पशु को 20 मिलीलिटर की मात्रा में अन्त:पेशी विधि से 'ऐन्थिओमैलिन' का इन्जेक्शन दिया जा सकता है। एक सप्ताह के अवकाश पर एक अथवा दो बार इस टीके को दोहराया जा सकता है।

टीनिया सोलियम (Taenia Solium)

यह कीट एक टेप वर्म ग्रुप का प्रतिनिधि है, जो मनुष्य की अन्तड़ी में पाया जाता है। इसको पोर्क टेप वर्म (pork tape worm) भी कहते हैं। यह बहुधा 2 से 2·5 मीटर तक लम्बा होता है। इसके शरीर को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो सिर और दूसरा धड़। सिर में अंकुश (hooks) तथा चार चूषक (suckers) होते हैं, जिनके द्वारा यह कीट अन्तड़ी की दीवारों से चिपककर भोजन शोषित करता है। धड़ अनेक खण्डों से मिलकर बनता है। पुराने खण्ड टूट-टूट कर गिरते हैं और इनकी पूर्ति नये खण्डों के बनने से होती रहती है। प्रत्येक खण्ड उभयलिंगी होता है। यह खण्ड तीन प्रकार के होते हैं—(1) अपरिपक्व (immature), (2) परिपक्व (mature) तथा (3) सगर्भ (gravid)। अपरिपक्व खण्ड सिर के नीचे, परिपक्व बीच में तथा सगर्भ सबसे अन्त में होते हैं। परिपक्व खण्ड में नर-मादा जननेन्द्रिय के अंग स्थित रहते तथा सगर्भ में अण्डे भरे रहते हैं। इस ग्रुप के कीटों में भोजन संस्थान नहीं होता। प्रत्येक खण्ड में उत्सर्जन तन्त्र (excretory system) स्थिर रहता है। रोग-

चित्र 53·3—टीनिया सोलियम (Taenia Solium)
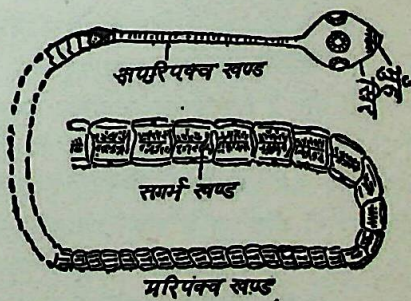
ग्रसित मनुष्य के मल में अनेक अण्डे तथा सगर्भ खण्ड शरीर से बाहर निकलते हैं। जब कोई सुअर अथवा कुत्ता ऐसा मल खा लेता है, तो उसके शरीर में यह अण्डे प्रवेश पाते हैं। कुछ ही दिनों में इनसे लार्वा निकलकर अन्तड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में प्रविष्ट होकर लसीका (lymph) तथा रुधिर वाहिका (blood vessel) द्वारा देहगुहा (body cavity) में पहुँचते हैं। यहाँ आकर यह सिस्ट (cyst) आकार में परिणत होकर सुअर की माँस-पेशियों में स्थिर रहते हैं। सुअरों में टीनिया सोलियम की इस मध्यस्थ अवस्था को 'सिस्टी-सर्कस सैलूलौसी' या 'ब्लैडर वर्म' (cysticercus cellulosae or bladder worm) कहते हैं। इसके सिर में दोहरी कतार में अंकुश (hooks) होते हैं। यह सिस्ट सुअर की माँस पेशियों में इतने गहरे स्थित रहते हैं कि साधारण तौर पर गोश्त उबालने पर भी कभी-कभी जीवित रह जाते हैं। अतः जब कोई मनुष्य अथवा पशु ऐसा गोश्त खाता है, तो यह सिस्ट उसकी अन्तड़ी में पहुँचकर प्रौढ़ कीट में वृद्धि पाता है। इस अवधि में यह अन्तड़ी की दीवारों से चिपककर, उसका सारा भोजन स्वयं खा लेता है और उनमें सिस्टीसर्कोसिस (cysticercosis) रोग फैलाता है। परिणामस्वरूप मनुष्य दिन-प्रनिदिन निर्बल होकर अन्त में अनेक अन्य रोगों का शिकार होकर मृत्यु के घाट उतर जाता है। मनुष्यों में इसके द्वारा फैलने वाला रोग टीनियासिस (taeniosis) तथा सुअरों में खसरा (measles) कहलाता है; इस प्रकार यह परजीवी कीट मनुष्यों एवं सुअरों दोनों को आर्थिक क्षति पहुँचाता है। अन्य पशुओं को भी इसकी छूत लग सकती है।

चिकित्सा के लिये, मे एण्ड बेकर द्वारा निर्मित डाइसेस्टल तथा SKF द्वारा बनाई गई वल्बाजेन गोलियों को उपयोग में लाया जा सकता है। 0·33 मिलीलिटर प्रति किलो शरीर भार की दर से निलजान का प्रयोग भी लाभदायक है। जैनिल भी इन कीटों को शरीर से बाहर निकालती है। इण्डियन हर्ब्स द्वारा निर्मित टैनिल चूर्ण इसकी आयुर्वेदिक औषधि है।

ट्रिपैनोसोम्स (Trypanosomes)

कशेरुकी (Vertebrate) पशुओं के रक्त में पाया जाने वाला यह प्रोटोजोअन परजीवी कीट है। इनका शरीर लम्बा शंकुरूपी (fusiform) आकार का होकर, एक फ्लैजेलम तथा लहरदार झिल्ली का बना होता है। शरीर के बीचों-बीच एक बड़ा न्यूक्लियस तथा पिछले सिरे पर एक छोटा न्यूक्लियस (काइनेटोप्लास्ट) होता है। यह परजीवी कीट पशु के रुधिर प्रवाह (blood stream) में पाये जाते हैं।

इनकी निम्नलिखित प्रजातियाँ पशुओं में रोग फैलाती हैं—

(1) ट्रि० ब्रूसेआई (T. brusei) ग्रुप—ब्रूसेआई (brucei), गैम्बिएन्सि (gambiense), रोडिसिएन्सि (rhodesience), इवान्साइ (evansi), इक्वाइनम (equinum)।

(2) ट्रि० कान्गोलेन्सी (T. congolense) ग्रुप—कान्गोलेन्सी (congolense), साइमिए (simiae), डाईमॉरफॉन्त (dimorphon)।

(3) ट्रि० थीलेराइ (T. theileri) ग्रुप—मेलोफैजिअम (melophagium)

(4) ट्रि० वाइवेक्स (T. vivax), ग्रुप—वाइवेक्स (vivax), यूनिफार्मे (uniforme)।

उक्त जातियों में ट्रि० कान्गोलेन्सी (congolense), गो-पशुओं के लिये बहुत ही घातक है। सर्वप्रथम ट्रिपैनोसोम को सन् 1880 में ईवान्स (Evans) ने भारत में सर्रा रोग से पीड़ित पशु में देखा और इसका नाम ट्रि० ईवान्साइ रखा।

ट्रिपैनोसोम्स का मध्यस्थ पोषक (intermediate host) अकशेरूकी जीव (invertebrate) होते हैं। बहुधा सी-सी मक्खी (tse-tse fly) के शरीर में ही यह निवास करके अपना विकास करते हैं। यह दो प्रकार से पशु के शरीर में प्रवेश पाता है—एक तो **सीधे** (direct) और दूसरे **चक्रीय** (cyclic)। पहले प्रकार में जब एक खून चूसने वाली मक्खी (Tabanids or stomoxys) रोग-ग्रसित पशु का खून चूसकर किसी स्वस्थ पशु को काटती है, तो यह परजीवी कीट उसके शरीर में प्रवेश पा लेते हैं। चक्रीय विधि में, इस मक्खी के शरीर में यह परजीवी कीट कुछ दिनों तक निवास करके अपना विकास करता है और फिर मक्खी में संक्रामी (infective) होने के बाद कशेरूकी पशु में पहुँचाता है। ट्रिपैनोसोम का इस प्रकार विकास सी-सी मक्खी के शुंड (Pro bosis), लार ग्रन्थि (salivary glands) अथवा अंतड़ी में हो सकता है। शुंड एवं लार ग्रन्थियों में इस प्रकार संक्रामी अवस्थाओं में ट्रिपैनोसोम का विकास पाना 'अग्र स्टेशन' (development in anterior station) में विकास तथा अंतड़ी में विकास पाना 'पश्च स्टेशन का विकास' (development in posterior station) कहलाता है। पशुओं में यह **ट्रिपैनोसोमता** (Trypanosomiosis) रोग फैलाते हैं। उदाहरणार्थ—घोड़ों, ढोरों तथा ऊँटों में **सर्रा** (surra) रोग। रोग लगने के समय पशु को तेज बुखार होता है तथा बाद में यह रुक-रुक कर आने लगता है। पशु खाना खाता रहता है परन्तु उसका शरीर क्षीण होता चला जाता है। शरीर में निर्बलता आकर तल पेट में सूजन आ जाती है। पशु की सभी श्लेष्मक झिल्लियाँ रक्त क्षीणता के कारण पीली पड़ जाती हैं और उनमें रक्तस्राव के छोटे-छोटे धब्बे दिखाई देते हैं। अन्त में रक्त में शकर की कमी होकर दस्तों से पशु की मृत्यु हो जाती है। रोग के प्रारम्भ में, जब पशु को तेज बुखार होता है, तो रक्त में असंख्य ट्रिपैनोसोम चक्कर लगाते हैं। इस समय यदि पशु का खून लेकर माइक्रोस्कोप में देखा जाये, तो ट्रिपैनोसोम दिखायी देते हैं। बाद में इन परजीवियों की संख्या रक्त में बहुत कम
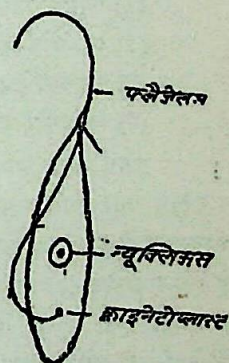
चित्र 53·4—ट्रिपैनोसोम (Trypanosoma)

हो जाती है। रोग की छूत लगने पर हजारों की संख्या में पशु प्रतिवर्ष मर जाते हैं, जिससे पशु-पालक तथा राष्ट्र को आर्थिक क्षति पहुँचती है।

चिकित्सा के लिये हेक्स्ट द्वारा निर्मित **'बेरिनिल'** का अन्त:पेशी इन्जेक्शन इस रोग की महौषधि है। 0·8–1·6 ग्राम पाउडर प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार, डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर देना चाहिये। आई० सी० आई० का ऐंट्रिसाइड प्रोसाल्ट भी बहुत प्रभावकारी है, किन्तु यह आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाता। प्रोनिल एच तथा ट्रिक्वीन (Triquin) इस रोग की नई औषधियाँ हैं।

मलेरिया परजीवी (Malarial Parasite)

यह परजीवी कीट चिड़ियों तथा मनुष्य में मलेरिया रोग फैलाता है। सर्वप्रथम सन् 1880 में **लैवेरन** नामक वैज्ञानिक ने मलेरिया परजीवी की रक्त में खोज की। इसकी चार प्रजातियाँ मनुष्य में मलेरिया फैलाती हैं—

(1) प्लाज्मोडियम वाइवेक्स (P. vivax),
(2) प्लाज्मोडियम फेल्सीपैरम (P. Falciparum),
(3) प्लाज्मोडियम मलेरिया (P. Malaria),
(4) प्लाज्मोडियम आवेल (P. ovale)।

चित्र 53·5—शिजोंट

इसमें सबसे अधिक पाई जाने वाली प्रजाति प्लाज्मोडियम वाइवेक्स तथा सबसे कम प्लाज्मोडियम आवेल है। इसका जीवन-चक्र मनुष्य में **शाइजागोनी** (Schizogony) तथा मच्छर में **'स्पोरोगोनी'** (Sporogony) कहलाता है। **ऐनॉफैलीज** (anopheles) मच्छर में इस रोग का जीवाणु निवास करता है। जब कोई ऐसा मच्छर किसी स्वस्थ मनुष्य को काटता है, तो इस मार्ग से अपने थूक में उपस्थित **स्पोरोजोइट** (Sporozoites) को उसके शरीर में पहुँचा देता है। लगभग एक सप्ताह बाद यह स्पोरोजोइट अब रूधिर प्रवाह (blood stream) में पहुँचकर लाल रक्त कणों पर आक्रमण करते हैं। अब यहाँ स्पोरोजोइट का विकास होकर बहुत से न्यूक्लियस वाला **'शिजोंट'** (schizont) बनता है। पत्पश्चात् शिजोंट का विभाजन होकर इसके एक न्यूक्लियस वाले अनेक **खण्डज बीजाणु** (merozoites) बन जाते हैं। इस समय लाल रक्त कण फटकर, यह खण्डज बीजाणु बाहर निकलते हैं और दूसरे रक्त कणों पर आक्रमण करते हैं। शिजोंट फटने के साथ ही मनुष्य को मलेरिया ज्वर आता है। अत: जितने समय में शिजोंट बनकर, खण्डज बीजाणु तैयार करते हैं उतने ही समय बाद मलेरिया ज्वर का आक्रमण हुआ करता है। इनके प्रकोप से मनुष्य को जाड़ा देकर बुखार आता है। लाल रक्त कणों के नष्ट होने के कारण रक्त-क्षीणता (anaemia) होकर मनुष्य दिन-प्रतिदिन निर्बल होता चला जाता है। अन्त में प्लीहा (spleen) तथा यकृत (liver) बढ़कर उसकी मृत्यु हो जाती है। माइक्रॉस्कोप में रक्त परीक्षण से रोग के कारक को पहचाना जा सकता है। इस रोग से करोड़ों की संख्या में मृत्यु-दर देखकर राष्ट्र व्यापी मलेरिया उन्मूलन योजना चलाई गई।

चिकित्सा के लिए कुनैनयुक्त औषधियों (कामोक्वीन गोली) को उपयोग में लाया जा सकता है।

बूफिलस (Boophilus)

यह खून चूसने वाली एक होस्ट किलनियाँ (one host ticks) हैं जो अपने में रोग के परजीवी छिपाये रहती हैं। इनमें गुद-खाँच (anal groove) नहीं होता। झालर (festoons) अस्पष्ट, चंचु (rostrum) बहुत छोटा तथा प्रथम कक्षांग (coxa) द्विशाख (bifid) होता है।

चित्र 53·6—बूफिलस किलनी (Boophilus tick)

बूफिलस वंश की किलनियाँ नमी युक्त अन्धेरे स्थानों में भली-भाँति पनपती हैं। इसकी मादा जब किसी चीचड़ी ज्वर (Tickfever) से पीड़ित पशु का रक्त चूसती है तो रोग के परजीवी उसके शरीर में प्रवेश पाते हैं। पशु के शरीर से छूटकर यह जमीन पर हजारों की संख्या में अण्डे देती है। अण्डे देने के उपरान्त मादा की मृत्यु हो जाती है। कुछ ही दिनों में इन अण्डों से 6 पैरों वाला लार्वा निकल आता है। इस लार्वा में रोग के परजीवी उपस्थित रहते हैं। जब पशु इनके सम्पर्क में आता है, तो यह उसके शरीर पर टाँगों के मध्य, तल पेट तथा कानों में चिपककर पशु का रक्त चूसते हैं और अपना विकास करके प्रथम आठ पैर वाले निम्फ (Nymph), तत्पश्चात् प्रौढ़ बूफिलस में परिवर्तित हो जाते हैं। इनके रक्त चूसने के समय ही, इनमें उपस्थित पाइरोप्लाज्म (piroplasm) पशु के रुधिर प्रवाह में प्रवेश पाकर, रोग फैलाते हैं। पशु को एकाएक तेज ज्वर तथा दस्त आने लगते हैं। उसकी सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़कर पेशाब में रक्त आने लगता है। अन्त में रक्तक्षीणता होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार तराई क्षेत्र में लाखों पशु प्रतिवर्ष इस रोग का शिकार होकर मृत्यु के घाट उतरते हैं।

राईपीसिफैलस
(Rhipicephalus)

बूफिलस की भाँति यह भी रक्त चूसने वाली किलनियाँ हैं, जो अण्डाकार शरीर की बनी होती हैं षट्भुजाकार आधार कैपीट्यूलम, द्विशाख प्रथम कक्षाँग (bifid first coxa) तथा छोटे पैडीपल्पस् से उन्हें पहचाना जाता है। इनमें आँख, गुद-खाँच तथा स्पष्ट झालर भी होती है।

इस वंश के कुछ प्रतिनिधि 'तीन होस्ट किलनियाँ, (three host ticks) तथा अन्य 'दो होस्ट किलनियाँ' हैं। दो होस्ट किलनियों (two host ticks) का लार्वा एक होस्ट का खून चूसकर उसी पर निर्मोचन (moulting) करके निम्फ में बदलता है। पशु का रक्त चूसने के वाद यह निम्फ जमीन पर गिरकर अपना निर्मोचन करके प्रौढ़ किलनी को जन्म देता है। यह पूर्ण कीट अब अन्य होस्ट की तलाश करता है। तीन होस्ट किलनियों में उनके विकास काल के विभिन्न अन्तरूप, भिन्न होस्टों पर चिपककर अपना विकास करते हैं। रक्त चूसने के वाद प्रत्येक वार ये पशु के शरीर से छूटकर पृथ्वी पर गिरकर अपना निर्मोचन करते हैं। मादा के अंडे देने के उपरान्त अनुकूल अवस्थायें मिलने पर 1–2 माह में इनसे लार्वा निकलते हैं। यह किसी होस्ट पर चिपककर उसका खून चूसते हैं। कुछ दिनों वाद लार्वा पशु के शरीर से छूटकर जमीन पर गिरता है और निर्मोचन (moulting) होकर 2–3 सप्ताह में उससे निम्फ (nymph) वन जाता है। अपने पोषण हेतु यह निम्फ किसी दूसरे होस्ट का रक्त चूसता और लगभग 1 सप्ताह वाद पशु के शरीर से छूटकर पृथ्वी पर गिर जाता है। अव 12-18 दिन में निर्मोचन होकर इससे प्रौढ़ किलनी का विकास होता है। इस प्रकार राईपीसिफैलस वंश की किलनियाँ अपने जीवन-चक्र की विभिन्न वृद्धि अवस्थाओं में भिन्न रोगों के परजीवी छुपाये रहती हैं और स्वच्छ पशुओं का रक्त चूसने के समय अपने थूक द्वारा इन परजीवियों को उनके शरीर में प्रवेश कराके **बैबीसिआसिस** (babesiasis), **थीलेरिआसिस** (theilariasis), **स्पाइरोकीटोसिस** (spirochaetosis) तथा **एनाप्लाज्मोसिस** (anaplasmosis) आदि रोग फैलाती हैं। इनके द्वारा रक्त चूसने के समय पशु को कष्ट होता है। उसकी त्वचा खराव होकर, अन्य चर्म रोगों की छूत लगने का भय रहता है। पशु में रक्तक्षीणता होकर उसके स्वास्थ्य का विनाश हो जाता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष अनेक पशुओं की मृत्यु होकर राष्ट्र के पशु व्यवसाय को भारी धक्का पहुँचता है।

चित्र 53·7—राइपीसिफैलस किलनी
(Rhipicephalus tick)

इन परजीवी कीटों को नष्ट करने के लिये गैमक्सीन, डी० डी० टी०, असन्तोल या नेगूवान औषधियाँ उपयोगी हैं। भारतीय पशु चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान में किये गये परीक्षणों से यह पता चला है कि यदि इनमें विकास की प्रथम

तथा द्वितीय अवस्था में इन्हें विकिरण की 1000 श्रम मात्रा से उपचारित किया जाये तो प्रौढ़ किलनियाँ आँशिक रूप से बाँझ हो जाती हैं। बूफिलस तथा माइक्रो-

चित्र 53·8—किलनी का जीवन चक्र
(Life cycle of tick)
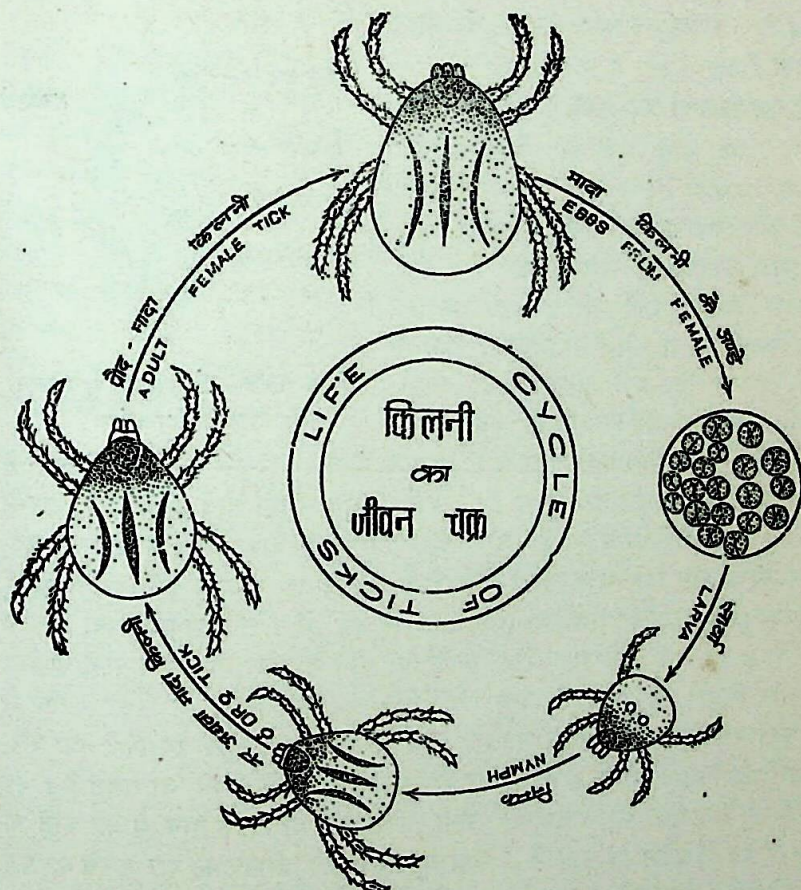
प्लस जाति के एक दिन के बच्चों को विकिरण से उपचारित करने पर उनकी अण्डा देने की क्षमता कम होकर, अण्डों से बच्चे निकलना कम हो जाता है।

फैसिओला हिपेटिका
(Fasciola Hepatica)

इसको यकृत फ्ल्यूक (liver fluke) भी कहते हैं। यह ट्रीमा-ट्रोड ग्रुप का प्रतिनिधि है। यह कीड़ा एक चपटी पत्ती के आकार का लाल या कुछ सफेद रंग का

होता है जो पशुओं, विशेषकर गाय-भैंसों तथा भेड़ों में कीड़िया रोग (fluke disease) फैलाता है। यह कीड़ा उभयलिंगी (hermaphrodite) होता है। इसकी लम्बाई 2·5 से 3 सेंटीमीटर तथा चौड़ाई 1 सेंटीमीटर होती है।

चित्र 53·9—फैसिओला हिपेटिका (Fasciola Hepatica)

जीवन चक्र (Life cycle)

यह कीड़े एक वार में लाखों की संख्या में अण्डे देते हैं, जो पशुओं के गोवर के साथ शरीर के वाहर निकलते हैं। अनुकूल वातावरण, जैसे—नमी तथा गर्मी पाकर दलदले स्थानों में नदी या तालाब, के किनारे इनका विकास होकर, 9 दिन में इन अण्डों से एक सिलियाटेड लार्वा (ciliated larva) निकलता है, जिसे **मीरासीडियम** (miracidium) कहते हैं। उपयुक्त होस्ट न मिलने पर कुछ ही घण्टों में इस लार्वा का विनाश हो जाता है। अतः उपयुक्त होस्ट घोंघे (snail) की तलाश में यह लार्वा पानी में तैरता है और इसके सम्पर्क में आकर घोंघे के शरीर में घुसकर अपना आगे विकास करता है। घोंघे के अन्दर यह **बीजाणु पुटी** (sporocyst), **रेडिया** (redia), फिर **सर्केरिया** (cercaria) के रूप में परिणत होकर अपना विकास करता है। 4 से 7 सप्ताह वाद सर्केरिया घोंघे से वाहर निकलकर पानी में तैरते हैं और किनारे की जमी हुई घास पर पहुँचकर कुछ मिनट से लेकर 2 घण्टे में पत्तियों पर चिपककर लटकने लगते हैं। सर्केरिया अपनी पूँछ गिराकर तथा परिपुटन (encystment) करके गोलाकार रूप में गहरे पानी में भी जा सकते हैं। जव कोई पशु उस घास को खाता या पानी पीता है, तो उसके साथ ही यह कीड़े भी पशु के पेट में प्रवेश पा जाते हैं। यहाँ से अन्तड़ी की दीवार को पार करके यह पशु की पित्तवाहिनी (bile duct) में पहुँचते हैं, जहाँ प्रौढ़ कीट में विकसित होकर **यकृत रोग** के लक्षण पैदा करते हैं, कुछ कीड़े रक्त प्रणाली द्वारा यकृत में पहुँचकर, **यकृत की सड़न** (liver rot) पैदा करके पशु को मार देते हैं। युवा पशु विशेषकर ढोर, भेड़ तथा वकरियों को यह परजीवी अधिक हानि पहुँचाता है। **भालेराव** (Bhalerao) के अनुसार भारत में इसी ग्रुप का दूसरा कीड़ा फैसिओला जाइजेंटिका (fasciola gigantica) पशुधन का बैक्टीरियल एवं वाइरल रोगों से भी अधिक विनाश करता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष इनके प्रकोप से लाखों पशुओं की मृत्यु होकर राष्ट्र तथा पशु-पालकों को आर्थिक क्षति पहुँचती है।
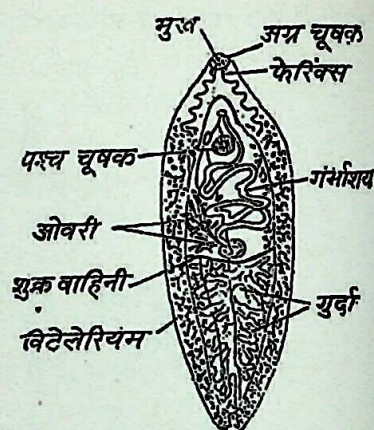
रोग लगने का ढंग (Mode of Infection)

मुँह द्वारा (By mouth)—तराई के मैदानों में, दलदलों या तालाबों के

किनारे चलने वाले चरागाहों तथा दूषित पानी पीने से सर्केरिया, स्वस्थ पशु के शरीर में प्रवेश पाते हैं।

लक्षण (Symptoms)

रोग का हल्का आक्रमण होने पर कीटों के शरीर में प्रवेश पाने के लगभग 1½—2 माह बाद लक्षण प्रकट होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में पशु में सुस्ती, खाने में अरुचि, पाकस्थली में गड़बड़ी तथा जी मिचलाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। पशु को कब्ज रहकर सख्त गोबर होता है और बाद में उसे पानी जैसे पतले दस्त आने लगते हैं। रोग का आक्रमण बढ़ने पर यकृत तथा पित्तवाहिनी (bile duct) सड़कर गलने लगती है। पशु के गले के नीचे भाग में सूजन आकर, सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं। उसके पूँछ व सिर के बाल झड़ने लगते हैं। वह मिट्टी चाटता और अन्त में निरन्तर कमजोर होकर 2–6 माह में मृत्यु की गोद में सो जाता है। रोग का अधिक जोर हो जाने पर पशु के नथुनों से झाग निकलता है और वह तुरन्त मर जाता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—रोग के ऊपर बताये गये मुख्य लक्षण देखकर बीमारी की पहचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—माइक्रॉस्कोप में रोग-ग्रसित पशु के गोबर की परीक्षा करने पर यकृत फ्ल्यूक के अण्डे दिखाई पड़ते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

बीमार पशु को निम्नलिखित दवाओं से ठीक किया जा सकता है।

(1) एवलोथेन (हेक्साक्लोरोथेन)—आई० सी० आई० द्वारा निर्मित यह पशुओं के लिये इस रोग की अति उत्तम औषधि है। 1/2 औंस (15 ग्राम) प्रति 6 माह आयु के लिये या अधिकतम 1½ औंस (45 ग्राम) की मात्रा में पानी में घोल कर पशु को पिलाना चाहिये। इसके तीन सप्ताह बाद पुनः एक खुराक दवा पिलाई जा सकती है।

उन स्थानों में जहाँ पहले से ही बीमारी चल रही हो, स्वस्थ पशुओं को बचाने के लिये जून से अक्टूबर तक प्रति माह हैक्सा-क्लोरो-थेन की एक खुराक देनी चाहिये।

(2) कार्बन टेट्रा-क्लोराइड (Carbon-tetra-chloride)—5 घ० सें० की मात्रा में बड़े पशुओं को तथा 1 से 2 घ० सें० साल भर के बच्चों को पायस (emulsion) के रूप में पशु को 12 घण्टे भूखा रहने के बाद यह दवा पिलानी चाहिये। यदि आवश्यकता हो, तो तीन-चार सप्ताह बाद यह मात्रा दोहरायी जा सकती है। कार्बन-टेट्रा-क्लोराइड बहुधा भेड़ों के लिये ही प्रयोग होती है।

(3) डिस्टोडीन (Distodin)—फाइजर द्वारा निर्मित यह गोली इस रोग की चिकित्सा में बहुत ही गुणकारी सिद्ध हुई है। बछड़ों को 1 ग्राम वाली आधी

गोली तथा प्रौढ़ पशुओं को 1–2 गोली इसकी खुराक है। प्रायः इसकी एक ही खुराक पर्याप्त होती है। बचाव के लिये चार माह के अवकाश पर इसे दिया जा सकता है।

(4) जैनिल (Zanil)—30 मिलीलिटर प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार पर इस औषधि को गोपशुओं को पिलाया जाता है। अधिकतम इसकी मात्रा 100 मिलिलिटर प्रति पशु है। भेड़ों के लिये इसकी मात्रा 15 से 60 मिलिलिटर तक है। बकरियों के लिये भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

(5) निलजान (Nilzan)—गोपशुओं, भेड़-बकरियों के लिये 0·33 मिलिलिटर प्रति किलोग्राम शरीर भार इस दवा को पिलाया जाता है। बड़े पशुओं के लिये इसकी अधिकतम मात्रा 100 मिलिलिटर है। गर्भित पशुओं को भी यह दवा दी जा सकती है।

(6) रैनाइड (Ranide)—7·5 मिलिग्राम प्रति किलो शरीर भार की दर से पानी में घोलकर पशु को पिलाने से सभी प्रकार के यकृत फ्ल्यूक नष्ट हो जाते हैं। आवश्यकता हो तो तीन सप्ताह बाद इसकी दूसरी खुराक दी जा सकती है।

रोकथाम (Prevention & control)

तराई एवं दलदल वाले क्षेत्रों के दूषित चरागाहों पर पशुओं को न चराया जाये। घोंघों को नष्ट करने के लिये तालाब में 1 भाग तूतिया प्रति पाँच लाख भाग पानी में मिलाकर डालना चाहिये। नये उत्पन्न घोंघों को नष्ट करने हेतु उक्त क्रिया को प्रति दूसरे, तीसरे माह दोहरा देना चाहिये। दूषित चरागाहों पर 1 या 2% तूतिया का घोल छिड़कना चाहिये, अथवा 1 भाग तूतिया में 4 से 8 भाग रेत मिलाकर 5 से 12 किलोग्राम तक प्रति एकड़ फैलाना चाहिये। वर्षा के प्रारम्भकाल तक इन चरागाहों पर पशुओं को नहीं चराना चाहिये।

रोगग्रस्त पशु के गोबर को नदी, नाले या तालाब के पानी में नहीं मिलने देना चाहिये। रोग से मरे हुये पशुओं को जला देना चाहिये या आबादी और नदी-नालों से कम से कम 100 मीटर की दूरी पर जमीन में गाड़ देना चाहिये।

परिच्छेद : 54

चीचड़ी ज्वर
(TICK FEVER)

अन्य नाम—रक्त मूत्र रोग, पाइरोप्लाज्मोसिस, टेक्सास फीवर, बैबीसिआ-सिस आदि।

विषय-परिचय—चीचड़ी ज्वर एक प्रोटोजोअन परजीवी कीट (protozoan) द्वारा प्रकोप करने वाला छूतदार रोग है, जो विशेष तौर पर गौ तथा भैंस वंशज पशुओं में किलनियों द्वारा फैलता है। रोग फैलाने वाले प्रोटोजोआ किलनियों के अन्दर रहते हैं, जो पशु के शरीर में प्रवेश पाकर बीमारी के लक्षण प्रकट करते हैं। यह रोग तराई के नमीदार स्थानों में, जहाँ किलनियों के विकास के लिये अच्छा वातावरण होता है, खूब प्रकोप करता है। रोग के जीवाणु लाल रक्त कणों को तोड़कर खून को पतला कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप मूत्र में रक्त आने लगता है। इसी कारण इस बीमारी को रक्त-मूत्र रोग (Red water disease) भी कहते हैं।

कारण (Etiology or cause)—बैबीसिया की निम्नलिखित प्रजातियाँ इस रोग के फैलाने में सहायक होती हैं—

(1) बैबीसिआ बरबेरा (Babesia barbera)
(2) बैबीसिआ बाइजेमिना (Babesia bigemina)
(3) बैबीसिआ मेजर (Babesia major)
(4) बैबीसिआ बोविस (Babesia bovis)
(5) बैबीसिआ अर्जेन्टाइना (Babesia Argentina)

भारतवर्ष के पशुओं में मुख्य रूप से यह रोग **बैबीसिया बाइजेमिना** द्वारा होता है। यह परजीवी कीट किलनियों के अन्दर अपना पालन-पोषण पाता है और पशु के शरीर में पहुँचकर लाल रक्त-कणों में निवास करता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—जब कोई ऐसी किलनी, जिसमें कि पहले से ही इस रोग के कीट विद्यमान हों, किसी स्वस्थ पशु के शरीर में चिपककर उसका रस चूसती है तो यह परजीवी कीट उसी कटे हुये मार्ग से पशु के शरीर में प्रवेश पाकर रोग फैलाते हैं।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—7 से 17 दिन।

लक्षण (Symptoms)

(1) तीव्र अवस्था (Acute form)—रोग के परजीवी कीट पशु के रक्त कणों में प्रवेश पाकर उनको तोड़ते हैं। पशु को एकाएक 106 से 107 डिग्री फारेन-हाइट (41—42° सें०) तक तेज बुखार होकर उसकी नाड़ी तथा श्वांस की गति अति तीव्र हो जाती है। वह जुगाली तथा खाना-पीना बन्द कर देता है। उसके शरीर की श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ने लगती हैं तथा पेशाब का रंग लाल हो जाता है। ऐसा लाल रक्त कणों के टूटने के फलस्वरूप, हीमोग्लोबिन (haemoglobin) निकलने के कारण होता है। इसके बाद पशु का तापक्रम एकाएक गिरकर लगभग 90 प्रतिशत रोगी पशुओं को मौत के घाट उतारता है।

(2) दीर्घकालीन अवस्था (Chronic form)—इसमें पशु को धीरे-धीरे रोग का असर होता है और बहुत ही दिनों तक वह बीमार बना रहता है। मृत्यु की प्रतिशत इसमें कम होती है। पशु को कब्ज रहकर अनियमित बुखार होकर, दस्त आरम्भ हो जाते हैं, जिससे वह धीरे-धीरे जीर्ण होने लगता है। पशु के मूत्र में एल्ब्यूमिन आने लगती है। लाल रक्त कण धीरे-धीरे नष्ट होते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप पशु नितान्त निर्बल होकर मरने लगते हैं। जो पशु मरते नहीं, वे फिर महीनों में ठीक होते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के ऊपर बताये हुये मुख्य लक्षण और पशु के शरीर में, विशेषत: जांघों के अन्दरूनी भाग तथा कानों से चिपकी हुई किलनियों को देखकर रोग की पहिचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—माइक्रोस्कोप में पशु के रक्त की परीक्षा करने पर, लाल रक्त कणों में नाशपाती के आकार के जोड़े के रूप में परजीवी कीट दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक लाल रक्तकण में ऐसे दो कीट अपने नुकीले सिरे से परस्पर जुड़े मालूम पड़ते हैं।

(3) शव परीक्षण (Postmortem examination)—मृत्यु के बाद यदि पशु के शव को चीर कर देखा जाये, तो उसका यकृत व प्लीहा बढ़ा हुआ, मूत्राशय लाल रंग के पेशाब से भरा हुआ तथा शरीर की झिल्लियों पर रक्त के धब्बे मिलते हैं।

चिकित्सा (Treatment)—रोग का निदान होने के बाद उसकी तुरन्त चिकित्सा करना परम आवश्यक है और ऐसा करने से अधिकतर पशु अच्छे हो जाते हैं। रोगग्रसित पशु के शरीर पर सर्वप्रथम **'पेस्टोबान'** लगाकर किलनियों को नष्ट करना चाहिये। तत्पश्चात् 50 से 150 घ० सें० तक **'ट्रिपेन ब्ल्यू'** (trypen blue) के 1 प्रतिशत घोल का बहुत धीरे-धीरे अन्त:शिरा इन्जेक्शन देना चाहिये। 1 घ० सें प्रति 90 कि० ग्रा० शरीर भार पर, 5 प्रतिशत बेयर (bayer) कम्पनी के **एकैप्रिन घोल** (acaprin solution) का त्वचा के नीचे (sub/cut)) इन्जेक्शन

देने से आशातीत लाभ होता है। इसके अतिरिक्त, अल्कली एण्ड केमिकल कारपोरेशन आफ इण्डिया (A. C. I.) द्वारा निर्मित **'बैबेसान'** (babesan) का प्रायः एक ही इन्जेक्शन पशु को निरोग कर देता है। इसके 5 प्रतिशत घोल का 1 घ० सें० प्रति क्वार्टर शरीर भार पर इन्जेक्शन दिया जाता है। यदि रोगी पशु अधिक कमजोर हो, तो इस औषधि की मात्रा दो भागों में विभाजित करके 6 घण्टे के अवकाश पर देनी चाहिये। देशी दवाओं में गुलावी फिटकरी और खाने वाला सोडा प्रत्येक 15–15 ग्राम मिलाकर, प्रातः सांय 8–10 दिन पशु को देने से कभी-कभी लाभ होते देखा गया है। हेक्स्ट द्वारा निर्मित **'बेरेनिल** (Berenil) इसकी बहुत उपयोगी दवा है। केवल 1 या 2 इन्जेक्शन देना ही पर्याप्त होता है। 0·8–1·6 ग्राम पाउडर प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार, डिस्टिल वाटर में घोलकर माँसपेशी में इसका टीका दिया जाता है। क्षीण हुये रक्त की, आपूर्ति के लिये प्रौढ़ पशु को 5–10 मिलिलिटर की मात्रा में सप्ताह में दो बार वेलामाइल, बीकॉम-एल अथवा लिवोजन का माँस पेशी में टीका देना चाहिये। सभी प्रकार के परजीवी कीटों के प्रकोप में रक्ताल्पता (anaemia) तथा ताकत के लिये इन औषधियों का प्रयोग गुणकारी है।

रोकथाम (Prevention & control)—पशुओं तथा चरागाहों में **डी० डी० टी०** और **गैमक्सीन** के द्वारा किलनियों को नष्ट करके इस रोग का उन्मूलन किया जा सकता है। 1 या 2 प्रतिशत डी० डी० टी० के घोल से पशु को नहलाने से किलनियाँ नष्ट हो जाती हैं। 0·1 प्रतिशत **बेगान** के घोल से पशु को नहलाने या छिड़कने से भी ये कीट नष्ट किये जा सकते हैं।

बीमारी फैलने के समय रोग-ग्रसित पशु से 5–10 घ० सें० रक्त निकालकर स्वस्थ पशु में त्वचा के नीचे (sub-cut) इन्जेक्शन देने से उसके शरीर में रोग प्रति-रक्षा आ जाती हैं। ऐसा करने पर 7 से 15 दिन तक पशु का तापक्रम बढ़ता है। यदि तापक्रम 104 डिग्री फारेनहाइट (40° सें०) या अधिक हो जाये, तो पशु को 1 प्रतिशत ट्रिपेन ब्ल्यू का 100 घ० सें० अन्तःसिरा इन्जेक्शन देकर ठीक किया जा सकता है।

1 मिलि लिटर प्रति 50 किलो शरीर भार के अनुसार त्वचा के नीचे **'आइवोमेक'** (ivomec) का केवल एक इन्जेक्शन किलनियों के विनाश के लिये पर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह दवा जूँ, पिस्सू, माइट, गोल कृमि, फेफड़ाकृमि तथा नाक के कीड़ों के लिये भी उपयोगी है। वेयर द्वारा निर्मित असंतोल 60 (Asuntol 50) भी बाह्य परजीवी कीटों के विनाश के लिए एक अच्छी औषधि है। इसका 0·1 प्रतिशत घोल (15 ग्राम पाउडर 15 लिटर पानी में घोलकर) पशु के शरीर पर छिड़का जाता है। हेक्स्ट द्वारा निर्मित **ब्युटाक्स** (Butox) नामक दवा भी बाह्य पर-जीवी कीटों का विनाश करती है। यह बाजार में 50 मिलि लिटर तथा 1 लिटर की बोतल में उपलब्ध है। प्रयोग के लिए 2 मिलि लिटर ब्युटाक्स लोशन 1 लिटर पानी में मिलाकर पशु के शरीर पर लगाया अथवा स्प्रे किया जाता है।

परिच्छेद : 55

कॉक्सीडिओसिस

(COCCIDIOSIS)

अन्य नाम—लाल पेचिस, खूनी दस्त, खूनी पेचिस, कॉक्सीडिया रुग्णता आदि ।

विषय परिचय—गर्मी के दिनों में प्रकोप करने वाला यह एक प्रोटोजांअन (protozoan) रोग है, जो बहुधा दलदली भूमि में कॉक्सीडिया (coccidia) द्वारा होता है। इसकी छूत अधिकतर चरागाहों पर चरने वाले पशुओं को ही लगती है। संसार भर में ढोर तथा कुक्कुट ही विशेप रूप से इनके शिकार होते हैं। रोग का परजीवी कीट बड़ी अन्तड़ी में निवास करता है और पशु में दस्त तथा पेचिस उत्पन्न करके, उसे मृत्यु के घाट उतारता है। खरगोश, कुत्ता, सुअर, भेड़, बिल्ली तथा मनुष्य में भी यह रोग प्रकोप करता है। 1 से 2 वर्ष की आयु के पशुओं में यह रोग खूब फैलता है। मुर्गियों में इसका प्रकोप बहुत ही भयंकर रूप से होता है और यदि समुचित चिकित्सा न हो पाई तो एक साथ असंख्य मुर्गियों की मृत्यु हो जाती है।

कारण (Etiology or cause)—एक प्रोटोजोअन परजीवी **'कॉक्सीडियम जरनाई'** या **'इमेरिया जरनाई'** (coccidium zurnii or eimeria zurnii), जो पशु की बड़ी अंतड़ी में निवास करता है, इस रोग का मुख्य कारण है। इस परजीवी की युग्मक पुटी (oocyst) तथा स्पोरोजोइट (sporozoite) अवस्थायें ही छूत फैलाने वाली होती हैं।

छूत लगने के ढंग (Mode of Infection)

अन्न नली द्वारा (By ingestion)—युग्मक पुटी तथा स्पोरोजोइट युक्त दूषित पानी और चारा खाने से पशु की अंतड़ी में यह कीट पहुँचकर रोग के लक्षण प्रकट करता है।

इन्क्यूबेशन विधि (Incubation period)—7 से 21 दिन।

\लक्षण (Symptoms)—तापक्रम का न होना, रक्त मिश्रित दस्त, बढ़ती हुई निर्बलता, चारा खाने में अरुचि, जुगाली न करना, शूल वेदना, जोर लगाने पर ऐंठन होकर दस्त होना, अत्यधिक बेचैनी, अधिक प्यास, कभी-कभी जोर लगाने पर मलाशय का उलटकर बाहर आ जाना (prolapse of rectum), अन्त में बहुत कमजोर

होकर पशु का मरना अथवा अस्वस्थ हो जाना आदि इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं। रोग से पीड़ित 2 से 10 प्रतिशत पशुओं की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पश्चात् यदि अंतड़ी की परीक्षा की जाये, तो वह सूजी हुई, कई गुना मोटी दिखाई देती है। अंतडी तथा मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर रक्तस्राव (haemorrhagic spots) तथा रुधिर-थक्का (blood-clots) मिलते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के ऊपर बताये हुये मुख्य लक्षण देखकर रोग का निदान किया जाता है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—पशु के गोबर का काँच के स्लाइड पर पतला लेप बनाकर माइक्रॉस्कोप में देखने से, गोल अथवा अण्डाकार युग्मक पुटी (oocysts) दिखाई पड़ती हैं। इनके मध्य में एक छोटा सा विन्दु होता है।

चिकित्सा (Treatment)

(1) रोगी को 8 ग्राम प्रति 100 किग्रा० शरीर भार पर, दूध के साथ 3–4 दिन तक प्रातः सायं, अमोनियम सल्फेट दिया जाये।

(2) सल्फा औषधियाँ जैसे—सल्फा थैलाजॉल, सल्फा गुआनीडीन की गोलियाँ तथा सल्फा बोलस अथवा पेसुलीन की 5 ग्राम वाली टिकिया अथवा सल्फाडिमीडीन $33\frac{1}{3}$% घोल क्रमशः मुँह या अन्तःशिरा इन्जेक्शन द्वारा देने से आशातीत लाभ होता है। इनसे कॉक्सीडिया नष्ट होकर पशु निरोग हो जाता है।

(3) प्रौढ़ पशु के शरीर में निर्जलीकरण (dehydration) रोकने के लिये, उसे 1000–2000 घ० सें० की मात्रा में ग्लूकोज सलाइन का अन्तःशिरा इन्जेक्शन देना चाहिये।

(4) एक प्रतिशत फिटकरी का घोल, गुदा मार्ग द्वारा चढ़ाने से, ऐंठन तथा दर्द को कम करता है।

(5) डैप्सोन, मैथलीन ब्ल्यू तथा थाइमोल का प्रयोग भी इस रोग में काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है।

(6) दस्त रोकने के लिये दिन में दो वार निम्नलिखित ऐंटीसेप्टिक तथा स्तम्भक नुस्खा भी दिया जा सकता है—

क्लोरोडीन	(3 ड्राम) 12 मिलिलिटर
फीनोल	($\frac{1}{2}$ ड्राम) 2 मिलिलिटर
चावल का माँड	(1 पिण्ट) 600 ग्राम

सबको मिलाकर एक खुराक में प्रौढ़ पशु को पिलाओ।

(7) मुर्गियों में कैड्रिनाल, सल्मेट, प्युरासाल अथवा सैफरसाल इसकी महौषधि है। स्टेक्लीन चूर्ण को पानी में घोलकर पिलाने से भी आशातीत लाभ होता है। ग्लैक्सो द्वारा निर्मित प्युकाक्स चूर्ण का प्रयोग भी गुणकारी है। ताकत के लिए स्ट्रैक्सिया (straxia) पाउडर पानी में मिलाकर मुर्गियों को पिलाना चाहिए।

रोकथाम (Prevention and control)—छूतदार रोग से बचाव के पहले बताये हुए सभी उपचार अपनाने चाहियें। पशु गृह एवं अन्य स्थानों से कॉक्सीडिया को नष्ट करने के लिये 10 प्रतिशत अमोनिया घोल का छिड़काव करना चाहिये। पशु के आहार पर विशेष ध्यान दिया जाये। रोगी पशुओं को सूखे सुपाच्य तथा पौष्टिक चारे, जैसे—सूखी घास, अलसी की खली तथा जई, आदि खिलाये जायें और उनको स्वच्छ जल पिलाया जाये। चूँकि रोग की छूत बहुधा चरागाहों से ही लगती है, अतः दूषित चरागाहों को परजीवियों से रिक्त करने के लिये या तो उन्हें जोत दिया जाये या उन पर चूना छिड़का जाये। पशु खाद्यों को रोगी के मल से दूषित होने से बचाया जाये।

परजीवी कीटों की रोकथाम हेतु विटामिन A बहुत सहायक है। शरीर में इसकी उपस्थिति से पशु की रोग-रोधक शक्ति बढ़ जाती है। अतः पशु-पक्षी को कभी-कभी विटामिन A युक्त चूर्ण, गोली अथवा इन्जेक्शन देते रहने से परजीवी कीटों से होने वाले दुष्परिणामों से बचाया जा सकता है।

सामान्य रोग
(SIMPLE AILMENTS)

परिच्छेद : 56

उदर रोग
(DIGESTIVE DISORDERS)

1. अफरा
(Tympany)

अन्य नाम—अफरा (tympanitis, Bloat)

विषय परिचय—जुगाली करने वाले पशु में अधिक गीला हरा चारा खाने से उसके पेट में दूषित गैसें, जैसे—कार्वन-डाइ-ऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, नाइट्रोजन तथा अमोनिया आदि एकत्रित होकर, उसका पेट तान देती है, जिससे पशु वहुत बेचैन हो उठता है। इस रोग को अफरा या अफारा कहते हैं। रूमेन में हवा भरने से फेफड़ों पर अनावश्यक दबाव पड़ने के कारण पशु श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया में कष्ट का अनुभव करता है। यदि इसका शीघ्र इलाज न हो पाया तो पशु मर जाता है। साधारणतया रोग की दो अवस्थायें हैं—एक तो तीव्र (acute), जिसमें गैसें रूमेन में उपस्थित खाद्य पदार्थ में मिश्रित हो जाती हैं और दूसरी, कुछ तीव्र (sub acute) जिसमें कि गैसें खाने में मिश्रित न होकर उसके ऊपरी तल पर ही इकट्ठी रहती हैं। रोग की तीव्र अवस्था अधिक भयानक समझी जाती है।

कारण (Etiology or cause)—दूषित आहार, अधिक कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थों का सेवन, खाने में एकाएक परिवर्तन, व्यायाम या कार्य के बाद एकदम ठण्डा पानी पिलाना, गले में रुकावट, पेट की माँस पेशियों की खिचाव शक्ति कम हो जाना तथा एक ही करवट से अधिक समय तक लेटे रहना, आदि इस रोग के प्रमुख कारण हैं।

लक्षण (Symptoms)—वीमारी का मुख्य लक्षण रूमेन में गैसें भरकर, उसका फूल जाना है। बहुधा बायीं ओर की कोख खूब फूली हुई सी प्रतीत होती है। इसे अंगुलियों से मारने पर ढोल जैसी डमडम की आवाज सुनाई देती है। श्वाँस कष्ट होकर पशु बेचैन हो उठता है। वह खाना-पीना तथा जुगाली करना विल्कुल ही बन्द कर देता है। पशु की आँखें तथा शिरायें उभरी हुई सी प्रतीत होती हैं तथा

उसका चेहरा वहुत ही दयनीय सा हो जाता है। उसके मुँह से लार गिरती तथा जीभ वाहर निकल आती है। पशु वार-बार उठता-बैठता है तथा श्वाँस मुँह से चलने लगती है। उसका गोवर तथा पेशाव निकलना भी बन्द हो जाता है। अन्त में रोगी एक करवट लेटकर गहरी और लम्बी साँसें लेता है और यदि तुरन्त चिकित्सा न हो पाये तो परलोक सिधार जाता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—पशु के खाने का इतिहास तथा मुख्य लक्षण देखकर ही रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

तीव्र अवस्था में पशु आधा से लेकर तीन घण्टे में ही मर जाता है और चिकित्सा का समय ही नहीं मिल पाता। **कुछ तीव्र अवस्था** (Sub acute form) में पशु को तेल पिलाना काफी लाभदायक है। पेट की वायीं कोख पर दवाव डालकर खूब मालिश करनी चाहिये। रूमेन में खाद्य पदार्थों का किण्वन (fermentation) रोकने के लिये निम्नलिखित नुस्खा दिया जा सकता है—

टिंचर हींग	15 मिलिलिटर
स्प्रिट अमोनिया एरोमैटिकस	15 मिलिलिटर
तेल तारपीन	40 मिलिलिटर
तेल अलसी	500 मिलिलिटर

सवको मिलाकर एक खुराक वनाकर प्रौढ़ पशु को पिलाओ।

पशु के रूमेन से हवा निकालने के लिये या तो उसकी जीभ वार-वार मुँह से वाहर खींचनी चाहिये अथवा मुँह में वेड़ी लकड़ी अथवा मुख खोलनी (mouth gag) डालनी चाहिये। ऐसा करने से पशु को श्वाँस लेने में कुछ आराम मिलता है। फेफड़ों पर से दवाव हटाने के लिये पशु को ऐसे स्थान पर वाँधना चाहिये, जहाँ उसका अगला धड़ ऊँचे पर रहे।

बीमारी का वेग अधिक होने पर बाईं कोख के बीचों-बीच ट्रोकार और कैनुला से छिद्र करके उसमें की हवा निकाली जा सकती है। ऐसा करने से पशु को एकाएक आराम मिलता है। किण्वन (fermentation) रोकने वाली औषधियाँ, जैसे—तेल तारपीन, लिकर फार्मलीन आदि कैनुला के छिद्र से ही रूमेन में डाल देनी चाहियें, जिससे कि वे गैस वनना रोक दें। इसके अतिरिक्त, पेट में **आमाशय नली** (stomach tube) डालकर भी रूमेन से गैसें निकाली जा सकती हैं।

अल्कली एण्ड केमिकल कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया (A.C.I.) द्वारा निर्मित **'एव्लीनॉक्स द्रव'** (avlinox liquid) इस रोग की चिकित्सा में अति उत्तम सिद्ध हुआ है। एक औसत भार के पशु को इस दवा का 8–10 घ० सें० 100–120 मिलिलिटर पानी में मिलाकर पिलाना चाहिये। वीमारी की उग्र अवस्था में कैनुला के

छिद्र से इसकी कुछ बूंदें कोख के अन्दर डालने से शीघ्र लाभ होता है। साथ में सुबह शाम 30 से 45 ग्राम की मात्रा में हिमालियन बत्तीसा, डाइजेस्टोन, टिमप्लेक्स अथवा कोई अन्य पाचक चूर्ण खिलाने से पुनः इसका प्रकोप नहीं होने पाता। आजकल **रूमेनटॉन** तथा **ऐनोरेक्सान** गोलियों का भी इस रोग की चिकित्सा में उपयोग होने लगा है। प्रौढ़ पशु को एक खुराक में ऐसी दो गोलियाँ खिलानी चाहियें। बोखार्ट द्वारा निर्मित **ब्लाटोसील** भी इस बीमारी की उपयोगी दवा है। ऐट्रोपीन सल्फेट का इन्जेक्शन देना भी लाभप्रद होता है। 'टिम्पोल चूर्ण' तथा टिम्पगो घोल इस रोग की देशी दवा है।

2. रूमेन का गुम्ब हो जाना
(Impaction of Rumen)

अधिक सूखे तथा कड़े चारे खाने से कभी-कभी पशु का रूमेन तनकर गुम्बा बन जाता है। इसमें चारा ठुस-ठुस कर भरकर रूमेन की दीवालें तन जाती हैं, किन्तु इस रोग में अफरा की भाँति गैसें नहीं बनतीं। रूमेन का तनाव धीरे-धीरे बढ़ता चला जाता है और अन्त में श्वाँस-प्रश्वाँस में कष्ट होकर पशु की मृत्यु हो जाती है।

कारण (Etiology or cause)—कड़े तथा सूखे चारे, अधिक खाना, लालची खाना, अति शीघ्र बिना चबाये खाना, रूमेन में पानी का अभाव, रूमेन की दीवालों में संकोचन का अभाव तथा विषैले पदार्थों के शोषण से रूमेन की दीवालों का पक्षाघात आदि इस रोग के अनेक कारण हैं।

लक्षण (Symptoms)—रोग का आक्रमण होते ही पशु चारा खाना तथा जुगाली करना बन्द कर देता है। कब्ज के कारण उसे बेचैनी रहती है। बाईं कोख तनी हुई तथा बाहर व नीचे की ओर उभरी दिखाई देती है, जो अंगुली से थपथपाने पर भद्दी आवाज करती है। पशु अपनी पीठ खलाता, दाँत पीसता तथा थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार सख्त गोबर करता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—रोग के मुख्य लक्षण, जैसे—कब्ज तथा बाईं कोख पर भद्दी सूजन देखकर एवं पशु के खान-पान का इतिहास लेकर रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग का निदान होने पर लगभग 48 घण्टे तक पशु को कुछ भी चारा-दाना नहीं खिलाना चाहिए। रूमेन की दीवालों की माँसपेशियों को उत्तेजित करने के लिए बाईं कोख की मालिश आवश्यक है। पेट साफ करने के लिये रोगी को निम्नलिखित दस्तावर नुस्खे दिये जा सकते हैं—

(1)	सोडियम क्लोराइड (नमक)	180 ग्राम
	मैगसल्फ	180 ग्राम
	शीरा	145 मिलिलिटर
	पानी (गुनगुना)	आवश्यकतानुसार

सबको मिलाकर एक खुराक में प्रौढ़ पशु को पिलाओ।

अथवा

(2)	सोडियम क्लोराइड (नमक)	240 ग्राम
	शीरा	450 ग्राम

चटनी वनाकर 1 खुराक में पशु को चटाओ।

उक्त नुस्खे देने से पशु की प्यास बढ़ती है तथा दस्त आकर पेट साफ हो जाता है। रोगी को खूब पानी पिलाना चाहिये। रूमेन की दीवारों में खिचाव शक्ति कम होने पर, रोगी को **कैल्सियम बोरोग्लुकोनेट** (calcium borogluconate) के 25 प्रतिशत घोल का इन्जेक्शन देना चाहिये। रोग का वेग समाप्त होने पर पशु को नियमित रूप से हल्के एवं सुपाच्य पदार्थ जैसे—हरी घास, चोकर, दलिया, इत्यादि खिलाये जायें। खाने के उपरान्त पौष्टिक औषधियों; जैसे—कुचला 4 ग्राम, सोंठ 15 ग्राम, चिरायता 15 ग्राम का चूर्ण वनाकर देने से पशु शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ करता है।

(3) फाइजर द्वारा निर्मित **'रूमेनटॉन'** तथा **ऐनोरेक्सान** गोलियाँ इस रोग की चिकित्सा में विशेष गुणकारी हैं। एक दिन में 2–3 गोलियाँ दिन में दो बार खिलाने से पशु ठीक हो जाता है।

(4) पशु को दूषित आहार खाने से बचायें तथा 50 ग्राम की मात्रा में हिमालयन वत्तीसा गुड़ या शीरे के साथ सुवह-शाम खिलाएँ।

3. अजीर्ण रोग
(Indigestion)

अन्य नाम—अग्नि मान्द्य (Dyspepsia), अपच,

अजीर्ण स्वतः एक रोग न होकर पाचन क्रिया का अपच सम्बन्धी एक विकार है जिससे पशु बेचैन हो उठता है। इसका सम्पूर्ण भोजन प्रणाली पर कुप्रभाव पड़ता है।

कारण (Etiology or cause)—अनियमित एवं दूषित आहार, पेट में परजीवी कीटों का होना, कम परिश्रम तथा अधिक आराम, शीघ्र बिना चवाये चारा खाना, बुढ़ापा, दाँतों की निर्वलता आदि, इस रोग के प्रधान कारण हैं। कभी-कभी छूतदार वीमारियों के वाद पथापथ्य की गड़बड़ी से भी पशुओं को अजीर्ण हो जाता है।

लक्षण (Symptoms)—पशु चारा खाने में अरूचि दिखाकर जुगाली करना भी वन्द कर देता है। रोगी को प्यास अधिक लगती है। वह सूखा एवं सख्त थोड़ा-थोड़ा करके कई वार में गोवर करता है, जिसमें अनपचे सख्त पदार्थ जैसे—गेहूँ व चने के समूचे दाने वाहर निकलते हैं। नीचे को कान लटकाकर पशु सुस्त रहने लगता है। उसकी खाल खुरदरी एवं रोंगटे फटे हुए दिखाई देते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—पशु के खान-पान का इतिहास लेकर तथा वीमारी के मुख्य-मुख्य लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)—रोग का कारण समूल नष्ट करने से पशु ठीक

हो जाता है । अतः कारण का पता लगाकर उसी के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये । यदि रोग पेट में कृमि (worms) के कारण हो, तो कृमिनाशक औषधियाँ देकर उसे समूल नष्ट करना चाहिये । कृमि के अतिरिक्त यदि रोग का कोई अन्य कारण हो, तो पशु को 24–48 घण्टे भूखा रखकर हल्के चारे, जैसे—हरी घास, चोकर इत्यादि थोड़ा-थोड़ा करके नियमित समय पर कई बार देना चाहिये । व्यायाम के लिये पशु को प्रातः सायं टहलाना भी चाहिये । उसको अजीर्ण नाशक निम्नलिखित नुस्खा भी दिया जा सकता है—

मैगसल्फ (जुलाबी नमक)	240 ग्राम
सोडियम क्लोराइड (नमक)	180 ग्राम
सोंठ चूर्ण	30 ग्राम
शीरा	500 मिलिलिटर
पानी	आवश्यकतानुसार

सबको मिलाकर एक खुराक में प्रौढ़ पशु को पिलाओ ।

इसके अतिरिक्त 30–40 ग्राम की मात्रा में पशु को हिमालियन वत्तीसा, कार्मीटोना, डाइजेस्टोन, टिमप्लेक्स अथवा कैटीन जैसे पाचक चूर्ण दिन में दो-तीन बार दिये जा सकते हैं ।

यदि रोग पेट की पाचन क्रिया की शक्ति में कमी के कारण है तो पशु को 8 ग्राम कुचला, 30 ग्राम जेनशियन चूर्ण, 60 ग्राम सोंठ चूर्ण, 30 ग्राम खाने वाला सोडा आपस में मिलाकर, दो खुराक में विभाजित करके, पशु को प्रातः-सायं खिलाना चाहिये । गोबर करने में यदि पशु को कष्ट होता है, तो मलाशय में चिकना हाथ डालकर कर मल वाहर निकालना चाहिये । तत्पश्चात् साबुन के गुनगुने पानी से पशु को **एनीमा** देने से काफी आराम मिलता है । पशु को खिलाने में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उसकी खुराक में अधिक सूखा तथा रेशे वाला चारा न हो ।

फाइजर द्वारा निर्मित **'एनोरेक्सॉन'** गोलियाँ इस रोग की चिकित्सा में विशेष गुणकारी हैं । प्रत्येक प्रौढ़ पशु को 2–3 दिन तक दो गोली नित्य सुवह-शाम खिलानी चाहियें । साराभाई केमिकल्स द्वारा निर्मित **'बोवाइरम बोलस'** तथा मार्क लैव द्वारा निर्मित **'बोवाइरेक्स बोलस'** भी इस रोग की अच्छी दवा है ।

4. आमाशय शोथ
(Gastritis)

अन्य नाम—एबोमेसस शोथ, चतुर्थ आमाशय शोथ ।

यथा नाम तथा गुण । जैसे कि नाम से प्रतीत है, यह आमाशय की उग्र (acute) अथवा कुछ उग्र (sub acute) सूजन है, जिसमें पशु बहुत ही बेचैन होकर छटपटाता है ।

कारण (Etiology or cause)—सड़े गले दूषित चारे, विषैला पदार्थ तथा

पेट में चुभने वाली वस्तुयें, जैसे—सुई, काँटा, कील, अम्ल इत्यादि के खाने से पशु को यह रोग हुआ करता है। इसके अतिरिक्त, संक्रामक रोग फैलने वाले जीवाणुओं तथा परजीवियों (parasites) की पेट में उपस्थिति भी इस रोग के फैलाने में सहायक होती है।

लक्षण (Symptoms)—रोग लगते ही पशु वेचैन हो उठता है। पेट में दर्द रहने के कारण वह चारा खाना तथा जुगाली करना बन्द कर देता है। कान नीचे लटकाकर पशु सुस्त खड़ा रहता है। बाद में बेचैनी और बढ़ जाती है। उसके पेट में खोंचा मारने वाला तेज दर्द होता है, जिसके कारण पशु बार-बार उठता-बैठता है। वह अपने दाँत पीसता तथा उसे ज्वर होने लगता है। नाड़ी की गति अनियमित हो जाती है। शरीर के किसी-किसी भाग में पसीना दिखाई देता है। पशु को अजीर्ण होकर दस्त प्रारम्भ हो सकते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—पशु के खान-पान का इतिहास लेकर तथा उपर्युक्त बताये गये लक्षण देखकर रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)—इलाज प्रारम्भ करने से पूर्व रोग का कारण ज्ञात करने का प्रयत्न करना चाहिये। तत्पश्चात् कारण के अनुसार ही पशु की चिकित्सा करनी चाहिये। रोग उत्पन्न करने वाले कारण को समूल नष्ट करना ही बीमारी का मुख्य इलाज है। एक दो दिन पशु को भूखा रखा जाये तथा पेट पर सरसों का लेप करके उसे गर्म रखा जाये। यदि बीमारी किसी ऐसे कारण से पैदा हुई है जो पेट में चुभता हो, तो पशु को दस्तावर दवायें जैसे—अलसी का तेल 350 मिलिलिटर तथा तारपीन का तेल 60 मिलिलिटर मिलाकर पिलाना चाहिये, जिससे उसका पेट साफ हो जाये। बाद में यदि दस्त आने लगें, तो पशु को आन्त्रिक ऐंटिसेप्टिक (intestinal antiseptics), जैसे—क्रियोलीन तथा शमक (sedative) व स्तम्भक (astringent), औषधियाँ, जैसे—कत्था, अफीम, सोंठ तथा खड़िया पीसकर चावल के माँड के साथ खिलानी चाहियें। दर्द रोकने के लिये 8 मिलिलिटर अर्क बेलाडोना पिलाया जा सकता है। बुखार रहने पर 100 ग्राम मैगसल्फ, 10 ग्राम पोटाश नाइटर, 15 ग्राम नौसादर पानी में घोलकर पशु को प्रातः सायं पिलाने से काफी लाभ होता है। जब पशु ठीक होने लगे, तो स्वास्थ्य लाभ के लिये उसे टॉनिक औषधियाँ, जैसे—फेरीसल्फ 8 ग्राम, कुचला 2 ग्राम, नौसादर 15 ग्राम, चिरायता 15 ग्राम तथा जेनशियन 15 ग्राम आपस में मिलाकर, आटे या गुड़ के साथ खिलानी चाहियें।

5. अतिसार (Diarrahoea)

अन्य नाम—दस्त की बीमारी अथवा प्रवाहिका रोग।

यह स्वयं एक वीमारी न होकर अन्य वीमारियों का लक्षण है, जिसमें पशु बार-बार पानी जैसा पतला गोबर करता है और उसे बुखार नहीं रहता। दस्त आने के कारण पशु बहुत निर्बल हो जाता है और यदि इसकी भली-भाँति चिकित्सा न हो पाई, तो जीर्ण होकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

कारण (Etiology or cause)—अनियमित व दूषित आहार; जैसे—सड़े-गले, वासी एवं विषैले पदार्थ खाने से यह रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त संक्रामक रोग, जैसे—पोंकनी, गलघोटू पुराना कीटाणु अतिसार फैलाने वाले जीवाणु भी इस रोग का कारण बनते हैं।

लक्षण (Symptoms)—रोग लगने पर पशु को पहले कब्ज होता है। वह सुस्त रहकर खाना-पीना तथा जुगाली करना बन्द कर देता है। बाद में उसे पतले दस्त आने लगते हैं, जिसके कारण दिन प्रतिदिन उसका स्वास्थ्य गिरता चला जाता है। पशु को बुखार नहीं रहता, परन्तु प्यास अधिक लगती है। पशु की पिछली टाँगें तथा पूँछ गोवर में सनी रहती हैं और उसके बंधे रहने के स्थान पर पतला गोबर पड़ा मिलता है। उत्पादक पशुओं में उत्पादन भी कम हो जाता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—वीमारी के मुख्य लक्षण, जैसे—अधिक प्यास, पानी मिला पतला दस्त होकर बुखार का न होना देखकर रोग की पहिचान की जाती है। पशु के खान-पान का इतिहास भी रोग के निदान में सहायक होता है।

चिकित्सा (Treatment)—रोग का कारण पता लगाकर उसे समूल नष्ट करना ही अतिसार का प्रमुख इलाज है। यदि रोग किसी संक्रामक बीमारी के कारण हो तो सर्वप्रथम उसी की चिकित्सा करनी चाहिये। इसके विपरीत, यदि रोग किसी विषैले अथवा अन्तड़ी में रुकावट डालने वाले पदार्थ के कारण हो, तो पशु को 80–120 मिलिलिटर रेंडी का तेल पिलाकर, उसका पेट साफ किया जा सकता है। तत्पश्चात् उसे दस्त रोकने के लिये निम्नलिखित नुस्खे दिये जाने चाहियें—

(1)

कत्था	30 ग्राम
सोंठ चूर्ण	15 ग्राम
खड़िया चूर्ण	60 ग्राम
वेलगिरि	30 ग्राम
अफीम	4 ग्राम

पाउडर बनाकर, चार खुराकों में बाँटकर चावल के मांड में प्रातः सायं पशु को खिलाओ।

(2)

कायोलीन	4 ग्राम
क्रेटा	4 ग्राम
बिस्मथ कार्ब	4 ग्राम

एक खुराक पाउडर बनाकर प्रति 3 घण्टे बाद रोगी को खिलाओ।

यदि रोग अनियमित एवं दूषित चारे देने के कारण हुआ हो, तो उसको नियमित रूप से हल्के, शीघ्र पाचक एवं पौष्टिक आहार दिये जाने चाहियें। रोग यदि अब भी ठीक न हो रहा हो, तो पशु को **सल्फा गुआनीडीन, डायाडिन, टेरामाइसीन** की गोलियाँ तथा क्वीक्सलीन, पेंसुलीन, स्टेक्लीन अथवा सल्फा वोलस देने से आशातीत लाभ होता है। ठीक होने पर पशु को कुछ दिनों तक सख्त तथा सूखे चारे नहीं देने चाहियें। शीघ्र स्वास्थ्य लाभ के लिये टॉनिक दवाओं का प्रयोग उत्तम है। अधिक निर्बलता में 500 घ० सें० कैल्शियम ग्लूकोनेट के 20% घोल तथा 500 घ० सें० डेक्सट्रोज के 40% घोल का अन्तःशिरा (I/V) इन्जेक्शन देना चाहिए। बैक्टीरियल अतिसार में **फ्युकाक्स** घुलनशील चूर्ण को पानी में घोलकर पशु को पिलाना काफी लाभप्रद है। परजीवी कीटों की सम्भावना होने पर कृमि-नाशक औषधियों का उपयोग करना चाहिये।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि उदर रोग होने पर पशु का यकृत कमजोर हो जाया करता है। इसे दूर करने के लिये उसे लिवर एक्सट्रैक्ट एवं बी-काम्प्लेक्स जैसे वीकाम-एल, लिवोजन, बेलामाइल अथवा लिवरजेट् का सप्ताह में दो या तीन बार इन्जेक्शन देना चाहिये। देशी दवाओं में 40–60 ग्राम की मात्रा में 'लिवोल' का प्रयोग किया जा सकता है।

परिच्छेद : 57

चर्म रोग
(SKIN DISEASES)

वे रोग, जो बाहरी त्वचा को खराब कर देते हैं, चर्म रोग कहलाते हैं। यह मुख्य तौर पर दो प्रकार के होते हैं। एक तो **परजीवी** (parasitic), जो जीवोपजीवी (parasites) द्वारा फैलते हैं और दूसरे **अपरजीवी** (nonparasitic), जो बिना जीवोपजीवी के फैलते हैं।

(अ) परजीवी चर्म रोग (Parasitic skin diseases)

दाद (Ring worm)

यह एक **फंगस** (Trichophyton tonsurans and T. discoidies) द्वारा फैलने वाला छूतदार रोग है, जो छोटी आयु के पशुओं, विशेषकर बच्चों में अधिक देखा जाता है। इसका प्रकोप पहले कानों की जड़ के पास से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे चेहरे व गर्दन पर पहुँचकर, कभी-कभी सम्पूर्ण शरीर पर हो जाता है। कम दूध मिलने वाले बच्चों को यह रोग अधिक होता है। कभी-कभी पेट में कृमि होने के कारण भी यह रोग हो जाया करता है।

इनक्यूबेशन अवधि (Incubation period)—7 से 28 दिन।

लक्षण (Symptoms)—रोग प्रारम्भ होते ही शरीर के आक्रमणित भाग में बहुत खुजली मचती है तथा वहाँ छोटे-छोटे दाने से पड़ने लगते हैं, जो बढ़कर चवन्नी की भाँति गोल-गोल चकत्ते से बन जाते हैं। इसी कारण इसको रिंग-वर्म कहते हैं। खुजली रुक-रुककर पड़ती है तथा खुजलाने से रोगी को आराम महसूस होता है। जहाँ पर रोग लगता है, वहाँ के वाल गिरकर खाल मोटी तथा भद्दी पड़ जाती है। रोग-ग्रसित भाग पर उठे हुये गोल-गोल चकत्ते से प्रतीत होते हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) **लक्षणानुसार** (Symptomatic)—बीमारी के बाह्य लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाती है।

(2) **माइक्रॉस्कोप द्वारा** (Microscopic)—रोग-ग्रसित भाग से स्लाइड बनाकर माइक्रॉस्कोप में देखने से माइसिलिया तथा स्पोर देखकर रोग की पुष्टि की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग-ग्रसित स्थान को **डेटमासोल या नीम सोप** से खूब धोकर तथा बाद में

खुजलाकर 1 : 8 अनुपात का **सैलीसिलिक मरहम** लगाना चाहिये। **एसिटिक एसिड** से भी यह भाग जलाया जा सकता है। **एसिड क्राइसोफानिक** का मरहम इस रोग की सर्वोत्तम दवा है। **'केनालाग मरहम'** (Kenalog-S-ointment) अथवा **बेट्नोवेट् त्वचा मरहम** इस रोग में बहुत शीघ्र आराम पहुँचाता है। इसको दो-तीन बार लगाने से ही रोग समूल नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त 1 भाग **साइलिन** को 4 भाग रेंडी के तेल में मिलाकर लगाने से भी कुछ लाभ होता देखा गया है। यदि रोग पेट में कृमि के कारण हो तो सर्वप्रथम कृमिनाशक औषधियाँ जैसे—पिपराजीन, फीनोविस, नीलवर्म, जोडेक्स, कमेला तथा सैंटोनिन पशु को खिलानी चाहियें।

दाद की चिकित्सा की दूसरी विधि इस प्रकार है—रोग-ग्रसित भाग को खुजलाकर उस पर के खुरंट (Scales) साफ कर दीजिये। तत्पश्चात् इस पर आयोडीन अथवा 10 प्रतिशत वाशिंग सोडा का घोल फुरहरी से चुपड़िये। इसके बाद सैलिसिलिक एसिड का संतृप्त घोल (saturated solution) अथवा क्रियाजोट (creosote), कार्बोलिक एसिड तथा अलसी के तेल को बराबर भागों में मिलाकर लगाइये। तूतिया (copper sulphate) का 1–2 प्रतिशत घोल अथवा मरहम भी काफी गुणकारी है।

चूँकि इसकी छूत अन्य पशुओं को भी लग सकती है, अतः रोगी पशु का बिछौना आदि जलाकर पशु-घरों की खूब सफाई रखनी चाहिए। पशु-घर की दीवारों को कास्टिक सोडे के घोल मिले चूने से पुतवाना चाहिये। ऐसा करने से अन्य पशुओं को रोग लगने का भय नहीं रहता।

खाज (Mange)

खुजली एक छूत से फैलने वाली बीमारी है, जो एक दूसरे को पारस्परिक सम्पर्क से लग जाती है। यह रोग माइट (mite) नामक एक कीड़े के द्वारा फैलता है तथा एक साथ सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव डालता है। यह कीड़ा त्वचा के अन्दर घुसकर अण्डे देता है। खुजली, बहुधा गीली अथवा सूखी दो प्रकार की हुआ करती है। रोग फैलाने वाले कीड़ों के अनुसार खुजली को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

खुजली का प्रकार	रोग का कारण
सोराप्टिक खुजली (Psoroptic mange)	सोराप्टस कम्युनिस (Psoroptes communis)
सारकोप्टिक खुजली (Sarcoptic mange)	सारकोप्टस स्कैविआइ (Sorcoptes scabiei)
कोरिआप्टिक खुजली (Corioptic mange)	कोरिआप्टस वोविस (Corioptes bovis)
डीमोडेक्स खुजली (Demodex mange)	डीमोडेक्स फॉलिकुलोरम (Demodex folliculorum)
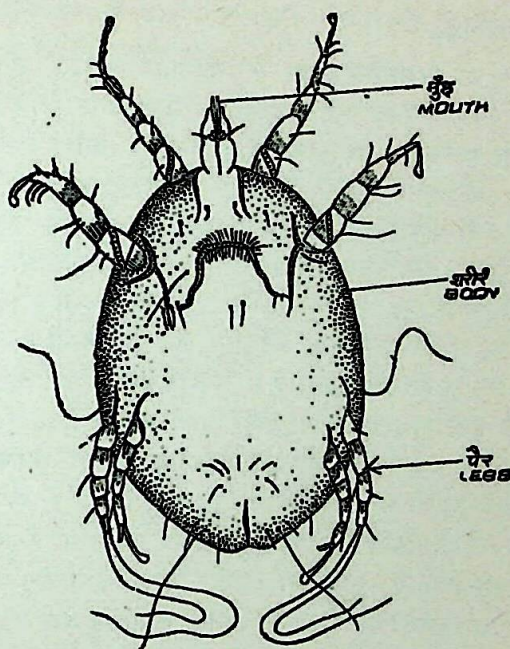
चित्र 57·1. माइट (Mite)

लक्षण (Symptoms)

पशु खुर से अपना शरीर खुजलाता या पास के खड़े पेड़ व दीवार से खूब रगड़ता है। रोग-ग्रसित भाग के बाल गिर जाते हैं और त्वचा सूजकर कुछ मोटी तथा झुर्रियोंदार पड़ने लगती है। खुजली की अधिकता में उस स्थान पर खुरंट बनने लगते हैं। खुजाये हुये स्थान में जलन पड़ती है और बाद में उस स्थान पर थोड़ा सा पानी जैसा सीरम या खून निकल आता है। रोग बहुधा चेहरा, होंठ तथा पैरों से प्रारम्भ होता है। गीली खुजली में फफोड़े पड़कर पकते, फूटते और उनमें काफी दर्द भी होता है। इस कारण पशु काफी बेचैन रहता है। फफोलों के आस-पास सूजन आकर त्वचा लाल पड़ जाती है। सोराप्टिक खुजली घने बालों वाले स्थानों, जैसे—सीने की जड़ के पास, गर्दन, कन्धे, पीठ तथा पूँछ की जड़ पर अधिक होती है। अन्त में अधिक कमजोरी के कारण कभी-कभी कुछ पशुओं की मृत्यु तक हो जाती है।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर रोग का निदान किया जाता है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—खुजली वाले स्थान से त्वचा से खरोंच लेकर माइक्रॉस्कोप में स्लाइड पर देखने से रोग फैलाने वाले कीड़े (माइट) की पहचान की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

रोगी पशु को **टेटमासोल साबुन** से नहलाने तथा 25 प्रतिशत **टेटमासोल घोल** को रोगयुक्त स्थान में फुरहरी से लगाने पर बहुत शीघ्र लाभ होता है। रोगी को मैंगसल्फ तथा गन्धक एक साथ मिलाकर खिलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त, गन्धक 30 ग्राम, तेल तारपीन 30 मिलिलिटर, पोटाश बाइकार्ब 15 ग्राम, गरी अथवा सरसों से 240 मिलिलिटर तेल में मिलाकर खुजली वाले स्थान पर लगाना चाहिये। क्रियाजोट 15 मिलिलिटर, गन्धक 30 ग्राम तथा अलसी का तेल 120 मिलिलिटर आपस में मिलाकर लगाने से भी लाभ हो सकता है। **गोल्डेन लोशन** जो 500 ग्राम गन्धक, 250 ग्राम चूना को तीन गुने गर्म पानी में मिलाकर बनाया जाता है, खुजली की काफी अच्छी दवा है। **मे और बेकर** (M. & B.) का बनाया हुआ **ऐसकेबिओल इमल्शन** (Ascabiol Emulsion) आजकल इस रोग की चिकित्सा में खूब प्रयोग हो रहा है। पशु को नहलाने में **डिटोल** अथवा **सैवलान** प्रयोग करने से बहुत शीघ्र इस रोग की छूत से छुटकारा मिल सकता है। ऐंटीबायोटिक, जैसे **पैनिसिलिन** तथा सल्फा औषधि जैसे **पेन्टेडसल्फा** का प्रयोग भी फफोलेदार खुजली में काफी लाभप्रद सिद्ध हुआ है। **स्केबीज्मा** अथवा **मिल्क आयोडीन** का इन्जेक्शन भी गुणकारी है। गीली खुजली पर 1–2% जेन्शन वायोलेट् घोल पोतने से आशातीत लाभ होता है। ऐलर्जी से उत्पन्न खुजली के लिये एविल तथा विटामिन बी-काम्पलेक्स का इन्जेक्शन लाभप्रद है। खाने के लिये **'टीबर्ब कैप्सूल'** उपयोगी है।

वार्बल मक्खी रोग (Warble fly Disease)

यह एक प्रकार की मक्खी है, जो पशु की टाँगों के निचले भाग पर प्रायः एक साथ 25–30 बार आक्रमण करती है। पशु इससे परेशान होकर भागता है। 10–12 दिन तक ही यह मक्खी जीवित रहती है तथा इस अवधि में यह कुछ भी नहीं खाती। नर मक्खी प्रजनन के बाद तुरन्त ही मर जाती है। मादा पैदा होने के चौथे दिन बाद अण्डे देना प्रारम्भ कर देती है। मक्खी पशु की टाँगों में चिपक कर अण्डे देती है। अण्डों से 3–6 दिन में लार्वा निकलते हैं। यह लार्वा बाल की जड़ के साथ त्वचा में घुसकर ग्रासनली (oesophagus) की ओर जाकर पशु की पीठ वाले भाग में पहुँचते हैं। यहाँ प्रत्येक लार्वा लगभग 3 सेंटीमीटर का फफोला (warble) बनाता है। अक्टूबर-जनवरी में ऐसे फफोले पशु के शरीर पर अधिक दिखाई देते हैं। इन्हीं फफोलों में सूराख करके परिपक्व लार्वा अब साँस लेते हैं तथा जमीन पर गिर जाते हैं। शरीर में प्रवेश पाने के लगभग 6–7 माह बाद लार्वा फफोला (वार्बल) बना पाते हैं। जमीन पर गिरने के बाद यह लार्वा मिट्टी में छिपकर काले रंग के प्युपा (pupa) की शक्ल में बदल जाते हैं। इस प्युपा के प्रौढ़ वार्बल मक्खी का विकास होता है जो 1–1⅓ माह बाद इसके सिरे को फोड़कर बाहर निकलती है और पुनः अपना जीवन-क्रम प्रारम्भ कर देती है। इस प्रकार, यह मक्खी

केवल पशु को ही परेशान नहीं करती वरन् उसकी चमड़ी को खराब करके राष्ट्र को प्रतिवर्ष लाखों रुपये की क्षति पहुँचाती है।
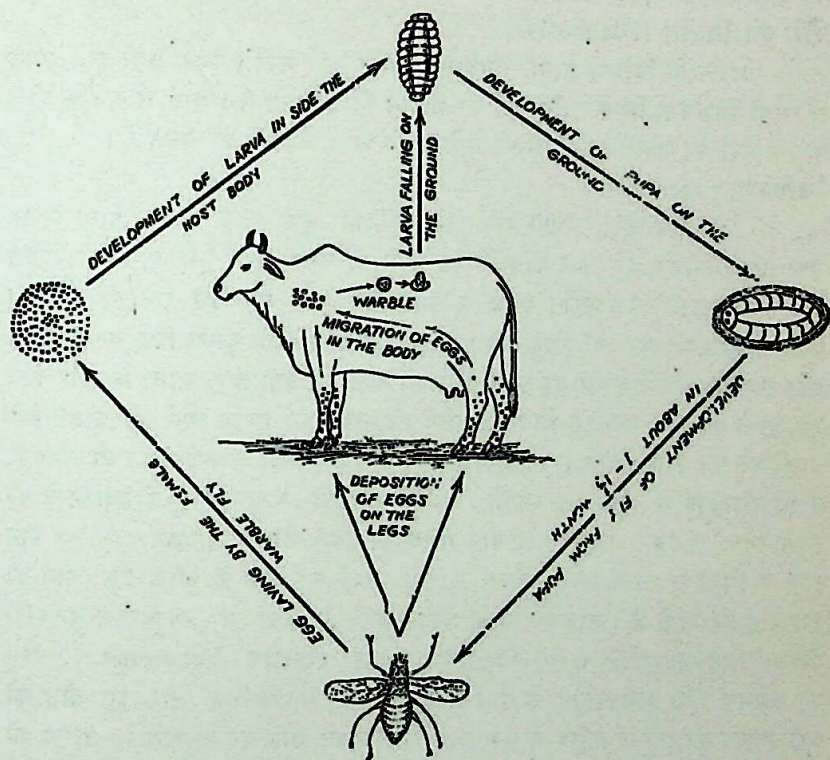
चित्र 57·2—वार्बल मक्खी का जीवन-इतिहास
(Life History of warble fly)

कारण (Etiology or cause)—मधु मक्खी के आकार की वार्बल मक्खी (Hypoderma Lineatom) जो मार्च से जून तक पशु के पैरों में चिपक कर अपने अण्डे देकर उसकी त्वचा में प्रवेश पाती है, इस रोग का मुख्य कारण है। इसके लार्वा परजीवी होते हैं।

लक्षण (Symptoms)—जब अण्डों में लार्वा बनते हैं, तो वे त्वचा के अन्दर चलकर पशु के शरीर में खुजली पैदा करते हैं। पशु बेचैन होकर अपना शरीर खुजलाता है। कंधा, पीठ व पिछले धड़ पर फफोले दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें, फोड़ने से सफेद-सफेद लार्वा बाहर निकलते हैं। पशु जब इन स्थानों को चाटता है, तो ये लार्वा उसके मुख द्वारा भोजन प्रणाली में पहुँचकर, वहाँ भी गाँठें तथा फोड़े बनाते हैं, जिनके कारण पशु चारा भली-भाँति न खा-पीकर निर्बल होने लगता है। भन-भनाती हुई मक्खी पशु को बहुत बेचैन कर देती हैं। यह परेशान होकर इधर-उधर

भागता तथा उछलता-कूदता है। वृद्ध पशुओं की अपेक्षा युवा पशुओं तथा बछड़ों में यह रोग अधिक प्रकोप करता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

शरीर के विभिन्न भागों, विशेषकर पीठ में फफोले पड़ना तथा इन्हें दबाने से लार्वा निकलता देखकर ही, रोग का निदान किया जाता है। मार्च से जून के बीच पशु के पैरों पर मक्खी का आक्रमण तथा उसके अण्डे भी देखे जा सकते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

250 ग्राम चूना, 1000 ग्राम तम्बाकू का चूर्ण, 2½ लिटर पानी में 48 घण्टे तक भिगोकर, इसे बीच-बीच में एक डण्डे से चलाते हैं। 48 घण्टे के उपरान्त इसे खूब मिलाकर, एक महीन कपड़े में छान लेते हैं। अब इस छने हुए घोल को फफोलों के ऊपर ब्रुश से रगड़ते हैं। ऐसा करने से उनमें दूसरा छिद्र बन जाता है और यह दवा उसके अन्दर पहुँचकर कीड़े को नष्ट कर देती है। त्वचा के ऊपर दिये हुये अण्डों को नष्ट करने के लिये एक लोहे की छड़ को हल्का गर्म करके टाँगों के बालों पर फेर दिया जाता है। ऐसा करने से वहाँ चिपके अण्डे नष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस कार्य में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये अन्यथा पशु के जल जाने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त 1 भाग **गैमेक्सीन** तथा **डेरिस पाउडर** को 5–6 भाग राख में मिलाकर त्वचा पर मलने से भी अण्डे मर जाते हैं और इस रोग की रोकथाम हो जाती है। वार्बल रोग के प्रकोप करने के दिनों में (अक्टूबर से जनवरी) **डेरिस रेजिन** (derris resin) 45 ग्राम अथवा **रीनोटोन** (renotone) 15 ग्राम को लगभग 120 ग्राम साबुन के साथ 5 लिटर पानी में घोलिये और इस घोल को ब्रुश अथवा फुरहरी से महीने में एक बार रोग ग्रसित भाग पर लगाइये। डेरिस को वैसलीन के साथ मिलाकर मरहम के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। फफोले को हाथ से दबाकर भी लार्वा निकाले जा सकते हैं। ऐसा करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि लार्वा फूटने न पावें क्योंकि इसका द्रव पशुओं के लिये हानिकारक सिद्ध होता है। मक्खियों को नष्ट करने के लिये D. D. T. का छिड़काव करना चाहिये।

कुछ वर्ष पूर्व यह खोज हुई है कि एक **ऑरगैनो फॉस्फोरस कम्पाउण्ड** (organo phosphorus compound) वार्बल मक्खी रोग के लिये अति उत्तम है। इसके केवल एक ही बार के प्रयोग से मक्खी तथा उसके लार्वा समूल नष्ट हो जाते हैं। Diazinon, Dipterex Dimetholate, Trolene तथा Co-ral (Bayer's) आदि अनेक नामों में यह बाजार में उपलब्ध होता है।

जूं (Lice)

यह परजीवी (parasite) प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक तो काटने वाले (biting lice) और दूसरे रक्त चूसने वाले (blood sucking lice)। पशु के कान, सींगों की जड़, आँख के चहुँतरफा, गर्दन, वक्ष, तलपेट, तथा जाँघ व पैरों के अंदरूनी

भागों में चिपक कर यह उसको काटते तथा रक्त चूसते हैं। यह शरीर पर अपने अण्डे भी देते हैं जिनसे पहले निम्फ और बाद में प्रौढ़ जुओं का विकास होता है।

लक्षण (Symptoms)—शरीर में खुजलाहट मचने के कारण पशु का बेचैन होकर अपने शरीर को दीवाल, पेड़ आदि से रगड़ना, चारा कम खाना, कमजोरी, गायों का दूध कम देना, बैलों द्वारा काम में कमी, चमड़ी का सूखा तथा भद्दा दिखाई देना, रोग-ग्रसित भाग का खुरदरा दिखाई देना तथा कभी-कभी थोड़ा सा खून निकलना तथा शरीर को चाटना आदि इनके अनेक लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—सूर्य की रोशनी में जूँ तथा बालों पर चिपके उनके अण्डों (लीखों) को देखकर इन्हें पहचाना जा सकता है।

चिकित्सा (Treatment)

पशु के शरीर पर D.D.T. का 5% घोल छिड़कना चाहिये अथवा 0·5% घोल से उसे नहलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त, 5 भाग डी० डी० टी० तथा 25 भाग डेरिस पाउडर (derris powder) को 100 भाग राख में मिलाकर डस्टिंग पाउडर बनाया जा सकता है। इस पाउडर को पशु के शरीर पर बालों की विपरीत दिशा में मलने पर भी जूँ नष्ट हो जाती हैं। पाउडर का प्रयोग हर तीसरे-चौथे दिन तब तक करना चाहिये जब तक कि जूँ और उसके अण्डे नष्ट न हो जायें।

'लोरेक्सीन हेड्लोशन' नामक औषधि इसकी चिकित्सा में अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। एक भाग दवा में 4 भाग पानी मिलाकर बालों की जड़ों में इसे लगाया जाता है। दवा लगाने के बाद 4–6 दिन तक पशु को नहलाना नहीं चाहिये।

(अ) अ-परजीवी चर्म रोग (Non Parasitic skin Diseases)

(1) कण्डू (Pruritis)—यह त्वचा में निरन्तर अथवा रुक-रुक कर होने वाली उत्तेजना है, जो एक प्रकार की खुजली से मिलती-जुलती है।

(2) त्वक्-रिक्तमा (Erythema)—इसमें त्वचा पर लाल-लाल चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनमें काफी दर्द होता है। उदर विकार उत्पन्न होने के समय, सुअरों में यह रोग अधिक होता देखा गया है।

(3) एक्जिमा (Eczema) या छाजन—इसमें शरीर के विभिन्न भागों पर त्वचा की ऊपरी सतह सूजकर खुजलाने लगती है। खुजलाने के बाद उस स्थान से कुछ तरल पदार्थ सा निकलता है और उस पर खुरंट जम जाता है। ऐक्जिमा दो प्रकार का होता है, एक शुष्क दूसरा तर। शुष्क प्रकार का आँखों की पलकों तथा होठों के किनारों पर अधिक होता है, तथा तर वाला प्रकार कन्धे तथा गर्दन आदि पर अधिक होता देखा गया है।

(4) इम्पेटिगो (Impetigo)—इसमें त्वचा की ऊपरी सतह पर छोटे-छोटे सफेद रंग के दाने पड़ते हैं, जिनमें फूटकर मवाद निकलता है। इसमें दर्द नहीं होता। यह चर्मरोग बहुधा गो-पशुओं तथा कुत्तों को हुआ करता है।

(5) त्वचा शोथ (Dermatitis)—यह त्वचा की अन्दरूनी पर्त की सूजन है।

(6) पित्ती (Urticaria)—इसमें शरीर की त्वचा पर एकाएक गोल-गोल चकत्ते पड़ जाते हैं, जो स्वतः कुछ घण्टों के बाद गायब हो जाते हैं।

कारण (Etiology or causes)—उक्त चर्म रोग पेट में कब्ज रहने, कीड़ं-मकौड़ों के काटने, विष खाने, कुप्रबन्ध, पशुओं को गन्दे स्थानों में रखने तथा कभी-कभी शरीर में कुछ खनिज लवणों एवं विटामिन आदि की कमी के कारण हो जाया करते हैं। कुछ वस्तुओं के प्रति ऐलर्जी के कारण भी ऐसे दोष देखने को मिलते हैं।

लक्षण (Symptoms)—शरीर में खुजली, बेचैनी, दर्द, खुजाने वाले स्थान से रूसी छूटना या कुछ तरल पदार्थ निकलना, लाल और शुष्क त्वचा तथा रोग ग्रसित भाग का कुछ भाग सूज जाना आदि ऐसे रोगों के प्रधान लक्षण हैं।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के प्रमुख लक्षण देखकर ही रोग की पहचान की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

रोग के कारण के अनुसार ही इलाज करना चाहिये।

(1) पूरे शरीर अथवा रोग-ग्रसित भाग को नीम, टेटमासोल या लायफबाय साबुन से खूब धोकर, उसको डिटोल अथवा सैवलान से साफ करना चाहिये।

(2) ऐंटिसेप्टिक मरहम, जैसे जिंक बोरिक 1 भाग 4 भाग वैसलीन में मिलाकर, गन्धक 1 भाग 6 भाग वैसलीन में मिलाकर या ऐसिड सैलिसिलिक 1 भाग 8 भाग वैसलीन में मिलाकर, रोग-ग्रसित भाग पर लगाना चाहिये।

(3) 5 से 10 घन सें० मिल्क आयोडीन के इन्जेक्शन देना चाहिये।

(4) पशु को जुलाब देकर आल्टरेटिव (alterative) दवायें, जैसे गंधक, भुना हुआ सुहागा तथा मेगसल्फ आटे या चारे में मिलाकर खिलाना चाहिये।

(5) जैतून का तेल लगाने से भी काफी लाभ होता है।

(6) पाचन क्रिया ठीक करने के लिये पशु को हल्के पौष्टिक एवं शीघ्र पाचक चारे, जैसे हरी घास, दलिया, चौकर इत्यादि खिलाना चाहिये।

(7) कैल्शियम तथा विटामिन युक्त औषधियाँ खिलानी चाहियें।

(8) यदि रोग खनिज लवणों की कमी के कारण हो, तो पशु को खनिज पूर्ति करने वाले पदार्थ खिलाने से समुचित लाभ होता है।

(9) शरीर में अधिक खुजली मचने पर 'एविल' (Avil) अथवा वेलरगान की गोली जैसे 'प्रतिहिस्टामिनी पदार्थ' खिलाने चाहियें। इनका इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है।

(10) आवश्यकता पड़ने पर ऐंटिबायोटिक तथा सल्फा-औषधियों का प्रयोग भी गुणकारी है।

परिच्छेद : 58

पशुओं को मारने के लिये साधारण तौर पर प्रयुक्त होने वाले विष

(POISONS COMMONLY USED TO DESTROY CATTLE)

विषय परिचय—कभी-कभी पशु धोखे से अपने चारे के साथ विष खा लेते हैं। वर्षा ऋतु में जंगलों एवं चरागाहों में अनेक प्रकार की ऐसी विषयुक्त घासें उग आती हैं, जिनको खाकर पशु मर जाते हैं। चरते. समय या अंधेरे स्थानों में बाँधने से कभी-कभी सर्पदंश से पशु मर जाया करते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे देश में चर्म-व्यवसाय करने वाले लोग पशुओं की खाल एवं हड्डियों के लालच में तथा कुछ लोग पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण पशुओं को विप देकर मार दिया करते हैं। ऐसे ढंग जिनमें जान-बूझकर पशुओं को मारने के लिये विप दियें जाते हैं, विद्वेषपूर्ण (malicious) जहर देने के ढंग हैं और यह न्याय के अन्तर्गत दण्डनीय हैं।

पशुओं को मारने हेतु प्रायः निम्नलिखित विषों का प्रयोग होता है—

1. घुंघची (abrus precatorius)।
2. संखिया (arsenic)।
3. सर्प विष (snake venum)
4. कुचला (nux vomica)।
5. एकोनाइट (aconite) या मीठा तेलिया।
6. पीली कनेर (yellow oleander)।
7. मरक्यूरिक क्लोराइड (mercuric chloride)।
8. अफीम (opium)।

घुंघची
(Abrus Precatorius)

घुंघची के बीज पानी में पीसकर तथा सुई के आकार का बनाकर धूप में सुखा लिये जाते हैं। यह सुइयाँ फिर एक लकड़ी के हत्थे में लगाकर, पशु के मसीले भाग में खोंस दी जाती हैं। इस प्रकार इनमें उपस्थित एक विषैला पदार्थ एब्रिन (abrin) पशु के शरीर में विष फैलाकर, उसे मार देता है। इसे सुई अथवा सुतारी विषाक्तता (sui or sutari poisoning) भी कहते हैं। विष और अधिक तेज करने के लिये कुछ लोग पीसते समय इसमें पानी के स्थान पर मदार का दूध मिलाते हैं।

लक्षण (Symptoms)—असहनीय खोंचा मारने वाला तेज दर्द, स्थानीय सूजन, तेज बुखार, बाद में तापक्रम गिरकर शारीरिक निर्बलता का बढ़ना तथा अन्त में बेहोश होकर पशु की मृत्यु हो जाना इसके प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) सुई घुसेड़े हुए घाव का पता लगाकर, उसमें से सुई बाहर निकालकर, घाव को किसी ऐन्टीसेप्टिक लोशन से धोना चाहिये।

(2) यदि उपलब्ध हो तो पशु को **एंटी एब्रिन सीरम** (anti abrin serum) का इन्जेक्शन देना चाहिये।

(3) पेट साफ करने के लिये पशु को हल्का जुलाब, जैसे—मैगसल्फ तथा खाने वाला नमक पानी में घोलकर दिया जा सकता है।

(4) **एरीकोलीन हाइड्रो-ब्रोमाइड** का त्वचा के नीचे (sub/cut) इन्जेक्शन भी काफी लाभप्रद है।

संखिया
(Arsenic)

यह गुड़, आटा, सत्तू या अन्य खाद्य पदार्थों में मिलकर पशु को खिलाई जाती है। कभी-कभी संखिया के गाढ़े घोल में बाँस की पतली सुई डुबोकर पशु की जीभ में खोंस दी जाती है।

लक्षण (Symptoms)—इसमें विष की **अति तीव्र** (pet acute), तीव्र (acute), **कुछ तीव्र** (sub acute) तथा दीर्घकालिक (chronic) चार अवस्थायें होती हैं। अत्यधिक प्यास, लार बहना, बेचैनी, दस्त होना, काँपना, पैरों और कानों का ठण्डा हो जाना, सामान्य से भी कम तापक्रम, सूखी खाल, खड़े बाल, रक्त या एल्ब्युमिन मिश्रित मूत्र (albumin urea) तथा शरीर की सभी श्लेष्मक झिल्लियों का रक्त वर्ण हो जाना आदि, इस विषय के प्रमुख लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) आमाशय नलिका (stomach tube) डालकर पशु का पेट धोना चाहिये।

(2) पतले शमक (demulcent) पेय, जैसे—अण्डे की सफेदी और चूने का पानी मिलाकर पशु को पिलाना चाहिये।

(3) विष की उत्तेजना रोकने के लिये **अलसी की चाय** (linseed tea) तथा द्रव्य पैराफिन (liquid paraffin) जैसे पदार्थ पशु को दिये जाने चाहियें।

(4) विष नाशक दवायें जैसे—**फैरिक हाइड्रॉक्साइड**; जो सोडा बाइकार्ब, पानी तथा टिंचर फेरी-पर-क्लोर मिलाकर बनाई जाती है; 250 से 300 मिलिलिटर की मात्रा में पशु को देने से आशातीत लाभ होता है। **सोडियम थायोसल्फेट**

(sodium thio-sulphate) के 15% घोल का 8–10 मिलि लिटर की मात्रा में शिरा में इन्जेक्शन देकर, बाद में 120 ग्राम, पशु को पानी में मिलाकर पिलाने से उसे बचाया जा सकता है।

सर्पविष
(Snake Venum)

विषैले साँप से एक पके हुए केले को कटवाया जाता है। तत्पश्चात् इस केले को कुचलकर, एक पतले कपड़े में लपेटकर पशु के मलाशय में रख दिया जाता है। इस प्रकार केले में उपस्थित सर्पविष, मलाशय (rectum) की श्लेष्मल झिल्ली से शोषित होकर पशु में सर्पदंश के लक्षण उत्पन्न करता है।

लक्षण (Symptoms)—मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली का रक्त-वर्ण होकर नील लोहित (purple) दिखाई देना, अत्यधिक बेचैनी तथा घबराहट, गहरी लम्बी और कष्ट-प्रद श्वाँस-प्रश्वाँस, फैली हुई आँखों की पुतलियाँ, शरीर की सभी श्लेष्मल झिल्लियों का नीला हो जाना, अन्त में बेहोशी और पशु की पृथ्वी पर गिरकर मृत्यु हो जाना आदि, इस विष के मुख्य लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) विष का निदान होने पर यदि उपलब्ध हो सके तो तुरन्त ही **ऐंटीवेनम सीरम** (antivenum serum) का पशु को शिरा में इन्जेक्शन देना चाहिये।

(2) मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर चाकू से चीरा लगाकर खून निकाल देना चाहिये। तत्पश्चात् उस स्थान पर पोटाश के रवे मलना चाहिये।

(3) पशु के शरीर को कम्बल या टाट से ढक कर गर्म रखना चाहिये।

कुचला
(Nux Vomica)

पिसे हुये कुचला बीज, गुड़, आटा या सत्तू में मिलाकर पशु को खिलाये जाते हैं। इन बीजों में **स्ट्रिक्निन** (strychnine) के नाम का एक विषैला पदार्थ होता है जो पशु में इस विष के लक्षण प्रकट करता है।

लक्षण (Symptoms)—शरीर की नसों का बहुत अधिक उत्तेजित हो जाना, बेचैनी, गहरी लम्बी तथा कष्टप्रद श्वाँस-प्रश्वाँस, असह्य दर्द, माँसपेशियों की ऐंठन तथा दम घुटकर पशु की मृत्यु हो जाना, इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) पशु को कृत्रिम सांस दिया जाये।

(2) माँसपेशियों की ऐंठन रोकने के लिये प्रौढ़ पशु को 30-60 ग्राम की मात्रा में **क्लोरल हाइड्रस** (chloral hydras) अलसी के तेल में मिलाकर पिलाया जाये।

(3) पशु को अन्धेरे शांतमय स्थान में रखकर, बाह्य उत्तेजना से बचाया जाये।

एकोनाइट
(Aconite)

पहाड़ी क्षेत्र में पशुओं को मारने के लिए अधिकतर एकोनाइट की सूखी पिसी हुई जड़ें प्रयोग होती हैं। इनको आटा, गुड़ या सत्तू के साथ मिलाकर पशु को खिलाया जाता है। इनमें विषैला पदार्थ **एकोनीटीन** (anconitine) होता है।

लक्षण (Symptoms)—अत्यधिक लार बहना, डायोफ्राम का संकोचन, शरीर से पसीना निकलना, शरीर की श्लेष्मल झिल्लियों का पीला पड़ जाना, फैली हुई आँख की पुतलियाँ कष्ट प्रद श्वाँस-प्रश्वाँस, तापक्रम का गिरना तथा दम घुटकर पशु की मृत्यु हो जाना आदि, इस विष के प्रमुख लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) पशु के शरीर को टाट, कपड़ा या कम्बल ओढ़ाकर गर्म रखा जाये।

(2) **डिजिटैलिस, पोटाश आयोडाइड** तथा **टैनिक एसिड** जैसी विषनाषक औषधियों का पशु को सेवन कराया जाये।

पीली कनेर
(Yellow Oleander)

कनेर में 'नेरिन' (Nerin) नामक एक विषैला पदार्थ होता है।

पशु को मारने के लिये कनेर के बीजों का चूर्ण करके आटा, गुड़ या सत्तू में मिलाकर उसे खिलाया जाता है। कभी-कभी इसके विषैले पदार्थ से सना हुआ कपड़ा पशु के मलाशय अथवा जननेन्द्रिय मार्ग में रख दिया जाता है।

लक्षण (Symptoms)—कष्ट-प्रद श्वाँस-प्रश्वाँस, उदर में शूल वेदना, मुंह से झाग गिरना, सुस्ती, बेचैनी, हालात का गिरनना, काँपना, बार-बार पेशाब करना, माँस-पेशियों की ऐंठन तथा कराह-कराह कर पशु की मृत्यु हो जाना इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार।

चिकित्सा (Treatment)

(1) अन्तड़ी को साफ करने के लिये हल्के जुलाब, जैसे—मैगसल्फ या खाने वाला नमक पानी में मिलाकर पशु को दिया जाये।

(2) माँस-पेशियों की ऐंठन बन्द करने के लिये पशु को 30–60 ग्राम **क्लोरल हाइड्रस** अलसी के तेल में मिलाकर पिलाया जाये।

(3) दर्द कम करने के लिये लारजैक्टिल तथा झाग को रोकने में लिये एट्रोपीन सल्फेट का इन्जेक्शन दिया जा सकता है।

(4) अन्तः शिरा विधि द्वारा डेक्सट्रोज सलाइन 5% घोल तथा वेलमाइल का माँसपेशी में टीका देना भी लाभप्रद है।

मरक्यूरिक क्लोराइड
(Mercuric Chloride)

यह खाने वाली वस्तुओं में मिलाकर पशु को खिलाया जाता है। त्वचा पर मलने से भी इसका शरीर में शोषण हो जाता है। शरीर में विष की उग्र (acute) तथा दीर्घकालीन (chronic) दो अवस्थायें हैं।

लक्षण (Symptoms)—पशु का सुस्त रहना, जी मिचलाना, अत्यधिक लार गिरना, बहुत तेज खून मिले दस्त होना, उदर शूल, माँस-पेशियों की ऐंठन, त्वचा में खुजलाहट, रक्तवर्ण श्लेष्मल झिल्लियाँ आदि, इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)

चिकित्सा (Treatment)

(1) चावल का माँड, अण्डे की सफेदी जैसे लसदार व चिकने पदार्थ पशु को खिलाने से विष की उत्तेजना शरीर में कुछ कम होती है।

(2) दस्तों के कारण शरीर में उत्पन्न निर्जलीकरण (dehydration) के लिये पशु को काफी मात्रा में नार्मल लवण द्रव (Normal saline) अथवा डेक्सट्रोज का इन्जेक्शन देना चाहिये।

(3) पशु को काफी मात्रा में पानी पिलाना चाहिये।

(4) उसकी त्वचा को साबुन से धोया जाये।

(5) **सोडियम थायोसल्फेट** का शिरा में इन्जेक्शन देना काफी लाभप्रद है।

अफीम
(Opium)

इसमें **मारफीन** नामक विषैला पदार्थ होता है। खाद्य पदार्थों के साथ मिलाकर, पशु को खिलाने में इसका प्रयोग होता है।

लक्षण (Symptoms)—बहुत अधिक बेचैनी तथा प्यास, लार बहाना, पसीना निकलना, पेट में कब्ज, कष्टप्रद लम्बी तथा गहरी सांस, आँखों की पुतलियों का फैल जाना, पशु का रंभाना और अन्त में अर्द्धमूर्छित होकर उसकी मृत्यु हो जाना इस विष के प्रमुख लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)।

चिकित्सा (Treatment)

(1) अंतड़ी साफ करने के लिये पशु को दस्तावर दवायें दी जायें।

(2) **पोटाश** अफीम विष का प्रतिकारक (antidote) है। अतः आमाशय नलिका डालकर आधा प्रतिशत पोटाश के घोल से पशु के पेट को धोना चाहिये।

(3) पशु को कृत्रिम साँस दिलाया जाये।

(4) केले के पत्ते से रस निकालकर पशु को पिलाने से कभी-कभी काफी लाभ होता देखा गया है।

(5) पशु को खूब पानी पिलाना चाहिये।

धोखे से खाये जाने वाले विष
(Accidental Poisoning)

1. सायनाइड अथवा प्रुसिक एसिड विषाक्तता
(Cyanide or Prussic Acid Poisoning)

कुछ खाद्यों; जैसे—अलसी, ज्वार, मकई, सूडान घास के प्रोटीन विहीन नाइट्रोजन युक्त (N. P. N.) भाग में एक विषैला पदार्थ सायनाइड उपस्थित रहता है। ज्वार (Sorghum) के वृद्धिकाल में सायनाइड की मात्रा उसमें बढ़ जाती है। लगभग 40 सेन्टीमीटर से छोटे पौधों में विष की मात्रा अधिक होती है। पशु द्वारा ऐसे खाद्य पदार्थ खाये जाने के उपरान्त शरीर के अन्दर एन्जाइम विश्लेषण द्वारा इससे हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न होता है। इसके रक्त में शोषण द्वारा उपापचयन (metabolism) में विघ्न पड़कर, टिसुओं में रक्त से ऑक्सीजन शोषित करने की शक्ति का ह्रास होकर, कुछ क्षणों में पशु की मृत्यु हो जाती है। 1 ग्राम सायनाइड प्रति 450 किलोग्राम शरीर भार पशु को मारने के लिये पर्याप्त होता है। हाइड्रोसायनिक अम्ल त्वचा द्वारा शोषित होकर भी विष के लक्षण प्रकट कर सकता है। इसे हाइड्रोसायनिक एसिड विषाक्तता (H. C. N. Poisoning) भी कहते हैं। ओले, पाला, तूफान तथा खराब हवाओं से प्रभावित एवं पैरों से कुचली हुई हरी फसल में हाइड्रोसायनिक अम्ल की मात्रा अधिक होती है।

लक्षण (Symptoms)—पशु को एकाएक बेचैनी, प्यास, सुस्ती, भोजन में अरुचि, जुगाली न फेरना, मुँह से झागदार लार गिरना, कराहना, तीव्र श्वाँस-प्रश्वाँस, निर्बल नाड़ी, शारीरिक श्लेष्मल झिल्लियों का रक्त वर्ण होकर नीला पड़ जाना, आँखों की पुतलियों का फैल जाना, पेट फूलना, शूल वेदना, शक्ति विहीन ऐच्छिक गति, माँस पेशियों की ऐंठन, काँपना, टिसुओं की ऑक्सी-हीमोग्लोबिन (oxyhaemoglobin) को अवकरित (reduce) करने की क्षमता नष्ट होने के फलस्वरूप रक्त का रंग चमकीला लाल पड़ जाना तथा अन्त में बेहोशी से और दम घुटकर 2–3 मिनट में पशु की मृत्यु हो जाना, इस विष के प्रमुख लक्षण हैं। मृत पशु की शव परीक्षा करने पर उसके रूमेन में से हाइड्रोसायनिक अम्ल की गन्ध निकलती है।

निदान (Diagnosis)—पशु के खाने-पीने के इतिहास तथा लक्षणानुसार।

चिकित्सा (Treatment)

विषयुक्त चारा खाकर कुछ ही क्षणों में पशु की मृत्यु हो जाती है और चिकित्सा का समय ही नहीं मिल पाता। फिर भी, यदि समय मिले तो निम्न प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये।

(1) रोगी के पेट को आमाशय नलिका द्वारा धोया जाये।

(2) उसे 10 मिलिलिटर की मात्रा में 20 प्रतिशत सोडियम नाइट्राइट का

अन्तः शिरा इन्जेक्शन देकर, तुरन्त ही 50 मिलिलिटर 20 प्रतिशत **सोडियम थायोसल्फेट** का घोल दिया जाये।

(3) रोगी पशुओं को पानी में शीरा मिलाकर पिलाया जाये।

(4) पशु को स्टार्चयुक्त खाद्य पदार्थ खिलाये जायें। भोजन प्रणाली में इनसे ग्लूकोज निकालकर हाइड्रो-सायनिक अम्ल बनने की दर को कम करता है।

(5) रोगी को कृत्रिम साँस (artificial respiration) दिया जाये।

(6) पशु को **अमोनिया और ऑक्सीजन** का वफारा (inhalation) कराया जाये।

(7) रोगी के सिर पर एकान्तरतः (alternately) गर्म तथा ठण्डा पानी डाला जाये।

(8) **ईथर** का त्वचा के नीचे (Sub-cut) इन्जेक्शन भी लाभप्रद है।

(9) मैग्नीशियम तथा पोटेशियम कार्बोनेट युक्त फेरस एवं फेरिक लवण इस विष के रासायनिक प्रतिकारक (antidote) हैं।

(10) पशु को विषयुक्त हरे-चारे खाने से रोका जाए।

2. नाइट्रेट विषाक्तता (Nitrate Poisoning)

इसे **जई-घास विषाक्तता** (oat-hay poisoning) भी कहते हैं। कभी-कभी मिट्टी में इस लवण की अधिकता होने के कारण वहाँ उगाये गये चारे में भी यह लवण अधिक हो जाता है। इसी कारण चारे द्वारा अधिक नाइट्रेट खा लेने पर पशु में इस विष के लक्षण पैदा होते हैं। प्रायः जई ही इस विष से अधिक प्रभावित होती है। इसी कारण इसे (oat-hay poisoning) कहते हैं। सूखे चारे में 2% नाइट्रेट की मौजूदगी पशु के लिये हानिकारक है। भोजन प्रणाली (digestive tract) में पहुँच कर नाइट्रेट, नाइट्राइट में बदल जाता है, जो रक्त में शोषित होकर लाल रक्त कणों (R. B. C.) का ऑक्सीजन शोषण बन्द कर देता है। कभी-कभी धोखे से नाइट्रेट उर्वरक (nitrate fertlizers) खा लेने से भी पशु में इस विष के लक्षण प्रकट होते हैं।

लक्षण (Symptoms)—अत्यधिक बेचैनी, पैरों का लड़-खड़ाना जोर से साँस भरना, शरीर की सभी श्लेष्मल झिल्लियों का नीला पड़ जाना, आँख की पुतली का फैल जाना, बेहोशी और मृत्यु इस विष के प्रधान लक्षण हैं। गाभिन पशुओं में गर्भ गिरते देखा गया है।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार तथा खान-पान का इतिहास लेकर।

चिकित्सा (Treatment)

(1) पशु को तुरन्त ही 10 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार के हिसाब से मेथिलिन ब्ल्यू (methylene blue) का इन्जेक्शन दिया जाये। ऐसा करने से

लाल रक्त कणों (R. B. C.) में ऑक्सीजन लेने की शक्ति पुनः आ जाती है और वे नाइट्रेट के कुप्रभाव से मुक्त हो जाते हैं।

(2) पशु को तीसी अथवा सरसों का तेल पिलाया जाये, जिससे विष का आगे शोषण न हो सके।

(3) पशु को विष-युक्त चारा खाने से रोका जाये।

3. लैड (सीसा) विषाक्तता (Lead Poisoning)

वार्निश अथवा पेंन्ट के रूप में लैड का प्रयोग बहुत होता है। इसके अतिरिक्त हरी सब्जियों तथा फलों की फसलों पर यह स्प्रै (spray) के रूप में छिड़का जाता है। अतः ऐसी फसलों को खाने अथवा वार्निश किये हुए स्थानों एवं पेंट करने वाले डिब्बों को चाट लेने से पशु में इस विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि पशुओं को दीवारों आदि के चाटने की आदत हुआ करती है।

लक्षण (Symptoms)—दस्त आना, खान-पान में अरुचि, अत्यधिक लार बहना, अंतड़ी की दीवालों का सूज जाना आदि, इस विष के प्रधान लक्षण हैं। लैड शरीर में धीरे-धीरे जमा होता रहता है और अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाने पर काफी दिनों बाद विषाक्तता के लक्षण प्रकट करता है।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार तथा पशु के खान-पान का इतिहास लेकर।

चिकित्सा (Treatment)

(1) विष की जानकारी होते ही पशु को विषयुक्त पदार्थ खाने अथवा चाटने से रोका जाये।

(2) **इप्सम साल्ट (Epsom Salt)**—यह लवण इस विष का प्रतिकारक (antidote) है जो अंतड़ी की दीवारों से लैड का शोषित होना बन्द कर देता है। अतः पशु को इप्सम साल्ट खिलाया जाए।

4. मोलिब्डेनम विषाक्तता (Molybdenum Poisoning)

कहीं-कहीं मिट्टी में काफी मोलिब्डेनम होता है। ऐसी भूमि पर उगाये गये चारे में इस लवण की मात्रा अधिक होती है जिसे खाकर पशुओं में विष के लक्षण प्रकट होते हैं। चारे में 8–10 भाग प्रति दसलक्ष (million) मोलिब्डेनम की मात्रा पशु के लिये घातक है। ऐसा चारा खाकर पशु कई माह बाद मर जाता है। चारे में 25–90 भाग प्रति दसलक्ष इस लवण की मौजूदगी लगभग एक सप्ताह में ही पशु को मौत के घाट उतारती है।

लक्षण (Symptoms)—शारीरिक निर्बलता, भोजन में अरुचि, खूब दस्त होना, बालों का झड़ना, शरीर में खून की कमी तथा पशु की मृत्यु हो जाना आदि इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—चारे अथवा मिट्टी का रासायनिक विश्लेषण करके तथा पशु के लक्षणों के अनुसार।

चिकित्सा (Treatment)

(1) विष की जानकारी होते ही पशु को विषयुक्त चारा खाने से रोका जाये।

(2) थोड़ी मात्रा में पशु को कॉपर-सल्फेट (तूतिया) घोल का सेवन कराया जाये।

(3) पशु को हल्का, पौष्टिक तथा शीघ्र पाचक आहार दिया जाये।

5. सेलिनियम विषाक्त (Selenium Poisoning)

चारे में 10 से 40 भाग प्रति दसलक्ष सेलिनियम लवण की मात्रा पशु के लिये हानिकारक है। ऐसा चारा खाने से कई सप्ताह बाद पशु में विष के लक्षण प्रकट होते हैं। चारे में 200 भाग प्रति दसलक्ष इस लवण की मौजूदगी बहुत ही खतरनाक है जिसे खाकर पशु कुछ दिनों में ही मर जाता है। चरागाह अथवा मिट्टी में इस लवण की अधिकता पशुओं के लिये घातक है।

लक्षण (Symptoms)—पूँछ के गुच्छे से बालों का झड़ना, त्वचा तथा सींगों का खुरदुरा दिखाई देना, खुरों का कट जाना तथा प्रजनन कार्य में बाधा आदि इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—चारे का रासायनिक विश्लेषण कराके तथा पशु के लक्षणों के अनुसार।

चिकित्सा (Treatment)

(1) पशु को तुरन्त ही विषयुक्त चारा खाने से रोका जाये।

(2) उसको दस्तावर दवायें देकर पेट साफ किया जाय तथा बाद में प्रतिकारक औषधि (antidote) दी जावे।

(3) पशु को हल्का, सुपाच्य तथा पौष्टिक चारा खिलाया जाय।

6. फ्लोराइड विषाक्तता (Fuloride Poisoning)

बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में यह लवण शरीर की हड्डियों व दाँतों के विकास के लिये नितान्त आवश्यक है किन्तु निर्धारित से अधिक मात्रा पशुओं के लिये प्राणघातक है। कुछ भागों में जहाँ मिट्टी अथवा पानी में इस लवण की मात्रा अधिक होती है वहाँ के पशुओं में इसकी विषाक्तता (poisoning) देखने को मिलती है। चारे मे 60 भाग प्रति दसलक्ष से अधिक फ्लोराइड की मात्रा होना पशु के लिये हानिकारक है।

लक्षण (Symptoms)—दाँतों का खुरदुरा होकर पीला पड़ जाना, उन पर पीली तथा गन्दी पर्त जम जाना, हड्डियों का टेढ़ा पड़ जाना, पैरों में अकड़न, पशु

का लंगड़ाकर चलना, चारे-दाने में अरुचि, दस्त आना तथा शरीर भार में कमी आदि इस विष के प्रधान लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)—लक्षणानुसार (लक्षण देखकर)

चिकित्सा (Treatment)

(1) इस विष का कोई भी सन्तोषजनक इलाज नहीं है।

(2) पशु को विषयुक्त चारा खाने तथा दूषित पानी पीने से रोका जाये।

(3) पशु को दिए जाने वाले चारे में 20–60 भाग प्रति दसलक्ष से अधिक इस लवण की मात्रा न हो।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि विष की उग्रता और उसका शीघ्र निदान न हो सकने के कारण ऐसे अधिकांश रोगियों का बचाना कठिन हो जाता है। अतः पशु-पालक को चाहिये कि वह अपने पशुओं पर स्वतः निगरानी रखे और इधर-उधर आवारा न घूमने दे। ऐसा करने से पशुओं को विष खाने से रोका जा सकता है।

साधारण प्रसूति विद्या
(SIMPLE OBSTETRICS)

परिच्छेद : 59

असामान्य प्रसव
(ABNORMAL PARTURITION)

अन्य नाम—कष्ट प्रसूति, कष्ट-प्रसव, असामान्य ब्याना, असामान्य-प्रसवन आदि।

साधारण तौर पर जननेन्द्रिय मार्ग से बिना किसी बाह्य सहायता के गर्भ-काल पूर्ण होने के उपरान्त, बच्चे का जन्म होना सामान्य प्रसव (parturition) कहलाता है। यह एक ऐसी क्रिया है, जो वेदना व्याकुलता तथा तीव्र प्रयत्न के साथ होती है। सामान्य प्रसव की निम्नलिखित 4 अवस्थायें हैं—

1. गर्भाशय ग्रीवा का प्रसार (dilatation of the cervix)
2. जल थैली का फटना (rupture of the water bag)
3. भ्रूंण का बाहर निकलना (expulsion of the foetus)
4. जेर का निष्कासन (expulsion of the foetal membranes)

इसके अतिरिक्त जब किसी कारणवश साधारण प्रसव में कोई रुकावट पड़ जाती है, तो मादा अपने प्रयत्न के अनुसार बच्चा देने में असमर्थ होकर बाह्य सहायता की बाट जोहती है। तब यह प्रसव, असामान्य प्रसव, कष्टआर्तव प्रसव या कष्ट प्रसूति (dystokia) कहलाता है।

असामान्य प्रसव की किस्में
(Common forms of Abnormal Parturition)

असामान्य प्रसव दो प्रकार का हो सकता है—एक तो वह, जिसमें असाधारणता के लिये माँ उत्तरदायी हो और दूसरा, जिसमें बच्चा जिम्मेदार हो। पहला **मातृक कष्ट प्रसूति** (maternal dystokia) या **गर्भाशय कष्ट प्रसूति** (uterine dystokia) और दूसरा **गर्भकष्ट प्रसव या गर्भकष्ट प्रसूति** (foetal dystokia) कहलाता है।
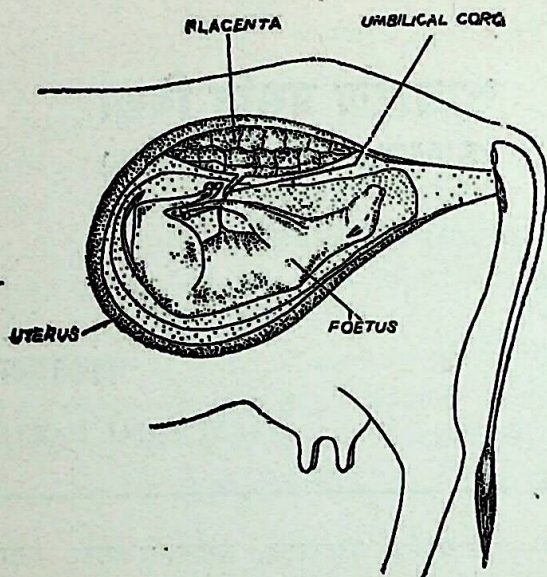
चित्र 59·1—गर्भाशय में उपस्थित बच्चा (Foetus in uterus)

गर्भाशय कष्ट प्रसूति (Uterine Dystokia)

कारण (Etiology or cause)

1. वस्ति अस्थियों (pelvic bones) की बनावट में खराबी।
2. हारमोन की कमी में गर्भाशय ग्रीवा का समुचित प्रसार न होना।
3. योनि में रसौली (tumour) या गाँठ का होना।
4. गर्भाशय की माँसपेशियों में खिचाव शक्ति का अभाव।
5. योनि में सिस्टोसिल (vapinal systocoel)—यह वह अवस्था है, जिसमें मूत्राशय योनि के धरातल पर आकर पड़ जाता है।

गर्भाशय की ऐंठन (Torsion of the uterus)—यह वह अवस्था है, जिसमें गर्भाशय अपनी अक्षरेखा पर उलट जाता है।

लक्षण (Symptoms)—मादा बहुत ही बैचेन होकर बच्चा जन्मने के लिये बार-बार जोर लगाती है। वह बार-बार पृथ्वी पर उठती-बैठती, परन्तु बच्चे को जन्म देने में असमर्थ रहती है। कभी-कभी बच्चे के शरीर का कोई अंग योनि से बाहर भी दिखाई देता है। मादा की दशा बहुत दयनीय दिखाई देती है।

निदान (Diagnosis)—मादा की योनि तथा गर्भाशय में साफ किया हुआ चिकना हाथ डालकर असाधारणता का पता लगाया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

पशु को बेहोश करके, स्वच्छ एवं जीवाणु रहित यन्त्रों (dystokia set) एवं हाथ की सहायता से वाह्य शक्ति के प्रयोग द्वारा बच्चा बाहर निकाल

लिया जाता है । गर्भाशय में ऐंठन यदि हो, तो निम्न प्रकार से ठीक की जा सकती है—

1. पशु के शरीर को घुमाकर ।
2. पशु के शरीर को लटकाकर ।
3. **एब्डामिनल बेलाटमेंट** (Abdominal ballottement)—इस क्रिया के अन्तर्गत दो मनुष्य अपनी वन्द की हुई मुट्ठियों से गर्भिणी की दोनों ओर की कोख एक के वाद एक करके दवाते हैं। एक मनुष्य कोख को नीचे तथा अन्दर की ओर, और दूसरा ऊपर व अन्दर की ओर दवाता है। ऐसा करने से गर्भाशय की ऐंठन ठीक होकर, वच्चा वहुधा वाहर निकल आता है।
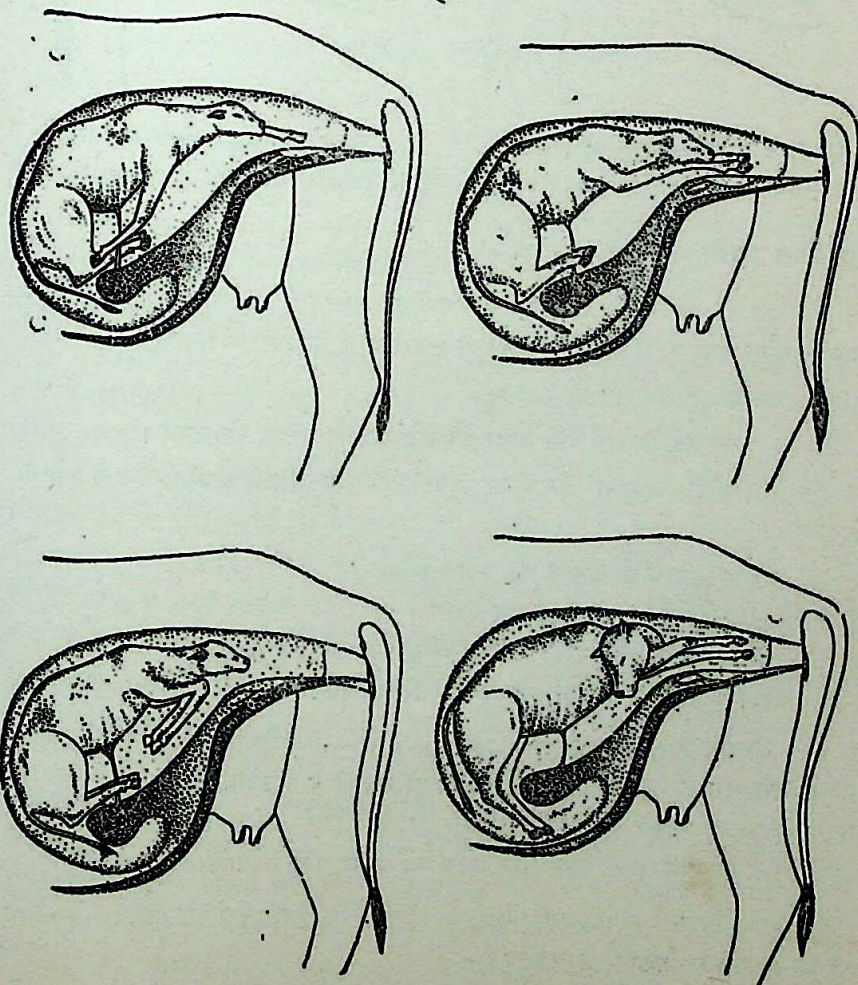
चित्र 59·2—असामान्य आसन की विभिन्न स्थितियाँ
(Stages of abnormal posture)
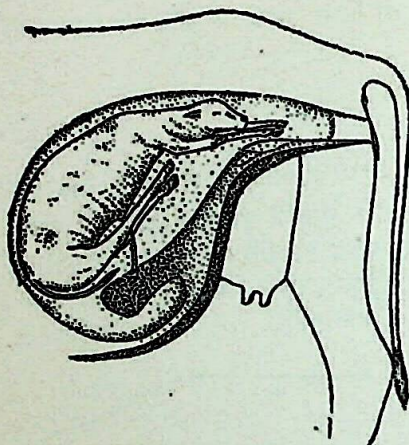
चित्र 59·3—सामान्य अग्रगर्भ स्थिति
(Normal anterior presentation)
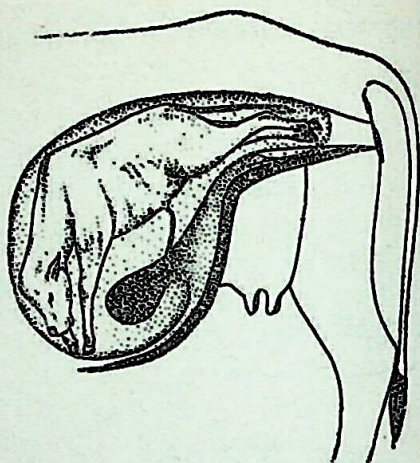
चित्र 59·4—सामान्य पश्च गर्भ स्थिति
(Normal posterior presentation)

गर्भकष्ट प्रसूति (Foetal Dystokia)

यह दो प्रकार से हुआ करती है। एक तो बच्चे का जननेन्द्रिय मार्ग के अनुपात से बहुत बड़ा होना और दूसरे उसकी गर्भाशय में असाधारण स्थिति।

कारण (Etiology or cause)

(1) एक छोटी जाति की मादा का बड़े साँड से गर्भित हो जाना।

(2) छोटी आयु में ही ओसर (heifer) को किसी अच्छे साँड से गर्भित कराना।

(3) एक साथ दो बच्चों का बनना।

(4) भ्रूँण का गर्भाशय में मर जाना।

(5) गर्भाशय में भ्रूंण का **असामान्य आसन** (abnormal posture)।

(6) भ्रूँण की गर्भाशय में **असामान्य स्थिति** (abnormal presentation)।

असामान्य आसन (Abnormal posture)—वह किसी भी मुड़ने या हिलने-डुलने वाले अंग के अपने स्थान से हटने पर हो सकती है। उदाहरणार्थ; सिर का एक ओर मुड़ जाना पिछले पैर का घुटने पर से अन्दर की ओर मुड़ जाना, कन्धे का अन्दर की ओर मुड़ जाना, सिर और गर्दन का अगले पैरों के नीचे आ जाना आदि।

गर्भ स्थिति (Presentation)—गर्भाशय की अक्ष रेखा से भ्रूँण की स्थिति का सम्बन्ध निम्न प्रकार हो सकता है—

(1) अग्र गर्भ स्थिति (Anterior Presentation)—इसमें बच्चे का मुख माँ की योनि की ओर रहता है (चित्र 59·3)।

(2) पश्च गर्भ स्थिति (Posterior presentation)—इसमें बच्चे का मुख माँ के मुँह की ओर रहता है (चित्र 59·4)

(3) खड़ी गर्भ स्थिति (Vertical presentation)—इसमें बच्चा गर्भाशय की अक्ष रेखा पर लम्बवत् स्थित रहता है (चित्र 59·5·2)।

(4) अनुप्रस्थ उदरीय गर्भ स्थिति (Transverse abdominal presentation)—इसमें बच्चा गर्भाशय की अक्षरेखा पर अपने पेट के बल टेढ़ा पड़ा रहता है।

(5) अनुप्रस्थ पृष्ठ गर्भ स्थिति (Transverse dorsal presentation)—इसमें भ्रूँण गर्भाशय की अक्षरेखा पर अपनी रीढ़ की हड्डी के बल तिरछा पड़ा रहता है।

अन्तिम तीन स्थितियाँ, **असामान्य गर्भ स्थिति** (abnormal presentation) कहलाती हैं।

लक्षण (Symptoms)—इस अवस्था में प्रायः वही सब लक्षण होते हैं, जो गर्भाशय कष्ट प्रसूति में वर्णन किये जा चुके हैं।

निदान (Diagnosis)—मादा के गर्भित कराने का इतिहास लेकर तथा योनि में स्वच्छ चिकना हाथ डालकर इसकी पहिचान की जाती है।

उपचार (Treatment)

सर्वप्रथम मादा का इतिहास लेना चाहिये। तत्पश्चात् स्वच्छ चिकना हाथ योनि में डालकर, गर्भ की स्थिति का पता लगाना चाहिये। यदि भ्रूँण की असामान्य स्थिति अथवा असामान्य आसन के कारण, मादा, बच्चा जन्मने में असमर्थ हो, तो उसे 30–60 ग्राम **क्लोरल हाइड्रस** थोड़े से पानी में घोलकर अलसी के तेल में मिलाकर पिलाना चाहिये। ऐसा करने से वह बेहोश हो जाती है। अब हाथ धोकर तथा कष्ट प्रद प्रसव में प्रयोग होने वाले यन्त्रों को जीवाणु रहित करके, इनकी सहायता से गर्भ की स्थिति ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। इनके प्रयोग से बहुधा भ्रूँण की गर्भाशय में स्थिति ठीक होकर प्रसव आसानी से हो जाता है। यदि स्थिति ठीक न हो रही हो या बच्चा अधिक बड़ा होने के कारण प्रसव न हो, तो जननेन्द्रिय मार्ग में सरसों या अलसी का तेल डालकर उसे चिकना करके यन्त्रों, विशेषकर **ब्याने के हुक** तथा **ब्याने की रस्सी** (calving ropes) में भ्रूँण की आँख, जबड़ा, गुदा या पैर फाँसकर पहले धीरे-धीरे, तत्पश्चात् काफी शक्ति लगाकर बच्चे को बाहर खींचना चाहिये। जब यह निश्चय हो जाये कि किसी प्रकार भी भ्रूँण की स्थिति ठीक नहीं हो सकती या वह गर्भाशय के अन्दर ही मर चुका है, तो उसके अटकने वाले भागों को **एम्ब्रिओटोम चाकू** (embryotome knife) से अन्दर ही काटकर बच्चे को बाहर निकालना चाहिये। इस क्रिया को **भ्रूँण अपनयन** (embryotomy) कहते हैं। ऐसा करके माँ को बचाया जा सकता है। यदि भ्रूँण अपनयन सम्भव न हो या बच्चा अन्दर जीवित होने के कारण चिकित्सक ऐसा करना न चाहता हो; तब **सीजर शल्य**
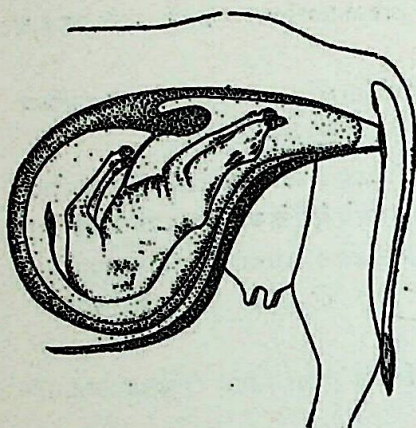
चित्र 59·5·1—उल्टी अग्र गर्भ-स्थिति
(Upside down anterior presentation)
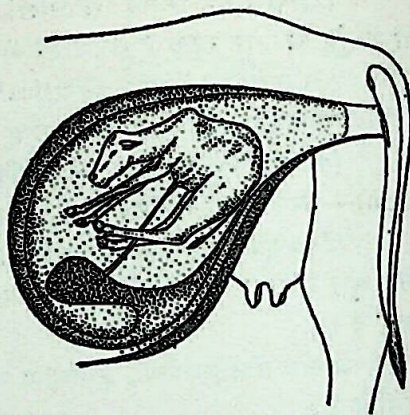
चित्र 59·5·2—खड़ी गर्भ-स्थिति
(Vertical presentation)
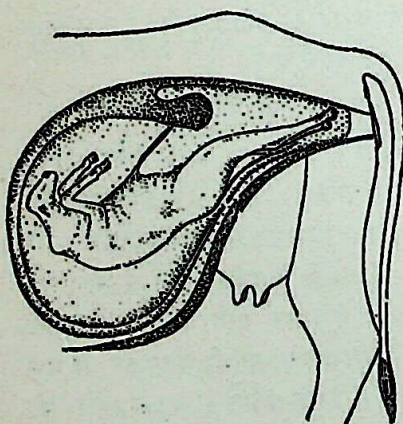
चित्र 59·5·3—उल्टी पश्च गर्भ-स्थिति
(Upside down posterior presentation)
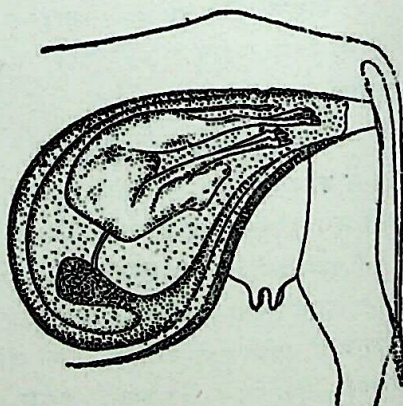
चित्र 59·5·4—अनुप्रस्थ गर्भ-स्थिति
(Transverse presentation)

चित्र 59·5—असामान्य गर्भ-स्थिति की विभिन्न स्थितियाँ
(Stages of abnormal presentation)

क्रिया (caesarian section) पशुशल्य-चिकित्सक का अन्तिम उपचार होना चाहिये। इस क्रिया के अन्तर्गत माँ की दायीं कोख पर के बाल काटकर, उस भाग को सैवलान या सेटावेलन ऐंटिसेप्टिक लोशन से खूब साफ किया जाता है। तत्पश्चात् जीवाणु रहित तेज चाकू से ऊपर से नीचे की ओर चीरा लगाकर मादा की कोख खोल देते हैं। अब गर्भाशय की ऊपरी तह को, जो इस प्रकार बनाये हुए घाव से साफ दिखाई देने लगती है, धीरे से काटते हैं, जिससे कि अन्दर उपस्थित भ्रूण न कटने पावे। तत्पश्चात् इस खुले हुए गर्भाशय से बच्चे को बाहर जीवित ही निकाल लेते हैं। साथ

ही जेर को भी धीरे से इसी समय बाहर खींच लेते हैं। गर्भाशय को अब जीवाणु रहित स्वच्छ रुई से खूब साफ करके, उसकी दीवारों में सिबाजाल या सल्फोनामाइड पाउडर लगा देते हैं, जिससे उसमें छूत लगने का भय न रहे। अब गर्भाशय के घाव को लगातार सीवन (continuous sutures) तथा कोख के घाव को अवरोधक सीवन (interrupted sutures) से बन्द करके, ऊपर से टिंचर बेंजोइन या टिंचर फेरिपरक्लोर लगा देते हैं, जिससे कि छूत के कीटाणु उसे दूषित न कर सकें। अधिक सावधानी के लिये पशु को लगातार तीन दिन तक 20 लाख यूनिट पैनिसिलिन का अन्त.पेशी इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। ऐसा करने से घाव बहुत शीघ्र सूखकर जुड़ जाता है और 8–10 दिन बाद टाँके भी काट दिये जाते हैं। इस प्रकार जच्चा तथा बच्चा दोनों ही बचाये जा सकते हैं। प्रसव के बाद माँ को बहुत ही हल्का, सुपाच्य तथा पौष्टिक आहार देना चाहिये, जिससे कि शीघ्र ही उसको स्वास्थ्य लाभ हो सके। बच्चा यदि जीवित हो, तो कृत्रिम रूप से दूध पिलाकर पालना चाहिए।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अनपढ़ ग्रामीण पशुपालक कष्ट-प्रसूति से ग्रसित मादा को पहले अपने गाँव में ही स्वयं ठीक करने का प्रयत्न करते हैं और निष्फल होने पर पशु चिकित्सक की शरण लेते हैं। इस समय तक प्रसव पीड़ा (labour pains) तथा गर्भिणी की उत्तेजना समाप्त हो चुकी होती है। साथ ही, गर्भाशय में डाले गये गन्दे हाथों से खींचतान करने पर, उसका जननेन्द्रिय मार्ग सूखकर सूज चुका होता है। **अतः ऐसी अवस्था में पशु चिकित्सक को नेकनामी के स्थान पर बदनामी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिल पाता। परन्तु, यदि गर्भिणी प्रसव पीड़ा प्रारंम्भ होते ही, सीधे पशु शल्य चिकित्सक के पास लाई गई है, तो उक्त प्रकार उपचार करके उसे शत-प्रतिशत ठीक किया जा सकता है।**

परिच्छेद : 60

जननेन्द्रिय रोग
(GENITAL DISEASES)

1. गर्भाशय का उलट जाना
(Prolapse of Uterus)

गर्भाशय का अन्दर से बाहर की ओर उलट कर योनि के मुख के बाहर लटकने वाला भाग प्रोलैप्स (prolapse) कहलाता है। गर्भाशय सम्पूर्ण या उसका कुछ भाग ही कभी-कभी उलट जाता है। जुगाली करने वाले पशुओं में यह अवस्था बहुधा प्रसव के बाद ही देखने में आती है।

कारण (Etiology or cause)—कष्ट आर्तव प्रसव के समय बहुत अधिक जोर लगाना, गर्भाशय का अनियमित संकोचन, हाथ डालकर जेर निकालना तथा गर्भिणी की निर्बलता आदि इसके मुख्य कारण हैं।

लक्षण (Symptoms)—पशु बार-बार पृथ्वी पर उठता-बैठता और जोर लगाता है। गर्भाशय का पूरा भाग नाशपाती के आकार में योनि मुख से बाहर लटकता हुआ दिखाई पड़ता है। अपूर्ण भ्रंश में गर्भाशय का उल्टा हुआ भाग योनि के अन्दर ही रह जाता है। अतः योनि में हाथ डालकर, इसकी जाँच करने पर, यह काफी अन्दर से आता हुआ प्रतीत होता है। गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली रक्त वर्ण हो जाती है तथा गाय में गर्भाशय स्तवक (uterine cotyledons) भी दिखाई पड़ते हैं।

चित्र 60·1—गर्भाशय का उलट जाना
(Prolopse of uterus)

निदान (Diagnosis)—उक्त बताये हुए मुख्य लक्षण देखकर ही इसकी पहिचान की जाती है।

चिकित्सा (Treatment)

जितना शीघ्र हो सके, इस उल्टे हुए भाग को ठीक करके, पुनः उसको पूर्वावस्था में करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए सर्वप्रथम 30–60 ग्राम

क्लोरल हाइड्रस पानी में घोलकर, अलसी के तेल में मिलाकर तथा पिलाकर पशु को बेहोश किया जाता है। यह कार्य नोवोकेन (novocaine) के घोल का अधिदृढ़-तानिक (epidural) इन्जेक्शन देकर भी किया जा सकता है। अब गर्भाशय के निकले हुए भाग को एक स्वच्छ सूखी तौलिया से पकड़कर यह देखना चाहिये कि उसमें कोई घाव आदि तो नहीं बन गये हैं। तत्पश्चात् उसे पोटाश लोशन या ½ प्रतिशत लाइसोल (lysol) के गुनगुने घोल से धोकर तथा सुखाकर, स्वच्छ हाथों से बंधी हुई मुट्ठियों की सहायता से तेल लगाकर अन्दर करना चाहिये। यदि इस क्रिया से पूर्ण गर्भाशय अपनी पूर्ववत् आकृति न ग्रहण कर रहा हो तो एक लम्बी गर्दन वाली बोतल की सहायता से दबाकर उसे अन्दर किया जा सकता है। दर्द कम करने के लिए पशु को सीक्वील अथवा नोवल्जीन का इन्जेक्शन देना चाहिये।

ऐसा करने से बहुधा गर्भाशय अपना पूर्ववत् आकार धारण कर लेता है परन्तु कुछ ही क्षणों में पशु के जोर लगाने से पुनः बाहर आ जाता है। अतः इस त्रुटि पर काबू पाने के लिये, गर्भाशय को हाथ की मुट्ठियों अथवा बोतल द्वारा अन्दर करके बाहर से दबाव डालने वाला बन्ध बांधना चाहिये। इसके लिये योनि मुख की लम्बाई चौड़ाई की नाप का एक गुफनी के आकार का रस्सी का जाल बुनकर, उसके किनारों में लम्बी रस्सी बाँधकर, गर्भाशय को ठीक करने के उपरान्त योनि मुख पर लगाकर रस्सियाँ खींचकर सीने के आगे गर्दन के नीचे बांध देते हैं। ऐसा करने से मादा के जोर लगाने पर भी गर्भाशय बाहर नहीं उलटता। अधिक सावधानी के लिये मादा को ऐसे स्थान से बाँधना चाहिये, जहाँ उसका पिछला धड़ ऊँचा रहे। यदि फिर भी गर्भाशय उलट जाये तो योनि मुख पर भगोष्ठों में दो-तीन टाँके लगाकर पशु को बेहोशी की दवा देनी चाहिए।

यदि इस अवस्था की तुरन्त चिकित्सा न हो पाई, तो कुछ ही घण्टों में बाहर निकले हुये गर्भाशय के भाग पर सूजन आकर, उसका रंग काला, नीललोहित पड़ जाता है। अतः ऐसी दशा में इसको अन्दर नहीं करना चाहिये, क्योंकि अन्दर जाकर इसमें सड़न लगने का भय रहेगा, जिससे कि पशु की मृत्यु हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में पशु को बेहोश करके बाहर निकले हुये भाग पर बन्ध बाँधकर उसे तेज चाकू से काट देना चाहिये। अब कटे हुए भाग पर सीवन (suture) करके, ऐंटिसेप्टिक ड्रेसिंग द्वारा उसे ठीक कर लेते हैं। ऐसा करने से पशु की जान बच जाती है। पशु को इस समय सख्त व सूखा चारा न दिया जाकर हल्का, शीघ्र पाचक एवं पौष्टिक आहार खिलाना चाहिये, जिससे कि पतला गोबर बनकर स्वतः बाहर निकल जाये और इसके लिये पशु को अधिक जोर न लगाना पड़े।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि गर्भाशय के उलटने का यदि तुरन्त उपचार न किया गया, तो शत-प्रतिशत रोगियों की इससे मृत्यु हो जाती है।

2. रुकी हुई जेर
(Retained Placenta)

वह माध्यम, जिसके द्वारा भ्रूण, गर्भावस्था में अपनी माँ से पोषण पाता है,

प्लैसेंटा या गर्भनाल कहलाता है। यह ऐमनिआम, ऐलैन्टाइस तथा जरायु (chorion) नामक तीन भागों का बना होता है। बच्चा अपने गर्भकाल में इन्हीं झिल्लियों द्वारा अपनी माँ के गर्भाशय से जुड़ा रहता है।

प्रसव के बाद कुछ ही घण्टों में यह झिल्ली गर्भाशय की दीवालों से पृथक् होकर बाहर आ जाती है, तब इसे **जेर** (after birth) कहते हैं।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि आमतौर पर बच्चा जन्मने के ½ से 8 घण्टे बाद जेर गर्भाशय से बाहर आ जाती है। गायों में चूँकि यह गर्भाशयी स्तवकों (uterine cotyledons) से जुड़ी रहती है, अतः कभी-कभी 8 से 12 घण्टे तक का समय भी इसे बाहर निकलने में लग जाता है। यदि जेर निर्धारित समय में गर्भाशय से बाहर नहीं निकलती अथवा थोड़ी बहुत निकलकर शेष इसी में टूटकर गर्भाशय की दीवालों से जुड़ी रहती है, जैसा कि बहुधा अनियमित गर्भपात में होता देखा गया है, तो यह भग ओष्ठों (lips of vulva) के बाहर लटकती हुई दिखाई
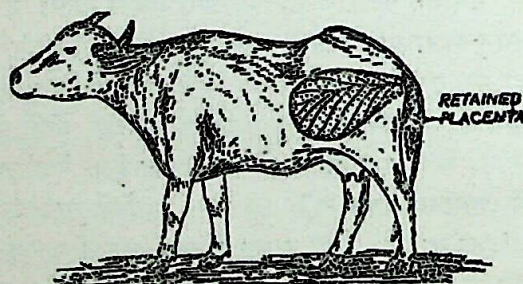
चित्र 60·2—रुकी हुई जेर (Retained placenta)

देती है। इसको **रुकी हुई जेर** (retained placenta) कहते हैं। यदि इसका भली-भाँति उपचार न हो पाया, तो शीघ्र ही इसमें सड़न लगकर **गर्भाशय शोथ** (metritis), **गर्भाशय-पूयता** (pyometra) आदि रोग उत्पन्न होकर, पशु गर्भ धारण करने के योग्य नहीं रहता। इस प्रकार उसका मूल्य कम होकर पशु-पालक को आर्थिक क्षति पहुँचती है।

कारण (Etiology or cause)—कष्टप्रद प्रसव, गर्भपात, मादा की निर्बलता, गर्भपात की दीवालों में संकोचन की कमी, गर्भाशय के छूतदार रोग, जैसे—संक्रामक गर्भपात इत्यादि, इस रोग के मुख्य कारण हैं।

लक्षण (Symptoms)—पशु की योनि से जेर थोड़ी-सी बाहर लटकती दिखाई देती है। कभी-कभी यह पिछले घुटनों तक लम्बी लटकती है। बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि जेर योनि के अन्दर ही टूट जाती है। ब्याने के दिन जेर का रंग-चमकता हुआ कुछ-कुछ गुलाबी सा होता है और इसमें बिल्कुल बदबू नहीं आती। ब्याने के दो-तीन दिन बाद इसमें सड़न जैसी बदबू आने लगती है और साथ ही गोबर, मिट्टी आदि से सनी हुई यह गन्दी दिखाई देती है। अब इसमें से गन्दा स्राव

निकलकर पशु के पिछले धड़ तथा पूँछ पर चिपक जाता है। पशु बेचैन होकर सुस्त रहने लगता तथा बार-बार उठता-बैठता है। वह अपनी पीठ को खलाता और जेर निकालने के लिए बार-बार जोर लगाता है। खाना-पीना तथा जुगाली बन्द होकर, उसके कान नीचे लटक जाते हैं। पशु मुड़-मुड़ कर अपने कष्टप्रद स्थान की ओर देखता है। यदि उसे अन्य पशुओं के साथ चरने भेजा जाये, तो वह उनसे अलग चरागाह पर खड़ा दिखाई देता है और घास भी नहीं चरता। जहाँ भी पशु बैठता अथवा खड़ा होता है, उस स्थान पर गन्दा योनि स्राव गिरा हुआ मिलता है। दुधारू पशु अपने बच्चे को दूध पिलाना बन्द करके, दूध देना भी स्थगित कर देता है। रोग के अधिक बढ़ जाने पर पशु कराह-कराह कर बार-बार गोबर करता है।

निदान (Diagnosis)—उपर्युक्त लक्षण देखकर ही रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

(1) हाथ से जेर निकालना—यदि जेर भग से बाहर लटकती हुई दिखाई दे, तो स्वच्छ जीवाणु रहित हाथों से एक शुद्ध साफ लकड़ी की छड़ या रोल लेकर, जेर के सिरे को उसमें लपेटकर बाहर खींचना चाहिये। ऐसा करने से जेर बाहर निकल आती है। इस कार्य को करते समय विशेष सावधानी इस बात की रखनी चाहिये कि खिचाव के समय अधिक जोर न लगाया जाये।

उन पशुओं में, जिनमें जेर बाहर लटकी हुई न दिखाई दे, योनि के अन्दर स्वच्छ व जीवाणु रहित हाथ डालकर जेर बाहर निकाली जा सकती है। हाथ डालने से पूर्व भग को किसी ऐन्टिसेप्टिक लोशन, जैसे **ऐक्रीपलेविन, डिटोल या सैवलान** से धो लेना चाहिये जिससे बाहर लगी हुई गन्दगी से कोई दूषित जीवाणु गर्भाशय में प्रवेश न कर सके। अब हाथ को धीरे-धीरे गर्भाशय में प्रवेश करके गर्भाशयी स्तवकों (uterine cotyledons) या गर्भाशय की दीवारों से जुड़ी हुई जेर को तर्जनी तथा अंगुष्ठ की सहायता से फाड़-फाड़कर उसे छुड़ाना चाहिये। बाद में हथेली के सहारे उसे गर्भाशय से बाहर निकाल लेना चाहिए। अन्त में गर्भाशय को उपर्युक्त बताये हुये ऐंटिसेप्टिक लोशन से धोकर उसमें **सिबाजोल** या **सल्फोनामाइड** पाउडर हाथ में लेकर लगा देना चाहिये। यदि पीप पड़ने की आशंका हो, तो **'हिबीटेन पेसरी'** (hibitane pessary) **'कैम्प्रान पेसरी'** अथवा **'फ्युरिया बोलस'** गर्भाशय के अन्दर रखने से आशातीत लाभ होता है। रोगी पशु जब ठीक होने लगे तो एक काँच की नली अथवा पिपेट की सहायता से उसके गर्भाशय में **'मैस्टालॉन-यू'** डाल दीजिए। एक मिलिलिटर दवा को 10 मिलिलिटर डिल्टिल्ड वाटर में घोलकर इसे तैयार किया जाता है तथा एक दिन के अवकाश पर इसे तीन बार डालने से पशु जननेन्द्रिय रोग से मुक्त हो जाता है। हाथ से जेर निकालने के बाद पशु को तीन-चार दिन तक नित्य ऐम्पीसिलीन अथवा डाइक्रिस्टीसीन का इन्जेक्शन देना जरूरी है।

(2) पशु को निम्नलिखित गर्भाशय साफ करने वाला नुस्खा देने से भी कभी-कभी जेर निकल आती है—

अर्गट प्रिपेरेटा	30 ग्राम
मैगसल्फ	150 ग्राम
सोंठ चूर्ण	30 ग्राम
सौंफ चूर्ण	60 ग्राम
शीरा	350 ग्राम

एक लिटर गुन-गुने पानी में मिलाकर, एक खुराक में पिलाओ।

इस दवा को पिलाने से गर्भाशय की दीवालों में संकोचन तथा विमोचन की क्रिया प्रारम्भ होकर जेर बाहर निकल आती है।

(3) आजकल इस कार्य के लिये **स्टिलबेस्ट्राल** का अन्तः पेशी इन्जेक्शन काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। इसके प्रयोग से तुरन्त ही गर्भाशय की दीवालों में संकोचन तथा विमोचन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप जेर बाहर निकल आती है। परन्तु इस दवा का कम से कम प्रयोग करना चाहिये।

गर्भाशय शोथ
(Metritis)

यह रोग वास्तव में गर्भाशय की सूजन है, जो बहुधा नये व्याये हुये पशुओं में देखा जाता है। इसमें गर्भाशय में सूजन आकर, बाद में उसमें से पीव जैसा गाढ़ा स्राव निकलता है। इससे पशु को बहुत कष्ट होता है और असह्य पीड़ा के कारण, अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। पशुओं में इस रोग की **उग्र** (acute) तथा **दीर्घकालिक** (chronic) दो अवस्थायें हैं।

कारण (Etiology or cause)—छूतदार जीवाणु, जैसे—**स्ट्रेप्टोकोकाई** (streptococci), **स्टैफिलोकोकाई** (staphylococci), **ट्राइकोमोनास फीटस** (trichomonas foetus), **कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस** (C. pyogenes), **माइको बैक्टीरियम ट्यूबर्कुलोसिस** (mycobacterium tuberculosis) तथा **कोलीफॉर्म** (coliform), आदि इस रोग के मुख्य कारण हैं। जेर का न गिरना, कष्टप्रद प्रसव, गर्भाशय में दूषित हाथ डालना तथा संक्रामक गर्भपात के फलस्वरूप यह जीवाणु मादा की योनि में प्रवेश पाकर छूत फैलाते हैं। बिल्ली तथा कुतियों में यह रोग हारमोन असन्तुलन (hormonal imbalance) के कारण भी होता देखा जाता है।

लक्षण (Symptoms)

उग्र गर्भाशय शोथ (Acute metritis)—भग-ओष्ठों में दर्दयुक्त सूजन, योनि की श्लेष्मल झिल्ली का सूजकर लाल हो जाना, अत्यधिक बेचैनी, पहले तीव्र ज्वर और बाद में शारीरिक तापक्रम का नार्मल से भी कम हो जाना, भूख न लगना, जुगाली न करना, योनि से गन्दा रक्त एवं पीव मिश्रित स्राव गिरना, मादा का बार-बार उठना बैठना तथा बहुमूत्र आदि इस अवस्था के प्रधान लक्षण हैं।

दीर्घकालिक गर्भाशय शोथ (Chronic metritis)—यह अवस्था, बहुधा उग्र गर्भाशय शोथ के बाद ही, उसके परिणामस्वरूप देखी जाती है। इसमें योनि से लगातार अथवा रुक-रुक कर गन्दा बदबूदार स्राव होता है, जिसमें पशु की पूँछ तथा पिछला धड़ सना हुआ दिखाई देता है। शेष लक्षण लगभग वही हैं, जो उग्र अवस्था में वर्णन किये जा चुके हैं।

निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—रोग के मुख्य-मुख्य लक्षण देखकर बीमारी की पहिचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—गर्भाशय से निकलने वाले स्राव का काँच के स्लाइड पर पतला लेप (smear) बनाकर, माइक्रॉस्कोप में रोग के जीवाणु देखे जा सकते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

चूँकि इसकी छूत एक पशु से दूसरे पशु को सम्पर्क द्वारा ही लग जाती है, अतः इससे बचाव के सभी साधन अपनाने चाहियें। रोगी के सम्पर्क में आये हुए सभी नष्टकीय पदार्थों को गड्ढे में गाड़ना या जला देना चाहिये। पशु शाला की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोग से छुटकारा पाने के लिए गर्भाशय की सफाई करके **ऐंटिसेप्टिक, प्रति जीवाणु पदार्थ** (antibiotics) **तथा सल्फा औषधियों** (sulpha-drugs) का प्रयोग करना चाहिए।

गर्भाशय की सफाई—अंगुलियों के नाखून काटकर, हाथ को डिटोल घोल जैसे ऐंटिसेप्टिक लोशन से धोकर तथा द्रव पैरेफिन से चिकना करके, अड़गड़ा में नियन्त्रित किये हुए रोगी पशु की योनि में, कोन के आकार में धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं। अब हाथ को योनि तथा गर्भाशय में आगे-पीछे करके वहाँ का कुल मवाद बाहर खींच लेते हैं। तत्पश्चात् धोवक (irrigator) की रबर योनि के अन्दर डालकर उसमें भरे हुए 1 : 1000 एक्रीफ्लेविन अथवा 1 : 2000 पोटाश घोल से गर्भाशय को खूब धोकर सारा घोल पुनः बाहर निकाल देते हैं।

औषधियों का प्रयोग—गर्भाशय की सफाई करने के उपरान्त, उसमें **हिबीटेन पेसरी, केम्प्रॉन पेसरी अथवा फ्युरिया बोलस** रखने से आशातीत लाभ होता है। ये पेसरी, सल्फामेजाथीन की 5 ग्राम वाली गोली के आकार में छोटी-छोटी टीन की शीशियों में बन्द बाजार से उपलब्ध होती हैं। पेसरी को पहली दो अंगुलियों के मध्य पकड़कर धीरे-धीरे योनि में प्रवेश करके गर्भाशय ग्रीवा में अन्दर की ओर छोड़ देते हैं। कुछ ही क्षणों में इनमें झाग बनकर गर्भाशय की दीवालों में फैल जाती है और वहाँ उपस्थित रोग के जीवाणुओं को नष्ट कर देती है। यदि पेसरी उपलब्ध न हों, तो यही कार्य सल्फामेजाथीन अथवा टेरामाइसीन की 5 ग्राम वाली टिकियों से भी लिया जा सकता है। पेसरी रखने के बाद, फिर गर्भाशय को तीसरे दिन साफ किया जाता है। बहुधा दो या तीन बार पेसरी के प्रयोग से ही रोग से छुटकारा मिल जाता

है। प्रति जीवाणु पदार्थ जैसे—**पैनिसिलिन, आरोमाइसिन** का प्रयोग भी काफी लाभप्रद होता है। रोग से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए प्रौढ़ पशु को 20 लाख यूनिट की मात्रा में नित्य प्रोकेन पैनिसिलिन, ओमनासिलिन अथवा प्रोनापेन के तीन-चार दिन तक इन्जेक्शन देने चाहियें।

पशु के पेट को साफ रखने के लिए उसे हल्के, सुपाच्य तथा पौष्टिक चारे खिलाने चाहियें।

जननेन्द्रिय रोगों में 50-60 ग्राम की मात्रा में सुबह-शाम 'रिप्लैंटा चूर्ण' खिलाने से पशु को काफी फायदा होता है। बच्चेदानी की सफाई तथा रुकी हुई जेर में यह दवा विशेष लाभकारी है। ब्याने के बाद गुड़ में मिलाकर यह औषधि खिलाने से 6–8 घण्टे में गाय की जेर गिर जाती है। इस पुस्तक के लेखक ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डेरी पशुओं पर किए गए अपने अनुसन्धान में जननेन्द्रिय रोगों की चिकित्सा तथा रोकथाम में रिप्लैंटा चूर्ण तथा रिप्लैंटा द्रव को बहुत ही उपयोगी पाया।

परिच्छेद : 61

दुग्ध ज्वर
(MILK FEVER)

अन्य नाम—प्रसवोत्तर, पक्षाघात, प्रसवकालीन ज्वर, प्रसवकालीन रक्त मूर्छा, प्रसवकालीन पक्षाघात, आदि।

विषय परिचय—यह गाय तथा भैंसों की एक **उपापचयक** (metabolic) बीमारी है, जो अधिक दूध देने वाले पशुओं को ब्याने के बाद अनियमित समय में हुआ करती है। बहुधा यह रोग ब्याने के बाद प्रथम 72 घण्टों में ही होता है, परन्तु दुधारू पशुओं में ब्याने के पूर्व या अधिकतम उत्पादन के समय भी हो सकता है। यह रोग पशुओं में रक्त तथा तन्तुओं में कैल्सियम लवण की कमी के कारण होता है। पहली बार ब्याये हुए पशुओं को यह रोग बहुत ही कम लगता है। कभी-कभी दूसरे ब्यांत के बाद भी देखने को मिलता है। एक बार रोग ग्रसित हो जाने के बाद वही पशु अगले ब्यातों में भी इसका शिकार हुआ करता है। आमतौर पर तीसरे से पाँचवे ब्याँत में इस रोग का अधिक प्रकोप हुआ करता है। तुरन्त की ब्याई हुई भेड़, बकरी तथा सुअरियों को भी यह रोग कभी-कभी होता देखा गया है। ब्याँत के बाद जितना ही शीघ्र यह रोग प्रकोप करता है, उतना ही अधिक भयानक होता है। यदि रोग का निदान होकर चिकित्सा शीघ्र न हो पाई, तो पशु तुरन्त मर जाता है।

कारण (Etiology or cause)—इस विषय में अनेक वाद (theories) प्रस्तुत किये जा चुके हैं, परन्तु अभी तक कोई भी ठीक निष्कर्ष नहीं निकल पाया है। खीस द्वारा शरीर से अधिक कैल्सियम बाहर निकलता है, जिससे रक्त में इस लवण की कमी हो जाना (hypocalcaemia) ही इस रोग का मुख्य कारण कहा जाता है। पैराथाइराइड (parathyroid gland) का हारमोन, जो रक्त तथा हड्डियों में कैल्शियम की मात्रा को नियन्त्रित करता है, उतना शीघ्र कैल्सियम को हड्डियों से निकालकर रक्त में नहीं ला पाता जितना शीघ्र यह लवण अधिक दुधारू पशुओं में दूध के साथ बाहर निकलता है। अतः शरीर में कैल्सियम उपस्थित होते हुए भी इसका सन्तुलन रक्त एवं हड्डियों में गड़बड़ हो जाता है और इस प्रकार रक्त में कैल्सियम की कमी होकर पशु बीमार हो जाता है। कुछ वैज्ञानिकों के विचार से मादा के रक्त में ग्लूकोस की कमी (hypoglycaemia) हो जाने से भी यह रोग हो जाया करता है। रोग ग्रसित गाय के प्लाज्मा में कार्टिसोल की मात्रा भी अधिक हो जाती है।

लक्षण (Symbtoms)—साधारणतः इस रोग में बुखार नहीं होता, वरन् शारीरिक तापक्रम कभी-कभी नार्मल से भी कुछ कम हो जाता है। मादा खान-पान तथा बच्चे में रुचि तक छोड़ देती है। उसके सींग, थन, कान तथा पैर ठण्डे पड़ जाते हैं। शरीर में अत्यधिक पसीना आता है। पशु बेचैन होकर अपने पैर लड़खड़ाता और पृथ्वी पर उठता-बैठता है। उठने में असमर्थ होकर अपने सीने के बल जमीन पर बैठ जाता है। अब पीछे की ओर गर्दन घुमाकर वह अपने सिर को कोख की सीध में शरीर से चिपकाकर रखता है। कभी-कभी गर्दन को पृथ्वी के समानान्तर सीधा खींच कर अपने मुंह को जमीन पर भी रखता है। **गर्दन को पीछे की ओर मोड़कर रखना, इस बीमारी का प्रधान लक्षण है।** यदि इस समय पशु की गर्दन को सीधा किया जाये, तो छोड़ने पर पुनः वह उसे पूर्वावस्था में कर लेता है। पशु आँखें फाड़ता, उसकी नाड़ी की गति तीव्र हो जाती और साँस लेने में वह कष्ट का अनुभव करता है। वह मूत्र भी त्याग नहीं कर पाता और अन्त में जमीन पर एक करवट लेटकर मूर्छित एवं बेसुध होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार बेहोशी और लकवा ही इस रोग के दो प्रमुख लक्षण हैं। केवल मादा पशु ही इस बीमारी का शिकार होते हैं।
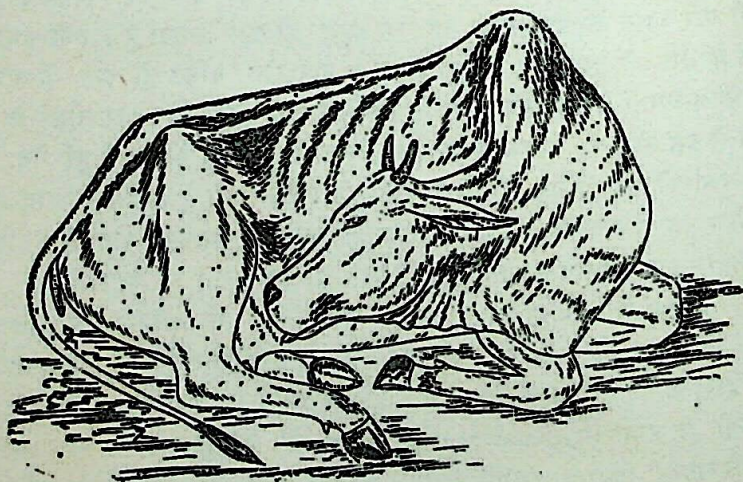
चित्र 61·1—दुग्ध ज्वर (Milk fever) से पीड़ित गाय

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर ही रोग की पहचान की जाती है।

(2) शरीर क्रियात्मक (Physiological)—रोगों में रक्त के कैल्सियम की मात्रा देखकर रोग की पुष्टि की जाती है। पशु के रक्त में 8 मिलिग्राम प्रति 100 घ० सें० से कम कैल्सियम होना, रोग का सूचक है।

चिकित्सा (Treatment)

चूँकि रक्त में कैल्सियम की कमी से यह रोग होता है, अतः किसी भी प्रकार इस लवण की कमी को रक्त में पूरा करने से अथवा दूध में इनके ह्रास को रोकने से पशु ठीक हो जाता है। मुख्य चिकित्सा निम्न प्रकार है—

(1) कैल्सियम बोरोग्लूकोनेट (Calcium borogluconate)—25 प्रतिशत कैल्सियम बोरोग्लूकोनेट का घोल 200 से 260 घन सें० गाय-भैंसों को तथा 20 से 30 घ० सें० भेड़-बकरियों को अन्तःशिरा (I/v) इन्जेक्शन द्वारा देने से जादू जैसा असर करता है। अन्तःशिरा इन्जेक्शन इतना धीरे देना चाहिये कि पूरी दवा शरीर के अन्दर जाने में 6 मिनट से कम न लगें। एकदम जल्दी से इन्जेक्शन देने में हृदय की गति रुककर (heart block) पशु की मृत्यु हो जाने का भय रहता है। यह दवा कैल्सियम तथा बोरिक एसिड घोल मिलाकर घर पर ही तैयार की जाती है, जो लगभग उतनी ही गुणकारी होती है। इसको 300 से 600 घ० सें० तक पशु की आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है। इन्जेक्शन लगाते ही पशु रोगोन्मुक्त होकर, उठकर खड़ा हो जाता है। किन्तु पुनः बीमारी के लक्षण प्रकट कर सकता है। इस कारण कभी-कभी कई बार इलाज करने की आवश्यकता पड़ती है।

(2) फाइजर मिल्क फीवर फार्मूला—फाइजर द्वारा निर्मित यह औषधि दुग्ध ज्वर की चिकित्सा में विशेष गुणकारी है। इसमें कैल्सियम, मैग्नीशियम डैक्स-ट्रोज तथा फॉस्फोरस मिला होता है। प्रौढ़ पशुओं को 180–350 मिलिलिटर की मात्रा में शारीरिक तापक्रम तक गर्म करके अन्तःशिरा विधि द्वारा इसका टीका दिया जाता है।

(3) कैल्बोरॉल तथा मीफिक्स—मे एण्ड बेकर द्वारा निर्मित 'कैल्बोरॉल' तथा 'मीफिक्स' घोल भी इस रोग की अच्छी दवा है।

(4) स्तनीय प्रथमन (Mammary Insufflation)—इस क्रिया में थनों से सम्पूर्ण दूध निकलने के बाद, उनमें **थन साइफन** (teat syphon) डालकर पम्प द्वारा हवा या ऑक्सीजन चढ़ाई जाती है। इसके बाद थनों पर एक चौड़ा टेप बाँध दिया जाता है, जिससे ऑक्सीजन अयन से बाहर न निकल पावे। अब अयन का खूब मर्दन किया जाता है और लगभग 1 घण्टे बाद थनों पर बाँधा गया टेप भी खोल दिया जाता है। इस प्रकार, अयन से बाहर दिये गये दबाव के कारण कैल्सियम पुनः रक्त प्रणाली में वापस जाकर, उसमें इस लवण की कमी को पूरा कर देता है और पशु 15–20 मिनट में उठ बैठता है।

(5) दिले की निर्बलता में $\frac{1}{2}$ ग्रेन **स्ट्रिक्नीन-सल्फेट** (Strychnine sulphate) का अन्तःपेशी (I/m) इन्जेक्शन देना चाहिए।

(6) $\frac{1}{10}$ ग्रेन **डिजिटेलिन** तथा 20 ग्रेन **कैफीन सोडियो-बेंजोएट** को सीधे 500 घ० सें० **कैल्सियम ग्लूकोनेट** और **डेक्सट्रोज** घोल में मिलाकर अन्तःशिरा इन्जेक्शन देने से आशातीत लाभ होता है।

(7) यदि उपर्युक्त उत्तेजक औषधियाँ उपलब्ध न हों तो 1 : 4 अनुपात का 10 घ० सें० कपूर युक्त जैतून के तेल (camphorated olive oil) का त्वचा के नीचे (Sub-cut) इन्जेक्शन देना चाहिये।

रोकथाम (Prevention and control)—30 दशलक्ष (million) यूनिट की मात्रा में विटामिन 'डी' ब्याने से पूर्व तीसरे व सातवें दिन तक नित्य प्रातः तथा सायं पशु को देने से इस बीमारी से बचाव हो सकता है। ऐसा करने से शरीर में कैल्सियम तथा फॉस्फोरस का शोषण बढ़ जाता है।* इसके अतिरिक्त, ब्याने से एक माह पूर्व पशु को कम कैल्सियम तथा अधिक फॉस्फोरस-युक्त राशन खिलाने से भी यह रोग नहीं लगने पाता। जिन पशुओं को एक बार मिल्क-फीवर हो चुका हो उनको आने वाले ब्यांतों में पुनः यह रोग न होने पावे, इसके लिये, ब्याने के एक सप्ताह पूर्व लगभग 7 दिन तक रोजाना 20,000,000 यूनिट विटामिन 'डी' देना चाहिये। पशु को लगातार फॉस्फेट लवण खिलाये जायें। सूखी घास तथा चोकर खिलाना भी काफी लाभप्रद है। कैल्सीरॉल तथा विटाब्लेंड ए डी$_3$ विटामिन डी का अच्छा स्रोत हैं।

---

*J. M. Boda and H. H. Cole, Journal of Dairy Science 37, 360, 1954.

परिच्छेद : 62

गायों का कीटोसिस रोग

(KETOSIS IN COWS)

अन्य नाम—कीटोनमयता, कीटोनमेह, अम्लरक्तता आदि।

विषय परिचय—अधिक दुधारू तथा सुपोषित गायों में विशेष कर प्रकोप करने वाला यह रोग कार्बोहाइड्रेट के उपापचयन से सम्बन्धित है जिससे रक्त में अधिक मात्रा में कीटोन पदार्थ इकट्ठा होकर पशु में अवसन्नता अथवा नशा जैसी स्थिति उत्पन्न करता है। प्राथमिक तौर पर इस बीमारी का प्रकोप प्रायः ब्याने के बाद ही अच्छे खाए-पिए पशुओं में देखने को मिलता है। गौण रूप में यह रोग कभी-कभी अन्य बीमारियों के बाद पशुओं में फैलते देखा गया है। बीमारी से ग्रसित पशु के रक्त में ग्लूकोज की कमी होकर, कीटोन पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है। विशेषकर यह बीमारी मादा पशुओं में ही देखने को मिलती है।

कारण—निम्न कोटि के कार्बोहाइड्रेट पदार्थों का खाना तथा प्रसव के समय अयन द्वारा अधिक मात्रा में ग्लूकोज के उपयोग से संचित ग्लाइकोजन का विघटन होना इस रोग का प्रमुख कारण है। दोषपूर्ण कार्बोहाइड्रेट उपापचयन के कारण शरीर में ग्लाइकोजन की सामान्य मात्रा का अभाव इसका सबसे बड़ा कारण है। प्राथमिक कीटोसिस कम अथवा अधिक खाने से उत्पन्न हो सकती है। गौण रूप में इसका प्रकोप ब्याने के बाद अथवा जब गाय किसी अन्य बीमारी के कारण खाना छोड़ देती है, तब हुआ करता है। अधिक कार्बोहाइड्रेट वाला चारा देने के बाद जब पशु को एका-एक उच्च किस्म की प्रोटीन वाला राशन खिलाया जाता है तो उसमें कीटोसिस होने की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। पशु के शरीर में कार्बोहाइड्रेट या शर्करा का मुख्य भाग सेल्यूलोज के किण्वन द्वारा रूमेन में बनता है। प्रोटीनयुक्त चारे की अधिकता में यह किण्वन कम हो जाता है। अतः शर्करा की आवश्यकता का कुछ भाग शरीर में उपस्थित वसा द्वारा पूरा होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप यकृत में अधिक वसा आकार शर्करा में परिवर्तित होकर एसीटोन पदार्थों को निकालता है जो रक्त तथा मूत्र में आकर प्रकट होते हैं। यह बीमारी छुतैली न होकर एक उपापचयिक (मेटाबोलिक) रोग है।

लक्षण—खान-पान में अरुचि, सुस्ती, कभी-कभी उत्तेजना, निराशा, गति में

असंतुलन तथा पशु की हालत का गिरते जाना इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं। पशु के मुँह से लार गिरती, लड़खड़ा कर चलता, तथा सिर को दीवाल से रगड़ता अथवा लगाकर खड़ा होता है। कभी-कभी वह उत्तेजित होकर टकटकी लगाकर घूरता है। कुछ समय बाद उसमें अवसन्नता होकर चेतना तथा संवेदना का अभाव हो जाता है। पशु दाँत पीसता, जीभ बाहर निकालता तथा बाद में बेहोश सा हो जाता है। प्रसव के बाद होने वाले पक्षाघात के कारण इस रोग की दुग्ध-ज्वर (मिल्क फीवर) से सम्भ्रान्ति हो सकती है। प्रसव कालीन कीटोसिस प्राय: ब्याने के दो दिन बाद हुआ करती है। अप्रसवकालीन कीटोसिस में पाचन तंत्र सम्बन्धी तथा तंत्रिकीय प्रकार के लक्षण अधिक देखने को मिलते हैं। पशु को निमोनिया तथा आमाशयशोथ भी हो सकती है। रोग की यह प्रकार गाय ब्याने के बाद 10 दिन से लेकर 6 या अधिक सप्ताह तक होते देखी गई है। एकाएक अथवा धीरे-धीरे चारे में अरुचि, शीघ्र ही हालत का गिरना तथा दूध उत्पादन में कमी इसके प्रमुख लक्षण हैं। रोग ग्रसित गाय पीठ खलाकर, आँखें आधी बन्द करके तथा सिर झुकाकर खड़ी होती है। पशु का तापक्रम सामान्य अथवा बढ़ा हुआ हो सकता है। बीमारी की तंत्रिकीय प्रकार में दुग्ध उत्पादन में कमी, आहार में अनिच्छा तथा हालत में गिरावट के साथ घबराहट के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। पशु में कुछ-कुछ उन्माद अथवा पागलपन भी मौजूद हो सकता है। ठीक होने पर इसका आक्रमण पुनः हो सकता है।

रोग का निदान—रोग के प्रमुख लक्षण देखकर तथा मूत्र एवं रक्त में अधिक मात्रा में एसीटोन की उपस्थिति द्वारा इसे पहचाना जाता है। रोगी पशु से प्राप्त दूध में एसीटोन की गंध मौजूद हो सकती है। एसीटोन परीक्षण हेतु 1 भाग सोडियम नाइट्रोप्रूसाइड, 100 भाग अमोनियम सल्फेट में मिलाकर एक मिश्रण तैयार करते हैं। अब एक ग्राम मिश्रण को 5 मिलिलिटर संदेहात्मक मूत्र अथवा दूध में मिलाकर इसमें छोटा सा एक टुकड़ा सोडियम हाइड्राक्साइड का डालते हैं। मिश्रण में पोटाश परमैंगनेट जैसा लाल रंग प्रकट होना, एसीटोन की उपस्थिति का सूचक है। 2–3 मिनट तक रखने पर यह रंग और अधिक गाढ़ा हो जाता है। पशु के रक्त में ग्लूकोज की कमी हो जाती है। पशु के मूत्र में 15–20 मिलिग्राम प्रति 100 मिलिलिटर तथा रक्त में 10 मिलिग्राम प्रति 100 मिलिलिटर कीटोन पदार्थों का होना कीटोसिस का सूचक है।

चिकित्सा—समुचित चिकित्सा उपलब्ध होने पर 1 से 4 दिन में रोगी पशु ठीक हो जाते हैं। 500 से 1000 मिलिलिटर की मात्रा में 40 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल का अन्त: शिरा इन्जेक्शन इस रोग की चिकित्सा में काफी लाभदायक सिद्ध हुआ है। 20% कैल्सियम ग्लूकोनेट घोल का 250 मिलिलिटर की मात्रा में अन्त: शिरा टीका भी गुणकारी है। शीरा तथा पानी के साथ 30 ग्राम की मात्रा में क्लोरलहाइड्रस पिलाने से आशातीत लाभ होता है। पहली खुराक में 30 ग्राम

क्लोरलहाइड्रस देकर बाद में 15 से 20 ग्राम की मात्रा में नित्य एक या दो बार 6 दिन तक देने से पुराने रोगी भी ठीक हो जाते हैं। कीटोसिस की चिकित्सा में एड्रीनो कार्टिकोट्रापिक हार्मोन तथा कार्टीसोन का प्रयोग भी गुणकारी है। साराभाई केमिकल्स द्वारा निर्मित 'वेटेलॉग इन्जेक्शन' कीटोसिस की अच्छी दवा है। 0·5 से 1 मिलिलिटर की मात्रा में मांसपेशी में इसका केवल एक ही टीका देने से कीटोसिस ठीक हो जाती है। आवश्यकता पड़ने पर 48 घण्टे बाद इसका दूसरा इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। डेक्सट्रोज अथवा रिन्टोज के साथ इसे देने से और भी शीघ्र आराम पहुँचता है। पाँच माह से ऊपर गाभिन गायों को वेटेलाग का टीका नहीं देना चाहिये।

परिच्छेद : 63

नवजात बछड़ों के रोग

(DISEASES OF THE NEWBORN CALVES)

1. बच्चों में सफेद दस्त
(White Scour in Calves)

विषय परिचय—यह नवजात वच्चों की छूतदार बैक्टीरियल बीमारी है, जिसमें सफेद बदबूदार दस्त आकर वच्चे वहुत कमजोर होकर 2 से 9 दिन में मृत्यु के घाट उतर जाते हैं। जन्म लेने के बाद 24 से 48 घण्टे तक यह रोग अधिक लगता है। वछड़ों में यह वहुत ही गम्भीर रूप से प्रकोप करता है, जिसके फलस्वरूप 60% रोग-ग्रसित वच्चों की मृत्यु हो जाती है। साधारणत: तीन सप्ताह तक की आयु के वच्चों को यह रोग अधिक लगता देखा गया है।

कारण (Etiology or cause)—छूत फैलाने वाला एक जीवाणु बी० कोलाई (B. Coli) इस रोग का मुख्य कारण है। कभी-कभी सालमोनेल्ला बैक्टीरिया (salmonella bacteria) की उपस्थिति भी देखी जाती है, जिसके कारण दस्तों में खून आने लगता है। अपच और ठण्ड लगने से वछड़ों को यह रोग शीघ्र लगता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—दूषित वातावरण, रहने का कुप्रवन्ध, ठण्ड लगना, खराव मौसम, वच्चों को खीस का न मिलना, तथा दूषित आहार, आदि कारणों से रोग का जीवाणु मुँह द्वारा अंतड़ी में प्रवेश पाकर रोग फैलाता है।

लक्षण (Symptoms)—रोग लगते ही वच्चा दूध पीना छोड़कर सुस्त दिखाई देता है। उसको ज्वर होकर वेचैनी होती है। तत्पश्चात् उसे सफेद या पीले वदबूदार दस्त आने लगते हैं और ज्वर कम होकर तापक्रम कभी-कभी नार्मल से भी कम हो जाता है। दस्तों में शुरू में भीनी-भीनी खुशवू आती है जो वाद में खट्टी हो जाती है। वच्चा खड़ा नहीं हो पाता, उसकी आँखें वैठने लगती हैं तथा कान लटके हुए से मालूम पड़ते हैं। घुटनों और टखनों पर सूजन आ जाती है और कभी-कभी इनमें फोड़े भी दिखाई देते हैं। बच्चे की पीठ झुक जाती है तथा खाल सूखकर खुरदरी हो जाती है। उसका स्वस्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है। अन्त में वह जीर्ण-शीर्ण होकर, बेहोश होकर मर जाता है। बीमारी का अधिक प्रकोप होने पर 24–48 घण्टे में ही वच्चों की मृत्यु हो जाती है। बहुत से वछड़े एक साथ बीमार पड़ते हैं। छोटे वच्चों से वड़े वच्चों को भी यह रोग लग जाता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—ऊपर बताये हुए रोग के मुख्य लक्षण देखकर ही बीमारी की पहिचान की जाती है। छुतैली होने के कारण एक साथ कई बछड़े बीमार पड़ जाते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

(1) रोगी को 1 ग्राम कायोलीन, 1 ग्राम बिस्मथ सबनाइट्रेट, रेंडी के तेल (castor oil emulsion) में मिलाकर पिलाना चाहिये।

(2) **सल्फागुआनीडीन** की 2 गोली, 5 ग्रेन सोडाबाइकार्ब के साथ मिलाकर दिन में तीन बार देनी चाहियें।

(3) **सल्फा बोलस** सुबह, दोपहर, शाम देने से काफी शीघ्र लाभ होता है। इसके अतिरिक्त 10–15 घ० सें० सल्फाडिमीडीन सोडियम 33½ प्रतिशत घोल को डिस्टिल्ड वाटर में मिलाकर त्वचा के नीचे (sub-cut) इन्जेक्शन देने से और भी शीघ्र लाभ होता है।

(4) **नेफ्टिन, टेरामाइसीन** अथवा डायाडीन की एक गोली सुबह-शाम दो बार दी जा सकती है।

(5) **प्रति जीवाणु पदार्थ** (antibiotics), जैसे 2 से 4 लाख यूनिट ओमनामाइसीन का तीन दिन तक अन्त:पेशी इन्जेक्शन देना चाहिये।

(6) यदि उपलब्ध हो तो **बी० कोलाइ ऐंटीसीरम** (B. coli antiseprum) से आशातीत लाभ हो सकता है।

(7) दस्त रोकने के लिये आंत्रिक ऐंटीसेप्टिक (intestinal antiseptic) तथा स्तम्भक (astringent) औषधियों का निम्नलिखित नुस्खा भी दिया जा सकता है—

क्रियोलीन	5 मिनिम (बूंद)
लिकर फार्मलीन	15 मिनिम (बूंद)
पानी	आवश्यकतानुसार

एक खुराक बनाकर पिलाओ।

(8) बछड़े के पेट में दर्द रहने पर निम्नलिखित नुस्खा दिया जा सकता है—

अफीम चूर्ण	20 ग्रेन
सौंठ चूर्ण	4 ग्राम
हींग चूर्ण	20 ग्रेन

एक खुराक बनाकर खिलाओ।

(9) पानी के स्थान पर नमक डालकर चावल का माँड चटाना चाहिये।

(10) बछड़े को दूध न पिलाकर चूने के पानी में ग्लूकोज मिलाकर 4–4 घण्टे के अवकाश पर पिलाना चाहिये। शुष्कीकरण (dehydration) रोकने के लिये पानी में मिलाकर इलेक्ट्रॉल (स्ट्रेक्सिया) दिया जा सकता है।

(11) बछड़े को सुबह, शाम, 1–1 गोली सल्कोप्रिम खिलाने से शीघ्र लाभ होता है। 'फ्यूकाक्स' का प्रयोग भी गुणकारी है।

रोकथाम (Prevention and control)—जन्म होने के कुछ ही घण्टों बाद बछड़ों को इस रोग से बचाव का टीका देना चाहिये। नवजात बच्चों को अच्छे साफ सुथरे, प्रकाश व हवादार स्थानों में रखना चाहिये, जिससे कि बीमारी का अवसर न मिल सके। यदि किसी स्थान पर बीमारी फैल रही हो तो छूत की बीमारी के बचाव के पहले बताये हुए सभी साधन अपनाने चाहियें।

2. नाभि रोग
(Navel ill)

अन्य नाम—संधि रोग (Joint ill)।

विषय परिचय—नवजात बच्चों में यह रोग एक छूत के जीवाणु द्वारा फैलता है। गन्दे व दूषित स्थानों में रहने से, कटे हुए गर्भनाल के रास्ते से यह जीवाणु बछड़े के शरीर में प्रवेश पाकर उसकी नाभि पर फोड़ा बना देते हैं। बाद में यह फोड़ा फट कर घाव बन जाता है, जिससे कि मवाद निकल कर अन्य बछड़ों में छूत फैलता है। इस रोग से ग्रसित लगभग 60% बच्चों की मृत्यु हो जाती है।

कारण (Etiology or cause)—छूतदार जीवाणु, स्ट्रेप्टोकोकस (streptococcus), स्टैफिलोकोकस (staphylococcus), तथा परिगलन बैसिलस (necrosis bacillus) के द्वारा यह रोग फैलता है।

छूत लगने के ढंग (Mode of infection)—नाल को गन्दे चाकू से काटना उसका बगैर सूखे ही टूट जाना, काटते समय और उसके बाद उस पर ऐंटिसेप्टिक दवायें न छिड़कना तथा अन्य बच्चों अथवा उसी बछड़े द्वारा नाल का चूसा जाना आदि कारणों से इस रोग की छूत फैलती है।

लक्षण (Symptoms)—बछड़ा, सुस्त रहकर माँ के पास कम जाता है। वह दूध पीना छोड़ देता या कम कर देता है। उसे ज्वर होकर साँस लेने में कष्ट होता है। नाभि का स्थान सूजकर पहले गर्म, सख्त तथा रक्त वर्ण होकर, बाद में फोड़े का रूप धारण कर लेता है। नाभि को इस समय छूने से बछड़ा दर्द का अनुभव करता है और बार-बार अपनी गर्दन मोड़कर उसे देखना व चाटना चाहता है। बच्चे के पैरों के जोड़ सूजे हुए दिखाई पड़ते हैं, जिसमें कभी-कभी फूट कर रक्त मिला हुआ पानी जैसा पतला स्राव निकलता है। बछड़ा अब चलने-फिरने से असमर्थ होकर एक करवट से जमीन पर लेट जाता है। अन्त में जीर्ण होकर अर्द्ध-मूर्छित सा दिखाई देकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है।

रोग का निदान (Diagnosis)

(1) लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाती है।

(2) माइक्रॉस्कोप द्वारा (Microscopic)—रोग ग्रसित भाग से दूषित रक्त या मवाद लेकर, उसका काँच के स्लाइड पर पतला लेप बनाकर माइक्रॉस्कोप में देखने से रोग के जीवाणु दिखाई देते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

फोड़े को पकाकर, खोलकर व साफ करके, उसमें ऐन्टिसेप्टिक दवायें, जैसे **ऐक्रीफ्लेविन गाज** तथा **सिवाजोल पाउडर** भरना चाहिये। प्रतिजीवाणु पदार्थ (antibiotic), जैसे 2 से 4 लाख यूनिट **प्रोकेन पेनिसिलिन**, प्रोनापेन अथवा ओमना-सिलिन का तीन दिन तक नित्य अन्तःपेशी इन्जेक्शन देने से छूत के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

रोकथाम (Prevention and control)—बच्चों को अपना या अन्य बछड़ों का नाल चूसने से रोकना चाहिये। उनको साफ-सुथरे, हवादार व प्रकाशयुक्त बाड़ों में रखना चाहिये। बीमार बच्चों को स्वस्थ बछड़ों से अलग रखा जाये तथा उनके फोड़ों से निकला मल गड्ढे में गाड़ा या जलाया जाये। नवजात बच्चों का नाल छूत न लगने वाली सावधानियों को ध्यान में रखकर काटा जाये।

3. पौषणिक दस्त
(Nutritional Scour)

अन्य नाम—दूध की अपच, आमाशयान्त्र श्लेष्म (gastro intestinal catarrh)।

विषय परिचय—यह दूध पीने वाले बच्चों में पेट तथा अंतड़ी की सूजन है, जिससे कि वह बहुत परेशान होकर मृत्यु के घाट उतरते हैं। रोग बहुधा नवजात दूध पीने वाले बच्चों को ही लगता है और वास्तव में यह दूध न पच पाने के कारण ही हुआ करता है।

कारण (Etiology or cause)—अनियमित रूप से दूध पिलाना, माँ का दूध न मिलकर ऊपरी दूध देना, खीस का अभाव, गन्दे दूध के बर्तन, कृत्रिम रूप से बछड़ों को मक्खन निकला दूध पिलाना तथा गायों को दूषित आहार मिलना आदि कारणों से ही यह रोग प्रकोप करता है।

लक्षण (Symptoms)—बच्चा एकाएक सुस्त होकर दूध पीना छोड़ देता है। उसकी नाड़ी की गति कुछ गड़बड़ हो जाती है तथा उसे ज्वर नहीं रहता तत्पश्चात् हरे पीले रंग के बदबूदार दस्त प्रारम्भ हो जाते हैं, जिससे बच्चे का पिछला धड़ सना हुआ दिखाई देता है। यदि समय पर चिकित्सा न हो पाई तो कमजोरी अधिक आकर बछड़े की मृत्यु हो जाती है।

रोग का निदान (Diagnosis)

लक्षणानुसार (Symptomatic)—बीमारी के मुख्य लक्षण देखकर तथा बच्चे के खान-पान का इतिहास लेकर रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा (Treatment)

सर्वप्रथम रोग के कारण का पता लगाकर उसे समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। तत्पश्चात् बछड़े को 15–30 मिलि लिटर रेंडी का तेल पिलाना चाहिये। इससे पेट में रुका हुआ मल साफ हो जाता है। बछड़े के आहार पर पूर्ण नियन्त्रण करके, उसे नियमित रूप से निश्चित समय पर पानी मिला हुआ दूध पिलाना चाहिये। उसके शरीर को टाट या कम्बल से ढककर गर्म रखना चाहिये। हाजमे के लिए उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सोडावाइकार्ब तथा सौंठ मिला हुआ चूर्ण खिलाना चाहिए। दस्त रोकने के लिए थोड़ी-मात्रा में कत्था, खड़िया, सौंठ, वेलगिरी अथवा अफीम, दूध अथवा पिपरमेंट के पानी के साथ मिलाकर पिलाया जा सकता है। गोवर में रक्त मिला होने पर उसे 1 गोली मेक्साफार्म, 2 गोली सल्फागुआनाडीन के साथ मिलाकर दिन में दो-तीन बार देना चाहिये। कमजोरी के लिए उसे इलेक्ट्रॉल (स्ट्रेक्सिया घोल) तथा विटामिन बी काम्पलेक्स देना चाहिए। स्टेक्लीन अथवा सल्फा वोलस इसकी अच्छी दवा है। सभी प्रकार के दस्तों में 10–15 ग्राम की मात्रा में नैवलोन का प्रयोग की गुणकारी है। इसे दही, मट्ठा अथवा चावल के माँड के साथ सुवह-शाम पशु को देना चाहिए।

4. रिकेट्स
(Rickets)

अन्य नाम—सूखा रोग।

विषय परिचय—परिपोषण की क्रिया भली-भाँति न हो सकने पर नवजात बच्चों को होने वाला यह एक दीर्घकालिक (chronic) रोग है, जिसको अच्छी तरह चिकित्सा न हो पाने पर अनेक बच्चे मृत्यु के घाट उतर जाते हैं। इसमें रोगी की हड्डियाँ बढ़कर टेढ़ी पड़ जाती हैं। बछड़ों की अपेक्षा सुअर, कुत्ता, भेड़ तथा वकरी के बच्चों में यह रोग अधिक प्रकोप करता है।

कारण (Etiology or cause)—बछड़ों में यह रोग उनके शरीर में फॉस्फोरस लवण की कमी के कारण होता देखा गया है। वैसे तो समस्त कारक जो शरीर में कैल्शियम तथा फॉस्फोरस के उपापचयन में विघ्न डालते हैं, इस रोग के लिये उत्तरदायी हैं। विटामिन 'डी' चूंकि कैल्सियम और फॉस्फोरस के उपापचयन से सम्बन्धित है, अतः शरीर में इसकी कमी से भी यह रोग हो जाया करता है। अपुष्टकर भोजन, धूप और स्वच्छ वायु की कमी, अंधेरे स्थान, जल्दी ही माँ का दूध छुड़ा देना, आदि कारण भी इस रोग के होने में सहायक हैं।

लक्षण (Symptoms)—बच्चे के पैर पतले पड़ जाना, सिर और पेट बड़ा दिखाई देना, हड्डियों के बढ़ने से सन्धियों का सूजा हुआ ज्ञात होना तथा रोग के

अधिक बढ़ जाने पर पाकस्थली में गड़बड़ी होकर दस्त आकर बच्चे की मृत्यु हो जाना, आदि इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

निदान (Diagnosis)

रोग के प्रमुख लक्षण देखकर बीमारी की पहचान की जाती है। शरीर पर हाथ फेरने से बच्चे की सन्धियाँ सूजी हुई सी प्रतीत होती हैं। मरे हुए बच्चे की शव परीक्षा करने पर हड्डियों को सरलता से चाकू द्वारा काटा जा सकता है।

चिकित्सा (Treatment)

रोगी को **कैल्सियम, फॉस्फोरस तथा विटामिन 'डी' युक्त पदार्थ सेवन** कराने से तुरन्त लाभ होता है। अतः काड मछली का तेल (cod liver oil), शार्क यकृत तेल (shark liver oil), हैलिवट मछली का तेल (halibut liver oil), कैल्सियम ग्लूकोनेट की विटामिन 'डी' युक्त टिकियाँ, कैल्सीरॉल चूर्ण तथा **ओस्टो कैल्सियम** (osto calcium) के इन्जेक्शन इस रोग की अति उत्तम औषधियाँ हैं। मछली के तेल को सूजी हुई सन्धियों पर मलने से भी शरीर में इसका शोषण हो जाता है। बछड़े को दूध के साथ चूने का पानी तथा जीवाणु रहित अस्थि चूर्ण भी दिया जा सकता है। विटामिन 'डी' की कमी को पूरा करने के लिये बच्चे को धूप में बिठाना चाहिये।

ग्लैक्सो द्वारा निर्मित ओस्टो कैल्सियम सिर्फ 2 बड़े चम्मच सुबह-शाम देने से काफी लाभ होता है। साथ में विटामिन बी काम्पलेक्स भी दिया जा सकता है।

प्रारम्भ से ही नवजात बच्चों को कोई भी खनिज लवण तथा विटामिन मिश्रण और प्रति जैविक पदार्थ देते रहने से अधिकाँश रोगों से बचाया जा सकता है। एक माह के अवकाश पर केवल एक बार इन्हें पिपराजीन युक्त कृमिनाशक औषधि देने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

कुक्कुट पालन

POULTRY KEEPING

परिच्छेद : **64**

कुक्कुट की शरीर रचना तथा क्रिया विज्ञान

(ANATOMY AND PHYSIOLOGY OF DOMESTIC FOWL)

कुक्कुट का शरीर अन्य पशुओं की भाँति ही हड्डी, माँस तथा खाल का बना होकर ऊपर से पंखों से ढका रहता है। हड्डी, माँस तथा भीतरी अंग आन्तरिक शरीर रचना और त्वचा तथा पंख इनकी बाह्य शरीर रचना का निर्माण करते हैं। यहाँ दिए हुए चित्र को देखने के पता चलता है कि त्वचा तथा पंख मिलकर कुक्कुट के पूरे शरीर को ढके रहता है।
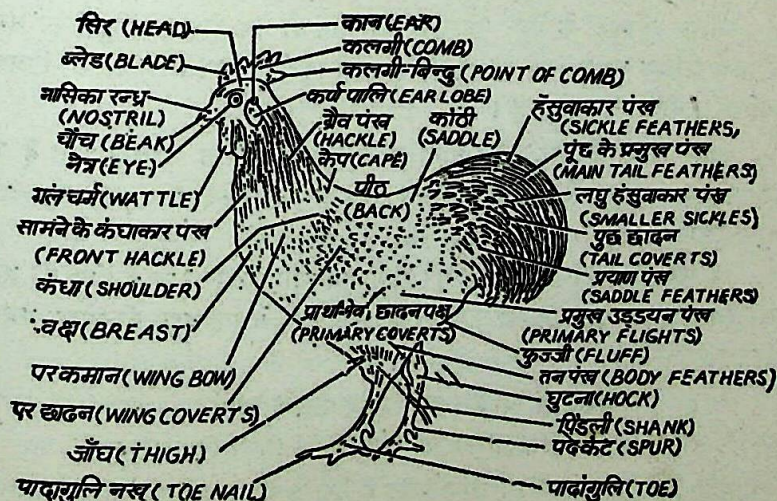
चित्र 64·1—कुक्कुट की बाह्य शरीर रचना
(External Anatomy of Chicken)

कुक्कुट की त्वचा में पूँछ वाले पंखों की जड़ के पास एक तेल ग्रन्थि (oil gland) होती है। इसे प्रीन ग्रन्थि अथवा यूरोपायजियल ग्रन्थि भी कहते हैं। इस ग्रन्थि से एक तेलीय पदार्थ निकलकर मुर्गियों के शरीर तथा पंखों को चिकना और

चमकीला बनाये रखता है। त्वचा तथा पंखों का कार्य शरीर की रक्षा करना और शारीरिक तापक्रम को नियन्त्रित करना है।

प्रौढ़ मुर्गी के पंख तीन प्रकार के होते हैं—(1) एक तो Contour feathers जो लम्बे होकर सबसे बाहरी सतह बनाते हैं, (2) Down feathers जो इनके नीचे स्थित रहकर चिकनी तथा मुलायम सतह बनाते हैं, (3) तीसरे प्रकार के पंख Filoplume कहलाते हैं। कुक्कुटों के उड़ने वाले तथा पूँछ के पंख अन्य पंखों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। मुर्गों की ग्रीवा, पीठ तथा पूँछ पर पाये जाने वाले पंख मुर्गियों में पाये जाने वाले इन पंखों की तुलना में अधिक लम्बे तथा नुकीले होते हैं और इन्हें गौण लैंगिक पंख (secondary sexual feathers) के नाम से भी जाना जाता है।

चोंच—कुक्कुटों की चोंच हड्डी की बनी होकर उस पर त्वचा की पर्त चढ़ी रहती है। चोंच के ऊपरी भाग में दोनों ओर एक-एक नथुना होता है।

कलंगी तथा गलचर्म (Comb and Wattle)—कुक्कुटों के सिर पर मोटी कलंगी तथा गले के नीचे लटकता हुआ लाल रंग का गलचर्म होता है। इनमें बहुत ही तेज रक्त संचार होने के कारण इनका रंग लाल होता है। मुर्गियों की अपेक्षाकृत मुर्गों में ये अंग अधिक विकसित होते हैं। अण्डे देने वाली मुर्गी की कलंगी तथा गल चर्म चमकीले लाल और मोटे होते हैं।

आंख—कुक्कुटों के चेहरे पर ऊपर की ओर दो नेत्र होते हैं। मुर्गी की चमकीली आँखें अधिक अण्डा देने का सूचक हैं। कुक्कुटों की आँख में ऊपरी, निचला तथा भीतरी, तीन पलक होते हैं।

कान—आँख के थोड़ा नीचे दोनों ओर कान के छेद से दिखाई पड़ते हैं जो बहुधा पंखों में ढंके रहते हैं। इनके साथ ही लटकता हुआ सफेद भाग कर्णपालि (ear lobe) कहलाता है।

पद कंट (Spur)—मुर्गी के पैर में पंजे के थोड़ा ऊपर टाँग के पीछे की ओर निकला हुआ नुकीला भाग पदकंट कहलाता है। मुर्गियों में यह बहुत ही छोटा अथवा अनुपस्थित रहता है।

कुक्कुट के पाचन अंग और उनके कार्य
(Organs of Digestion of Fowl and their Functions)

यहाँ दिये हुये चित्र को आप ध्यान से देखें। यह कुक्कुट का पाचन संस्थान (Digestive system) है जो चोंच, मुँह, ग्रसनी, ग्रास नली, क्राप, प्रोवेन्ट्रीकुलस, गिजर्ड, छोटी तथा बड़ी आँत से मिलकर बनता है। आहार-नाल मुँह से प्रारम्भ होकर मलद्वार पर समाप्त होने वाली एक लम्बी नली है जो चारे-दाने को ग्रहण करके उसे चबाकर और पचाकर शोषित होने के योग्य बनाती है।

मुर्गी अपनी चोंच से चारा-दाना पकड़कर मुँह में रखती है। इस पक्षी के

मुँह में दाँत नहीं होते। मुर्गी की जीभ चारे को निगलने में सहायता करती है। निगलने के बाद चारा-दाना ग्रासनली से होता हुआ उसके आमाशय में पहुँचता है।
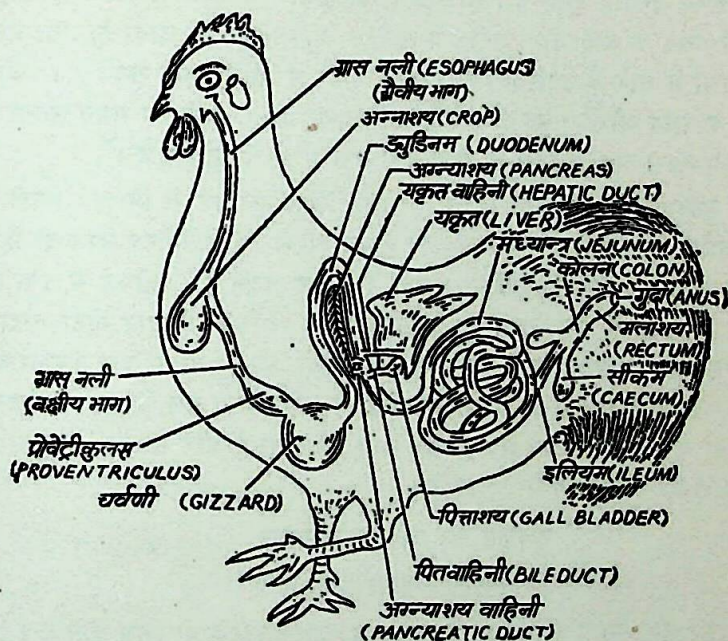
चित्र 64·2—कुक्कुट के पाचन अंग
(Organs of Digestion of Fowl)

इससे पूर्व कुछ देर तक अनाज के दाने क्राप या अन्नाशय में भण्डारित होकर मुलायम हो जाते हैं। मुर्गी का आमाशय दो भागों का बना होता है—(1) प्रोवेन्ट्रीकुलस (2) वेन्ट्रीकुलस या गिजर्ड। प्रोवेन्ट्रीकुलस वाले भाग की दीवालों में कुछ ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे आमाशयिक रस तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल निकलकर चारे को पचाता है। कुछ देर यहाँ रहने के बाद चारा आमाशय के अगले भाग गिजर्ड में पहुँचता है। गिजर्ड की दीवालें काफी मोटी पर्त की बनी होती हैं। दाँत न होने के कारण मुर्गियों के राशन में पत्थर के चूरे या संगमरमर के छोटे टुकड़े खिलाने का विशेष महत्व है। यह टुकड़े गिजर्ड वाले भाग में उपस्थित रहकर चारे को पीसने में सहायक होते हैं। यह अंग चक्की की भाँति कार्य करता है। एक मिनट में गिजर्ड की दीवालें दो या तीन बार सिकुड़कर मिश्रित तथा महीन किये हुये चारे-दाने को छोटी आँत में ढकेल देती हैं। गिजर्ड से कोई पाचक रस नहीं निकलता।

छोटी आँत—ड्यूडिनम (पहला भाग), मध्यान्त्र (दूसरा भाग) तथा इलियम (तीसरा भाग) से मिलकर बनती है। जैसे ही चारा गिजर्ड से ड्यूडिनम में पहुँचता

है, पैंक्रियाज से अग्न्याशय रस (Pancreatic juice) तथा यकृत में मौजूद पित्ताशय से पित्त रस निकलकर इस पर अपनी क्रिया करते हैं। अग्न्याशय रस कुछ-कुछ क्षारीय तथा पित्तरस अम्लीय होता है। छोटी आँत की कुल लम्बाई लगभग 1·5 मीटर होती है। यहाँ पचने के बाद चारा शरीर में शोषित होने योग्य बन जाता है, अतः अंतड़ी की दीवालों से चारे में उपस्थित पोषक-तत्व शरीर में शोषित होने लगते हैं। अंतड़ी में चारे के पचने और शोषित होने में कुल मिलाकर $2\frac{1}{2}$—3 घण्टे का समय लगता है। बचा हुआ चारा अब इलियम से होता हुआ बड़ी आँत में पहुँचता है।

कुक्कुटों की **बड़ी आँत** सीकम, कोलन तथा मलाशय से मिलकर बनती है। सीकम वाला भाग थैली के आकार का होकर 10 से 15 सेंटीमीटर लम्बे दो हिस्सों का बना होता है। यह दोनों हिस्से कोलन में आकर खुलते हैं। सीकम में बचा हुआ चारा मल के रूप में भरा रहता है। किसी हद तक अधिक रेशेदार मोटा चारा जो अभी तक नहीं पच पाता, यहाँ उपस्थित सूक्ष्म जीवों द्वारा तोड़ा तथा पचाया जाता है। कोलन की दीवाल से इसका शोषण होता है। शेष भाग मल के रूप में कोलन से होता हुआ मलाशय (रेक्टम) में पहुँचकर जमा हो जाता है और मलद्वार से होता हुआ गुदा या व्यंट से बाहर निकल जाता है।

कुक्कुट का प्रजनन संस्थान
(Reproductive system of Fowl)

नर तथा मादा कुक्कुट के प्रजनन अंग एक-दूसरे से भी भिन्न होते हैं। मुर्गे में अण्डकोष (testes) प्रजनन का प्रमुख अंग तथा शुक्र वाहिनी (vas deferens) सहायक उपांग कहलाता है। गुदा के वाह्य द्वार के निकट नीचे की ओर एक छोटा-सा सहवास का अंग होता है। मुर्गे के अण्डकोष आकार में छोटे तथा पीले रंग के होकर गुर्दे के ऊपरी सिरे पर स्थित रहते हैं। बायाँ अण्डकोष दाहिने से कुछ बड़ा होता है। इनका प्रमुख कार्य शुक्राणु उत्पादन करना है।

मुर्गी के जननांग (Female Reproductive Organs)

ओवरी—प्रारम्भ में मुर्गियों में दो ओवरी का विकास होता है किन्तु बाद में केवल बायीं ओवरी ही विकसित होकर अण्डाणुओं का उत्पादन करती है। फेफड़े तथा गुर्दे के बीच यह रीढ़ की हड्डी के निकट स्थित रहती है। यह प्रजनन का प्रमुख अंग है। मुर्गी की ओवरी विभिन्न आकार की छोटी बड़ी डिम्ब पुटकों (ovarian follicles) से मिलकर गुच्छाकार होती है। प्रत्येक पुटक में पीले रंग का गोलाकार अण्डाणु मौजूद रहकर पीतक (yolk) बनाता है। प्रतिदिन केवल एक ही पुटक बड़ा होकर डिम्बक्षरण (ovulation) की अवस्था में पहुँच पाता है।

अग्र पिट्यूटरी ग्रन्थि (anterior pituitary) से निकलने वाला हारमोन L. H. रक्त संस्थान में O. I. H. (ovulation inducing hormone) में परिवर्तित
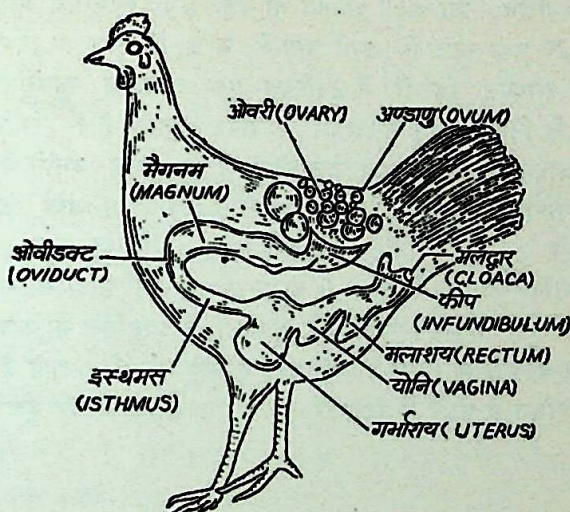
चित्र 64 3—मुर्गी के जननांग

(Organs of reproduction of fowl)

होकर ओवरी के अण्डाणु निकालने में सहायक होता है। डिम्बक्षरण से एक बार 14 या 16 घण्टे पूर्व और दुबारा 8 घण्टे पूर्व L.H. हारमोन निकलकर इस क्रिया को सम्पन्न कराता है। दूसरा हारमोन F.S.H. तथा एक तीसरा "अज्ञात" हारमोन भी किसी हद तक अण्डाणुक्षरण में सहायक है। दो अण्डों के बीच होने वाले अण्डाणुक्षरण के मध्य 22 से 28 घण्टे का अवकाश होता है।

ओवीडक्ट (डिम्ब वाहिनी)—ओवरी से मलाशय के बाह्य द्वार तक जाने वाली एक टेढ़ी-मेढ़ी कुण्डलाकार लम्बी नली है जो उदर-गुहा में बायीं ओर स्थित रहती है। मुर्गियों में यह प्रजनन का सहायक उपांग कहलाता है। इसके 5 भाग होते हैं—(1) ओवरी के निकट कीपाकार **इनफंडीबुलम**—जो ओवरी से निकलने वाले अण्डाणु को पकड़कर रखता है। मुर्गे के शुक्राणु यहीं आकर अण्डाणु का संसेचन करतेहैं।

(2) मैगनम—ओवीडक्ट का मोटी दीवालों वाला, सफेद रंग का यह सबसे बड़ा भाग है। इस भाग में उपस्थित प्रोटीन अण्डे की सफेदी (albumen) बनाती है तथा इससे निकलने वाला श्लेष्मा (mucus) चैलेजा के निर्माण में सहायक होता है।

(3) इस्थमस—ओवीडक्ट का यह संकीर्ण तथा पतला भाग है जो अण्डे के खोल की भीतरी झिल्ली का निर्माण करता है। यहाँ अण्डा लगभग 1 घण्टा रहकर गर्भाशय में चला जाता है।

(4) **गर्भाशय**—इसे shell gland भी कहते हैं। इस्थमस से आया हुआ अण्डा इसमें लगभग 20 घण्टे रहता है। इसी भाग में अण्डे के खोल का निर्माण होता है। ओवीडक्ट की श्लेष्मल झिल्ली में उपस्थित एक एन्जाइम कार्बोनिक एनहाइड्रेज अण्डे के खोल के निर्माण हेतु कैल्शियम कार्बोनेट बनाता है। गर्भाशय में मौजूद एक दूसरा इन्जाइम एल्कलाइन फास्फटेज भी अण्डे का खोल बनाने में सहायक है। गर्भाशय के एपिथिलियम से निकलने वाली पोरफायरिन अण्डे के रंग के लिये उत्तरदायी होती है।

(5) **योनि**—अंग्रेजी के अक्षर S के प्रकार का यह छोटा सा मसीला भाग है जो आगे जाकर गुदा के पास खुलता है। कुक्कुटों में प्राकृतिक सहवास के बाद इसी भाग की योनि ग्रंथियों में 12 से 22 दिन तक शुक्राणु भण्डारित रहते हैं। पूर्ण बना हुआ अण्डा गर्भाशय से योनि में पहुँचकर कुछ देर भण्डारित रहकर गुदामार्ग से बाहर निकलता है।

परिच्छेद : 65

कुक्कुटों के रोग और उनका उपचार

(DISEASES OF FOWL AND THEIR TREATMENT)

हमारे देश में पाये जाने वाले कुक्कुटों में प्रायः चार प्रकार की बीमारियाँ अधिक देखने को मिलती हैं—

1. परजीवी कीट व्याधियाँ—शरीर के ऊपर तथा शरीर के अन्दर रहने वाले परजीवी कीटों से फैलने वाले रोग।
2. जीवाणुओं (bacteria) से फैलने वाले रोग।
3. विषाणुओं (Virus) से फैलने वाले रोग।
4. फफूंदी से लगने वाले रोग।

परजीवी कीट व्याधियाँ

बहुधा दो प्रकार के परजीवी कीट मुर्गियों में पाये जाते हैं—एक तो जूँ, माइट, किलनी तथा पिस्सू जैसे बाह्य परजीवी कीट जो शरीर के ऊपर त्वचा तथा पंखों के बीच स्थित रहकर कुक्कुटों को परेशान करके उनका स्वास्थ्य खराब करते हैं। दूसरे अन्तः परजीवी कीट, जैसे गोल कृमि, फीता कृमि, काक्सीडिआ आदि जो शरीर के अन्दर रहकर मुर्गियों में कृमि रोग उत्पन्न करके उनका विनाश करते हैं।

बाह्य परजीवी कीटों का प्रकोप होने पर मुर्गियों के शरीर पर खुजली मचती, वे बेचैन रहकर चोंच से अपना शरीर खुजलाती, खाना कम खाती तथा अण्डा देना कम कर देती हैं। उनके शरीर के ऊपर घूमते अथवा चिपके जुओं, पिस्सुओं या किलनियों को देखा जा सकता है।

1 भाग लोरेक्सीन हैड लोशन को 4 भाग पानी में मिलाकर मुर्गियों के शरीर पर रुई के फाहे से लगाने से अधिकाँश बाह्य परजीवी कीट एक बार में ही नष्ट हो जाते हैं। यदि आवश्यक हो तो 10–15 दिन बाद दुबारा इस दवा को लगाया जा सकता है। गैमेक्सीन, मैलाथियान तथा बी० एच० सी० का घोल मुर्गी के शरीर तथा बिछावन पर छिड़कना भी लाभदायक है।

अन्तः परजीवी कीटों के प्रकोप में, धीरे-धीरे कमजोर होती चली जाती हैं और उनका अण्डा उत्पादन एकाएक कम होने लगता है। वे पतली टट्टी करती

हैं। **काक्सीडिओसिस** के प्रकोप में उनको बुखार रहता है तथा खून मिली लाल रंग की टट्टी होती है। मुर्गियों के मल में इन परजीवी कीटों के अण्डे बाहर निकलते हैं। यदि समय से इलाज नहीं हो पाया तो अधिकांश पक्षी मरने लगते हैं। मरने के बाद शव-परीक्षा करने पर अंतड़ी के अन्दर ये कीट मौजूद मिलते हैं। मृत्यु दर 70 से 100% है।

इनकी **चिकित्सा तथा रोकथाम** के लिये मुर्गियों को कृमिनाशक औषधियाँ खिलानी चाहियें। केंचुए जैसे गोल कृमि को नष्ट करने के लिये मुर्गियों को हर 21 दिन पर पिराजीन युक्त औषधियाँ (पिपरेक्स, हेल्मासिड, वर्मेक्स) देते रहना जरूरी है। फीता कृमि (टेप वर्म) के लिये डाइसिस्टाल गोली अथवा टैनिल चूर्ण का प्रयोग गुणकारी है। काक्सीडिओसिस के इलाज के लिये मुर्गियों को **ऐम्प्रोलसोल, काड्रीनाल अथवा वाइफुरान** पीने वाले पानी में मिलाकर देना चाहिये। कमजोरी दूर करने के लिये साथ में विटामिन बी कम्पलेक्स भी देना जरूरी है।

जीवाणुओं से फैलने वाले रोग

बॉटूलिज्म, कुक्कुट कालरा, कुक्कुट क्षय, टाइफाइड, कोराइजा, पुलोरम आदि कुक्कुटों में जीवाणुओं द्वारा प्रकोप करने वाले प्राणघात रोग हैं।

बॉटूलिज्म का रोगोत्पादक कारक **क्लॉस्ट्रीडियम बॉटूलिनम** है। इसमें रोग ग्रसित पक्षी के पंखों तथा पैरों में पक्षाघात (लकवा) के लक्षण देखने को मिलते हैं और वह अपने पंखों को जमीन पर टेक कर गर्दन झुकाकर खड़ा होता है।

कुक्कुट कालरा; एक जीवाणु **पास्चुरेल्ला एविसिडा** द्वारा उत्पन्न होता है। इसमें कुक्कुटों का कुल रक्त दूषित होकर उनको हरे, बादामी अथवा पीले रंग के पतले दस्त आने लगते हैं। कलंगी तथा गलचर्म का रंग काला पड़ जाता है। चारा-दाना न खाना, अधिक प्यास, साँस लेने में कठिनाई, ज्वर तथा गर्दन नीचे डालकर सुस्त हो जाना इसके अन्य लक्षण हैं।

कुक्कुट क्षय का रोगोत्पादक कारक **माइकोबैक्टीरियम एवियम** है। रोग-ग्रसित पक्षियों में धीरे-धीरे बढ़ती हुई कमजोरी, सुस्ती, दस्त, शरीर भार में कमी के लक्षण देखने को मिलते हैं। मरे हुए कुक्कुटों का शव चीर कर देखने पर अंतड़ी की दीवालों, फेफड़ों, यकृत तथा प्लीहा पर पीले रंग की फुन्सियाँ (ट्यूबर्किल) सी दिखाई पड़ती हैं।

कुक्कुट टायफाइड; एक जीवाणु **साल्मोनेल्ला गैलिनेरम** द्वारा उत्पन्न होकर रोग-ग्रसित पक्षियों में सुस्ती, खान-पान में अरुचि, प्यास, बुखार तथा पीलापन लिये हुए नारंगी अथवा हरे दस्त के लक्षण प्रकट करता है। मुर्गियों का यकृत, प्लीहा तथा गुर्दा बढ़ जाता है। रोग ग्रसित 10% पक्षियों की मृत्यु हो जाती है। यह रोग बड़े पक्षियों को ही लगता है।

संक्रामक कोराइजा का रोगोत्पादक कारक **ह्रीमोफिल गैलिनेरम** जीवाणु

है। रोग ग्रसित कुक्कुटों में नाक बहने वाला लाल रंग का गाढ़ा बदबूदार स्राव, श्वाँस कष्ट तथा आँखों में सूजन आकर पलकों का चिपक जाना आदि लक्षण देखने को मिलतें हैं।

पुलोरम रोग; एक जीवाणु साल्मोनेल्ला पुलोरम द्वारा उत्पन्न होकर चूजों में सुस्ती, कराहने की आवाज तथा सफेद रंग के दस्तों के लक्षण प्रकट करता है। प्रौढ़ मुर्गियों की ओवरी में यह जीवाणु निवास करके वहाँ विकसित होने वाले अण्डपीत को खराब करके उसमें गहरा बादामी अथवा हरा रंग उत्पन्न करता है। इस रोग को जीवाणुज श्वेत प्रवाहिका (Bacillary White Diarrhoea or BWD) रोग के नाम से भी जाना जाता है। मृत्यु दर 70–100 प्रतिशत होता है।

विषाणुओं से फैलने वाले रोग

कुक्कुट प्लेग, कुक्कुट शीतला (fowl pox), रानीखेत, कुक्कुट पक्षाघात, मैरेक्स, संक्रामक खाँसी, संक्रामक लैरेन्जियो ट्रैकिआइटिस तथा संक्रामक प्रमस्तिष्क शोथ जैसे रोग मुर्गियों में विभिन्न प्रकार के विषाणुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं।

कुक्कुट प्लेग का रोगोत्पादक वाइरस (विषाणु) रोग-ग्रसित पक्षियों में एकाएक प्राणघातक प्रकोप करके चलने में लड़खड़ाहट, पलकों को बन्द करके रखना, आँखों का काला पड़ जाना, सुस्त रहकर अन्य पक्षियों से अलग रहना, अण्डा देना बन्द कर देना, तेज बुखार, नथुनों से स्राव बहना तथा कभी-कभी पानी जैसे पतले दस्त होने के लक्षण प्रकट करता है।

कुक्कुट शीतला (पाक्स) भी मुर्गियों में प्रकोप करने वाला एक संक्रामक रोग है। इस रोग का विषाणु पक्षी की कलगी, गल चर्म तथा चेहरे पर मस्से की आकार के चेचक के समान दाने तथा छाले उत्पन्न करता है। प्रारम्भ में यह दाने लाल, फिर पीले होकर, अन्त में काले पड़ जाते हैं। मुर्गियाँ बहुत बेचैन होकर मुँह खोलकर हाँफती हैं तथा खाना-पीना और अण्डे देना कम कर देती हैं।

छालों पर जेन्शन वायोलेट अथवा एम० सी० लोशन पोत कर या फ्युरासीन क्रीम लगाकर रोगी को आराम पहुँचाया जा सकता है।

रानीखेत अथवा न्यूकैसल रोग से ग्रसित कुक्कुटों में मुँह खोलकर साँस लेना, बुखार, हाँफना, खाँसी, छींके आना, दस्त आना, पैरों का लड़खड़ाना, गर्दन घुमाकर आसमान की ओर ताकना अथवा नीचे मोड़कर दोनों पैरों के बीच रखना इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं।

कुक्कुट पक्षाघात अथवा एवियन ल्युकोसिस काम्प्लेस कुक्कुटों की बहुत ही खतरनाक बीमारी है जो शरीर के विभिन्न अंगों पर एक साथ प्रभाव डालकर लकवा जैसे लक्षण उत्पन्न करती है। वृद्धि करने वाले युवा पक्षियों में इसका प्रकोप अधिक होता है। चलने में लड़खड़ाना, एक पैर फैलाकर रखना, आँखों में सफेदी आकर अन्धा हो जाना, यकृत का बढ़ जाना, कलगी का पीला पड़ जाना, हड्डियों का सूज कर मोटा

तथा सख्त हो जाना, शरीर भार में कमी तथा खान-पान में अनिच्छा आदि इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

मैरेक्स रोग से पीड़ित पक्षियों में पंखों का गिरना, पैरों का लड़खड़ाना, शरीर पर गिल्टी पड़ना, पेट बढ़ जाना, शरीर भार में कमी, आँखों से कम दिखाई देना, खान-पान में अरुचि, त्वचा पर झुर्रियाँ पड़कर मृत्यु हो जाना आदि लक्षण देखने को मिलते हैं। इस रोग का कोई भी लाभदायक उपचार नहीं है।

संक्रामक खाँसी (ब्रोंकाइटिस) में कुक्कुटों को बुखार होकर उन्हें साँस लेने में कठिनाई होती है। अण्डा देने वाली मुर्गियों में अण्डा उत्पादन कम होकर उनका छिलका पतला पड़ जाता है। 25% रोग ग्रसित चूजों की मृत्यु हो जाती है। बीमारी का कोई इलाज नहीं है।

संक्रामक लैरेन्जियो टैकिआइटिस में पक्षी गर्दन खींचकर तथा मुँह खोलकर सीटी जैसी आवाज करता हुआ कष्टप्रद साँस लेता है। लगभग 50% रोग ग्रसित कुक्कुटों की मृत्यु हो जाती है। इसकी भी कोई सही चिकित्सा नहीं है।

संक्रामक एनसेफैलोमाइलाइटिस (प्रमस्तिष्क शोथ) में रोग ग्रसित चूजों में सुस्ती, उदासी, पैरों का लड़खड़ाना, कूल्हे पर बैठना, चलते-चलते गिर जाना, आवाज में कमी, माँसपेशियों में कंपकपी, आँखों में सफेदी तथा शतप्रतिशत मृत्यु के लक्षण देखने को मिलते हैं।

फफूँदी से फैलने वाले रोग

ब्रूडर निमोनिया फफूंद युक्त चारा खाने से कुक्कुटों को लगती है साँस लेने में कठिनाई, आँखों में लालामी होकर गाढ़ा स्राव जमा होना, बुखार, सुस्ती, बेहोशी के साथ चूजों की मृत्यु होना इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं। छोटे बच्चों को यह रोग अधिक लगता है। रोकथाम के लिये सभी बीमार चूजों को तत्काल नष्ट कर देना चाहिये। फफूंदयुक्त बिछावन या राशन का उपयोग न करें।

एफ्लोटाक्सीकोसिस की बीमारी भी फफूंद लगा राशन खाने से मुर्गियों को अधिक लगती है। वर्षा ऋतु में चारे-दाने में अधिक नमी होने के कारण फफूँदी का विकास होता है। रोग ग्रसित मुर्गियों में खान-पान में अरुचि, चूजों की वृद्धि एवं विकास में कमी, पानी जैसे पतले दस्त आना तथा अण्डा देने वाली मुर्गियों में अण्डा उत्पादन से कमी के लक्षण देखने को मिलते हैं। इस बीमारी में 5 ग्राम कापर सल्फेट प्रति 10 लिटर पानी में घोलकर मुर्गियों को पिलाने से लाभ होता है। राशन को धूप में सुखाकर पक्षियों को देना चाहिये। फफूँदी लगा चारा-दाना न खिलायें। इस पुस्तक के लेखक द्वारा कराये गए अनुसन्धान के अनुसार ऐसी मुर्गियों को विटाब्लैण्ड AD_3 खिलाना काफी लाभप्रद है।

चिकित्सा तथा रोकथाम

जीवाणुओं तथा विषाणुओं से फैलाने वाले रोग अधिकाँश कुक्कुटों के लिये प्राणघातक होते हैं। अतः इनकी चिकित्सा पर तत्काल ध्यान देकर बचाव तथा रोकथाम पर अधिक जोर देना चाहिये। सल्फा औषधियाँ (सल्फाडिमीडीन सोडियम

16% घोल, डायाडिन घोल, सलम्यट) तथा ऐंटिबायोटिक (होस्टा साइक्लीन, स्टेक्लीन ऐम्पीसिलीन, टेरामाइसीन) देकर जीवाणुज रोगों से तो किसी हद तक कुक्कुटों की रक्षा की जा सकती है किन्तु विषाणुज रोगों पर यह औषधियाँ भी अधिक कारगर नहीं सिद्ध होतीं। रोगों के भीषण प्रकोप के समय सेप्ट्रान सिरप तथा साथ में विटामिन बी काम्प्लेक्स सिरप देकर कुछ पक्षियों की जीवन रक्षा की जा सकती है।

चूँकि बचाव उपचार से बेहतर है अतः संक्रामक एवं छूतदार रोगों से बचाव के सभी साधन अपनाने चाहियें। जिन बीमारियों के लिये वैक्सीन उपलब्ध है उनके प्रति कुक्कुटों को उचित समय पर वैक्सीन का टीका लगवा लेने से पक्षियों में यह रोग प्रकोप नहीं करते। वैक्सीन की व्यवस्था आप अपने निकट के पशु-चिकित्सक से मिल कर कर सकते हैं। कुक्कुट शाला की भली-भाँति सफाई रखकर तथा मुर्गियों की सुव्यवस्थित देख-भाल करके उन्हें इन रोगों से बचाया जा सकता है। पीने के पानी में पोटाश परमैंगनेट अथवा टेरामाइसिन ऐन्टिजर्म 77 मिला देने से पक्षियों को पानी से लगने वाली छूत से बचाया जा सकता है। रोगों के आक्रमण के समय तथा बचाव हेतु फ्युकाक्स पाउडर तथा स्ट्रेक्सिया पानी में मिलाकर पिलाने से आशातीत लाभ होता है।

मुर्गियों को बीमारियों से बचाव के प्रति टीका लगाना
(Prophylactic Vaccination of Poultry Birds)

स्तनधारी पशुओं की भाँति पक्षियों को भी अनेक संक्रामक एवं छूतदार रोगों के प्रति बचाव के टीके लगाना जरूरी है। 'बचाव उपचार से बेहतर है' यह कहावत मुर्गियों में अक्षरशः लागू होती है। साधारण देख-भाल तथा समय पर कुछ बीमारियों के प्रति बचाव के टीके लगवा देने से मुर्गीपालन व्यवसाय को आसानी से लाभ के साथ चलाया जा सकता है। ऐसे रोगों का प्रकोप होने पर कोई इलाज कारगर न होकर शत-प्रतिशत रोग-ग्रसित पक्षियों की मृत्यु होकर दो-चार दिन में ही यह धन्धा ठप्प हो सकता है। अतः मुर्गियों में समय पर वैक्सीनेशन कराना बहुत जरूरी है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है। यह वैक्सीन भी निर्माता अथवा अधिकृत विक्रेताओं से खरीदकर स्वयं या पशु चिकित्सक की सहायता से आप अपने कुक्कुटों को लगा सकते हैं।

रानीखेत रोग अथवा न्युकैसेल रोग
(Ranikhet or New Castle Disease)

1. वैक्सीन का नाम— वाएफ न्युकैसेल् रोग वैक्सीन एफ अथवा लैसोटा प्रजाति।
   निर्माता— वाएफ रिसर्च इंस्टीट्यूट, बाघोली, पूना।
   मात्रा— 0·5 मिली लिटर घोल का त्वचा के नीचे टीका दें।

प्रोग्राम—

प्राथमिक वैक्सीनेशन के समय पक्षी की आयु	बूस्टर टीका लगाना	पुनः वैक्सीनेशन करना
1 से 7 दिन के चूजों के नथूने में एक-एक बूँद घुला हुआ वैक्सीन डालें केवल एक बार।	6 से 8 सप्ताह की आयु पर इन्हीं पक्षियों को, इन्जेक्शन अथवा पेय जल के साथ वैक्सीन दें।	16 से 18 सप्ताह की आयु पर एक बार टीका देकर प्रति 4 माह के अन्तराल पर इसे प्रयुक्त करें।

टीका बनाने तथा लगाने की विधि

(i) सूखे वैक्सीन का घोल तैयार करना—प्रयोग में लाई जाने वाली सुई तथा इन्जेक्शन देने वाली पिचकारी को पानी में उबालकर जीवाणु रहित करके ठण्डा होने के लिये रेफ्रीजरेटर में रख दें। अब रेफ्रीजरेटर में रखे रानीखेत वैक्सीन (सूखा पदार्थ) तथा घोलक की शीशियों को निकालकर 2–3 मिलिलिटर घोलक ठण्डी की हुई सिरिंज में भरकर, वैक्सीन वाली शीशी में डालें। इस कार्य के लिये 2 से 5 मिलि-लिटर वाली सिरिंज तथा 21 गेज की सुई उपयोग में लावें। शीशी को भली-भाँति हिलाकर वैक्सीन घोल लें। पूरा वैक्सीन घुल जाने के बाद इसे सिरिंज में खींचकर घोलक वाली शीशी में स्थान्तरित कर दें। इस शीशी को भी भली-भाँति हिलाकर वैक्सीन को एक-समान पतला कर लें। इस प्रकार तैयार किये हुए वैक्सीन को बर्फ के टुकड़ों के बीच थर्मस फ्लास्क में रखें तथा एक घण्टे के अन्दर मुर्गियों को लगा दें। घुला हुआ बचा वैक्सीन भण्डारित न करें तथा इसे फेंक कर नष्ट कर दें।

(ii) प्राथमिक वैक्सीनेशन—एक दिन से लेकर सात दिन की आयु वाले चूजों को यह वैक्सीन दिया जाता है। चूजे को पकड़ कर उसकी चोंच दबाइये तथा एक ओर के नथुने को अंगुली से बन्द करके दूसरे नथुने में सिरिंज तथा सुई की सहायता से 1 बूँद वैक्सीन टपका दीजिये। अब यह नथुना बन्द करके दूसरे नथुने में भी इसी प्रकार एक बूँद वेक्सीन डालें। टीका लगाने की यह विधि अन्तः नासिका (Intranasal inhalation) विधि कहलाती है।

(iii) बूस्टर वैक्सीनेशन—6 से 8 सप्ताह की आयु पर प्राथमिक टीका लगे कुक्कुटों के बच्चों को टीके की दूसरी मात्रा दी जाती है, इसे बूस्टर कहते हैं। यह दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक तो त्वचा के नीचे टीका देकर, और दूसरे वैक्सीन को पीने वाले पानी में मिलाकर।

त्वचा में टीका देने के लिये उपलब्ध वैक्सीन (500/1000 खुराक) के साथ में आपूर्ति किये गए 30/60 मिलिलिटर घोलक में घोल कर, उसमें 220/240 मिलिलिटर (प्रशीतक में रखकर ठण्डा किया हुआ) जीवाणु रहित डिस्टिल्ड वाटर अथवा नार्मल सलाइन घोल मिलाकर भली-भाँति हिलाइए। इस प्रकार तैयार वैक्सीन का 0·5 मिलि लिटर की मात्रा में पंख के अन्दरूनी भाग पर त्वचा के नीचे टीका लगाइए।

यदि पीने वाले पानी के साथ वैक्सीन देना हो तो 30/60 मिलिलिटर घोलक में घोले वैक्सीन को 10/20 लीटर ठण्डे किये हुए ऐसे पानी में मिलाइए जिसमें 30/60 ग्राम मखनिया दूध (सप्रेटा) चूर्ण मिलाया गया हो। ऐसा करने से वैक्सीन स्थायी रहता है। इस प्रकार तैयार किया गया वैक्सीन का घोल 6 से 8 सप्ताह की आयु वाले 500/1000 कुक्कुटों के लिए पर्याप्त होता है। प्रयोग से पूर्व पानी दिये जाने वाले बर्तनों को वर्फ में रखकर ठण्डा कर लें। तत्पश्चात् वैक्सीन युक्त जल ही उन्हें तब तक पीने को दें जब तक कि तैयार किया हुआ घोल समाप्त न हो जाये। इसके वाद ही दूसरा पानी पीने को दें। वेहतर तो यह होगा कि ठण्डे वातावरण (सुवह-शाम) में ही उक्त क्रिया प्रारम्भ करें जिससे वैक्सीन खराव न हो।

प्रतिरक्षा— 4 माह

भण्डारण— प्रशीतक में, अथवा थर्मस फ्लास्क में वर्फ के टुकड़ों के वीच।

पैंकिग— 500 तथा 1000 मात्रा वाली शुष्क चूर्ण युक्त शीशियाँ तथा 30 एवं 60 मि० लि० घोलक साथ में।

2. वैक्सीन का नाम— वाएफ न्युकैसल रोग वैक्सीन-मुक्तेश्वर स्ट्रेन

निर्माता— बाएफ शोध संस्थान, बघोली, पूना।

मात्रा— 0·5 मि० लि० तैयार किया हुआ घोल।

विधि— उपर्युक्त विधि की भाँति ही 0·25 मिलि लिटर ठण्डे किये हुये घोलक को पहले वैक्सीन वाली शीशी में डालकर, खूब मिलाकर सिरिंज में खींच लीजिये। अब इसे घोलक वाली शीशी में स्थान्तरित करके भली-भाँति मिलाकर 0·5 मि० लि० की मात्रा में त्वचा के नीचे टीका लगाइए।

प्रतिरक्षा— जीवन पर्यन्त।

भण्डारण— प्रशीतक अथवा थर्मस फ्लास्क में वर्फ के वीच।

पैंकिग— 200 तथा 500 मात्रा फ्रीज ड्राइड (सूखा) वैक्सीन, अलग से पर्याप्त घोलक के साथ।

सावधानियाँ— (i) F स्ट्रेन/लैसोटा स्ट्रेन वैक्सीन का प्राथमिक टीका देने के बाद 6–8 सप्ताह की आयु पर अथवा उसका बूस्टर टीका देने के बाद 16 से 18 सप्ताह की आयु वाले कुक्कुटों को यह टीका लगाना चाहिए। 6 से 8 सप्ताह की आयु पर उन कुक्कुटों को भी इसका टीका दिया जा सकता है जिन्हें पहले कभी इस रोग से बचाव का टीका न लगा हो। 6 सप्ताह से कम आयु के चूजों को यह वैक्सीन नहीं देना चाहिये।

(ii) टीका लगाने से कुछ दिन पूर्व कुक्कुटों को कृमिनाशक दवा देने से इसका प्रभाव अधिक अच्छा रहता है।

(iii) वैक्सीनेशन करने से 1-2 दिन पूर्व, साथ तथा बाद में पक्षी को विटामिन पानी में मिलाकर देते रहने से इससे होने वाली प्रतिक्रिया से बचाया जा सकता है।

3. वैक्सीन का नाम— रानी खेत रोग वैक्सीन 'एफ' स्ट्रेन (चूर्ण)।

निर्माता— आई० वी० आर० आई०, इज्जतनगर/मुक्तेश्वर।

वैक्सीन का घोल बनाना—100 मात्रा वाली एक काँच की ऐम्पूल तोड़कर उसे 15 मि० लि० नार्मल सलाइन घोल या डिस्टिल्ड वाटर में घोलिये। इस घुले हुए वैक्सीन को जीवाणु रहित किये गये ठण्डे काँच के वर्तन में रखिये तथा 1 से 1½ घण्टे में प्रयुक्त कर लीजिये। घुले वैक्सीन को कभी भी भण्डारित न करें।

मात्रा— 1 से 7 दिन के चूजों के प्रत्येक नथूने में ड्रापर अथवा सिरिंज-नीडिल द्वारा 1-2 ड्राप उपर्युक्त तैयार किया हुआ वैक्सीन घोल डालिये।

प्रतिरक्षा— 15 सप्ताह

भण्डारण— रेफ्रीजरेटर में 2° से 4°C के बीच 3 माह तक, थर्मस फ्लास्क में बर्फ के टुकड़ों के बीच 10 दिन तक।

पैकिंग— 100 मात्रा युक्त काँच का सील किया ऐम्पूल।

सावधानियाँ— (i) इस वैक्सीन का प्राथमिक टीका देने के

वाद, 8 से 10 सप्ताह में मुक्तेश्वर स्ट्रेन का दूसरा टीका देनें से स्थायी प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

(ii) कुक्कुटों के बच्चों को अधिक भीड़-भाड़ से बचायें।

4. वैक्सीन का नाम— रानी खेत रोग वैक्सीन-मुक्तेश्वर स्ट्रेन।

निर्माता— आई० वी० आर० आई०, इज्जतनगर/मुक्तेश्वर।

वैक्सीन का घोल बनाना— वैक्सीन युक्त काँच की एक ऐम्पूल को तोड़कर 100 मिलि लिटर नार्मल सलाइन अथवा डिस्टिल्ड वाटर में घोलिये। इसे काँच के साफ एवं सूखे जीवाणु रहित बर्तन में ठण्डा करके रखिये। प्रकाश तथा गर्मी से बचाइये और 2 घण्टे के अन्दर ही इसका उपयोग कर लीजिये।

मात्रा— 0·3 मिलि लिटर घोल का त्वचा के नीचे अथवा मांसपेशी में टीका दें। कुक्कुटों को 6 सप्ताह से कम की आयु पर इसका टीका न दें।

प्रतिरक्षा— जीवन पर्यन्त।

भण्डारण— प्रशीतक में।

पैकिंग— काँच की ऐम्पूल में 200 मात्रा शुष्क पदार्थ।

सावधानियाँ— (i) केवल स्वस्थ कुक्कुटों को ही यह टीका लगायें।

(ii) वैक्सीनेशन करने के बाद यदि कुछ पक्षी 8 दिन से अधिक समय तक लंगड़ाने अथवा लकवा जैसे लक्षण प्रदर्शित करें तो उन्हें माँस के लिये बेच दें।

5. वैक्सीन का नाम— रानी खेत रोग 'RB' प्रजाति वैक्सीन (Live, attenuated, freeze dried)

निर्माता— बायोमेड प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद।

घोल बनाना— 22 मिलि लिटर घोलक में 100 खुराक अथवा 100 मिलि लिटर घोलक में 500 खुराक वैक्सीन ठण्डे तापक्रम पर घोलिये। इसे बर्फ में रख कर दो घण्टे में इस्तेमाल कर लीजिये।

मात्रा तथा विधि— 5 से 8 सप्ताह की आयु पर चूजों को 0·2 मिलि लिटर ताजा तैयार किया हुआ वैक्सीन घोल का मांसपेशी में टीका देकर, 16 से 20 सप्ताह की आयु पर इसका दुबारा टीका दें।

प्रतिरक्षा— 9 माह ।

भण्डारण— डीप फ्रीज में 9 माह तथा रेफ्रीजरेटर में 90 दिन तक ।

पैंकिग— 100 तथा 500 की मात्रा में, अलग से घोलक के साथ ।

6. वैक्सीन का नाम— रानी खेत रोग F-1 स्ट्रेन वैक्सीन (Live attenuated, freeze dried)

निर्माता— बायोमेड प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद ।

घोल बनाना— 8 मिलि लिटर घोलक में 100 खुराक तथा 40 मिलि लिटर घोलक में 500 खुराक वैक्सीन घोलकर बर्फ में रखिये । तैयार होने के वाद दो घण्टे के अन्दर इसे इस्तेमाल कर लीजिये ।

मात्रा तथा विधि— एक ड्रापर की सहायता से उपर्युक्त तैयार किये गये वैक्सीन की 2 बूंद या तो चूजे के मुँह में डालिये अथवा एक बूँद एक आँख में तथा दूसरी एक नथुने में डालिये । इसकी दूसरी विधि में पीने वाले पानी के साथ मिलाकर भी इसे दिया जा सकता है । वैक्सीन के स्थायित्व के लिये 20 लिटर ठंडे पेय जल में 1 लीटर मखनिया दूध मिलाना अधिक अच्छा है । चूजों को 1 से 7 दिन की आयु पर यह वैक्सीन देना चाहिये ।

प्रतिरक्षा— 4-6 सप्ताह ।

भण्डारण— डीप फ्रीज में 9 माह तथा रेफ्रीजरेटर में 90 दिन तक ।

पैंकिग— 100 तथा 500 खुराक की मात्रा में, अलग से घोलक के साथ ।

कुक्कुट शीतला रोग
(Fowl Pox Disease)

1. वैक्सीन का नाम— बाएफ फाउल पॉक्स वैक्सीन (Freeze Dried)

निर्माता— बाएफ शोध संस्थान, बघोली, पूना ।

घोल बनाना— एक सिरिंज तथा सुई की सहायता से शुष्क वैक्सीन को साथ दिये गये घोलक में घोल लीजिये । शीशी के साथ एक वैक्सीन लगाने वाला 'ऐप्लीकेटर' भी आता है ।

चात्रा तथा विधि—	घोलक वाली शीशी में तैयार किये गये वैक्सीन में ऐंप्लीकेटर डुबोकर पंखों की त्वचा पर अन्दर की ओर घुमाकर दो स्थानों पर रगड़ दीजिये। 4 से 6 दिन बाद उस स्थान पर हल्के छाले से बन जाते हैं। यदि यह न बनें तो पुनः टीका लगाइये। घोलने के बाद वैक्सीन को बर्फ के टुकड़ों के मध्य रखकर एक घण्टे में खर्च कर लीजिये। प्रतिक्रिया के दृष्टि-कोण से 6 सप्ताह से कम आयु वाले पक्षियों को इसका टीका न लगवाइये। पक्षियों को हर साल इसका टीका लगवाना जरूरी है।
प्रतिरक्षा—	एक वर्ष
भण्डारण—	प्रशीतक अथवा थर्मस में बर्फ के साथ।
पैकिंग—	200 तथा 500 खुराक की पैकिंग में, अलग से घोलक के साथ।
2. वैक्सीन का नाम—	**कुक्कुट शीतला वैक्सीन** **Fowl Pox (Chick Embryo Living Vaccine)**
निर्माता—	आई० वी० आर० आई०, इज्जतनगर
घोल बनाने की विधि—	ऐम्पूल को तोड़कर उसमें का सूखा पदार्थ काँच की खरल में उलट लीजिये। इसमें 5 मिलि लिटर घोलक (50% ग्लिसरीन सलाइन घोल जो वैक्सीन के साथ मिलता है) मिलाकर मूसली से रगड़कर एक समान घोल तैयार करिये। उपयोग के समय इसे बर्फ में रखिये और तीन घण्टे के अन्दर खर्च कर लीजिये।
टीका लगाने की विधि—	नोक टूटी हुई मोटी सुई जीवाणु रहित करके उसे वैक्सीन घोल में डुबोकर 1 सेंटीमीटर की दूरी पर दो स्थानों पर पंख की त्वचा में घुसेड़िये।
प्रतिरक्षा—	एक वर्ष
भण्डारण—	डीप फ्रीज कैबिनेट में –15°C से –20°C पर 6 माह तक तथा रेफ्रीजरेटर में 2 माह तक।
सावधानियाँ—	(i) कुक्कुटों को कृमिनाशक दवा पिलाने के बाद ही टीका दें। (ii) कमजोर तथा बीमार कुक्कुटों को टीका न लगायें। (iii) 6 सप्ताह से कम आयु पर टीका न दें तथा 6

सप्ताह से कम आयु के बिना टीका लगे मुर्गी के बच्चों को टीका लगे कुक्कुटों से अलग रखें।

3. वैक्सीन का नाम— **बायोमेड फाउल पॉक्स वैक्सीन (B. M. Strain Freeze Dried)**

निर्माता— बायोमेड प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद

घोल बनाना— 100 खुराक वैक्सीन 20 मि॰ लि॰ घोलक, तथा 500 खुराक वैक्सीन 100 मि॰ लि॰ घोलक में सिरिंज तथा सुई की सहायता से घोल लें। इसे वर्फ में रखें और दो घण्टे में इस्तेमाल कर लें।

मात्रा तथा विधि— 2 मि॰ लि॰ की साफ सिरिंज में भरकर 0·2 मि॰ लि॰ की मात्रा में प्रति पक्षी की मांसपेशियों या त्वचा के नीचे टीका दें। चार-पाँच सप्ताह की आयु पर कुक्कुटों को पहला टीका देकर, 14–15 सप्ताह पर दुबारा लगायें।

भण्डारण— डीप फ्रीज में 9 माह तथा रेफ्रिजरेटर में 90 दिन तक।

सावधानियाँ— बीमारी फैलने पर कुक्कुटों के बच्चों को दुबारा तत्काल इसका टीका लगाइये। जिन्हें पहले कभी टीका न लगा हो उन पक्षियों को 7 दिन के अन्तराल पर दो बार इसका टीका लगाइये। ऐसा करने से 15 दिन के अन्दर रोग फैलने पर नियन्त्रण हो जाता है।

मैरेक्स रोग
(Marek's Disease)

1. वैक्सीन का नाम— वाएफ मारेक रोग वैक्सीन (Baif's Marek's Disease Vaccine)
(Freeze dried HVT (FC-126) Strain)

निर्माता— वाएफ शोध संस्थान, बघोली, पूना

वैक्सीन का घोल बनाना—अन्य वैक्सीनों की भाँति सिरिंज तथा सुई की सहायता से इसे घोलकर, घोलक वाली शीशी में स्थानांतरित कर लें। इसे बर्फ में रखकर एक घण्टे के भीतर उपयोग में लावें। बचे हुये घोल को नष्ट कर दें।

मात्रा तथा विधि— एक दिन की आयु के चूजों को 0·2 मिलि लिटर की मात्रा में इसका जाँघ की मांसपेशी में टीका दें। यदि आवश्यक हो तो एक वर्ष बाद इसका दुबारा टीका लगायें।

प्रतिरक्षा— जीवन पर्यन्त

पैंकिंग— डीप फ्रीज अथवा प्रशीतक में

भण्डारण— 500 तथा 1000 मात्रा की पैंकिंग में, तथा अलग से घोलक के साथ।

2. वैक्सीन का नाम— **मारेक रोग वैक्सीन (HVT Strain) (Live Attendent, Freeze Dried)**

निर्माता— बायोमेड प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद

वैक्सीन का घोल बनाना— ठण्डे घोलक में प्रशीतक में रखा वैक्सीन घोलने के लिये 2 मि० लि० घोलक सिरिंज में भरकर वैक्सीन की शीशी में डालें। इसको भली-भाँति हिलाकर पुनः सिरिंज से खींचकर घोलक वाली बोतल में स्थानान्तरित करके हिलायें। यदि आवश्यकता हो तो पुनः 2 मि० लि० इसमें से लेकर वैक्सीन वाली शीशी में डालकर तथा हिलाकर घोलक बोतल में वापस कर लें। इसे बर्फ में रखें तथा दो घण्टे में प्रयुक्त कर लें। 500 मात्रा के लिए 100 मि० लि० घोलक प्रयोग में लावें।

मात्रा तथा विधि— इस प्रकार तैयार किये घोल को 0·2 मि० लि० की मात्रा में 1 से तीन दिन की आयु के चूजों को त्वचा के नीचे टीका दें।

भण्डारण— डीप फ्रीज में 9 माह तथा रेफ्रीजरेटर में 90 दिन तक

प्रतिरक्षा— जीवन पर्यन्त

पैंकिंग— 500 मात्रा की पैंकिंग में, तथा 100 मि० लि० घोलक के साथ

कुक्कुट कालरा
(Fowl Cholera)

वैक्सीन का नाम— फाउल कालरा (Killed Vaccine) वैक्सीन

मात्रा तथा विधि— 1 मि० लि० मांस पेशी में टीका दें।

प्रतिरक्षा की अवधि— 6 माह तक

भण्डारण— रेफ्रीजरेटर में

संक्रामक श्वांसनली शोथ
(Infectious Bronchitis)

वैक्सीन का नाम— इन्फेक्शस ब्रोंकाइटिस वैक्सीन मासाचुसेट्स स्ट्रेन (Live attenuated, freeze dried)

निर्माता— बायोमेड प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद

घोल बनाने की विधि— वैक्सीन तथा घोलक को रेफ्रीजरेटर अथवा बर्फ के टुकड़ों से निकाल कर, 100, खुराक वैक्सीन को 8 मि० लि० घोलक, तथा 500 खुराक वाली शीशी को 40 मि० लि० घोलक में घोलकर इसे बर्फ के बीच रखकर ठण्डा रखें तथा 2 घण्टे में प्रयुक्त कर लें।

मात्रा तथा विधि— एक बार 3-4 सप्ताह की आयु पर मुंह में ड्रापर द्वारा दवा देकर, दुबारा 13–15 सप्ताह की आयु पर पीने के ठण्डे पानी में मिला कर दें। चूजों को 2 घण्टा प्यासा रखकर पानी में वैक्सीन देने से वे जल्दी पी लेते हैं।

प्रतिरक्षा— एक वर्ष

भण्डारण— डीप फ्रीज में 9 माह तथा रेफ्रीजरेटर में 90 दिन तक।

पैकिंग— 100 तथा 500 खुराक में, अलग घोलक के साथ।

संक्षेपतः 6 सप्ताह या अधिक आयु वाले कुक्कुटों को किसी भी बीमारी से बचाव का टीका देने से पूर्व उन्हें कृमिनाशक दवा देने तथा टीका लगाने से 3-4 दिन पहले तथा बाद में विटामिन तथा ऐण्टिबायोटिक चूर्ण राशन अथवा पानी के साथ देने से और भी अधिक लाभ होता है। साथ ही टीका लगाने के बाद होने वाले दुष्परिणाम भी कम हो जाते हैं।

परिच्छेद : 66

वर्षा ऋतु में मुर्गियों के प्रमुख रोग

(COMMON AILMENTS OF POULTRY DURING RAINY SEASON)

वर्षा ऋतु या मलमास का समय बीमारी फैलने के दृष्टिकोण से मनुष्य तथा पशु-पक्षी सभी के लिये खराब समझा जाता है। वातावरण में नमी तथा स्थान-स्थान पर कीचड़ एवं वर्षा का पानी जमा हो जाने के कारण बीमारियाँ उत्पन्न करने वाले कारक जैसे जीवाणु, विषाणु, मक्खी, मच्छर, कीट पतंगें तथा परजीवी कीट अधिक सक्रिय होकर अपना विकास करते हैं, नमी के कारण मुर्गियों के दरबे तथा बिछाली भी भली-भाँति सूख नहीं पाती जिससे उन्हें अनेक रोग लगने की सम्भावना बढ़ जाती है। बरसात के मौसम में मुर्गियों में प्रकोप करने वाले प्रमुख रोग हैं—

—बाह्य परजीवी कीटों से उत्पन्न होने वाले रोग।

—कृमियों अथवा अंतःपरजीवी कीटों से उत्पन्न होने वाले रोग।

—जीवाणुओं तथा विषाणुओं से उत्पन्न होने वाले संक्रामक रोग।

—प्रोटोजोआ द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग।

—आहार सम्बन्धी गड़बड़ियों से उत्पन्न होने वाले रोग।

—बम्बल फुट रोग।

बाह्य परजीवी कीटों से उत्पन्न होने वाले रोगों में मुर्गियों के शरीर पर जूँ, किलनी तथा पिस्सुओं का प्रकोप होता है। यह कीट उनके शरीर में खुजली उत्पन्न करके मुर्गियों की त्वचा खराब करते तथा बेचैनी बढ़ाते हैं। वे खाना-पीना तथा अण्डे देना कम कर देती हैं। साथ ही इनमें से कुछ कीट जैसे किलनी अपने शरीर में अनेक बीमारियों के जीवाणु छिपाये रहती है और मुर्गियों का खून चूसते समय उसी रास्ते से उनके शरीर में जीवाणु प्रविष्ट कर देती है जो शरीर के अन्दर अपना विकास करके भीषण रोगों को जन्म देते हैं।

कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग में मुर्गियों के पेट में गोल कृमि अथवा फीता कृमि (टेप वर्म) का प्रकोप होता है। गोल कृमि का प्रकोप होने पर उनके पेट में केचुएं जैसे कीड़े पड़ जाते हैं। फीता कृमि या टेप वर्म में चपटे, लम्बे तथा खांचेदार

कीड़े देखने को मिलते हैं। ये कीट, मुर्गियों का आहार पेट में पहुँचने पर स्वयं खा लेते हैं और उन्हें मौत के घाट उतार देते हैं। इन कीटों के अण्डे मुर्गियों के मल के साथ बाहर निकलकर अन्य मुर्गियों में कृमि रोग फैलाते हैं।

रोगों के प्रकार

जीवाणुओं तथा विषाणुओं से उत्पन्न होने वाले प्रमुख रोग हैं : कुक्कुट शीतला (चेंचक), कोराईजा (सर्दी-जुकाम), पुलोरम (सफेद दस्त होना), रानीखेत, टायफाइड, तथा वृहद-यकृत रोग। ऐसे रोग वहुत ही फैलने वाले तथा प्राणघातक होते हैं। इनका एक वार प्रकोप होने पर अनेक पक्षी मौत का शिकार हो जाते हैं और रातों-रात कुक्कुट पालन का धन्धा समाप्त हो जाता है।

कुक्कुट पाक्स (मुर्गियों का शीतला रोग) में पक्षियों के सिर, कलगी तथा गल-चर्म पर मस्से की आकार के पीले दाने देखने को मिलते हैं जो सूखने पर काले पड़ जाते हैं।

कोराइजा में मुर्गियों में सर्दी-जुकाम का प्रकोप होता है। उनकी आँखे फूल जाती हैं, नाक और आँख में पानी बहता है, आँखें सूजकर चिपक जाती हैं और मुर्गियाँ अण्डे देना बन्द या कम कर देती हैं।

पुलोरम की वीमारी प्रायः चूजों में अधिक देखने को मिलती है। इसमें इन्हें सफेद रंग के दस्त आने लगते हैं। बच्चे सुस्त होकर मरने लगते हैं और उनका पिछला हिस्सा मल से सना हुआ मिलता है।

रानीखेत की बीमारी मुर्गियों के लिये वहुत ही खतरनाक होती है। पक्षियों को सांस लेने में कठिनाई होती है। उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, वे गर्दन मोड़ते हैं तथा बड़ी संख्या में मरने लगते हैं। वे खाना-पीना तथा अण्डा देना कम कर देती हैं। पंख बिखरे हुए से दिखाई पड़ते हैं।

वम्बल फुट, एक ऐसी बीमारी है जिसमें मुर्गियों के पंजे के नीचे की गद्दी फूल अथवा सूजकर लाल हो जाती है। उनको चलने में तकलीफ होती है। वे कम तथा लंगड़ाकर चलती हैं। पक्के तथा गीले फर्श पर रखने से वर्षा ऋतु में इस बीमारी का प्रकोप मुर्गियों में अधिक देखने को मिलता है। चीरा लगाकर ड्रेसिंग करके इसका इलाज किया जाता है।

रोकथाम

संक्रामक एवं छूत के रोग मुर्गियों के लिये इतने अधिक प्राणघातक होते हैं कि एक बार प्रकोप करने पर बहुत वड़ी संख्या में पक्षी मरने लगते हैं और औषधि एवं उपचार कतई कारगर सिद्ध नहीं होता।

मुर्गियों को सदैव साफ-सुथरे, हवादार एवं रोशनी युक्त सूखे स्थानों में रखिये। उनको थपेड़ेदार हवा के झोकों से बचाइये। उनकी बिछाली को वर्षा ऋतु में भीगने से बचाइये। 9–10 दिन के अवकाश पर बिछाली को कुरेदते एवं पलटते रहिये

जिससे वह अधिक सख्त न होने पावे। बिछाली के भीगे हिस्से को तुरन्त हटाकर उसके स्थान पर सूखी बिछाली डाल दीजिये। कुक्कुटशाला में अधिक भीड़ न होने दीजिये। नई लाई गयी मुर्गियों को पुराने पक्षियों से अलग रखिये। नये खरीदे बच्चों को कभी भी पुरानी बिछाली पर न रखिये। इन्हें रखने से पहले दरबे अथवा मुर्गीघर की भली-भाँति सफाई करके नयी बिछाली डालिए। सम्पर्क में आने वाले बर्तन तथा यन्त्र पानी में उबालकर भली-भाँति जीवाणु रहित करके ही इनको उपयोग में लावें। मुर्गियों को सदैव ताजा पानी पीने को दें और उसमें सप्ताह में एक दो बार थोड़ा सा पोटाश का घोल (लाल दवा) मिला दें। ऐसा करने से पानी से लगने वाले रोग उनमें नहीं फैल पावेंगे। मुर्गियों के बच्चे खरीदते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वहाँ के स्टाक में कोई बीमारी तो नहीं थी। केवल ऐसे कुक्कुट फार्मों से ही बच्चे खरीदें जहाँ सफाई तथा सुप्रबन्ध आदि की अच्छी व्यवस्था हो। जिन बीमारियों के लिये वैक्सीन उपलब्ध हैं उनके बचाव के लिये वैक्सीन उपलब्ध है उनके बचाव के लिये उचित समय पर ही बचाव का टीका लगवा लीजिए। पक्षियों को नित्य नियमित रूप से निश्चित समय पर सन्तुलित अच्छा आहार दीजिये। कुक्कुट घरों में कम से कम कम प्रवेश कीजिये। प्रवेश द्वार पर चूना छिड़किये तथा फिनाइल से भीगा टाट बिछाकर रखिये। कृमि रोग से बचाने के लिये उन्हें हर माह पिपराजीन युक्त औषधि दीजिए। जूँ आदि का प्रकोप होने पर 1 भाग गैमक्सीन में 6 से 8 भाग खड़िया अथवा राख मिलाकर उनके शरीर पर मलिये। इस समय उन्हें भीगने से बचाइये। किसी भी छुतैली बीमारी की आशंका होने पर तत्काल ही उस मुर्गी को अन्य पक्षियों से अलग कर दीजिये और उसे सल्फायुक्त औषधियों अथवा प्रतिजैविक पदार्थ खाने को दीजिये या निकट के पशु-डाक्टर को दिखाइये। मुर्गियों के घर ऐसे स्थान पर बनाइये जो ऊँचाई पर हों और जहाँ बरसात का पानी न भरता हो। अपनी मुर्गियों की नियमित रूप से नित्य देखभाल कीजिये।

मुर्गियों को नित्य निश्चित समय पर सन्तुलित तथा अच्छा आहार दीजिये। बरसात के दिनों में अधिक नमी के कारण मुर्गियों के राशन में ऐफलोटाक्सिन का विकास होने लगता है। जिसे खाकर दस्त आकर पक्षियों की मृत्यु होने लगती है। ऐसे समय में राशन देने से पहले उसे धूप में सूखा लेने से इस द्वैप पर काबू पाया जा सकता है। राशन में पोषक तत्वों की कमी मुर्गियों में अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न करती है। अतः उन्हें सदैव सन्तुलित एवं पौष्टिक आहार ही खाने को देना चाहिये।

परिच्छेद : 67

कुक्कुट आहार की समस्या और समाधान

(POULTRY FEED PROBLEM AND SOLUTION)

कुक्कुटों के आहार में आजकल प्रायः वही अनाज अधिक प्रयुक्त किया जाता है जो मनुष्यों के उपयोग में आता है। मक्का मुर्गियों के राशन का प्रमुख अवयव है। इसके साथ-साथ ज्वार-बाजरा, गेहूँ का चोकर, खली, बरसीम की सूखी घास तथा शीरा आदि पदार्थ मिलाकर सम्पूर्ण कुक्कुट आहार बनाया जाता है। प्रत्येक प्रौढ़ कुक्कुट के लिये 100–125 ग्राम की मात्रा में नित्य ऐसे आहार की आवश्यकता पड़ती है। बाजार में उपलब्ध बने-बनाये कुक्कुट आहार की कीमत आजकल इतनी अधिक बढ़ गई है कि इसे खरीदकर खिलाने से मुर्गी-पालन व्यवसाय में घाटा दिखाई पड़ने लगा है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि इस संकटकालीन घड़ी में मुर्गियाँ जो भी खा सकें उसे खिलाकर उसकी जीवन रक्षा की जाये। राशन इस प्रकार बनाना चाहिये कि उसमें मनुष्य के उपभोग में आने वाले अनाज के दाने न्यूनतम मात्रा में हों। देश में मक्का की अपेक्षा ज्वार अधिक उगाया जाता है और साथ ही इस फसल को कम पानी की आवश्यकता पड़ती है। अतः मक्का के अभाव में मुर्गियों के राशन में ज्वार अधिक शामिल करनी चाहिये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस पुस्तक के लेखक द्वारा कुक्कुटों पर किये गये अनुसन्धान से यह पता चलता है कि ज्वार को दलिया के रूप में दलवाकर खिलाने से मुर्गियाँ इसका अधिक अच्छा उपयोग कर सकती हैं। मुर्गियों को दिये जाने वाले कुल राशन में 50 प्रतिशत तक इसे शामिल किया जा सकता है। कृषि संस्थान, इलाहाबाद के किये गये प्रयोगों से यह पता चला है कि मक्के के स्थान पर मक्का दलने वाली चक्कियों से प्राप्त दलिया की भाँति इसकी एक उपजात 'होमिनी' को भी मुर्गियों को खिलाया जा सकता है। सस्ता आहार बनाने के लिये मुर्गियों को मूंगफली की खली की बजाय सूरजमुखी के बीजों की खली अथवा कुसुम का आटा दिया जा सकता है। मुर्गियों को सरसों की खली नहीं खिलानी चाहिये क्योंकि इसमें एरूसिक नामक वसीय अम्ल होता है जो उसमें मौजूद प्रोटीन के पाचन पर कुप्राव डालता है। नारियल पैदा होने वाले क्षेत्रों में नारियल की खली भी मुर्गियों के राशन में मिलाई जा सकती है। चारे के अभाव के समय मुर्गियों

को खुला न छोड़कर दरबों में बन्द करके रखना अधिक अच्छा है। ऐसा करने से उनकी खुराक में 30 प्रतिशत तक कटौती करने पर भी उनके अण्डा उत्पादन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। मछली चूर्ण के स्थान पर इन्हें घोंघा खिलाया जा सकता है। साल के बीजों का चूरा भी मुर्गियों के लिये उपयोगी खाद्य है। मक्का के स्थान पर इसका भी उपयोग किया जा सकता है। पानी में उबालकर इसे खिलाना अधिक अच्छा है। मुर्गियों के आहार में रेशे की मात्रा 4–5% से अधिक नहीं होना चाहिये अन्यथा उनकी आहार लेने की क्षमता में कमी होकर, अण्डा उत्पादन घट जाता है।

घूमने वाले पक्षियों की अपेक्षा बिछाली पर रखी जाने वाली मुर्गियों की वृद्धि एवं उत्पादन अधिक अच्छा होता है। साथ ही बिछाली पर त्याग किये गये मल मूत्र से खाद भी अच्छी बनती है। इस खाद को धूप में सुखाकर मुर्गियों को खिलाया जा सकता है। राशन में 15 से 20 प्रतिशत तक इसे मिलाया जा सकता है। ऐसा राशन खिलाने से उनकी बढ़वार और स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर नहीं होता और साथ ही खिलाने की कुल लागत में 20 प्रतिशत कमी आ जाती है। हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार में किये गये प्रयोगों से यह पता चला है कि 3 प्रतिशत की मात्रा में गौ पशुओं का सूखा गोबर भी मुर्गियों के राशन में मिलाया जा सकता है। बाजार में बेकार समझकर फेंकी गई शाक-सब्जी भी मुर्गियों के लिये अच्छा आहार है। इसे धूप में सुखाकर अथवा उबालकर चारे-दाने के साथ मिलाकर कुक्कुटों को खिलाया जा सकता है। रसोईघर की जूठन भी मुर्गियों के लिये उपयोगी है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और विशेषकर मिर्जापुर के पहाड़ी इलाके में तथा वाराणसी जनपद में चकिया के चन्द्रप्रभा क्षेत्र में जंगली घास के रूप में चकवड़ खूब उगता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पशु-पालन विभाग में किये गये प्रयोगों से यह पता चला है कि चकबड़ के बीजों को सुखाकर एवं दलकर अथवा उबालकर 8 से 10 प्रतिशत की मात्रा में मुर्गियों के राशन में मिलाकर सस्ता कुक्कुट आहार बनाया जा सकता है।

सब्जियों की हरी पत्तियाँ भी मुर्गियों के लिये उपयोगी हैं। इनमें विटामिन खूब होता है जिससे कुक्कुटों की वृद्धि एवं विकास अच्छा होता है। पालक, गोभी, बरसीम तथा सलाद की पत्तियों को पोटाश के पानी से धोकर कुक्कुट-शाला में रस्सी से बाँधकर जमीन से लगभग 30 सेंटीमीटर की ऊँचाई पर लटका देना चाहिये। ऐसा करने से मुर्गियाँ अपनी इच्छानुसार इन्हें उछल-उछल कर खाती रहती है। इससे इनका व्यायाम भी हो जाता है जो राशन पचाने तथा अच्छे उत्पादन में सहायक होता है।

मुर्गियों को कैसे खिलायें—मुर्गियों को रोज निश्चित समय पर ही राशन

देना चाहिये। राशन जमीन पर फेंक कर अथवा फीडर में भरकर दिया जा सकता है। जमीन पर फेंक कर खिलाने से राशन की कुछ मात्रा कम हो जाती है, अतः फीडर में खिलाना अधिक लाभदायक है। फीडर को साफ करके उसमें राशन भर कर जमीन से लगभग 29 सेन्टीमीटर की ऊँचाई पर कुक्कुट-शाला में लटका देना चाहिये। ऐसा करने से पंजा मारकर मुर्गियाँ राशन को वर्बाद नहीं कर पातीं और अपनी इच्छानुसार मुँह उठाकर उसे खाती रहती हैं। फीडर खाली हो जाने पर उसे पुनः भर देना चाहिये, ऐसा करने से राशन में बचत होती है। पशुपालन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विकसित दोहरी दीवाल वाला फीडर (चित्र 7·1) आर्थिक दृष्टिकोण से इसलिये अधिक अच्छा है क्योंकि इससे राशन वर्बाद नहीं होता।
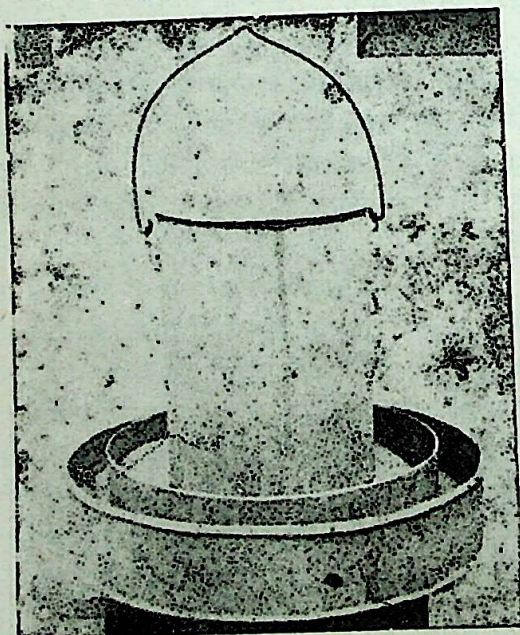
चित्र 67·1—दोहरी दीवाल वाला फीडर

कुक्कुटों के आहार में कभी भी एकाएक परिवर्तन नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उनके उत्पादन पर बुरा असर पड़ जाता है। संगमरमर के पत्थर अथवा सिप्पी के छोटे-छोटे टुकड़े कुक्कुटशाला में मिट्टी के सकोरे में अलग रखकर अथवा राशन के साथ मिलाकर मुर्गियों को तीन सप्ताह की आयु से ही खिलाना चाहिये। सा करने से उनके शरीर में कैल्सियम लवण की कमी नहीं हो पाती, अतः अण्डा

उत्पादन अधिक होता है। राशन के साथ थोड़ी मात्रा में कुक्कुटों को खनिज लवण तथा विटामिन मिश्रण देते रहने से उनका स्वास्थ्य तथा उत्पादन दोनों अच्छे रहते हैं।

पीने के लिये कुक्कुटों को सदैव ताजा पानी देना चाहिये। पीने के पानी में पोटाश का हल्का घोल मिला देने पर पक्षी पानी से लगने वाले रोगों से मुक्त रहते हैं।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अच्छे रख-रखाव के बाद भी मुर्गियों के पेट में केंचुए पड़ जाने से उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है तथा उत्पादन भी कम हो जाता है। अतः नियमित रूप से हर महीने की निश्चित तिथि पर उन्हें राशन अथवा पानी में मिलाकर एक बार पिपराजीन अवश्य देनी चाहिये।

परिच्छेद : 68

मुर्गीपालन–एक लाभकारी धंधा

(POULTRY KEEPING–A PROFITABLE ENTERPRISE)

मुर्गीपालन का धन्धा धीरे-धीरे बहुत लोकप्रिय होता रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि पर्याप्त जानकारी तथा सावधानी के साथ यह धन्धा प्रारम्भ किया जाये तो इससे अच्छा धन कमाया जा सकता है। किन्तु थोड़ी सी असावधानी से पूरा धन्धा ही चौपट हो सकता है।

मुर्गीपालन के लिये स्थान निर्धारण करना :

मुर्गीपालन शुरू करने के लिये पहले मुर्गियों के रहने के लिये समुचित स्थान की व्यवस्था कीजिये। मुर्गियों को रखने वाला स्थान ऐसी जगह पर बनाना चाहिये जहाँ से धरातल कुछ ऊँचा हो। तराई वाले क्षेत्र, जहाँ पर पानी भर जाता है, इस कार्य के लिये अच्छे नहीं माने जाते; क्योंकि नमी के कारण मुर्गियों को तरह-तरह बीमारियाँ लगने का भय रहता है। जहाँ तक हो सके, यह स्थान ऐसी जगह पर होना चाहिये जहाँ यातायात की भी पूरी सुविधा हो और अधिक शोर-गुल न होता हो।

कुक्कुट-शाला की व्यवस्था :

मुर्गियों पालने के लिए दो विधियाँ काम में लायी जाती हैं—एक तो रात में रहने के लिए छोटा दड़बा बनाकर खुले स्थान में मुर्गियाँ पालना और दूसरे कुक्कुट-शाला में ही सदैव मुर्गियों को बन्द रखना। पहला ढंग देहात के लिए तथा दूसरा ढंग शहरों तथा कस्बों में मुर्गीपालन के लिए अधिक उपयुक्त है। आजकल दूसरा वाला ढंग ही अधिक प्रचलित है क्योंकि इसमें कम स्थान में अधिक मुर्गियाँ रखी जा सकती हैं और उनकी देखभाल भी आसानी से की जा सकती है। इस दूसरी विधि को डीप लिटर विधि भी कहते हैं। डीप लिटर में मुर्गियाँ रखने के लिये प्रति मुर्गी 0·225 वर्ग मीटर से 0·27 वर्ग मीटर स्थान की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार 6×9 मीटर वाली कुक्कुटशाला में 200 से 400 तक मुर्गियाँ रखी जा सकती हैं। कुक्कुटशाला कच्ची अथवा पक्की बनाई जा सकती है। इसकी बाहरी दीवार पृथ्वी के धरातल से 0·75—0·90 मीटर ऊँची रखिए। इसके ऊपर 1·05—1·20 मीटर की खिड़कियाँ रखिये और उन पर जाली लगवा दीजिये जिससे न्योला, साँप, चूहों

आदि से उनकी रक्षा होती रहे और साथ ही साफ हवा अथवा धूप मुर्गियों को मिलती रहे। जालीदार खिड़की के ऊपर लिंटर देकर 90 सेंटीमीटर की दीवार और बना दीजिये। छत डालने के लिए एस्बेस्टस चादरों का प्रयोग कीजिये। कुक्कुटशाला की छत बीचों-बीच में लगभग 3 मीटर ऊँची रहनी चाहिए। किनारों की दीवारों पर ऐस्बेस्टस चादरों को इस प्रकार रखिये कि दोनों ओर 90 सेन्टीमीटर चादरें बाहर की ओर निकली रहें। इससे वरसात के दिनों में पानी की बौछार से विछावन तथा पक्षी भीगने नहीं पायेंगे और गर्मियों में अधिक लू से भी उनका बचाव हो सकेगा। कुक्कुटशाला का फर्श बनवाइये और उस पर प्रारम्भ में 7·5–10 सेंटीमीटर विछावन डलवाइये। विछावन के लिये कटे हुए धान की पुआल, लकड़ी का बुरादा, गेहूँ, जौ, जई का भूसा, सूखी घास, गन्ने की खोई, सूखी पत्तियाँ, धान का छिलका, चावल की भूसी तथा मूँगफली के छिलके आदि पदार्थों का प्रयोग किया जा सकता है। चूजों के बड़े हो जाने पर बिछावन की ऊँचाई 15 सेंटीमीटर से 22 सेंटीमीटर तक कर देनी चाहिये। इस प्रकार बिछाये हुए लिटर को 8–10 दिन के अन्तर पर कुरेदते रहना चाहिये। कुक्कुटशाला में एक तरफ फर्श से लगभग 0·75 मीटर डाले हुए बिछावन से लगभग 15 सेंटीमीटर की ऊँचाई पर दीवार के सहारे पानी पीने की नाली बनवाइये तथा दूसरी ओर अण्डे देने के लिये लकड़ी के बक्सों की व्यवस्था कीजिए। इन बक्सों को 25×37·5×37·5 सेंटीमीटर की नाप का इस प्रकार बनाया जा सकता है कि इनको बाहर से ही खोलकर अण्डों को निकाला जा सके। कुक्कुटशाला का दरवाजा उत्तर की ओर रखिये। यदि कुक्कुटशाला कच्ची बनवायी हो तो इसमें जाली के स्थान पर बाँस की खपच्चों तथा छत के लिये छप्पर का प्रयोग किया जा सकता है। रात में पक्षियों के बैठने के लिये कुक्कुटशाला में फर्श में लगभग 60 सेंटीमीटर की ऊँचाई पर लकड़ी के पतले तख्ते या डण्डे लटका दीजिये।

कुक्कुटशाला के लिए पक्षियों की व्यवस्था करना :

इस प्रकार तैयार की गई कुक्कुटशाला में किसी अच्छे फार्म से दोगली नस्ल की मुर्गियों के एक दिन के मादा बच्चे लाकर रखिए। जहाँ से आप मुर्गी के बच्चे खरीदने जायें वहाँ यह पता कर लीजिये कि उनके पक्षियों में कोई बीमारी तो नहीं है। जहाँ तक हो सके स्वस्थ तथा टीका लगे हुए बच्चे ही लाइये। लाते या ले जाते समय विशेष देख-रेख कीजिए क्योंकि इस अवधि में बच्चों के बीमार होने तथा मरने की सम्भावना अधिक रहती है। रास्ते में पानी में थोड़ा ग्लूकोज मिलाकर उन्हें पिलाते रहिए। इन चूजों को लाकर कुक्कुटशाला में छोड़ दीजिए और अब उनका विधिवत पालन-पोषण कीजिये। फरवरी तथा मार्च का महीना चूजा खरीदने के लिये अच्छा रहता है क्योंकि इस समय खरीदे हुए चूड़े बड़े होकर आपको सितम्बर के माह से ही अण्डे देना शुरू कर देंगे। कुक्कुटशाला में चूजों को पालने तथा मुर्गियों से

अधिकतम अण्डे लेने के लिए प्रकाश की समुचित व्यवस्था रखिये। शुरू में चूजों को गर्म रखने के लिए 80 से 200 वाट तक के बल्ब उनके पास लटकाए जा सकते हैं। मुर्गियों के पीने के लिये सदैव ही ताजे पानी की व्यवस्था रखिए और उसमें पोटाश अथवा टेरामाइसीन ऐंटीजर्म 77 मिलाकर पिलाइए।

मुर्गियों का आहार

मुर्गियों को समुचित तथा सन्तुलित आहार दीजिए। उनका राशन ज्वार, बाजरा, दला हुआ मक्का, चोकर मूंगफली की खली, सलाद, पालक, चौलाई, गोभी आदि की पत्तियाँ तथा उबली हुई ओझड़ी आदि पदार्थों को मिलाकर घर पर ही तैयार किया जा सकता है। प्रत्येक चूजे को शुरू में लगभग 30 ग्राम राशन की आवश्यकता पड़ती है और पूर्ण विकास होने पर यह आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़कर 120 ग्राम तक हो जाती है। माँस उत्पादन के लिये पाले जाने वाले कुक्कुटों (Broilers) को 50 दिन में 2 किलोग्राम शरीर भार तक पहुँचने में लगभग 4 किलो आहार की आवश्यकता पड़ती है। इस कार्य के लिए नर पक्षी अधिक अच्छे होते हैं क्योंकि मुर्गियों (मादा पक्षी) की वृद्धि धीरे-धीरे होती है और वे राशन भी अधिक खाती हैं। आहार देने के लिये विशेष प्रकार के बर्तनों की, जिन्हें फीडर कहते हैं आवश्यकता पड़ती है। इसमें राशन भरकर कुक्कुटशाला में इस प्रकार लटका देना चाहिए कि ये बर्तन बिछावन से लगभग 12·5–15 सेंटीमीटर ऊँचे रहें। खाली हो जाने पर इन बर्तनों में पुनः राशन भर देना चाहिए।

बीमारियों से बचाव

मुर्गियों में रानीखेत, चेचक (फाउल पॉक्स) तथा कुक्कुट-कॉलरा (फाउल कॉलरा) जैसी छूत की बीमारियों का प्रकोप बहुत ही शीघ्र होता है और इनसे ग्रसित होने के बाद उनका बचाव भी कठिन हो जाता है। अतः प्रारम्भ से ही यदि इनकी रोकथाम का प्रबन्ध न किया गया तो सारी की सारी मुर्गियाँ दो तीन दिन में मरकर इस धन्धे को एकदम चौपट कर सकती हैं। अतः उनके बारे में प्रारम्भ से ही सावधान रहना चाहिये और शुरू में ही मुर्गियों के बचाव के टीके लगवा लेने चाहियें ताकि इन बीमारियों के फैलने का भय ही न रहे। ऐसे टीके प्राटेशिक पशुपालन विभाग की ओर से निःशुल्क लगाये जाते हैं। इनके लिये निकट के पशु चिकित्सालय के चिकित्सा अधिकारी से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। इन बीमारियों के अतिरिक्त कोराइजा (सर्दी-जुकाम), काक्सीडिओसिस तथा पैरों के पक्षाघात की बीमारियाँ भी मुर्गियों में अधिक होती हैं। इनके बचाव के लिये पक्षियों को टेरामाइसीन घुलनशील पाउडर, सल्फाडिमीडीन 16 प्रतिशत घोल तथा विटामिन ए, डी और बी युक्त औषधियाँ समय-समय पर देते रहना

चाहिये। मुर्गियों के पेट में कृमि पड़ने से भी उनकी मृत्यु हो जाया करती है। अतः इनसे बचाने के लिये उन्हें प्रति माह पेट के कीड़े मारने वाली दवा पिलानी चाहिये। इसके लिये वर्मेक्स, वरवान तथा अन्य पिपराजीन युक्त कृमिनाशक औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। मुर्गियों के शरीर में किलनियाँ अथवा जूँ आदि पड़ जाने पर राख में गेमेक्सीन अथवा डी० डी० टी० मिलाकर पंखों पर मलना चाहिये।

मुर्गियों से अधिक लाभ कैसे लें :

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर मुर्गियों से अधिकतम उत्पादन लिया जा सकता है। भली-भाँति पालित-पोषित नस्ल की मुर्गियाँ पहले वर्ष में 80–85 प्रतिशत अण्डे देती हैं। अगले आने वाले वर्षों में अण्डे उत्पादन की संख्या कम हो जाती है। एक मुर्गी साल भर में 200 से 250 तक अण्डे दे सकती है। अण्डों का औसत उत्पादन 60 प्रतिशत से कम हो जाने पर इन मुर्गियों को हटाकर नई मुर्गियाँ रखनी चाहियें। राशन पर प्रति मुर्गी औसतन 15–20 पैसे रोज खर्च होते हैं। 5 पैसे दवाई तथा मजदूरी में खर्च होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर एक मुर्गी पर रोजाना 20-25 पैसे खर्च आता है और वह इसके बदले आपको 45-50 पैसे का अण्डा देती हैं। इस प्रकार प्रति माह एक मुर्गी आपको औसतन एक रुपया लाभ दे सकती है और यदि आपने 1000 मुर्गियाँ रखी हैं तो 800–1000 रुपये माह आप कमा सकते हैं। साथ ही कुक्कुटशाला में डाले गये लिटर (बिछावन) को साल भर बाद बदलकर उसे खाद के रूप में बेचकर एक रुपया प्रति मुर्गी आप अतिरिक्त धन कमा सकते हैं। धन्धे के रूप में 1000 से कम मुर्गियाँ रखना अधिक लाभदायक नहीं होता। अण्डा देने वाली मुर्गियों के साथ-साथ माँस के लिये कुक्कुट (broilers) पालने से और अधिक लाभ कमाया जा सकता है। आजकल विशेषकर शहर-कस्बों में इनकी बड़ी माँग है।

मुर्गियों से अधिकतम उत्पादन लेने के लिये समुचित प्रकाश तथा तापक्रम की आवश्यकता पड़ती है। इस पुस्तक के लेखक द्वारा किये गये प्रयोगों से यह पता चला है कि जिन कुक्कुटों को 14 घण्टे दैनिक प्रकाश मिलता है उनका अण्डा उत्पादन सर्वाधिक रहता है। सूर्य की रोशनी के अभाव में 40 से 60 वाट का बल्व कुक्कुटशाला में लटकाकर यह कमी पूरी की जा सकती है। ऐसा एक बल्व 200 वर्ग फिट (18·6 वर्ग मीटर) फर्श स्थान के लिये पर्याप्त होता है। मुर्गियों में श्वेद ग्रन्थियाँ (Sweat glands) नहीं होतीं, अतः वे फेफड़ों की मदद से हाँफने जैसे लक्षण प्रकट कर गर्मी सहन करने का प्रयास करती हैं। 100°F (37·8°C) से 108°F (42·2°C) बाहरी तापक्रम पर उनके शरीर से पानी का ह्रास होकर अण्डा उत्पादन कम हो जाता है। तापक्रम 113°F (44°C) पहुँचने पर वे हाँफ कर बेहोश होने लगती हैं। अधिक तापक्रम पर बनने वाले अण्डे टेढ़े-मेढ़े तथा मुलायम आवरण वाले होते हैं। अपने प्रयोगों में लेखक ने यह देखा कि कुक्कुटशाला का तापक्रम 65° से 80°F के बीच तथा आर्द्रता (humidity) 70% या अधिक होने पर मुर्गियों का अण्डा उत्पादन सर्वाधिक होता है।

मुर्गियों को पीने के लिये ताजे पानी की व्यवस्था करनी चाहिये क्योंकि गंदा अथवा रखा हुआ पानी बीमारियाँ फैलाने का स्रोत होता है। पानी में सप्ताह में एक-दो बार हल्का पोटाश परमैंगनेट घोल मिला देने से इससे फैलने वाले रोगों में कमी हो जाती है। आमतौर पर एक प्रौढ़ मुर्गी को नित्य 500 मिली लिटर पानी की आवश्यकता पड़ती है। केवल कुछ घण्टे तक ही पानी न देने पर मुर्गियों द्वारा अण्डा उत्पादन कम हो जाता है और यह प्रभाव कई दिन तक रहता है।

पशुपालन विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा संचालित कुक्कुट विकास कार्यक्रम

प्रदेश में कुक्कुट पालन को बढ़ावा देने के लिये विभाग के राजकीय कुक्कुट प्रक्षेत्रों एवं चूजा उत्पादन केन्द्रों के माध्यम से उन्नतिशील नस्ल के विभिन्न आयु वाले चूजों का इच्छुक कुक्कुट पालकों में वितरण किया जाता है। वर्ष 1986–87 में इस योजना के अन्तर्गत कुल मिलाकर 8,16,717 चूजे वितरित किये गये। वर्ष 87–88 में माह सितम्बर तक यह संख्या 2,15,029 रही।

प्रदेश के बड़े शहरों में अण्डों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने हेतु, लखनऊ कानपुर, गोरखपुर, बरेली, वाराणसी, आगरा, अलीगढ़, अल्मोड़ा, पौढ़ी तथा देहरादून जनपदों में अण्डा उत्पादन बढ़ाने के लिये सघन कुक्कुट विकास परियोजना चलाई जा रही है। इस परियोजना के अन्तर्गत कुक्कुट-पालकों को इस विषय में प्रशिक्षण उन्नतिशील चूजों एवं आहार की पूर्ति, रोग नियन्त्रण और अन्य सुविधायें सघन रूप से उपलब्ध कराई जा रही हैं।

कुक्कुटों के लिये सस्ता एवं सन्तुलित आहार उपलब्ध कराने हेतु विश्व खाद्य कार्यक्रम के अन्तर्गत गोरखपुर, लखनऊ, राबर्ट्स गंज (मिर्जापुर) तथा हापुड़ (गाजियाबाद) में सन्तुलित आहार उत्पादन केन्द्र स्थापित किये गये हैं।

मुर्गी के अण्डे तथा मांस की उपयोगिता एवं पोषण मूल्य

मुर्गी के अण्डे का औसत वजन 55 से 58 ग्राम के बीच होता है। अण्डे के खोल को छोड़कर इसका कुल बचा हुआ भाग खाने के काम आता है। यह उच्च कोटि की प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज लवणों का अच्छा स्रोत है। भारतवर्ष जैसे शाकाहारी देश में मानव आहार में पशुजन्य प्रोटीन की कमी से शाकाहारी अण्डों की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है।

परिच्छेद : 69

मुर्गियों में अण्डावरोध और उसका उपचार

(EGG BOUND CONDITION & ITS TREATMENT)

हमारे देश में मुर्गी-पालन का धन्धा बहुत ही लोकप्रिय होता जा रहा है। अब से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व खटीक तथा मुसलमानों में मुर्गियाँ पालने का रिवाज था। ये लोग भी 4–6 से अधिक मुर्गियाँ नहीं पालते थे। इनकी पालतू मुर्गियाँ दिन भर इधर-उधर घूमकर कूड़ा-करकट खाकर अपना पेट भर लेती थीं। शाम को इन्हें घर के आंगन में एक बड़ी सी डलिया (झल्ली) के नीचे ढककर ऊपर से कोई वजनदार पत्थर अथवा मिट्टी का ढेला रख दिया जाता था जिससे कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों से रात भर इनकी रक्षा हो सके। मुर्गी खाना तो दूर रहा, उन दिनों बहुत से लोग अण्डे को भी छूत मानते थे और हिन्दू तो इनसे विशेष रूप से परहेज रखते थे। खाना तो दरकिनार, इन्हें छूना भी पाप समझते थे। केवल मुसलमानों, ईसाइयों तथा अंग्रेजों में अण्डे तथा मुर्गे खाने का रिवाज था। किन्तु आज की परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। मुर्गी खाना तो आधुनिक युग में आम रिवाज बन गया है। कई सम्पन्न घरों में अण्डे के बिना तो कोई नाश्ता ही नहीं करता। फलतः बढ़ती हुई माँग के कारण मुर्गी-पालन का विकास हुआ और आज घरेलू उद्योग धंधे तथा व्यावसायिक रूप से इसे अनेक लोग अपना चुके हैं। अब देशी मुर्गियों के स्थान पर विदेशी तथा संकर नस्लों की अधिक अण्डे तथा माँस देनें वाली मुर्गियाँ पाली जाती हैं।

मुर्गी पालकों को आए दिन अपनी मुर्गीशाला में विविध प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। मुर्गी-पालन एक ऐसा धन्धा है जिससे मुर्गी पालक को बहुत ही सचेत रहना पड़ता है। क्षण भर की असावधानी से कभी-कभी पूरा का पूरा कुक्कुट फार्म चौपट होते देखा गया है। छुतैली एवं प्राणघातक बीमारियों के प्रति तो लोग बचाव के टीके लगाकर अपने पक्षियों की रक्षा कर लेते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी मुर्गियों को अनेक प्रकार के रोग हुआ करते हैं। अण्डे देने वाली मुर्गियों में ऐसा ही एक कष्ट अण्डावरोध भी है। इसमें किसी कारणवश कभी-कभी मुर्गियों के गर्भाशय में अण्डा अटक जाता है और यदि समुचित उपचार न हो पाया तो तत्काल ही उनकी मृत्यु हो जाती है। मुर्गियों के राशन में कैल्शियम तथा विटामिन की कमी

तथा कुछ अन्य कारणों से अण्डावरोध की शिकायत देखने को मिलती है। इसमें या तो अण्डे के ऊपर का कड़ा वाला सफेद खोल ही नहीं बनता अथवा उनके गर्भाशय में संकुचन का अभाव होने के कारण अण्डा बाहर नहीं आ पाता। इस कष्ट के होने पर अच्छी स्वस्थ दिखाई देने वाली मुर्गी या तो एकाएक मुर्गीशाला में मरी हुई पायी जाती है अथवा देखते-देखते अवसन्न (बेहोश) होने लगती है। अण्डा देने के लिये वह बार-बार जोर लगाती है। किन्तु अण्डा बाहर नहीं निकलता। मलाशय के पास वाला भाग फूला हुआ-सा दिखाई पड़ता है और वहाँ टटोलने पर अटके हुए अण्डे का आभास होता है।

कुछ दिनों पूर्व ऐसी ही एक मुर्गी इस पुस्तक के लेखक के पास चिकित्सा के लिये लाई गई। हमने उसे विटामिनयुक्त औषधि पिलाकर आधा घ० सें० टोनोफास्फान का इन्जेक्शन देकर छोड़ दिया। मुर्गी ने दो-बार अण्डा देने के लिये जोर लगाया किन्तु उसे सफलता न मिली। इस बीच वह काफी थक चुकी थी। हमने उसके मलाशय में द्रव पैराफिन से चिकनी की हुई उंगली डालकर भी अण्डा बाहर निकालने का प्रयास किया किन्तु वह भी सफल न हो सका। अत: तत्काल ही आपरेशन करने का प्रवन्ध किया गया। लगभग दस मिनट में आपरेशन टेबिल तैयार हो गई। शल्य क्रिया में प्रयोग होने वाले सभी औजारों को खोलते हुए पानी में रखकर जीवाणु रहित किया गया। मलाशय के पास पेट पर के छोटे-छोटे पंखों को उखाड़कर फेंक दिया गया और वहाँ पर एक फाहे से एम० सी० लोशन (लाल दवा) पोत कर चीरा लगाने के लिये स्थान तैयार किया गया। दर्द सहन करने के लिये हमने 2 घ० सें० नोवोकेन संवेदनहरण का इन्जेक्शन थोड़ी-थोड़ी मात्रा में उसी जगह चारों ओर चार स्थानों पर लगाया। इसके बाद इथाइल क्लोराइड का स्प्रे करके उस स्थान को सुन्न करते हुए उसमें पैरागन चाकू से लगभग 6 सें० मी० का चीरा लगाकर त्वचा को काट दिया तत्पश्चात् उसके अन्दर की मसीली झिल्ली की पर्तं काटकर गर्भाशय पर चीरा लगाया। यहाँ चीरा लगाने से यह पता चला कि उसमें अण्डे अटके हुए हैं। एक अण्डा निकालने के बाद दूसरा अण्डा अटका मालूम पड़ा, अत: इसे भी निकाल दिया गया। ये दोनों अण्डे लगभग 55–55 ग्राम भार के थे। अण्डे निकालने के बाद स्वच्छ एवं जीवाणु रहित रुई को सैवलान घोल में डुवोकर निचोड़ लिया और उसका फाहा बनाकर घाव का कुल द्रव साफ कर दिया। इसके बाद उसमें थोड़ा सा नेवासल्फ पाउडर छिड़क दिया जिससे कोई जीवाणु घाव को संदूषित न कर पाये। पाउडर छिड़कने के बाद अन्दर वाले पेट के भाग में सुईं तथा जीवाणु रहित कैटगट धागे से लगातार सिलाई करके घाव को वन्द कर दिया। उसके बाद जीवाणु रहित चिमटी से पकड़कर काटी हुई त्वचा के दोनों सिरों को एक साथ मिलाया और थोड़ी-थोड़ी दूर पर कुल मिलाकर सिल्क के धागे से छः टाँके भरकर इस ऊपरी घाव को भी वन्द कर दिया गया। इन टाँकों के ऊपर टिंचर बैंजोइन में भीगी हुई रुई की पतली पर्तं चिपका दी जिससे टाँकों के संदूषित होने का भय न रहे। साथ ही उसे एक लाख यूनिट पेनिसिलिन का पंखों के नीचे माँसपेशी में टीका लगा दिया। फिर इस मुर्गी को एक चम्मच पानी में थोड़ा-सा

ग्लूकोज मिलाकर पिला दिया। आपरेशन करते समय मुर्गी का मलाशय बाहर निकल आया था। उसको पोटाश के पानी में धोकर अंगुली की सहायता से यथास्थान कर दिया गया। उपर्युक्त उपचार करके इस मुर्गी को एक जालीदार टोकरी (झिल्ली) के नीचे जमीन पर साफ बोरी बिछाकर बन्द कर दिया गया। पहले दिन इसे केवल ग्लूकोज युक्त पानी ही पीने को दिया गया। दूसरे दिन भी मुर्गी जीवित तथा स्वस्थ थी। अतः उसे खाने के लिये थोड़ी सी चौलाई की पत्तियाँ दी गयीं और इसी टोकरी के नीचे एक साफ बर्तन में थोड़ा पानी भरकर उसमें ग्लूकोज तथा टेरामाइसीन द्रव की दो-तीन बूँदें डाल दी गईं। मुर्गी ने आवश्यकतानुसार इस पानी को पिया तथा थोड़ी पत्तियाँ खाईं। इस दिन भी इसे एक लाख यूनिट पेनिसिलिन का टीका लगाया गया। तीसरे तथा चौथे दिन भी एक-एक लाख यूनिट पेनिसिलिन का टीका लगाया गया। तीसरे दिन से उसे थोड़ा-सा राशन भी खाने को दिया गया। इसमें थोड़ा कैल्सियम तथा विटामिन बी काम्पलेक्स मिलाकर दिया गया। तीसरे दिन से मुर्गी के पीने वाले पानी में ग्लूकोज के साथ थोड़ा-सा टेरामाइसीन ऐंटिजर्म 77 मिलाकर रखा गया। मुर्गी के घाव के टाँके सूखने लगे। उसने राशन खाना भी शुरू कर दिया और पाँचवें दिन से पुनः अण्डे भी देने लगी। दस दिन बाद मुर्गी की त्वचा में लगाये गये टाँके कैंची से काट कर चिमटी की सहायता से निकाल दिये गये और उस स्थान पर चार-पाँच दिन तक नित्य मरक्यूरोक्रोम लोशन (लाल दवा) लगाया।

मुर्गी पूर्णतया स्वस्थ हो गई और वह हर तीसरे दिन 55-60 ग्राम भार का एक अण्डा देने लगी। इस प्रयोग से पूर्व अण्डावरोध से पीड़ित शत-प्रतिशत मुर्गियों की मृत्यु हो जाया करती थी जिसके कारण इस व्यवसाय में काफी घाटा उठाना पड़ता था। किन्तु इस प्रयास में आशातीत सफलता मिलने के पश्चात् यह निश्चित सा जान पड़ता है कि भविष्य में ऐसे समस्त पक्षियों की जीवन रक्षा करके आर्थिक क्षति से बचा जा सकता है।

खरगोश पालन
RABBIT KEEPING

परिच्छेद : 70

खरगोश पालन–एक लाभकारी धन्धा

(RABBIT KEEPING—A PROFITABLE ENTERPRISE)

धन्धे के रूप में खरगोश पालन भारतवर्ष में एक उभरता हुआ नवीन व्यवसाय है। आज का पालतू खरगोश यूरोपीय जंगली खरगोश का वंशज है जो ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में पालतू बनाया गया। पालतू खरगोश की अधिकांश प्रजातियों का विकास अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और आज विश्व में इनकी विभिन्न आकार, रंग-रूप तथा प्रकार वाली सैंकड़ों प्रजातियाँ हैं। अब से कुछ वर्ष पूर्व तक भारत वर्ष में कुछ लोग अपने घर में शौकिया खरगोश पालते थे। किन्तु मांस, ऊन, खाल की ओर बढ़ती हुई रुचि देखकर 'खरगोश पालन' एक व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है और भारत जैसे विकासशील देश में इसका भविष्य काफी उज्जवल प्रतीत होता है।

खरगोश का मांस बहुत ही स्वादिष्ट एवं पौष्टिक होता है। इसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक तथा वसा, कोलेस्ट्राल एवं सोडियम लवण कम मात्रा में पाया जाता है। खरगोश के मांस में समुचित मात्रा में विटामिन B_{12} भी मौजूद रहता है।

खरगोश की खाल से बने फर (fur) वाले कपड़े तो अपना सानी नहीं रखते और बच्चों के लिए बेहद खूबसूरत तोहफा होते हैं। खाल का जो भाग कपड़े बनाने के काम नहीं आता उससे विभिन्न प्रकार के खिलौने बनाये जाते हैं। इनसे बनी टोपी, दस्ताने तथा पर्स बड़े आकर्षक होते हैं। खरगोश से प्राप्त ऊन उच्च कोटि के गरम कपड़े, स्वीटर, कम्बल तथा मोजा आदि बनाने के काम आती है। इनकी ऊन भेड़ की ऊन से अधिक अच्छी तथा मुलायम होती है। अंगोरा नस्ल के खरगोश से प्रतिवर्ष 400 से 500 ग्राम ऊन प्राप्त होती है और साल भर में इसे 3–4 बार काटना होता है। चीन, फ्राँस, अर्जेनटाइना, ब्राजील तथा जैकोस्लोवाकिया में ऐसी ऊन का उत्पादन सर्वाधिक होता है।

शोध तथा औषधि निर्माण, उसके परीक्षण एवं पेटेण्टीकरण में भी खरगोशों का विशेष योगदान है। खरगोश से प्राप्त मेंगनी की अच्छी खाद बनती है और इसमें 3·7% नाइट्रोजन, 1·3% फास्फोरस तथा 3·5% पोटेशियम होता है।

खरगोशों की वृद्धि एवं विकास बहुत शीघ्र होता है। इनका गर्भकाल (gestation period) 30–31 दिन है तथा एक बार में एक मादा खरगोश 8–12

बच्चों को जन्म देती है। हर दूसरे माह इनसे बच्चे प्राप्त किए जा सकते हैं। खरगोश छोटी, मध्यम अथवा बड़ी आकार वाली तीन प्रजातियों में विभाजित किए जा सकते हैं। छोटी नस्ल का शरीर भार 1·5 से 2 किलो ग्राम, मध्यम का 3·5 से 5·5 किलो ग्राम तथा बड़ी का 7 से 8 किलो ग्राम के मध्य होता है। न्यूजीलैंड व्हाइट, व्हाइट जांइट तथा कैलिफोर्निया आदि मध्यम शरीर भार वाली नस्लें मांस उत्पादन के लिए सर्वोत्तम मानी जाती हैं।

खरगोशों के लिए आवास :

खरगोशों के रहने के लिए दरवे किसी भी छायादार स्थान में अथवा पेड़ के नीचे बनाए जा सकते हैं। लकड़ी की खाली पेटी, घास-फूस तथा बांस की खपच्चों से इन्हें काफी सस्ता वनाया जा सकता है। लोहे की महीन जाली से वने पिंजड़े व्यावसायिक दृष्टि से खरगोश पालन के लिए काफी उपयुक्त हैं। 90 सेण्टीमीटर लम्बा तथा 75 सेण्टीमीटर चौड़ा पिंजड़ा इस कार्य के लिये पर्याप्त होता है। खरगोश के शरीर में श्वेद ग्रन्थि नहीं होतीं इसलिए इनमें पसीना नहीं निकलता। अतः 30° सेन्टीग्रेड से ऊपर के तापक्रम पर इन्हें बेचैनी महसूस होने लगती है, वे खाना कम खाते तथा पानी अधिक पीने लगते हैं। साथ ही प्रजनन शक्ति का भी ह्रास होने लगता है जिससे इनके उत्पादन पर कुप्रभाव पड़ता है। धूप, गर्मी, वर्षा, साँप तथा नेवलों से इन्हें बचाना चाहिए। बढ़ी हुई आर्द्रता (humidity) तथा बनी हुई अमोनिया गैस से वचाने के लिए खरगोश पाले जाने स्थानों में रोशनदान की समुचित व्यवस्था होना परम आवश्यक है।

खरगोशों के लिए आहार :

पालतू खरगोश एक शाकाहारी पशु है जो विभिन्न प्रकार के अनाज के दाने, हरी तथा सूखी घास खाकर जीवित रह सकता है। इनका आहार स्वयं भी घर पर बनाया जा सकता है। किन्तु आजकल वने-वनाए गुलिका के रूप में व्यवसायिक खाद्य (pelleted feed) अधिक प्रयुक्त होने लगे हैं। बना-वनाया आहार संतुलित तो रहता ही है, साथ ही गुलिका के रूप में खरगोश इसे खाना अधिक पसन्द करते हैं। ऐसा आहार देने से इनकी वृद्धि एवं विकास भी अधिक अच्छा होता है। खरगोश को दिया जाने वाला राशन बहुत महीन पिसा न होकर कुछ रवेदार होना चाहिये और इसमें अपचनीय रेशा अवश्य हो अन्यथा उसे पतले दस्त होने का डर रहता है। इनके आहार में सूखा तथा हरा चारा, रेशा, दाने, उच्च कार्वोहाइड्रेट वाले अनाज, प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज लवण शामिल होना चाहिये। आहार के कुछ नमूने इस प्रकार हैं।

मिश्रण नं० 1 :

1. सोयाबीन खाद्य	10 प्रतिशत
2. दला हुआ गेहूँ	25 प्रतिशत

3. दला हुआ चना	15 प्रतिशत
4. दला हुआ मक्का	15 प्रतिशत
5. गेहूँ का चोकर	20 प्रतिशत
6. दुग्ध चूर्ण	10 प्रतिशत
7. मछली चूर्ण	6 प्रतिशत
8. यीस्ट (Brewers)	2 प्रतिशत
9. नमक	0·5 प्रतिशत
10. खनिज मिश्रण	0·5 प्रतिशत
11. रोवीमिक्स (AD 3–50)	10 ग्राम प्रति क्विटल

मात्रा : 60 ग्राम प्रति पशु/दिन

इसके अतिरिक्त उसे 100 ग्राम हरी सब्जी तथा 80 ग्राम हरी घास अलग से देनी चाहिए।

मिश्रण न० 2 :

राशन का प्रकार	खाद्य पदार्थ	प्रतिशत मात्रा
1. 4·5 किलोग्राम औसत शरीर भार वाले खरगोशों के लिए निर्वाह आहार	सूखी तिपतिया घास	70
	दली हुई जई	29·5
	खाने वाला नमक	0·5
2. आधा से 4 किलो ग्राम तक वृद्धि करने वाले खरगोशों के लिए उत्पादक आहार	सूखी घास (अल्फाल्फा)	50
	मक्का दला हुआ	23·5
	जौ दला हुआ	11
	गेहूँ का चोकर	5
	सोयाबीन चूर्ण	10
	नमक	0·5
3. गर्भित खरगोश (औसत भार 4·5 किलो) के लिये आहार	सूखी घास	50
	जई दली हुई	45·5
	सोयाबीन चूर्ण	4
	नमक	0·5
4. दूध पिलाने वाली मादा खरगोश के लिए आहार (औसत शरीर भार 4·5 किलो)	सूखी घास	40
	दला हुआ गेहूँ	25
	ज्वार दला हुआ	22·5
	सोयाबीन चूर्ण	12
	नमक	0·5

खरगोशों के लिए गुलिका के रूप में तैयार किए गए व्यावसायिक आहार का रासायनिक संघटन

1. क्रूड प्रोटीन	20%
2. वसा (E.E.)	3·5%
3. रेशा (Crude fibre)	12%
4. भस्म (Ash)	8%
5. कैल्सियम	1·2%
6. फास्फोरस	0·6%
7. नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष (N.F.E.)	47%
8. चयपचीय ऊर्जा (M.E.)	3000 किलो कैलोरी प्रति किलोग्राम

खरगोशों के आहार में ऐंटिमाइक्रोबियल पदार्थों की उपयोगिता :

राशन अथवा पीने वाले पानी के साथ खरगोशों को ऐंटिबायोटिक्स, सल्फोनामाइड्स तथा नाइट्रोफ्युरान्स भी दिए जा सकते हैं। शोध परिणामों से यह ज्ञात हुआ है कि आहारं में 10 ग्राम प्रति टन की मात्रा में आक्सीटेट्रासाइक्लीन मिलाने से चारे की उपयोगिता बढ़कर खरगोशों की वृद्धि में सहायक होती है। सल्फा औषधियाँ (सल्फामेथाजीन 0·05 से 1 प्रतिशत राशन में अथवा सल्फामेराजीन 0·02 प्रतिशत पानी के साथ) काक्सीडिओसिस के नियन्त्रण में तथा नाइट्रोफ्युरान्स आन्त्रशोथ पर काबू पाने एवं कुछ-कुछ पशु की वृद्धि एवं विकास में उपयोगी पायी गयी हैं।

खरगोशों के लिए पोषक तत्वों की आवश्यकता
(मात्रा प्रति किलो राशन अथवा प्रतिशत)

पोषक तत्व	निर्वाह	वृद्धि	गर्भित	दुधारूपशु
क्रूड प्रोटीन	12	16	15	17
वसा (Fat)	2	2	2	2
रेशा (C. F.)	14	12	12	12
कुल पाच्य-पोषक तत्व (T.D.N.)	55	65	58	70
पाच्य ऊर्जा (D.E.) (किलो कैलोरी)	2100	2500	2500	2500
कैल्सियम	—	0·4	0·45	0·75
फॉस्फोरस	—	0·22	0·37	0·5
सोडियम	0·2	0·2	0·2	0·2
पोटाशियम	0·6	0·6	0·6	0·6

क्लोरीन	0·3	0·3	0·3	0·3
मैगनीशियम (मिलि ग्राम)	350	350	350	350
कॉपर (मिलि ग्राम)	3	3	3	3
आयोडीन (मिलि ग्राम)	0·2	0·2	0·2	0·2
मैंगनीज (मिलि ग्राम)	2·5	8·5	2·5	2·5
लोहा एवं जस्ता लवण	सूक्ष्म मात्रा में			

खरगोशों के लिए आवश्यक अन्य पोषक तत्व

विटामिन	एमिनो अम्ल
विटामिन 'ए'	आर्जिनीन
विटामिन 'डी'	मिथियोनोन + सिस्टीन
विटामिन 'ई'	लायसीन
विटामिन 'के'	हिस्टीडीन
नियासिन	ल्युसिन
पायरिडाक्सिन	आइसोल्युसिन
कोलीन	फिनायलअलैनीन
	टायरोसीन
	वैलीन
	ग्लाइसीन
	थ्रियोनीन
	ट्रिप्टोफेन

खरगोशों के लिए विशुद्धिकृत (purified) आहार

खाद्य पदार्थ	प्रतिशत मात्रा (% of diet)
विशुद्धीकृत सेल्यूलोज	16
अलगीकृत सोया प्रोटीन	20
कार्न आयल	5
खनिज मिश्रण	6·6
विटामिन मिश्रण	0·2
कोलीन क्लोराइड (70%)	0·1
ऐंटिआक्सीडेंट (इथाक्सीक्वीन)	0·025
मिथियोनीन–DL	0·2
अल्फा-टोकोफेराल एसीटेट	50 अं० यू०/कि० ग्रा०
ग्लूकोज मानोहाइड्रेट	15
कार्न डेक्सट्रिन	5
कार्न स्टार्च	27·4
पानी (गुलिका बनाने हेतु)	5

व्यावसायिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष में खरगोश पालन मांस तथा ऊन उत्पादन हेतु प्रारम्भ किया गया है। मांस के लिए सोवियत चिंचिला, ग्रे जाइंट, न्यूजीलैण्ड व्हाइट तथा व्हाइट जाइंट नस्लों का गार्सा, एवीकानगर तथा मन्नावेनूर में प्रजनन कराया जा रहा है। तीन माह की आयु में ऐसे खरगोशों का शरीर भार 2 किलो ग्राम हो जाता है। ऐसे मादा खरगोश एक वार में 5 से 7 बच्चों को जन्म देते हैं। इनके शरीर से कुल भार का लगभग 45% खाने वाला मांस प्राप्त होता है। मांस के लिए 12 से 16 सप्ताह की आयु पर इनका वध करना चाहिए।

ऊन के लिए अपने देश में रसियन (रूसी), जर्मन तथा ब्रिटिश अंगोरा नस्ल के खरगोशों का विकास किया जा रहा है। नारदर्न टेम्परेट रीजनल स्टेशन (CSWRI), गार्सा में अच्छी ऊन के विकास हेतु इन पर प्रजनन कार्य किया जा रहा है। रसियन अंगोरा से प्रति वर्ष 212 ग्राम, ब्रिटिश अंगोरा से 230 ग्राम तथा जर्मन अंगोरा नस्ल से 587 ग्राम ऊन प्राप्त होती है।

प्रतियोगात्मक परीक्षा के लिए कुछ चुने हुए प्रश्न
(Sample of objective type questions for competitive Examinations)

1. Peak yield of milk in lactating Cow is seen during :
   (a) Second month of lactation—ब्यांत के दूसरे माह
   (b) Fourth month of lactation—ब्यांत के चौथे माह
   (c) Sixth month of lactation—ब्यांत के छठे माह
   (d) None of these—इनमें से कोई नहीं

2. She buffalo is :
   (a) Monoestrus—मानोईस्ट्रस
   (b) Diestrus—डाइईस्ट्रस
   (c) Polyestrus—पॉलीईस्ट्रस
   (d) None of these—इनमें से कोई नहीं

3. Persistent corpusluteum may lead to :
   (a) Abortion—एबार्शन
   (b) Anestrus—ऐनईस्ट्रस
   (c) Haemophilia—हीमोफीलिया
   (d) None of these—इनमें से कोई नहीं

4. Cystic ovary in female may lead to :
   (a) Nymphomania—निम्फोमैनिया
   (b) Xeropthalmia—जीरोप्थैलमिया
   (c) Inguinal Hernia—इनग्वाइनल हर्निया
   (d) None of these—इनमें से कोई नहीं

5. Ptyalin is present in :
   (a) Gastric Juice—आमशयिक रस
   (b) Pancreatic juice—अग्न्याशय रस
   (c) Intestinal juice—आन्त्र रस
   (d) None of these—इनमें से कोई नहीं

6. Mule is usually sterile due to :
   (a) Hybridization—प्रसंकरण
   (b) Hermophroditism—उभयलिंगिता

(c) Prepotency—प्रगुणता
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

7. Microbial digestion in nonruminants occur in :
(a) Stomach—आमाशय
(b) Small Intestine—छोटी आँत
(c) Large Intestine—बड़ी आँत
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

8. Which of the gland remains inactive during reinsalivation :
(a) Submaxillary—सबमैक्सीलरी
(b) Parotid—पैराटिड
(c) Sublingual—सबलिंगुअल
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं।

9. The movement of Bolus during regurgitation is :
(a) 1·4 metre per second—1·4 मीटर प्रति सेकण्ड
(b) 1·8 metre per second—1·8 मीटर प्रति सेकण्ड
(c) 1·4 metre per minute—1·4 मीटर प्रति मिनट
(d) Note of these—इनमें से कोई नहीं

10. Renin is found in :
(a) Pancreatic juice—अग्न्याशय रस
(b) Intestinal juice—आन्त्र रस
(c) Bile juice—पित्त रस
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

11. Nucleosidase is a :
(a) Proteolytic enzyme—प्रोटीन संलायी एन्जाइम
(b) Amylolytic enzyme—स्टार्च संलायी एन्जाइम
(c) Lipolytic enzyme—वसा संलायी एन्जाइम
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

12. End products formed by invertase are :
(a) Glucose and Fructose—ग्लूकोस तथा फ्रुक्टोज
(b) Glucose and Galactose—ग्लूकोज तथा गैलैक्टोज
(c) Glucose and Maltose—ग्लूकोज तथा माल्टोज
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

13. Sulcus omasi is present in :
(a) Ist stomach—प्रथम आमाशय
(b) 2nd stomach—द्वितीय आमाशय

(c) 3rd stomach—तृतीय आमाशय
(d) 4th stomach—चतुर्थ आमाशय

14. Foreign bodies are lodged in :
(a) Rumen—रूमेन
(b) abomasum—एबोमेसम
(c) duodenum—ड्यूडीनम
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं ।

15. Which one is responsible for ovulation in female :
(a) F. S. H.—एफ० एस० एच०
(b) I. C. S. H.—आई० सी० एस० एच०
(c) Relaxin—रिलैक्सिन
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

16. Adrenalin is secreted by :
(a) Liver—यकृत
(b) Anterior pituitary—ऐंटीरियर पिट्युटरी
(c) Posterior pituitary—पोस्टीरियर पिट्यूटरी
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

17. Which one is responsible for let down of milk in females :
(a) Progesterone—प्रोजेस्टेरोन
(b) L. H.—एल० एच०
(c) Androgens—ऐंड्रोजन
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

18. Indicate the Amylolytic enzyme among the followings :
(a) Corboxy peptidase—कार्बाक्सी पेप्टाइडेज
(b) Lactage—लैक्टेज
(c) Pepsin—पेप्सिन
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

19. Indicate chemical factor of digestion among the followings :
(a) Deglutition—निगलना
(b) Salivary secretion—लार का निकलना
(c) Enzymic digestion—एन्जाइमी पाचन
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

20. Which one is immune to Anthrax :
(a) Man—मनुष्य
(b) Cattle—गो पशु

(c) Algerian sheep—अल्जेरियन भेड़
(d) Angora goat—अंगोरा बकरी

21. Which one is causal organism for Black quarter :
(a) Streptococcus agalactiae—स्ट्रेप्टोकाक्कस ऐगैलैक्शिए
(b) Bacillus subtilis—बैसिलस सबटिलिस
(c) B. Coli—बी० कोलाई
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

22. The total floor space required by a cow in double byre tail to tail system is :
(a) 60 sq. ft.—60 वर्ग फिट
(b) 120 sq. ft.—120 वर्ग फीट
(c) 250 sq. ft.—250 वर्ग फीट
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

23. Best method of milking a cow is :
(a) Fisting—मुट्ठी विधि
(b) Knuckling—अंगूठा विधि
(c) Stripping—चुटकी विधि
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

24. Embryotransfer technology may lead to :
(a) Better development of livestock—पशुधन का अच्छा विकास
(b) Better feed conversion—आहार का अच्छा उपयोग
(c) More milk production—अधिक दुग्ध उत्पादन
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

25. Newly born calves are more prone to :
(a) White scour—श्वेत दस्त
(b) Rickets—रिकेट्स (सूखा रोग)
(c) Ostomalacia—अस्थि मृदुता
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

26. Improper dressing of Navel cord in newly born calves may lead to :
(a) Colitis—आन्त्रशोथ
(b) Joint-ill—सन्धि रोग
(c) Nutritional scour—पौषाणिक दस्त
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

27. Ascoli's test is performed for the diagnosis of :
(a) Tuberculosis—ट्यूबर्कुलोसिस
(b) John's disease—जान्स डिजीज
(c) Salmonellosis—साल्मोनेल्लोसिस
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

28. What should be the temperature of A. V. at the time of semen collection :
(a) 38°C—38° सेण्टिग्रेड
(b) 42°C—42° सेण्टिग्रेड
(c) 65°C—65° सेण्टिग्रेड
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

29. The peculiar smell of semen is due to :
(a) Secretion of cowpers gland—कंदमूत्र पथ ग्रंथि के स्राव
(b) Prostatic secretion—प्रोस्टेट ग्रंथि के स्राव
(c) Secretion of epididymis—एपिडिडिमिस के स्राव
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

30. How may sperms are required to fertilize an ovum :
(a) Five—पाँच
(b) Two—दो
(c) Ten—दस
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

31. Which is the best method of semen collection in large animals :
(a) Rectovaginal method—मलाशय योनि विधि
(b) Hand in vagina method—योनि हस्त विधि
(c) Hand per rectum—मलाशय हस्त विधि
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

32. Which of the followings is maximum in egg albumen :
(a) Mineral—खनिज लवण
(b) Fat—वसा
(c) Carbohydrate—कार्बोहाइड्रेट
(d) Protein—प्रोटीन

33. Egg yolk is richest in :
(a) Trace elements—विरल तत्व

(b) Fat—वसा
(c) Carbohydrate—कार्बोहाइड्रेट
(d) Protein—प्रोटीन

34. What is the caloric nature of poultry meat :
(a) Equal to milk—दूध के बराबर
(b) No calorie—केलॉरी नहीं होती
(c) Low calorie—कम केलॉरी युक्त
(d) Very high calorie—अत्यधिक केलॉरी युक्त

35. What does the breed tells about a fowl :
(a) Egg production—अण्डा उत्पादन
(b) Shape and size—आकार एवं प्रकार
(c) Colour of plumage—पंखों का रंग
(d) Place of origin—मूल स्थान

36. To which class the leghorn belongs :
(a) American—अमेरिकन
(b) English—इंगलिश
(c) Asiatic—एशियाटिक
(d) Mediterranean—मेडिटेरैनियन

37. Orpington belongs to which class :
(a) Asiatic—एशियाटिक
(b) English—इंगलिश
(c) Indian—भारतीय
(d) American—अमेरिकन

38. Which one is dual type breed :
(a) Ancona—एनकोना
(b) Sussex—ससेक्स
(c) Rhode Island Red—रोडआईलैण्डरेड्
(d) Leghorn—लेग्हार्न

39. To which part one end of the chalaza is attached with :
(a) Egg Shell—अण्ड कवच
(b) Vitelline membrane—पीतक झिल्ली
(c) Egg shell membrane—कवच झिल्ली
(d) Dense Albumen—एल्बूमिन की गाढ़ी पर्त

40. Air cell is formed between the inner shell membrane and :
(a) Outer shell membrane—बाह्य कवच झिल्ली
(b) Outer thin albumen—बाह्य पतली एल्बूमिन
(c) Vitelline membrane—पीतक झिल्ली
(d) Egg yolk—अण्डपीत

41. Fertilization of ovum takes place in :
(a) Magnum—मैगनम
(b) Isthmus—इस्थमस
(c) Infundibulum—इनफंडीबुलम
(d) Vagina—योनि

42. In birds egg shell is formed in :
(a) Infundibulum—इनफंडीबुलम
(b) Uterus—गर्भाशय
(c) Magnum—मैगनम
(d) Ovary—ओवरी

43. How much water space should be provided for 200 birds :
(a) 4 feet—4 फिट
(b) 50 feet—50 फिट
(c) 200 feet—200 फिट
(d) 24 feet—24 फिट

44. How much temperature should be maintained in the poultry incubator :
(a) 100°F—100° फारेनहाइट
(b) 21°F—21° फारेनहाइट
(c) 100°C—100° सेण्टिग्रेड
(d) 107°F—107° फारेनहाइट

45. Dietary minerals are required for the development of :
(a) Egg yolk—अण्डपीत
(b) Egg albumen—अण्डे की एल्बूमिन
(c) Shell membrane—कवच झिल्ली
(d) Egg shell—अण्ड कवच

46. Keratinization of eye may be due to the deficiency of :
(a) Vitamin K—विटामिन 'के'
(b) Vitamin D—विटामिन 'डी'

(c) Vitamin E—विटामिन 'ई'
(d) Vitamin A—विटामिन 'ए'

47. Which nutrient supply energy for the production of egg and meat :
(a) Water—जल
(b) Fat—वसा
(c) Carbohydrate—कार्बोहाइड्रेट
(d) Protein—प्रोटीन

48. How much feed is required for a chick upto three months period :
(a) 40 kg.—40 किलोग्राम
(b) 2 kg.—2 किलोग्राम
(c) 4 kg.—4 किलोग्राम
(d) 10 kg.—10 किलोग्राम

49. How much feed a layer may consume during one year of laying :
(a) 40 kg.—40 किलोग्राम
(b) 100 kg.—100 किलोग्राम
(c) 10 kg.—10 किलोग्राम
(d) 365 kg.—365 किलोग्राम

50. What should be the distance between pelvic bones in a good layer :
(a) Between 1–2 fingers—1–2 अंगुली के बीच
(b) Less than one finger—1 अंगुली से कम
(c) Between 2–4 fingers—2–4 अंगुली के बीच
(d) More than 6 fingers—6 अंगुली से अधिक

51. Which one is most suitable medicine for the treatment of coccidiosis in poultry birds :
(a) Bifuran—बाइफुरान
(b) Phenovis—फीनोविस
(c) Iron tablets—लोह टिकिया
(d) Vitamin D—विटामिन 'डी'

52. What should be the maximum day light for best production in laying hens :

(a) 18 hours—18 घण्टे
(b) 10 hours—10 घण्टे
(c) 14 hours—14 घण्टे
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

53. Foot and mouth desease is caused by :
(a) Bacteria—बैक्टीरिया
(b) Protozoa—प्रोटोजोआ
(c) Parasites—परजीवी कीट
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

54. Faulty management is responsible for :
(a) Mastitis in Dairy Cows—दुधारू गायों में थनैली रोग
(b) Cystic Ovary in Females—मादा पशुओं में सिस्टिक ओवरी
(c) Formation of Identical Twins—समरूप यमज के निर्माण
(d) Nymphomania in Females—मादा में निम्फोमैनिया

55. Physiological Function of Testis is to Produce :
(a) Relaxin—रिलैक्सिन
(b) I. C. S. H.—आई० सी० एस० एच०
(c) Androgens—ऐण्ड्रोजन
(d) L. H.—एल० एच०

56. HCN Poisoning in animals is caused by ingestion of :
(a) Stunted growth of Jower—कम वृद्धि प्राप्त ज्वार
(b) Fungi infested grount nut cake—फंगस द्वारा संदूषित मूँगफली की खली
(c) Wilted Berseem/Lucerne Grass—सड़ी-गली बरसीम/लूसर्न घास
(d) A dead body infected with clostridium organisms—क्लास्ट्रीडियम शोभिआई द्वारा संदूषित शव

57. Zebra marking in the large intestines denotes :
(a) Rinderpest—रिंडरपेस्ट
(b) Brucellosis—ब्रूसेल्लोसिस
(c) Tuberculosis—क्षय रोग
(d) Johne's disease—जोने रोग

58. Agglutination Lysis Test is demonstrable in :
(a) Leptospirosis in dogs—कुत्तों में लेप्टोस्पाइरोसिस रोग

(b) Spirochaetosis in birds—पक्षियों का स्पाइरोकीटोसिस रोग
(c) Verminous Pneumonia in sheep—भेड़ों का वर्मिनस निमोनिया रोग
(d) None of these—इनमें से कोई नहीं

59. The use of chloroform for anaesthesia has been introduced by :
(a) Spencer Wells—स्पेन्सर वेल्स
(b) Mary Johnson—मेरी जान्सन
(c) Robert Lister—राबर्ट लिस्टर
(d) James Simpson—जेम्स सिम्पसन

60. Pin Point haemorrhages on the submit of the glands in the proventriculus of birds are pathognomonic of :
(a) Marek's disease—मारेक्स रोग
(b) Ranikhet disease—रानीखेत रोग
(c) Haemorrhagic Syndrome—हैमोरेजिक सिन्ड्रोम
(d) Spirochaetosis—स्पाइरोकीटोसिस

Key for Correct Answers to Questions No. 1–60

Question Number		Correct Answer	Question Number		Correct Answer	Question Number		Correct Answer
1	—	a	2	—	c	3	—	b
4	—	a	5	—	d	6	—	a
7	—	c	8	—	a	9	—	a
10	—	d	11	—	a	12	—	a
13	—	c	14	—	d	15	—	d
16	—	d	17	—	d	18	—	b
19	—	c	20	—	c	21	—	d

22	—	a	23	—	a	24	—	a
25	—	a	26	—	b	27	—	d
28	—	b	29	—	b	30	—	d
31	—	d	32	—	d	33	—	b
34	—	c	35	—	b	36	—	d
37	—	b	38	—	c	39	—	b
40	—	c	41	—	c	42	—	b
43	—	a	44	—	a	45	—	d
46	—	d	47	—	c	48	—	c
49	—	a	50	—	c	51	—	a
52	—	c	53	—	d	54	—	a
55	—	b	56	—	a	57	—	a
58	—	b	59	—	d	60	—	b

शब्दावली

हिन्दी-अंग्रेजी

(केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के शब्दकोष के अनुसार)

(अ)

अगला पुट्ठा—Fore Quarter
अग्र चूषक—Oral Sucker
अपरिपक्व खण्ड—Immature Segment
आनन किरीट—Facial Crest
आमाशय—Stomach
अयाल—Mane
अधर वक्ष—Brisket
अगली पिंडली—Fore Cannon
अयन—Udder
अल्ना—Ulna
अपलस्थि—Pin Bone
अभिरन्जक—Stain
अस्थि चूर्ण—Bone Meal
अण्ड कोष—Testis
अण्ड ग्रन्थि—Testes
अवग्रहाकार आकोचनी—Sigmoid Flexor
अपवाही वाहिनिका—Efferent Duct
अण्डाणु—Ovum
अग्रबाहु—Fore Arm
आधार कैपीट्यूलम—Basis Capitulum

(उ)

उपजात—Byproduct
ऊष्मवात चूल्हा—Hot Air oven

(ए)

एपिडिडिमिस—Epididymis
ऐड़ी—Heel

(आ)

औद्योगिक उपजात—Industrial Byproduct

(क)

ककुद—Hump
कमर—Loin
कान—Ear
कटि कशेरुका—Lumber Vertebrae
कार्पस—Carpus
कण्डरास्थि—Sesamoid
कपाट सहित छिद्र—Screw Hole
कॉर्पस ल्युटियम—Corpus Luteum
काला शरीर लम्बे पंख—Black Long
काला शरीर अवशेष पंख—Black Vestigial
कृत्रिम गर्भाधान—Artificial Insemination
कृत्रिम योनि—Artificial Vagina
कुहनी—Elbow
कुण्डलाकार पूँछ—Coiled Tail
कुहनी विन्दु—Point of Elbow
कुहनी सन्धि—Elbow Joint
केन्द्रित ग्राम योजना—Key Village Scheme
कोशिका झिल्ली—Cell Membrane
कोषाणु—Cell
क्रोमेटिन जालिका—Chromatin Net work
क्रमोन्नति—Grading Up
कंधा—Shoulder

कंद मूत्रिपथ ग्रन्थियाँ–Bulbo Urethral or Cowper's Glands

(ख)

खनिज पूर्ति—Mineral supplement
खाद्य पदार्थ—Feeding stuff
खाद्य संरक्षण—Fodder conservation
खाद्य मानक—Feeding Standards
खुर—Hoof
खोपड़ी—Skull

(ग)

गर्भकाल—Gestation period
गर्भाशयी ग्रीवा—Cervix
गर्भाशय—Uterns
गर्भाशय शृंग—Uterine Horns
गर्भाशय शरीर–Body of the uterus
गर्भाशयी काटीलीडन—Uterine cotyledons
गला—Throat
गाल—Cheek
गलकम्बल—Dewlap
गुदा—Anus
गुम्ची—Pastern
गुद खाँचा—Anal Groove
ग्रीवा—Neck
ग्रीवा किरीट—Crest of the neck
ग्रीवा स्तल—Base of neck
ग्रैव कशेरुका—Cervical vertebrae

(घ)

घुटना—Knee
घुटना सन्धि—Knee Joint

(च)

चाँद—Poll
चेहरा—Face
चेस्टनट—Chestnut

(ज)

जननेन्द्रिय रोग—Genital Diseases
जबड़ा—Jaw
जाँघ—Thigh
जीवाणु रहित—Sterilized

(झ)

झल्लरी—Fimbria
झालर—Festoons
झुकी हुई पूँछ—Bent Tail

(ट)

टखना—Fetlock
टखना सन्धि—Fetlock Joint
टिबिआ—Tibia
टार्सस—Tarsus

(ड)

डिम्बग्रन्थि—Ovary
डिम्ब वाहिनी—Oviduct

(त)

तनुकारक—Dilutor
तृतीय फैलेंक्स—Third phalanx

(थ)

थन—Teat
थूथन—Muffle

(द)

दानेदार—Beaded
दुग्ध कूपक—Milk Well
दुग्ध शिरा—Milk Vein
द्विरूपकरण—Duplication
द्विशीर्ष—-Double Head
द्वितीय फैलेंक्स—Second Phalanx

(ध)

धूसर शरीर, लम्बे पंख—Grey Long
धूसर शरीर, अवशेष पंख—Grey Vestigial

(न)

नथुना—Nostrils
नासा दण्ड—Bridge of Nose

नाभि पट्टा—Navel Flap
नाभिक झिल्ली—Nuclear Membrane
न्युक्लियस—Nucleus
न्युक्लिओलस—Nucleolus
न्यूनता—Deficiency
नितम्ब—Buttock
नितम्ब सन्धि—Hip joint

(प)

पश्च चूषक—Ventral sucker
पार्श्व—Flank
पार्श्व पट्टा—Flap of the Flank
परिपक्व खण्ड—Mature segment
पसलियाँ—Ribs
पलक—Eye Lid
पक्ष्म—Eye Lashes
प्लैस्टिड—Plastid
पिछली पीठ—Croup
पिछली पीठ का बिन्दु—Point of croup
पिछला घुटना—Hock
पिछली पिंडली—Hind cannon
पिछला पैर—Hind limb
पिछला पुट्ठा—Hind Quarter
पुच्छ मूल—Root of Tail
पुच्छ कशेरुका—Caudal Vertebrae
पुच्छ विहीन—Tailless
पूँछ—Tail
पूँछ का गुच्छा—Switch of the Tail
पैटेला—Patella
पैडिपल्प्स—Padipalps
प्रतिरक्षा—Immunity
प्रथम कक्षांग—First Coxa
प्रथम फैलेंस—First phalanx
प्रसंकरण—Hybridization
प्रतिजैविक पदार्थ—Antibiotics
प्रजनक साँड सूचक—Sire Index
प्रोस्टेट—Prostate
पृथु स्थायु—Broad Ligament

(फ)

फीमर—Femur
फेरिंक्स—Pharynx
फैलोपी नली—Fallopian Tube

(ब)

वहि:प्रजनन—Out Breeding
वाह्य जैकेट—Outer Jacket

(भ)

भग—Vulva
भग शिशन—Clitoris
भग ओष्ठ—Lips of Vulva
भिन्न संकरण—Out Crossing
भौं—Eye Brow

(म)

मछली चूर्ण—Fish meal
मस्तक—Fore Head
माइटोकोंड्रिया—Mitochondria
मुलायम रबड़ की आन्तरिक पर्त—Inter Latex Liner
मुतान—Sheath
मूत्र मार्ग—Urethra
मूत्राशय—Urinary Bladder
मैटाकार्पस—Meta Carpus
मैटाटार्सस—Meta Tarsus
मैंडिबिल—Mandible

(य)

योनि—Vagina
योनि शोथ—Vaginitis
योनि वीक्षण यन्त्र—Vaginal speculum

(र)

रक्त चूर्ण—Blood Meal

रिक्तिका—Vacuole
रेडिअस—Radius
रेडियो-अल्ना—Radio-ulna
रोमाभ—Cilia

(ल)

लघु शीर्ष—Micro Head
लिंग—Penis
लेटेक्स कोण—Latex Cone

(व)

वक्षीय कशेरूकी–Thoracic Vertebrae
वक्ष—Breast
विदर—Cleft
विटेलेरियम—Vitellarium
विजनखुरी—Dew claws
वीर्य की गति—Semen Motility
वीर्य वाहक नली—Inseminating pipette
वीर्य तनुकारक—Semen Dilutors
वीर्य एकत्रित करने की नलिका—Semem Collecting Tube
वृहत शीर्ष—Mega Head
वृषण रज्जू—Spermatic Cord
वृषण कोष—Scrotum

(श)

शिशनमुण्ड—Glans Penis
शुक्र वाहिनी—Vas Deferens
शुक्राशय—Seminal Vesicle
शुक्रजनक नलिकायें—Semeniferous Tubules
शुक्राणु उत्पादन—Spermatogenesis
शुक्रवाहिनी कलशिका—Ampullae of the Vas Deferens
शुक्र नलिका—Vas Efferentia
शुक्र प्रसेचिनी वाहिनी—Ejaculatory Duct
शुक्राणु—Sperm
शुण्डाकार शीर्ष—Tarering Head
श्रोणि मेखला—Pelvic Girdle

(स)

सगर्भ खण्ड—Gravin Segment
स्कन्ध प्रदेश—Withers
स्कन्ध सन्धि—Shoulder joint
स्कन्ध बिन्दु—Point of shoulder
स्कैप्यूला—Scapula
साइटोप्लाज्म—Cytoplasm
सींग—Horns
सीना—Chest
सुम शीर्ष—Coronet
सूत्राकार—Thread Like
सेन्ट्रोसोम—Centrosome
संकरण—Cross Breeding
संतति परीक्षण—Progeny Test
संसेचित—Fertilized
संभोग काल—Period of Mating

(ह)

ह्यूमरस—Humerus
हुक अस्थि—Hook Bone
होंठ—Lips

(क्ष)

क्षारीय चिकित्सा—Alkali Treatment

(त्र)

त्रिक् कशेरुका—Sacral Vertebrae

(ऋ)

ऋतुकाल—Heat period

पशुपालन

पशुचिकित्सा

विज्ञान